संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

मूल्य : रु.15



सन्ध्या छाया

देवेन्द्र इस्सर पर विशेष

संचेतना

पूर्णांक 167, वर्ष 34, अंक 1
मार्च - 2004
(प्रकाशित जून-2004)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
राजेश सिंह

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे(जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
देशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
दिल्ली-26, फोन-25222888 (मो.) 35932888
मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
सुमन प्रिन्टर्स
पीरागढ़ी, दिल्ली-110035
में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित


साहित्य

वस्तुपरक दृष्टि के लिए साधुवाद

संचेतना के अंक 166 में आपने गत दस वर्षों में उठाए गए मुद्दों और उनमें भाग लेने वाले विद्वानों की सूची प्रकाशित की है। इसे देखकर एक बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि संचेतना हिन्दी की अद्वितीय पत्रिका है। इसमें साहित्य की चर्चा तो होती है, साहित्य और जीवन से जुड़े उन महत्वपूर्ण मुद्दों पर तथ्यापरक और वस्तुनिष्ठ चर्चा होती है, जो अन्य किसी पत्रिका में दिखाई नहीं देती।

इन परिचर्चाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सभी विचारों को पूरा स्थान दिया जाता है। आज हिन्दी में जिस प्रकार का घुटनभरा वातावरण है, जिस प्रकार अपने से भिन्न मत रखने वालों को लांछित किया जाता है, उनकी पूरी उपेक्षा की जाती है और उनके विरुद्ध घृणात्मक प्रचार किया जाता है। (राजेन्द्र यादव और उनकी पत्रिका हंस इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं) उसमें संचेतना की भूमिका अपनी व्यापक दृष्टि और वस्तुपरकता को कभी खंडित नहीं करती।

आपको साधुवाद!

नरेन्द्रजीत सिंह
कराची खाना, कानपुर

महत्वपूर्ण प्रासंगिक विषय

'संचेतना' का नया अंक (प्रकाशित फरवरी, 2004) पढ़ गया हूं। देखकर अच्छा लगता है कि पत्रिका अपनी सामग्री और दृष्टि में निरन्तर निखर रही है। सबसे बड़ी विशेषता है कि आप किसी महत्वपूर्ण प्रासंगिक विषय पर प्रश्नचिह्न लगाकर उस पर रोचक बहस छेड़ते हैं। इस ब्याज से बहुत कुछ पढ़ने और सोचने को मिलता है।

प्रस्तुत अंक में 'न्यायालिका की परिधि' की बात छेड़ी गयी है। यह ठीक है कि संविधान की व्याख्या न्यायपालिका करती है, फिर भी, हमारी वर्तमान न्याय-व्यवस्था की अनचाहे अनेक सीमाएँ हैं। इस प्रसंग में डॉ. सीतेश आलोक का आलेख 'व्यवस्था एक भ्रम है' सारगर्भित और बेबाक बन पड़ा है।

डॉ. कृष्ण चन्द्र गुप्त का लेख 'कितनी धार्मिकता है इस मानसिकता में' सामान्य चिन्तन का रहस्योद्घाटन करता है। सुरेन्द्र तिवारी का लेख 'कुछ पत्रिकाओं के महत्वपूर्ण विशेषांक' परिश्रम और सूझ-बूझ से लिखा गया है। बधाई।

शशि भूषण सिंहल
72, कपिल विहार, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

स्वागत योग्य सरोकार

'संचेतना' (पूर्णांक 166) के संपादकीय में आपने 'संचेतना' की लगभग चार दशकों की यात्रा का जो संक्षिप्त ब्यौरा दिया है, उससे आपके जीवट और श्रम तथा साहित्य के प्रति समर्पण का बहुत कुछ आभास मिलता है। मैं 'संचेतना' की नियमित पाठक हूं लेकिन इस अंक में दी गई सूची में पिछले वर्षों में 'संचेतना' द्वारा उठाए गए मुद्दों को फिर से और एक जगह पढ़कर एहसास हुआ कि आपने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है। सच पूछें तो 'संचेतना' के नए अंक के साथ उसमें उठाए गए मुद्दे पर विभिन्न विद्वानों के विचार पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती थी। खैर, आपके नए स्तंभ को भी इतनी ही प्रसिद्धि प्राप्त होगी, ऐसी आशा है। पूरा जीवन साहित्य-सेवा में लगा देने वाले वयोवृद्ध लेखकों के प्रति आपका यह सरोकार स्वागत योग्य है।

संध्या सिंह
ए-108, लाल क्वार्टर, पंजाबी बाग

दृढ़ संकल्प की आवश्यकता

'संचेतना' के नए अंक (166) में 'भारतीय भाषाओं के मध्य संवाद और सहयोग कैसे बढ़ सकता है?' मुद्दे के तहत डॉ. बलदेव वंशी एवं डॉ. सूर्यकान्त बाली के विचारों ने उद्वेलित किया। डॉ. वंशी के साथ ही यह किसी भी स्वाभिमानी भारतीय के लिए लज्जा का विषय है कि अपनी भाषा, संस्कृति और इतिहास के लिए इतना सजग-चौकस इंग्लैंड भारत की भाषा, संस्कृति और इतिहास को सेंतमेंत में ही भारतीयों से छुड़वा रहा है। इसी प्रकार डॉ. सूर्यकान्त बाली का यह आह्वान मननीय है कि बस एक संकल्प करना है कि इस देश के साहित्यकार, कलाकार, विद्वान लोग जब भी, किसी भी स्तर के संविमर्श के लिए बैठेंगे तो वे विमर्श अंग्रेजी में नहीं करेंगे, किसी भारतीय भाषा में ही करेंगे और यकीनन हिन्दी में ही करेंगे, क्योंकि भारत का हर भाषा-भाषी हिन्दी में संवाद कर सकता है या थोड़े ही प्रयास से करने में सफल हो सकता है। उनका यह कहना पूर्णतः सही है कि ऐसा संकल्प करने पर तीन सौ पैंसठ दिनों में समस्या खुद-ब-खुद हल हो जाएगी। इस मुद्दे पर श्री राजकुमार सैनी, डॉ. कमल कुमार, श्री उमाशंकर मिश्र, डॉ. कृपाशंर सिंह, डॉ. टी.वी. कट्टीमनी तथा डॉ. रणजीत के विचार भी सरगर्भित हैं।

कैलाश सिंह
आदित्यपुर, जमशेदपुर (झारखंड)

मर्मस्पर्शी कविताएँ

'संचेतना' के पूर्णांक 166 में नरेन्द्र मोहन की कविताओं ने मन को छू लिया। दोनों कविताओं में वंचित होने की अनुभूति है। 'अंधेरा-उजाला' में अंधेरे में चाबी घुमाती प्रिया के हाथों अंधेरे के पोर-पोर उजाले के स्वरों में बदलने की प्रक्रिया का अहसास अब अंधेरे को गहरा रहा है तो 'लाहौर में रावी' को देखकर होने वाला अहसास भीतर रची-बसी रावी के बिम्ब के ठीक विपरीत है। भीतर बसा रावी दरिया 'कबीर सा अक्खड़-फक्कड़' था जो 'किनारे तोड़ता' था आज वह कहीं खो गया हे। एक गहरी वेदना कवि के साथ पाठक को भी भीतर तक हिलाकर रख देती है। मृत्युंजय उपाध्याय

और पंजाबी कवयित्री वनीता की कविताएं भी बहुत अच्छी लगीं। विशेष रूप से वनीता की कविता 'वजूद के सामने' नारी पर लगे दृश्य-अदृश्य बन्धनों को विडम्बनात्मक तौर पर सामने लगती है। स्त्री कभी भी अपने स्व को नितान्त अपने स्तर पर न जी पाती है और न ही स्वयं को उस स्तर पर किसी के साथ बाँट पाती है। यह कविता शायद वनीता की सबसे अच्छी कविताओं में से एक है।

शैलेन्द्र सिंह

नारायाणा विहार, नई दिल्ली-110028

दलित चेतना बनाम 'सौन्दर्यानुभूति'

इस बार की 'संचेतना' (पूर्णांक 166) में दलित चेतना पर हरपाल सिंह अरुष का लेख 'दलित साहित्य : आस्वाद की समस्या' तथा पंजाबी दलित लेखक मोहनलाल फिल्लौरिया की कहानी 'मोची का पूत' पढ़कर लगा कि 'संचेतना' अपने समय की रचनात्मक अंतर्धाराओं का पूरी तरह साथ दे रही है। दलित साहितय से नाक-भौंह सिकोड़ने वाले परम्परागत साहित्य-संस्कारों में दीक्षित साहित्य-रसिक यदि दलित साहित्य को साहित्य न मानें तो भी क्या हर्ज है? बल्कि वास्तविकता तो यह है कि उनके चिढ़ने से दलित साहित्य की शक्ति का बेहतर तरीके से पता चलता है। उनकी सौन्दर्यानुभूति इस ठेठ 'भदेस' साहित्य से आहत होती है तो यह दलित साहित्य की सफलता का ही प्रमाण है।

'मोची का पूत' कहानी बहुत अच्छी लगी। पंजाब के लोकजीवन में दलित वर्ग की स्थिति तथा पूरे देश में दलितों के प्रति गहरे में जड़ जमाए बैठी द्वेष-भावना के साथ ही यह कहानी दलित वर्ग के संकल्प को भी सामने लाती है। इसके लिए लेखक मोहन लाल फिल्लौरिया और अनुवादक डॉ. कीर्ति केसर दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

अनिता कथूरिया

जे-7/105, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली

कहानियों में लोकजीवन की गंध

'संचेतना' के इस अंक (पूर्णांक 166) की कहानियां बहुत अच्छी लगीं। 'मोची का पूत' (मोहनलाल फिल्लौरिया), 'अपना राग' (श्रीलाल जोशी) और 'पीतल की घंटी' (रामेश्वर द्विवेदी) क्रमशः पंजाब, मुम्बई और बिहार के जनजीवन का स्पर्श और गंध लिए हुए हैं। 'मोची का पूत' में दलित चेतना के साथ पंजाब की सांस्कृतिक चेतना को गूँथा गया है। 'अपना राग' मुम्बई के सुपर फास्ट और अमानवीय की हद तक यांत्रिक एवं आत्मकेन्द्रित जीवन की झलक है और 'पीतल की घंटी' में लेखक ने बिहार के लोकगीतों की तरलता को कहानी की संवेदना के साथ एकमेक कर दिया है। तीनों लेखकों एवं सम्पादक को इसके लिए बधाई देता हूँ।

रमेश कुमार मेहता

वाणिज्य विभाग, भागलपुर (बिहार)

बख्शता नहीं है चक्राचक्र

चक्राचक्र बहुत तीखे व्यंग्य कर रहा है। नए अंक (166) में 'आओ मिल-बाँटकर खाएँ' शीर्षक से उसने आज की राजनीति को बुरी तरह लपेटा है। राजनीति में कहीं कोई विचार या सिद्धान्त नहीं रह गया है। एक ही परिवार के पति-पत्नी, बेटा-बेटी अलग-अलग पार्टियों में शामिल होकर चुनाव लड़ते हैं ताकि कोई भी पार्टी जीते, सत्ता अपनी ही रहे। सभी मिल-बाँटकर सत्ता का उपभोग कर लें। नैरेटर का यह कहना कि 'पार्टियां तो पेड़ों के समान हैं, आम इस पेड़ का है कि उस पेड़ का, इससे क्या अंतर पड़ता है।' आज के राजनीतिक परिदृश्य को पूरी तरह व्यक्त कर जाता है। इस व्यंग्यकार की कलम सोवियत संघ के कम्युनिज़्म, पूंजीवाद की बेशर्मी, पुलिस, अदालत किसी को नहीं बख्शती।

परमजीत सिंह

बी-98, टैगोर गार्डन एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110027

निष्पक्ष और निडर दृष्टि

संचेतना (पूर्णांक-166) प्राप्त हुआ। नितान्त साहित्यिक पत्रिका इतने वर्ष ससम्मान पूरे कर ले, यह गौरव की बात है। इन वर्षों में आपने जो मुद्दे उठाये, उनसे आपकी निष्पक्ष व निडर दृष्टि का पता चलता है। स्थापित साहित्यकारों के साथ-साथ नवागतों को भी पत्रिका में समुचित स्थान देना बड़ी बात है। संचेतना की ज्योति सदैव प्रज्ज्वलित रहेगी, इसमें दो राय नहीं। मंगलकामनाओं सहित!

डॉ. सम्राट सुधा

हिन्दी प्रवक्ता

'द सेलाकुई स्कूल', चकराता रोड, देहरादून (उत्तरांचल)

सटीक व्यंग्य

अंक 166 में चक्राचक्र का व्यंग्य 'आओ मिल-बाँटकर खाएँ' बहुत सटीक है। राजनीतिक अवसरवादिता, स्वार्थ और सिद्धान्तहीनता पर यह गहरी चोट करता है। राजनीति अब केवल धंधा ही नहीं रह गई है, वह माफिया गिरोहों की शरणस्थली भी है। अब किसी विधायक, सांसद अथवा मंत्री का दागी होना कोई लज्जा की बात नहीं है।

इस प्रकार के व्यंग्य अपनी तीखी धार के कारण आवांछनीय प्रवृत्तियों की पूरी पोल खोल देते है।

अशोक वत्स

शकूर बस्ती, दिल्ली-110034

मुद्दा भी चालू रखें

संचेतना में सबसे प्रभावशाली स्तम्भ किसी मुद्दे पर चर्चा रहा है। आपने इसे क्यों बंद कर दिया? संध्या छाया के साथ ही इसे भी चालू रखें तो क्या बुराई है? इस स्तम्भ से विविध प्रकार की समस्याओं से हमारा साक्षात्कार होता रहा है। कृपया हमें इससे वंचित न करें।

पीयूष पंकज

विकास नगर, शिमला (हिमाचल प्रदेश)

क्या यह सब कुछ अवैज्ञानिक नहीं है?

संदर्भ यह है कि राजस्थान सरकार ने राज्य में खुशहाली और अच्छी वर्षा की कामना लेकर धार्मिक अनुष्ठानों की झड़ी लगा दी है। राज्य के पाँच प्रमुख शिव मंदिरों में 72 घंटे का रुद्राभिषेक किया गया। उसी मंतव्य से प्रमुख मंदिरों, दरगाहों, चर्चों और गुरुद्वारों में भी विशेष पूजा-अर्चना कराई गई।

यदि किसी देश में खुशहाली नहीं है, समुचित वर्षा नहीं हुई है अथवा इतनी अधिक वर्षा हो गई है जिससे नदियों में बाढ़ आ गई है अथवा समुद्र में तूफान आ गया है और समुद्र तट पर रहने वाले अगणित गाँव और वहाँ के निवासी उससे बुरी तरह प्रभावित हो गए हैं, कहीं भूकम्प आ गया है या ज्वालामुखी फट गया है जिसमें असंख्य लोग हताहत हो गए हैं- क्या इन सभी प्राकृतिक आपदाओं का समाधान देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना है?

आदिकाल से ही प्रकृति और मनुष्य में संघर्ष चल रहा है। प्रकृति की असीम शक्ति है। उसके सम्मुख जब मनुष्य का कोई वश नहीं चलता था, वह उस शक्ति में दैवी अस्तित्व की कल्पना कर लेता था और उसकी पूजा-अर्चना आरम्भ कर देता था। किन्तु मनुष्य की जिजीविषा ने कभी हार नहीं मानी। वह प्रकृति से सदैव लड़ता रहा है और उसे नियन्त्रित करने के नए से नए उपाय ढूंढता रहा है। उसने बड़े-बड़े बाँध बनाए, उनमें वर्षा का जल एकत्र किया, फिर नहरें बनाई और जहाँ वर्षा की कमी दिखाइ दी वहाँ पानी पहुँचाया। उसने अपनी आवश्यकतानुसार नदियों के बहाव बदल दिए। जापान जैसे देशों ने भूकम्प भी नियंत्रित कर लिए और ज्वालामुखी पर जंजीरें डाल दीं।

आज भी सूखा पड़ता है, बाढ़ आती है, भूकम्प का प्रकोप होता है, महामारी फैलती है, समुद्री तूफान आते हैं, पहाड़ टूटते हैं और बादल फटते हैं। किन्तु मनुष्य हार नहीं मानता। उसने ऐसे यन्त्र विकसित कर लिए हैं जिनसे उसे आसन्न आपदाओं का अनुमान हो जाता है और वह अपने बचाव के उपाय ढूंढता है।

मनुष्य की अदम्य जिजीविषा की कहानी ने तो स्वयं प्रकृति को चकित कर दिया है। उसने समुद्र और आकाश पर विजय प्राप्त कर ली है और अन्य ग्रहों के रहस्यों को खोलने में लगा हुआ है। मृत्यु जैसी सर्वजयी शक्ति को भी उसने पीछे धकेल दिया है और ऐसे अनेक कार्यों में, जिन्हें आज तक दैवी शक्ति के अधिकार में ही स्वीकार किया जाता था, उसने सीधा हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया है।

यदि आज राजस्थान में वर्षा नहीं हुई है, सूखे की स्थिति है तो क्या यह किसी दैवी प्रकोप के कारण है? कुछ समय पूर्व मैंने राजस्थान के रतनगढ़ स्टेशन से लाडनूँ तक (लगभग 80 कि.मी.) की सड़क यात्रा की। देश के अनेक भागों की मैंने सड़क यात्राएँ कीं है, किन्तु ऐसी सूखी, बंजर और उत्पादनहीन धरती मुझे कहीं नहीं दिखाई दी। इस क्षेत्र की ऐसी स्थिति के लिए प्रकृति उत्तरदायी है अथवा सत्ता में बैठे वे लोग, जिन्होंने इस क्षेत्र को हरा-भरा उपजाऊ बनाने का कोई सार्थक प्रयास नहीं किया है?

आज सरकार राज्य को खुशहाल बनाने और वर्षा लाने के लिए मंदिरों में विशाल आयोजन कर रही है। मुख्यमंत्री वसुंधरा राजे ओसियां के सचियाय माता मंदिर में रुद्राभिषेक के लिए जाती हैं, विख्यात वेदपाठियों से वैदिक ऋचाओं का सस्वर पाठ कराया जा रहा है। रुद्री पाठ, पूजा, अनुष्ठान एवं दुआएँ माँगने का कार्यक्रम चलाया गया है। मुख्यमंत्री से प्रेरणा लेकर एक सिख मंत्री ने गुरुद्वारे में जाकर अरदास की, एक मुसलमान मंत्री ने राज्य में अच्छी बरसात के लिए खुदा से दुआ माँगी और अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह पर चद्दर चढ़ाई, एक जैन मंत्री ने जैन तीर्थ पर जाकर प्रार्थना की तो एक पादरी ने चर्च की विशेष प्रार्थना सभा में प्रभु यीशु से राज्य में वर्षा लाने की याचना की।

क्या ये सभी बातें प्रतिगामी सोच को व्यक्त नहीं करती है? आज मनुष्य ने जितनी प्रगति की है, क्या वह ऐसी रूढ़िग्रस्त पूजा-अर्चना के माध्यम से की है? क्या भविष्य में होने वाली सारी मानवीय प्रगति इन्हीं माध्यमों से होने वाली है? क्या ये सभी क्रियाएँ मनुष्य की प्रगति-कामना को बाधित करने वाली नहीं हैं?

अंग्रेजी में एक कहावत है-ईश्वर उनकी सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। इन क्रियाओं में स्वयं अपनी सहायता करने का प्रयास कहीं नहीं दिखता, केवल पूजा-अर्चना का अंधविश्वास झलकता दिखाई देता है।

कुछ समाचारों के अनुसार वेद-पाठ और रुद्राभिषेक की सभी क्रियाओं से राज्य के दलित मंत्रियों को दूर रखा गया। यदि यह सच है तो इससे अधिक गर्हित कोई बात नहीं हो सकती।

देवेन्द्र इस्सर

एक ज़माना बीत गया...

कहते हैं कि पत्थरों के शहर में शीशागारी का काम बहुत ही नाज़ुक है (और ख़तरनाक भी)। इसमें ख़तरा-ए-जान भी है और ख़तरा-ए-ईमान भी। शीशागरों को शहर में शीशा और तेशा एक साथ लेकर नहीं घूमना चाहिए। ख़ास तौर पर उन लोगों को जिनके जिस्मों के गिर्द प्रेतात्माएं मंडरा रही हों और दिलों पर नाकरदा गुनाहों की सज़ा के निशान हों। सुना यह भी है कि अंतिम आयु में पुराना ज़ख्म और पुराना इश्क बड़ा दुःख देते हैं। लेकिन कुरेदने में मज़ा भी खूब आता है। भूले-बिसरे पुराने उदास गीत भी कितने अच्छे लगते हैं। लेकिन मुझे सरेआम बीच बाज़ार में किसी भी ज़ख्म-पुराने या नये-की नुमाइश पसंद नहीं। न लेखन में न जीवन में। मैं समझता हूं शीशाघरों में रहने वालों को अनावृत या हमबिस्तर होने से पूर्व रोशनियाँ बुझा देनी चाहिए। और परदे गिरा देने चाहिए। शायद कुछ लोगों की ज़िन्दगी खुली किताब हो। मैंने इस किताब के कुछ पन्नों को 'सीलबंद' कर दिया है।

इस समय जब मैं ये सतरें लिख रहा हूं बड़ी द्विविधा में हूं। झूठ बोलने की मुझे आदत नहीं और सच कहने की हिम्मत नहीं। मीर का इक शे'र है:

'ले सांस भी आहिस्ता कि नाज़ुक है बहुत काम
आफ़ाक़ की इस कारगहे शीशागरी का।'

हांडी वाले लैम्प के गिर्द बैठे होमवर्क पूरा करने के बाद वह अपने कमरे में चला जाता है। सिरहाने के नीचे से दरिन्दों, परियों और भूत-प्रेतों की कहानियों की पुस्तिकाएं निकाल कर पढ़ने लगता है। पढ़ते-पढ़ते सो जाता है। स्वप्नलोक में प्रवेश कर जाता है। परिन्दों के साथ उड़ते-उड़ते आकाश से परे अंतरिक्ष में दाख़िल हो जाता है। झिलमिलाते सितारों के झुरमुट में नृत्यरत परियों में घिर जाता है-विस्मित-सा। अचानक रात के अंधकार में संकरी गली के किसी अंधे मोड़ पर भूत-प्रेतों का गोल उस पर टूट पड़ता है। कोई परिन्दा घायल होकर आकाश से धरती पर आ गिरता है। परियां स्याह बादलों की ओट में छुप जाती हैं। सितारे बुझ जाते हैं। वह अकेला रह जाता है- भयभीत। उसकी नींद खुल जाती है। फिर वह सो नहीं पाता। सूरज की पहली पीली किरण दरवाज़े के सूराख़ से प्रवेश करती है। वह आँखों में नींद और दिल में दहशत लिए स्कूल के लिए रवाना हो जाता है।

पाँच-छह वर्ष की आयु से यही क्रम जारी रहा। शनिवार की शाम को होमवर्क से छुट्टी होती थी। उस शाम वह फिल्म देखने चला जाता। उसे निडर नाडिया की फिल्में बहुत पसंद थीं। सुन्दर, सुडौल थिरकता बदन उसके जिस्म में सिरहन पैदा कर देता। दमन, अन्याय और शोषण के विरूद्ध युद्धरत एक औरत हंटरवाली, हरिकेन हंसा, डायमंड क्वीन।

फिर यह सिलसिला टूट गया। सिरहाने के नीचे से परिन्दों, परियों और भूत-प्रेतों की कहानियां ग़ायब हो गयीं। उनका स्थान डाकुओं और जासूसों ने ले लिया। उस समय जग्गा डाकू के किस्से और लोकगीत बड़े मशहूर थें- जग्गे मारया लायलपुर डाका। ते तारां खड़क पियां आये। आपे तरीखा भुगतनगे तेरे मा-पे।' और फिर बालो जिसके हुस्नो इश्क के चर्चे हर जुबान पर थे। उस समय पंजाब के वज़ीरे-आला सर सिकन्दर हयात ने कहा था कि हीर तूं बाद पंजाब दी सब तूं ज्यादा सोहणी कुड़ी दा नां ए बालो। ज़रा तसव्वुर कीजिये जब ज़हन में परियों, परिन्दों और प्रेतों की उड़ानें हों और जग्गा, नाडिया और बालो के रोमांस और अडवेन्चर हों तो दिलो-दिमाग़ पर क्या गुज़रती होगी। उसे तो बर्बाद होना ही था सो हो गया। लेकिन!

न जाने क्यों हों लोग युग-युगांतर से आत्महनन और आत्मशून्य की अन्धी गलियों में भटक रहे हैं। वे पंख फड़फड़ाते हैं। दीवारों से सिर टकराते हैं। मेरे गिर्द पागलों की भांति मंडराते हैं और बार-बार पूछते हैं।

कौन हो तुम?
कोई भी एक आदमी
सुना है तुम देश-विदेश घूमे हो?
हां
और कुछ-कुछ पढ़े-लिखे भी हो?
हां
कहानियां भी लिखते हो न?
कभी-कभी
और वे सब एकदम मुझ पर टूट पड़ते हैं।
तो बताओ, परिन्दे अब क्यों नहीं उड़ते?

1939 : 'जाने वाले सिपाही से पूछो वो कहां जा रहा है?' साम्यवादी शायर मख़दूम महीउद्दीन ने कहा।

1941 : 'यह जंग है जंगे आज़ादी। आज़ादी के परचम के तले' यह भी मख़दूम ने ही कहा। क्योंकि नात्सी हिटलर और साम्यवादी स्टालिन की संधि सोवियत संघ पर जर्मनी के आक्रमण के कारण टूट गयी थी और साम्राज्यवादी युद्ध लोकयुद्ध में परिवर्तित हो गया।

1942 : 'अंग्रेजो भारत छोड़ दो।' 'करो या मरो।' फ़िज़ा में नारे गूंज रहे थे। और कभी-कभी दूर किसी प्रदेश से धमाके की गूंज सुनाई दे जाती थी। एक नवयुवक हेमू कालानी को फांसी दे दी गयी।

हमारी ही आयु का दूर का अनजाना दोस्त। हम स्कूल में पढ़ते थे- अपने घर की सीढ़ियों पर बैठे सोच रहे थे हमें भी कुछ करना चाहिए-रेल की पटरी उखाड़ दी जाये। क्यों न बम बनाया जाये? एक जुलूस निकालें? न रेल की पटरी उखाड़ी। न बम बनाया। न जुलूस निकाला।

1943 : 'पूरब देश में डुग्गी बाजे भूखा है बंगाल रे साथी/भूखा है बंगाल।' चिलचिलाती धूप में आग उगलती सड़कों पर गाते हुए हम गेहूं, चावल, आटा, दालें, कपड़े, पैसा जमा कर रहे थे। गलियों, कूचों, बाजारों, सड़कों, स्कूलों, कालेजों, दुकानों, दफ़्तरों और घरों में हमारी टोली गर्दिश में थी। यहीं साम्यवादियों से पहला निकट परिचय हुआ। बाद में कम्युंनिस्ट पार्टी की पॉलिसी के तहत कई 'हमराही' मुस्लिम लीग में शामिल हो गये थे। और हमें पाकिस्तान का प्रस्ताव प्रचार के लिए थमा दिया गया।

1945 : लाल किले से आई आवाज़- सहगल, ढिल्लों, शाहनवाज़।

1946 : 'ऐ रहबरे मुल्को-कौम बता। यह किसका लहू था कौन मरा। जो देश का परचम ले के उठे। वो शोख़ सिपाही गुंडे थे। जो बारे-गुलामी सह न सके वो देश के राही गुंडे थे।' साहिर ने नज़्म लिखी। इसी वर्ष मुस्लिम लीग के 'यौमे-शहीदां' के अवसर पर दंगों की आशंका के मद्देनज़र शहर में छात्रों का सबसे बड़ा जुलूस निकाला।

1947 : बट के रहेगा हिन्दुस्तान। बन के रहेगा पाकिस्तान। हँस के लिया है पाकिस्तान। लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान। भारत विभाजित हो गया-14 अगस्त को। 14 अगस्त 1928 को मेरा जन्म हुआ था। भारत टोबा टेक सिंह हो गया। और मैं सरहद के इस पार आ गया था।

'मुलाकात' के लिए मुक्ता का पहला प्रश्न था : 'आप लेखन से कैसे जुड़े, मेरा मतलब पृष्ठभूमि?' मेरा जवाब थाः 'पृष्ठभूमि तो आपका पूरा परिवेश होती है। घरबार-परिवार से लेकर समस्त संसार तक फैली होती है। व्यक्ति इससे प्रभावित होता है। किसी हद तक प्रेरित भी होता है। लेकिन सृजन का स्रोत उसका इनरस्केप होता है। प्रत्येक व्यक्ति में इस बाह्य और आंतरिक प्रक्रिया का अनुपात और आवेश अलग-अलग होता है। प्रारम्भ में बाह्य दबाव ज़्यादा था और अब बकौल फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ 'दिल की बेसूद तड़प/जिस्म की पुकार' का। ज़रा कल्पना कीजिए उस समय की जब लेखन की भूमि तैयार हो रही थी।' (अगस्त क्रांति से लेकर अगस्त विभाजन तक)...अगस्त 1946 में ही मेरी पहली कहानी लाहौर की एक पत्रिका में छपी और अगस्त 1947 में दूसरी कहानी दिल्ली की एक पत्रिका में। मैंने दिल्ली रेलवे स्टेशन पर इसकी प्रति देखी। मैं दिल्ली से आगे कानपुर निकल गया। और यह पत्रिका दिल्ली से कराची पहुंच गई। 'बदलता है रंग आसमां कैसे-कैसे।' ज़हन हो या ज़मीन 'इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।' कैसा 'ट्रीस्ट विद डेस्टिनी' था। इस 'ट्रीस्ट विद डेस्टिनी' ने मुझे कहीं चैन से नहीं बैठने दिया- न ज़हनी तौर पर न ज़मीनी तौर पर।

कानपुर में हम नंदकिशोर विक्रम और उनके परिवार के साथ रहने लगे। यह घर भी एक प्रकार से मिनी शरणार्थी शिविर बन गया था। कुछ दिनों के बाद एम.ए. की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद चला गया। चार-पांच दिन तो रेलवे स्टेशन के पास स्थित एक सस्ते होटल में रहा। लेकिन जब हवा कुछ गर्म होने लगी तो यूनिवर्सिटी रोड पर द्वारका पाण्डे के एक कमरे और किचन वाले भाई रेस्तरां में चला आया। कुर्सियों के नीचे अपना बक्सा रख दिया। रात को कुर्सियां लगाकर सो जाता। पाण्डे जी ने यूनिवर्सिटी रोड के चौराहे पर स्थित एक मकान की ऊपरी मंज़िल पर खपरैल वाले एक कमरे में रहने का बंदोबस्त कर दिया जहां पहले से ही एक मूर्तिकार रहता था। वह दिन को सोता था और रात को मूर्तियां तराशता था। रात को उसका हथौड़ा पत्थरों के साथ-साथ मेरे मस्तिष्क पर भी पड़ता था। पाण्डे जी जब भी किसी से मेरा परिचय कराते तो कहते यह पंजाब का बेटा है। एक दिन मैंने उन्हें कहा- पाण्डे जी, आप जानते हैं पंजाब का बेटा स्टंट फिल्मों में एक घोड़े का नाम है? कहने लगे-इस देश में जो हो रहा है वह क्या स्टंट फिल्मों से कम है। वहां करीब एक महीना रहने के बाद बेली रोड पर नये परिचित छात्र हरिश्चन्द्र चन्दोला के कमरे में शिफ्ट हो गया। वह कमरा 'दविन्दर इस्सर का कमरा' के नाम से मशहूर हो गया। और यूनिवर्सिटी रोड के प्रगतिशीलों का प्रमुख अड्डा बन गया। 'यह कमरा कटरा क्षेत्र में प्रगतिशील साहित्य और विद्यार्थी आन्दोलन के रेड गार्ड्स की फ़ौजी छावनी की हैसियत रखने लगा था।' (देवेन्द्र इस्सर का कमरा, मदन दीक्षित, हंस, जनवरी 1997)

इलाहाबाद में उस समय विख्यात लेखक, बुद्धिजीवी, ध्यापक और राजनेता रहते थे। निराला, सुमित्रानंदन पंत, हरिवंश राय बच्चन, श्रीकृष्ण दास, इलाचन्द्र जोशी, महादेवी वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भैरवप्रसाद गुप्त, श्रीपत राय, पहाड़ी, धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर सिंह, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, नेमिचन्द्र जैन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, फ़िराक गोरखपुरी, बलवंत सिंह तथा और भी कई लोग थे। यह गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम का प्रभाव था कि साहित्यिक बहसें तो खूब होती थीं, विचारों की कशमकश भी थी लेकिन कटुता तथा शत्रुता की भावना नहीं होती थी। उस समय प्रयाग की गति धीमी थी। लेकिन सृजन और चिंतन की गति बड़ी तीव्र थी। इन लोगों को देखने-सुनने में साहित्य का शऊर मिला।

जब अपनी कहानी 'सरदार जी', जो माया में छपी थी, के

मुकदमे के सिलसिले में ख़्वाजा अहमद अब्बास इलाहाबाद आए थे, उनसे भी अक्सर मुलाकात हो जाती थी। वह मेरे दोस्त आबिद काज़मी के निवास स्थान पर रहते थे। आबिद के पिता उनके पुराने मित्र थे। हमने अब्बास साहब से मुलाकात का एक विशेष आयोजन किया। विषय था रामानंद सागर के प्रसिद्ध उपन्यास 'और इन्सान मर गया' में अब्बास साहब की भूमिका जिसे प्रगतिशील लेखकों ने घोर प्रतिक्रियावादी घोषित कर रखा था। यह दौर कामरेड बी.टी. रणदिवे के नेतृत्व में सशस्त्र क्रान्ति का था। प्रगतिशील लेखकों की सूची से 'संदिग्ध' लेखकों को ख़ारिज किया जा रहा था। व्यक्ति को अव्यक्ति बनाने की मुहिम प्रचंड तौर पर ज़ोरों पर थी। इस सूची में अब्बास साहब का नाम भी था। गोष्ठी में उन पर वैयक्तिक और राजनीतिक प्रहार किये गये। उन्होंने बड़ी दृढ़ता लेकिन शालीनता से आरोपों का तर्कसंगत उत्तर दिया।

एक दिन एक विचित्र घटना हो गयी। मैं और आबिद साइकिल पर सवार अपने घर की ओर जा रहे थे। हमारे आगे-आगे इक्के पर एक लम्बा-सा नौजवान जा रहा था। आबिद बोला-यार, इस आदमी की शक्ल साहिर लुधियानवी से मिलती है। मैंने कहा-वह यहां कहां। उसने साइकिल की रफ़्तार तेज़ की और इक्के से आगे निकल कर उसे रोक लिया। 'जनाब आप साहिर साहब हैं?' 'जी हां' उन्होंने जवाब दिया। 'कहां जा रहे हैं?' 'फिराक़ साहब के हां।' आबिद मुस्करा दिया। वह भी मुस्करा दिए। 'यह देविन्दर इस्सर है। आप इनके कमरे में रह सकते हैं।' और इस तरह वह हमारे कमरे में आ गये। और सबके दोस्त बन गए। मैंने आबिद से पूछाः तुमने कैसे पहचान लिया कि यह साहिर हैं? कहने लगा कि तुम्हारे पास एक किताब है जिसके कवर पर इनकी तस्वीर है। आबिद क्रिकेट का मशहूर खिलाड़ी था। उसे साहित्य में कोई दिलचस्पी नहीं थी और मुझे क्रिकेट में। उन दिनों बंबई की पत्रिका 'निज़ाम वीकली' में मेरी रचनाएं छपना शुरू हो गई थीं। शायद इसलिए भी वह मेरे नाम से थोड़े-बहुत वाकिफ थे। अब आगे की बात मदन दीक्षित की कलम से। 'रात को साहिर भाई अपना वायदा निभाते हुए दविंदर के कमरे पर आ गए...रात भर चाय के दौर चलते रहे। हम लोग साहिर भाई की मुख्तलिफ़ नज़्मों को लेकर बार-बार उन्हें कटघरे में खड़ा करते रहे और वे हर बार अपनी कैफ़ियत पेश करके बाइज़्ज़त बरी होते हुए कटघरे से बाहर आकर खड़े होते रहे।'

> मैं जब दिल्ली से बाहर रहा और फिर कई वर्षों के बाद वापस आया तो देवेन्द्र इस्सर से मिलने के बाद मालूम हुआ कि वह अब पहले जैसे कम्युनिस्ट और क्रान्तिकारी नहीं रहे। उनकी विचारधारा में बहुत तब्दीली आ चुकी थी। तब मुझे अपने विचारों पर फिर से गौर करना पड़ा और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि देवेन्द्र इस्सर की सोच बिलकुल ठीक है।
>
> -सुरेन्द्र प्रकाश, 'कहाँ है मंज़िल तेरी'

एक दिन मैं, मदन दीक्षित, हरिश्चन्द्र चन्दोला और एक मित्र हरगोविंद डबराल गिरफ़्तार कर लिए गए। हमने कई छात्रों के साथ प्रशासन के दमन के विरोध में एक विशाल जुलूस निकाला था। जुलूस को रोकने और प्रदर्शनकारियों को गिरफ़्तार करने के लिए पुलिस का भारी बंदोबस्त था। इस घटना का वर्णन हमारे साथ पकड़े गये चन्दोला साहब ने यूं किया : 'इस उबाल के ठंडे होने तक नेता लोग जेल में रहे और फिर बाहर निकल कर कुछ साल बाद दमनचक्र धारिणी कांग्रेस का समर्थन कर और बड़े नेता, न्यायाधीश, सरकारी कमेटियों तथा अकादमियों के सदस्य या प्रधान हो गए, जैसे नेताओं ने सत्ता की कुर्सी-दौड़ को क्रान्ति से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया...मुझे गर्व है कि इलाहाबाद में नए आए देवेन्द्र औरों की तरह उस जुलूस से भागे नहीं थे।...आज पचास साल बाद भी, मेरे हृदय में देवेन्द्र तथा मदन के लिए अनंत स्थान है। हम तीनों तब भागे नहीं थे और अब भी शायद अपने-अपने स्थानों में पता नहीं कहां-कहां छोटी-मोटी लड़ाइयां जारी रखे हुए हैं।' (वे दिन-वे बातें, हरिश्चन्द्र चंदोला, हंस, अप्रैल 1997)

परीक्षा समाप्त होने पर 1947 में कानपुर वापस आ गया। उसी वर्ष प्रांतीय प्रगतिशील लेखक संघ की कार्यकारिणी समिति का सदस्य चुन लिया गया। इस समिति में क्रमानुसार प्रकाशचन्द्र गुप्त, अब्दुल अलीम, आदित्य मिश्र, नरोत्तम नागर, अमृत राय, एहतेशाम हुसैन, आले अहमद सरूर, सूर्यदत्त दुबे, देवेन्द्र इस्सर, सय्यदा यह्या और रामविलास शर्मा शामिल थे। थोड़े समय बाद 1950 के नववर्ष दिवस पर फिर गिरफ़्तार कर लिया गया। इसकी तफ़सील ग़ैर ज़रूरी हैः 'कट ही गई हिज्र की रात। कैसे कटी और है बात।' लेकिन अब भी कभी-कभी रात के सन्नाटे में 'जंगला, ताला, बत्ती सब ठीक है' की आवाज़ गूंजने लगती है। और साथ ही एक और आवाज़-'ज़ालिम ज़माना तुझ को मुझ से छुड़ा रहा है। अंजाम ज़िंदगी का नज़दीक आ रहा है।' कहानी 'आदमी परिंदा है' में इस आवाज़ वाले युवक का ज़िक्र करते हुए मैंने लिखा हैः 'मैंने महसूस किया उसकी आवाज़ में बड़ा दर्द है। एक रात वह गा रहा था-कुल्ली नी यार दी विचूं अल्लाह हू दा आवाज़ा आवे। वह मस्ती की मुद्रा में डूब कर गा रहा था।...जब हम दूसरी सुबह बैरक से बाहर आये तो मैंने एक नवयुवक से पूछा, यह हर रोज़ गाना कौन गाता

है? वह बोला, साब मैं गाता हूं।...किस अपराध में यहां आये हो? हत्या के- उसने जवाब दिया। उसके चेहरे पर हत्यारे का कोई लक्षण नहीं था। क्या बात हुई थी? वही जो फिल्मों में होता है। उसने कहा। ...साब अब जेल में मुझे उससे मिलने नहीं दिया जाता। थोड़ी देर वह रुका और बोलाः उचियां कंधा ढक न सकन फुलां दी खुशबू। अरे तुम तो बिल्कुल सूफ़ी नज़र आते हो। साब कहां का सूफ़ी संत, बस एक हत्यारा अपराधी कैदी- उसने कहा और फिर दूसरे कैदियों के साथ काम पर चला गया।'

रिहाई के बाद मैंने कानपुर छोड़ दिया। दिल्ली चला आया। करोल बाग में अजमल खां रोड की एक गली में भाटिया टी स्टाल पर चाय पी रहा था। दो नौजवान एक दूसरी मेज़ से उठकर मेरे पास आ गए। उनमें से एक बोलाः आप दविन्दर इस्सर हैं? जी हां-मैंने कहा। आपने कैसे पहचान लिया? वह बोलाः एक रिसाले में आपकी तस्वीर देखी थी। वे दोनों मेरे पास बैठ गए। वह सुरेन्द्र प्रकाश था जिसे कहानियां पढ़ने का शौक था। लेकिन लिखता नहीं था। दूसरे का परिचय उसने विश्वनाथ 'हर्र' कहकर कराया। वह रावलपिंडी से आया था और शायर था। और फिर यूं हुआ कि दिल्ली में सुरेन्द्र प्रकाश मेरा सबसे घनिष्ट मित्र बन गया। मैंने अपना प्रथम कहानी संग्रह 'फूल, बच्चा और जिन्दगी' उसके नाम समर्पित किया था। उसमें उसकी जिन्दगी पर लिखी एक कहानी भी थी। फिर उसने कहानियां लिखना शुरू कर दिया। बिल्कुल नयी तर्ज़ की कहानियां। ऐसी कहानियां पाकिस्तान में सिर्फ़ इन्तज़ार हुसैन लिखता था। वह ज़्यादा पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं था। शायद हाई स्कूल तक पढ़ा था। और फिर वह इतना मशहूर हो गया कि उसे साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी मिल गया। और वह बंबई में चला गया। 'अनामिका' जैसी फिल्म की कहानी लिखी।

कुछ अर्सा-लगभग नौ-दस वर्षों तक- प्राइवेट कॉलेजों में पढ़ाता रहा-अर्थशास्त्र, इतिहास, अंग्रेजी, हिन्दी (जो मुझे नहीं आती थी) और अन्ततः राजनीति शास्त्र। इसका किस्सा भी दिलचस्प है। एक दिन सुरेन्द्र प्रकाश मेरे कमरे में आये और कहा कि दिल्ली पब्लिक कॉलेज में पॉलिटिकल साइंस पढ़ाने वाले की ज़रूरत है। मैंने आपका नाम दे दिया है। लेकिन मैंने तो यह कभी पढ़ा नहीं। कहाः कह देना कि डबल एम.ए. हूं। मैंने इन्कार कर दिया : यह नहीं कर सकता। उसने यह कहकर कि मैंने वायदा कर लिया है, उस कॉलेज के दरवाज़े तक पहुंचा दिया। मैंने उस दिन उनको संकट से बचाने के लिए क्लास तो ली। अब आगे की कहानी सुरेन्द्र प्रकाश के शब्दों में। 'देवेन्द्र इस्सर मार्क्सवादी थे। पॉलिटिक्स के बारे में बहुत कुछ जानते थे। उन्होंने आध घण्टा लेक्चर दिया। क्लास के बाद देवेन्द्र इस्सर ने कपूर साहब को साफ़ कह दिया कि वह इकोनॉमिक्स में एम.ए. हैं।

दूसरे दिन एक और टीचर का प्रबन्ध हो गया था। वह टीचर पॉलिटिकल साइंस में एम.ए. था। छात्रों ने उसे भी स्टेट के ऑरिजन के बारे में ही पढ़ाने के लिए कहा। जाहिर है कि देवेन्द्र इस्सर के ज्ञान और पढ़ाने के अन्दाज के सामने वह फीका पड़ गया। छात्रों ने देवेन्द्र इस्सर से पढ़ने के लिए आग्रह किया। इस प्रकार वे दो-तीन प्राइवेट कोचिंग कॉलेजों में पढ़ाने लगे और उनका गुज़र-बसर अच्छा होने लगा।'

करीब आधी रात का समय था जब मैं इथका इवाई अड्डे पर उतरा। एक अधेड़ आयु की महिला दो बंगलादेशियों का नाम पुकार रही थी। मैं उसके पास पहुंच गया। बताया कि मुझे भी कार्नेल विश्वविद्यालय जाना है। उसके पास इसकी कोई सूचना नहीं थी। लेकिन अपने साथ चलने के लिए कहा। एक साहब ने मेरा अटैची उठा लिया और डिकी में रख लिया। वह कार ड्राइव कर रहा था। मैंने सोचा कि शायद यूनिवर्सिटी का ड्राइवर है। जब बातें होने लगीं तो उसने बताया कि वह मनोविज्ञान का प्रोफ़ेसर है। मैं हैरान तो हुआ ही, पशेमान भी हुआ। उन्होंने रात एक कमरे में ठहरा दिया। कमरे में लड़के-लड़कियां किसी बहस में उलझे हुए थे। मेरे पहुंचने से बातचीत का रुख बदल गया। उस एक रात में मैंने जैसे सारा अमरीका देख लिया, महसूस कर लिया। यह सातवें दशक का दौर था। लेकिन छठें दशक का अमेरिका अभी भी अपनी जवानी के जोश में मदहोश था-इतना ही हंगामाख़ेज। लिबरेशन आंदोलनों का शोर ख़त्म नहीं हुआ था। यौन क्रान्ति, विमन लिबरेशन, स्टुडेंट रिवोल्ट, ब्लैक रैवोलूशन, हिप्पीज़, यीप्पीज़, फ्लावर चिल्ड्रन, मूवमेंट फ़ार फ्री स्पीच, बीट्स, वाटरगेट और उत्तर संरचनावाद, ब्लाक पार्टियों, सेमिनारों, स्ट्रीट थियेटर, निक्सन कॉर्नीवाल...कितने अनुभवों से गुज़रना पड़ा, इनके बारे में चर्चाओं में शामिल हुआ, पढ़ा और किसी हद तक लिखा भी- विशेष रूप से अंग्रेजी में। इथका झीलों, पार्कों और छोटी-छोटी पहाड़ियों का शहर था। यूनिवर्सिटी तो आन्दोलनों का केन्द्र थी ही लेकिन हंगामे कॉलेज टाऊन में होते थे जहां मैं रहता था और जिसकी सुविधाओं को लेकर हमने आंदोलन भी किया। यह पहला तजुर्बा था कि किस प्रकार टेलिविज़न और समाचार पत्रों ने न सिर्फ़ खबरें प्रसारित कीं बल्कि पूरी नगर व्यवस्था हरकत में आ गई। यूनिवर्सिटी और कॉलेजों के अतिरिक्त शहर की कई संस्थाओं ने हमारा समर्थन किया। हमारे अपार्टमेंट्स की काया पलट हो गई। एक बार हम वाटरगेट प्लाज़ा के सामने से गुज़र रहे थे। एक अमरीकी मित्र डेविड स्टिम्पसन ने कहा- दिस इज़ द ग्रेव आफ़ निक्सन। उस एक वर्ष में होस्टल में गुज़ारी पहली रात का विस्तार, उसके अनेक रूपों और स्तरों को देखने-परखने और

समझने का अवसर मिला। जिन लोगों की पुस्तकों और जिनके बारे में पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ते थे उनको करीब से देखने और सुनने का अवसर मिला। यह ऐसा अनुभव था जिसकी कल्पना की जा सकती है बयान नहीं किया जा सकता। क्योंकि मेरा विषय कम्युनिकेशन आर्ट्स था इसलिए और अधिक इक्सपोज़र हुआ। क्योंकि यह यूनिवर्सिटी थी इसलिए हर रोज़ कोई न कोई हंगामा होता रहता था। विख्यात लेखक, चिन्तक, रेडिकल एक्टिविस्ट आते रहते थे। दिमाग़ की खिड़कियां खुलती चली गईं। जहां दीवारें थीं वहां दरवाज़े नज़र आने लगे। इसी बहाने फ्रांस, इटली, जर्मनी, डेनमार्क, स्विट्जरलैंड, कनाडा, इंगलैंड और ईरान घूम लिया। मेरा वैयक्तिक पैराडाइम शिफ्ट हो गया। इसका अंजाम इतना ख़तरनाक होगा-लेखन, चिन्तन और जीवन में, मालूम नहीं था। 'मह्‌वे हैरत हूं कि दुनिया क्या से क्या हो जायेगी।'

यह 1972 की बात है। अमरीका जाने से एक वर्ष पूर्व की। अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी में एक सेमिनार था। मेरे पेपर पर टिप्पणी करते हुए उर्दू के प्रथम पंक्ति के एक आलोचक ने कहा कि देवेन्द्र इस्सर हमारे अदब के सबसे बड़े फ़ासिस्ट हैं। मेरा उत्तर था: मैं नहीं जानता कि मैं फ़ासिस्ट हूं या कितना बड़ा फ़ासिस्ट हूं। लेकिन इतना जानता हूं कि जब इस देश में फासिज्म आयेगा तो इसका फ़ैसला हो जायेगा कि रेखा के इस पार कौन है और उस पार कौन। जब मैं वापस भारत आया तो उसके एक वर्ष के भीतर ही देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गई। वे और अन्य कई लेखक और बुद्धिजीवी जो अब भी अपने से भिन्न विचार रखने वालों को फासीवादी होने का फ़तवा देते हैं वे आपातकाल के समर्थन में जलसे कर रहे थे, जुलूस निकाल रहे थे, वक्तव्य जारी कर रहे थे।

देविंदर हम लोगों से थोड़ा भिन्न था। हम लोग जरा दकियानूस किस्म के प्रगतिशील थे-मार्क्स को आखिरी नबी मानते थे और अपनी समझ से उनके दिखाए हुए रास्ते से सूई की नोंक के बराबर भी भटकने वाले को काफिर समझते थे। देविंदर मार्क्स, डार्विन और फ्रायड को उन्नीसवी शताब्दी के युगांतरकारी चिंतकों में गिनता था, तो हम लोग डार्विन तक तो बर्दाश्त कर लेते थे, लेकिन फ्रायड के मामले में, उसे अपना दोस्त समझ कर ही उसको दो हाथ लगाने का इरादा छोड़ दिया करते थे। देविंदर मंटो को समाजी जर्राह कहता था, तो हम लोगों की नज़र में मंटो एक फूहड़ मेहतरानी था, जो समाज की सारी गलाजत को बिना किसी निश्चित उद्देश्य के सड़क पर बिखेर देता था।

-मदन दीक्षित, देवेन्द्र इस्सर का कमरा

एक दिन एक पत्र मिला कि एक कैबिनेट मन्त्री ने अपने निवास स्थान पर चाय पर बुलाया है। वहां पहुंचने पर पाया कि हमारे कई मित्र आमन्त्रित किए गए हैं। लेकिन इनका साहस देखकर बड़ा आश्वस्त हुआ कि सब के सबने एक आवाज़ में तानाशाही का समर्थन करने से इन्कार कर दिया। बाहर निकलने पर मन्त्री महोदय ने कहा कि आपके लिए गाड़ी तैयार है तो हमारे बीच में से किसी ने कहा, 'तिहाड़ जेल के लिए।'

अपने आलेख 'अव्यक्त मनःस्थितियों की कहानियां' का प्रारम्भ साजिदा ज़ैदी ने इन शब्दों में किया: 'एक बार वार्तालाप के दौरान देवेन्द्र इस्सर के इस कथन ने चौंका दिया-मैं पिछले पच्चीस-तीस साल से एक ही कहानी लिख रहा हूं। मैंने विस्मय से उनकी तरफ देखा। यह व्यक्ति अपने सम्बन्ध में न केवल इतनी निर्मम राय रखता है बल्कि उसे व्यक्त भी कर सकता है। फिर मैंने सोचा कि वे ठीक ही कह रहे हैं।'

जिस समय मैंने लिखना शुरू किया था तो कहानी पर राजनीति का बड़ा दबाव था। 'हंस' (बनारस) में मेरी कहानी 'मुक्ति' छपी तो कई अन्य रचनाओं के साथ इसे भी सरकारी प्रकोप का निशाना बनना पड़ा।

लेकिन कालान्तर में बाहर की दुनिया दिल के आंतरिक संसार में बदल गई। इस हद तक यह परिवर्तन हुआ कि आम पाठक से मेरा संवादसूत्र टूट गया। जब मेरा कहानी संग्रह 'आदमी परिन्दा है' प्रकाशित हुआ तो उस पर छपी एक समीक्षा का प्रथम वाक्य ही कुछ इस प्रकार का था- 'प्रयत्न करने पर भी आम पाठक इन कहानियों से अपने को जोड़ नहीं पाता।'. एक अन्य कहानी के प्रकाशन में विलंब का कारण संपादक ने यह बताया कि दो बार पढ़ने पर भी कहानी उनकी समझ में नहीं आयी। एक अन्य कहानी के बारे में संपादक ने कहा कि यदि कहानी के बारे में एक संक्षिप्त नोट दे दें तो पाठकों को समझने में सुविधा होगी। और नौबत यहां तक पहुंची कि एक कहानी यहं कहकर लौटा दी गई, 'अलग तरह की कहानी तो है ही- बोर्खेज़, सिंगर वग़ैरह की तरह। लेकिन यह पाठकों की समझ से परे रहेगी अधिकांश।'

यह मेरी आख़िरी कहानी थी। इस बात को पांच वर्ष बीत चुके हैं। मुझे इस बात का अफ़सोस नहीं लेकिन इसका मलाल ज़रूर है कि कहानी मुकम्मल होने से पहले ही ख़त्म हो गई। (अच्छा किया हम पर रहम किया- आम पाठक ने कहा।) आज से लगभग साठ साल पूर्व प्रो. मुहम्मद अजमल के कहे शब्द याद आते हैं जो उन्होंने मेरी पहली कहानी को पढ़कर कहे थे-व्यक्तियों, वस्तुओं, विचारों को देखने का कोई एक तरीका नहीं होता। और न ही अभिव्यक्ति का कोई एक रूप। किसी दूसरे की सोच और शैली की पैरवी न करो। हमेशा टॉप से शुरू करो। लेकिन सबसे अहम बात यह कही कि महान लेखक बनने से बेहतर है 'अलग' लेखक बनना।

यह दिल्ली है मेरी जान। आधी सदी से ज्यादा ज़िन्दगी इस शहर में बीत गई। पचहत्तर + एक वर्ष जिन्दगी करना दास्तान-दर-दास्तान से गुज़रना है। लोग जो भी कहें कि यह शहर बदचलन व्यक्तियों का बसेरा बनता जा रहा है। लेकिन यह शहर प्यार पर मर मिटने वालों का मरकज़ भी है। यह अलग बात है कि मैं थोड़ा बदनाम लेकिन ज़्यादा गुमनाम व्यक्ति हूँ। गुलज़ार साहब ने अपना कहानी संग्रह 'दस्तख़त' भिजवाया इन पंक्तियों के साथ-'मुहतरिम देवेन्द्र भाई। काश इस बार दस्तख़त आपकी गली का रास्ता पहचान ले।' दरअसल दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं। एक जिनकी जीवनी होती है यानी बायोडेटा होता है। दूसरे वे जिनका कोई बायोडेटा नहीं होता। जिनका कोई बायोडेटा नहीं होता उनका कोई वजूद नहीं होता। क्योंकि मेरा कोई बायोडेटा नहीं, लिहाज़ा मेरा कोई वजूद नहीं।

मुझसे कई बार कुछ लोग प्रश्न करते हैं:

'तुम राह में चुपचाप खड़े हो तो गये हो
किस-किसको बताओगे कि घर क्यों नहीं जाते।'

-अमीरं कज़्लबाश

मैं ख़ामोश रह जाता हूं और कमरे की तरफ़ लौट जाता हूं जो मेरा घर नहीं है। और 'उनको शिकायत है कि हम कुछ नहीं कहते। अपनी तो यह आदत है हम कुछ नहीं कहते।' दिल का नगर एक बार ही आबाद होता है। यह ऐसी बस्ती है कि बसते बसते बसती है। एक ऐसा शीशा है जो टूट जाए तो उसका मसीहा कोई नहीं होता। 'शीशों का मसीहा कोई नहीं, क्यों आस लगाए बैठे हो।' (फ़ैज़ अहमद फ़ैज़) इस समय जब मैं ये सतरें लिख रहा हूं तो साहिर का यह शे'र याद आ रहा है :

'टूटा तिलिस्मे अहदे मुहब्बत कुछ इस तरह
हम ज़िन्दगी में और कोई अरमां न कर सके।'

मेरा एक अरमान था। सोचा था खुशबू बन के लौटेंगे। मैं लौटा ज़रूर। लेकिन खुशबू बनकर नहीं।

मैंने देवेन्द्र इस्सर को जितना देखा, जितना बरता, जितना महसूस किया-उसकी ज़िन्दगी बिलकुल सपाट और सीधी-सादा है। उसमें कोई उतार-चढ़ाव नहीं। कोई एड्वेन्चर नहीं।

इसका कारण यह है कि देवेन्द्र इस्सर ने अपनी खुशियाँ और ग़म कभी किसी के साथ बांटे नहीं। देवेन्द्र इस्सर के अन्दर कितने तूफान उठते रहे होंगे। इनका किसी को कोई इल्म नहीं है।

अब ऐसे आदमी के बारे में क्या कहा जा सकता है या लिखा जा सकता है जिसने न कभी किसी से दिल की बात की न कभी किसी से झगड़ा किया। कम-से-कम मैंने देवेन्द्र इस्सर को कभी किसी से नाराज़ होते, झगड़ा करते या वालहाना (उल्लासपूर्ण) इश्क करते नहीं देखा। उन्होंने जो कुछ भी किया अपने अन्दर रखा। उसे कभी जाहिर होने नहीं दिया।

-सुरेन्द्र प्रकाश, 'कहां है मंजिल तेरी'

उर्दू के युवा शायर आशुफ़्ता चंगेज़ी ने अपना कविता संग्रह 'शहरे गुमां' 'खुशबू बन के लौटेंगे' की ये सतरें लिख कर भेजाः 'हर बार ज़िन्दगी से हमारा सामना ऐसे होता है जैसे पहली बार उससे मुलाकात हुई है। ऐसे जजीरे में दाखिल होते हैं जहां किसी के कदम नहीं पड़े। ऐसे जंगलों में जाते हैं जहां कोई पगडंडी नहीं। और जो भी उसमें एक बार दाख़िल हुआ वापस नहीं आया।' सुना है कि शगुफ़्ता एक दिन घर से निकले और एक रेलगाड़ी पर सवार हो गये। फिर उनका कुछ पता नहीं चला कि इस 'शहरे गुमां' में कहां गुम हो गये। मैं अपने लिए और सबके लिए अंतिम प्रार्थना के तौर पर उनकी एक पंक्ति दुहराता हूं:

'ख्वाब जितने देखने हैं आज सारे देख लें
क्या भरोसा कल कहां यह पागल हवा ले जायेगी।'

किसी ने पूछा- बहुत दिन जी लिये, अंतिम इच्छा क्या है? मैंने हाजरा नाज़ली (कुछ समय पूर्व ही जिनका निधन हुआ है) की यह पंक्ति दुहरा दीः 'कि आंख बंद हो और आदमी अफ़साना हो जाये।'

बी-3/153, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

संध्या छाया

अगले अंक में डॉ. रामदरश मिश्र

नंद किशोर विक्रम

'देव' जिसे लोग भूल गए

हर शहर-हर नगर की एक पहचान होती है जैसे लाहौर की अनारकली, दिल्ली की चाँदनी चौक, कोलकाता की चौरंगी बाजार और मुंबई की मैरीन ड्राइव। इसी तरह रावलपिंडी की पहचान है राजा बाज़ार। आज के दौर में मालूम नहीं इसकी क्या हैसियत और महत्व है मगर हमारे ज़माने में तो यह शहर का सबसे बड़ा, रौनकदार तथा केन्द्रीय बाज़ार था। रोज़ सिनेमा से आते हुए इस चौक से सामने की सड़क प्रकाश टाकीज़ से होती हुई 'सरदारों के बाड़ा' से होती हुई शमशान घाट और लई की ओर निकल जाती थी और बायें तरफ़ की सड़क बाज़ार सराफा और भाभड़ा बाज़ार की तरफ़ और चौथी सड़क उस इलाके की तरफ निकल जाती थी जो शरीफ़ आदमियों के लिए वर्जित क्षेत्र की हैसियत रखता था और जिसे जनता की भाषा में चकला या रंडी बाजार कहा जाता है। किन्तु चूंकि यह इलाका शहर से बाहर लई नदी के उस पार स्थित था इसलिए पिंडीवासी उसे 'पार' के नाम से पुकारते थे और तांगे वाले भी चौक के पास उस सड़क पर खड़े होकर आवांज़ लगाते थे और कहते थे-'पार चलो-पार चलो' मगर शरीफ आदमी तो उनके पास फटकने का भी साहस नहीं करते थे। इस सड़क के आरम्भ में दोनों ओर, खाने-पीने की दुकाने थीं अतः वहां बदबू के फ़व्वारे छूटते थे जिस कारण गुज़रने वाले नाक पर रूमाल रख लेते थे। इस बाज़ार में दाखिल होते ही दो-तीन होटलों के बाद दायें ओर 'डिंगी खूही' अर्थात् टेढ़ा कुआं स्थित था हालांकि यह टेढ़ा नहीं था। मालूम नहीं फिर इसका यह नाम क्यों पड़ गया था। खैर इसी 'डिंगी खूही' के बगल में एक बड़ा सा गेट था जिस पर देवनागरी लिपि में बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था-

'श्री पीर मोती नाथ जी संस्कृत पाठशाला'

इसी पाठशाला के एक कमरे में संभवतः 1944 में मेरी देवेन्द्र इस्सर से पहली भेंट हुई जहां उनके बड़े भाई महेन्द्र नाथ इस्सर और मेरे मामा भक्त ज्योती प्रकाश जी इकट्ठे रहा करते थे। उस समय देवेन्द्र इस्सर पंद्रह-सोलह वर्ष के थे और उन्होंने साहित्यिक संसार में प्रवेश नहीं किया था तथा घर के लोग और मित्रगण उन्हें देवेन्द्र इस्सर के नाम से नहीं बल्कि 'देव' के नाम से पुकारते थे।

देवेन्द्र इस्सर से उपयुर्क्त भेंट से बहुत पहले महेन्द्र नाथ जी मेरा उनसे परोक्ष परिचय करा चुके थे। उन दिनों मैं संभवतः आठवीं कक्षा का विद्यार्थी था और मैं जब भी पाठशाला में मामा जी से मिलने जाता तो महेन्द्र प्रायः मुझसे कहा करते थे कि मेरा भाई देव भी तुम्हारी उम्र का ही है। जब वह यहां आएगा तो मैं उससे तुम्हारी भेंट कराऊंगा। तुम्हारी-उसकी अच्छी पटेगी। तुम्हारी तरह उसे भी पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक है और वह बड़ा ज़हीन विद्यार्थी होने के अतिरिक्त साहित्य एवं राजनीति पर भी अच्छा-खासा तर्क-वितर्क कर लेता है और वह कम्युनिस्ट विचारधारा रखता है।

देवेन्द्र इस्सर का जन्म 1928 में 14 अगस्त के दिन (रात 2 बजकर 38 मिनट पर) हुआ था जो 19 वर्ष पश्चात् उपमहाद्वीप के इतिहास का एक बहुत ही महत्वपूर्ण दिन बन गया और जिसे उपमहाद्वीप की जनता कभी भुला नहीं सकती क्योंकि 1947 में यह दिन पाकिस्तान के जन्म और उसकी स्वतंत्रता का दिन बनने के साथ-साथ उपमहाद्वीप के बटवारे और अंग्रेज़ी साम्राज्य की गुलामी से आज़ादी पाने का दिन बन गया।

इस्सर साहब पर भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव और हेमू कालानी के बलिदान और 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन का गहरा प्रभाव था। जब वे दसवीं कक्षा के विद्यार्थी थे तो उन दिनों उन्होंने और उनके साथियों ने 'रेड आर्मी' संगठित की थी। फिर जब वे कॉलेज में दाखिल हुए तो उनके मानसिक एवं साहित्यिक प्रशिक्षण में उनके उर्दू के शिक्षक डॉ. गुलाम जिलानी 'बर्क़', अंग्रेजी के शिक्षक सिद्दीक़ कलीम तथा मनोविज्ञान एवं दर्शनशास्त्र के शिक्षक डॉ. मुहम्मद अजमल ने बड़ा महत्वपूर्ण रोल निभाया। विशेषकर डॉ. मुहम्मद अजमल ने उन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी थी और उन्हीं के परामर्श और सलाह पर उन्होंने पहली कहानी लिखी थी और इन्हीं शिक्षकों की संगत और प्रशिक्षण ही से उनमें लिखने का शौक़ पैदा हुआ और उन्होंने अपने कॉलेज की पत्रिका 'मशअल' में लेख लिखकर अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ किया।

कैम्बलपुर से प्रवास करने के पश्चात इस्सर अपनी छोटी बहन कमलेश और कुछ अन्य रिश्तेदारों के साथ कानपुर पहुंचे जहां मेरे मामा और महेन्द्र जी पहले ही आ चुके थे।

यह वह ज़माना था जब इस्सर जी की रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं और वे प्रायः शाम को छत पर बैठकर अपने लेख और कहानियां मुझे सुनाया करते थे। इसके थोड़े दिनों बाद इस्सर जी जो कैम्बलपुर से बी.ए. की परीक्षा देकर आए थे, अर्थशास्त्र में एम.ए. करने के लिए इलाहाबाद चले गए और मैं कानपुर से अम्बाला आ गया जहाँ बटवारे के पश्चात मेरे पिता रह रहे थे। यहां आते ही मैंने डी.ए.वी. कॉलेज में प्रवेश ले लिया।

मुझे लिखने का चस्का बटवारे से बहुत पहले लग चुका था मगर अभी तक मेरी रचना प्रकाशित नहीं हुई थी। अम्बाला में दो-तीन महीने फुर्सत के मिले तो सिवाय घूमने और किताबें पढ़ने के कोई काम नहीं था अतः उन्हीं दिनों मैंने एक कहानी लिखी 'अदीब' और उसे प्रकाशन के लिए नई दिल्ली से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'निराला' में भेज दिया जो दिसम्बर 1947 में छपी। यह मेरी पहली रचना थी। इसी दौरान अम्बाला में ही मुझे कम्युनिस्ट पार्टी,

प्रगतिशील आंदोलन और स्टूडेंट फैडरेशन के निकट आने का अवसर मिला हालांकि अम्बाला आने से पूर्व मुझ पर कम्युनिस्ट पार्टी का ज़रा भी प्रभाव न था और न मैंने कभी उसमें दिलचस्पी ली थी।

इंटर की परीक्षा देने के पश्चात मैं फिर कानपुर आ गया और इसी दौरान इस्सर साहब भी एम.ए. की परीक्षा देकर इलाहाबाद से वहीं आ गए। यह संभवतः अप्रैल-मई 1949 की बात है। अब हम पूरी तरह प्रगतिशील लेखक संघ और पार्टी की गतिविधियों में व्यस्त हो गए। उन दिनों हमारे पास एक साइकिल होती थी जिसे इस्सर साहब शायद इलाहाबाद से लाए थे। हम दोनों इसी साइकिल पर हर रोज़ नियमानुसार मूलगंज और चमनगंज की ओर जाते थे जो हमारी गतिविधियों का केन्द्र था। मगर साइकिल चलाने में हममें पूरी तरह अंडरस्टैडिंग थी। यदि जाते हुए साइकिल वे चलाते थे तो वापसी पर यह काम मुझे करना होता था और इसमें कहने की आवश्यकता नहीं होती थी।

कानपुर में हम प्रगतिशील लेखक संघ की गतिविधियों के साथ पार्टी की गतिविधियों में भी भाग लेते थे। यहां तक कि मुझे 'न्यू एज' और 'महाज़' को भी कुछ साथियों तक पहुंचाना होता था और कई काम तो हम मिलकर किया करते थे। एक बार इस्सर साहब को कहा गया कि आज रात को नौ बजे एक अंडरग्राउंड कामरेड को हलीम मुस्लिम कॉलेज से किसी जगह पहुंचाना है। अतः दिन में एक व्यक्ति ने हमें साथ ले जाकर वह मकान दिखा दिया जहां उसे पहुंचाना था। फिर रात में हम हलीम मुस्लिम कॉलेज पहुंचे और वहां एक विद्यार्थी के पास रह रहे उस कामरेड को साथ लिया जिसके लम्बे-लम्बे बाल बिखरे हुए थे और चेहरे पर परेशानी और कष्टों के चिह्न साफ़ दिखाई दे रहे थे। हम तीनों बिलकुल खामोशी से तंग और अंधेरी गलियों से होते हुए उस मकान पर पहुंचे और उस नौजवान को वहां पहुंचाकर घर वापस आ गए। जानते हैं वह परेशान-हाल नौजवान कौन था? कामरेड मूनिस रज़ा जो बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे।

एक दिन चमनगंज में कुछ साहित्यकार दोस्त बैठे हुए थे कि इस्सर साहब ने एक प्रगतिशील पत्रिका 'इर्तिक़ा' निकालने की योजना बनाई। मगर सवाल पैदा हुआ कि उसके दफ़्तर के लिए कौन सी जगह लिखवाई जाए क्योंकि घर का पता लिखवाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इस पर वहां बैठे एक काम्रेड ने कहा कि पते की क्या समस्या है। उन्होंने तुरंत एक दुकान का पता लिखवा दिया जिस पर हम डिक्लेरेशन लेने तुरंत कचहरी पहुंच गए क्योंकि उन दिनों डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को ही डिक्लेरेशन देने का अधिकार था। वहां हमने फ़ार्म लिया और उस पर मैंने संपादक, प्रकाशक और मुद्रक के तौर पर हस्ताक्षर कर दिए तथा ओथ कमिश्नर बालकृष्ण बत्रा से, जो कि उर्दू साहित्य एवं काव्य में बड़ी रुचि रखते थे, डिक्लेरेशन में दर्ज विवरण की तस्दीक करवाकर उसे डिस्ट्रिक्ट मजिस्टेट के सामने पेश किया और आध घंटे के अंदर ही आज्ञापत्र भी मिल गया।

दो-तीन दिन बाद हमने सोचा कि इस तथाकथित दफ़्तर को देख लें जहां डिक्लेरेशन के अनुसार हमारा दफ़्तर स्थित है ताकि कल-कलां कोई पूछे तो हम बता तो सकें कि दफ़्तर कहां है। अतः दफ़्तर का पता देने वाले कामरेड से इस्सर साहब ने कहा कि कामरेड कम-से-कम वह स्थान तो दिखा दो जहां 'इर्तिक़ा' का दफ़्तर स्थित है। इस पर वह कई गलियां घुमाता हुआ एक अजनबी सी जगह पर ले गया और वर्षों से ताला लगी एक दुकान के सामने खड़ा करके कहने लगा, यह है आपका दफ़्तर। मैं और इस्सर साहब आश्चर्य से उसका मुंह देखने लगे।

अब आया रिसाले की किताबत का सवाल। उन दिनों कानपुर में एक प्रसिद्ध कातिब रफ़ीक सहबाई हुआ करते थे जो खुद भी एक अख़बार के संपादक रह चुके थे और जिनका किताबत में कोई जवाब न था। उनसे हमने आग्रह किया कि सहबाई साहब, हमें इस रिसाले की किताबत कर दीजिए। यद्यपि सहबाई बहुत बड़े कातिब थे और वे छोटा-मोटा काम हाथ में न लेते थे मगर उन्होंने बिना किसी संकोच के उसकी किताबत की हामी ही नहीं भरी बल्कि एक सप्ताह में उसकी किताबत भी कर दी और उस पर अजीब बात यह कि उसका एक पैसा भी पारिश्रमिक नहीं लिया। फिर ख़्वाजा बर्की प्रेस से छपवाकर उसे सिलाई ओर डिस्पैच के लिए हम घर ले आए और रात के बारह बजे तक बैठकर पहले तो स्टैपलर से हमने उसकी स्टिचिंग की और फिर उन पर लेखकों के पते लिखकर उन्हें डाक से भेजने के लिए तैयार करते रहे। वास्तव में यह पत्रिका इस्सर साहब की मेहनत का नतीजा थी और इसे पसंद भी बहुत किया गया। हालांकि यह छोटी पत्रिका सोलह पृष्ठों तक सीमित थी और उसमें एक कहानी, एक नज़्म, एक ग़ज़ल, एक साहित्यिक लेख, एक राजनैतिक एवं साहित्यिक लेख और संपादकीय शामिल था, फिर भी इस पत्रिका के प्रकाशन पर कई लेखकों ने इसकी प्रशंसा में पत्र लिखे। मगर अफ़सोस कि इसका दूसरा अंक प्रकाशित होने की नौबत न आई और इस्सर साहब की ग़िरफ़्तारी के साथ ही इस पत्रिका की मौत हो गई।

हुआ यों कि पुलिस कई महीनों से हमारी गतिविधियों पर नज़र रखे हुए थी। उन्हीं दिनों लखनऊ में पार्टी का कोई सम्मेलन था। हम सुबह नित्यप्रति की तरह घर से निकलते और साइकिल को रेलवे स्टेशन पर रखकर गाड़ी से लखनऊ चले जाते और सम्मेलन में भाग लेकर रात को घर वापस आ जाते जिससे घर वालों को पता ही न चला कि हम लखनऊ सम्मेलन में भाग लेने

जाते थे। घर वालों पर यह भेद तब खुला जब इस्सर साहब को पुलिस ने गिरफ्तार किया था।

पहली जनवरी 1950 की सुबह की बात है। मैं कोई आठ-नौ बजे के करीब नव-वर्ष की बधाई देने के लिए इस्सर साहब के घर गया और फिर उनके घर के सभी सदस्यों को बधाई देकर अभी घर लौटा ही था कि दस-पंद्रह मिनट पश्चात इस्सर साहब की छोटी बहन कमलेश रोती हुई आई और उसने बताया कि 'देव भाई साहब को पुलिस पकड़ कर ले गई है।' उनकी गिरफ्तारी की ख़बर सुनते ही मामा जी तो तुरंत उनके घर की ओर चले गए और मैं जल्दी से तैयार होकर घर से रफूचक्कर होकर फूल बाग़ के पास अपने एक मित्र गोबिन्द मूनिस के घर चला गया जो 'इर्तिका' के तीसरे संपादक थे और हमारी तरह पार्टी से संबंधित थे। मैंने उनके घर जाकर उन्हें सूचना दी कि इस्सर साहब को गिरफ्तार कर लिया गया है इसलिए तुरंत घर से निकल चलो ताकि पुलिस आकर तुम्हें गिरफ्तार न कर ले। इसके पश्चात मैं और गोबिन्द मूनिस शाम को अंधेरा होने तक फूल बाग़ में बैठे रहे और जब अंधेरा छा गया तो हम अपने-अपने घरों की तरफ चल पड़े। गोबिन्द मूनिस से इसके बाद फिर कभी मुलाकात न हो पाई क्योंकि उन्हें ड्रामों में भाग लेने का शौक़ था और वे इप्टा से भी संबंधित थे। शायद जल्दी ही वे बम्बई चले गए और वहां उन्होंने अच्छे कदम जमा लिए। एक बार समाचार पत्रों में यह भी पढ़ा था कि माधुरी दीक्षित को फिल्मी दुनिया से उन्होंने ही परिचित कराया था (शायद वे भी दीक्षित थे)।

इस्सर साहब कोई बीस-पच्चीस दिन जेल में बंद रहे और इसके बाद मेरे मामा जी ने, जिनका कांग्रेसी होने के नाते कई लोगों से परिचय था, जानकारी एवं पहुंच द्वारा उन्हें रिहा करा दिया और इस रिहाई के कुछ दिनों पश्चात वे कानपुर को हमेशा-हमेशा के लिए विदा कहकर दिल्ली आ गए।

दिल्ली आने के पश्चात इस्सर साहब को थोड़ी सी दौड़-धूप के बाद दो-तीन प्राइवेट कॉलेजों में पढ़ाने की नौकरी मिल गई। यहां पढ़ाने के दौरान बहुत सी लड़कियां उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता से अत्यंत प्रभावित हुईं और कई रोमांस भी चले। इन्हीं लड़कियों में से एक से उनके रोमांस का मुझे तब पता चला जब एक दिन वे बिरला मंदिर के पास उसके साथ आए थे जहां उन दिनों वह पंजाब विश्वविद्यालय की पत्रकारिता की क्लासें एटेंड करती थी और वहीं पहली बार मेरा उससे परिचय हुआ। इस्सर साहब की उससे मित्रता दिन-प्रति-दिन बढ़ती गई तथा फिर शीघ्र ही यह मित्रता शादी के बंधन की सूरत में परिवर्तित हो गई हालांकि घर के सदस्य और कई मित्र कुछ कारणों से इस शादी के विरुद्ध थे किन्तु एक तो इस्सर साहब बड़े आज़ाद ख़्याल व्यक्ति थे और दूसरे उन पर इश्क का भूत सवार था, अतः उनके इरादे पर कोई प्रभाव न पड़ा और अंततः जुलाई 1961 में दोनों की शादी हो गई जिसके परिणामस्वरूप वे दो बेटों के बाप भी बन गए मगर अफ़सोस कि कुछ कारणों से उनमें आपस में ज्यादा देर तक निभ न सकी और विवाह के लगभग 25 वर्ष बाद उनमें तलाक हो गया और वे अलग-अलग रहने लगे।

शादी से कुछ समय पहले इस्सर साहब ने प्राइवेट कॉलेजों में पढ़ाना बंद कर दिया था क्योंकि उन्हें केन्द्रीय सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय में नौकरी मिल गई थी और वे उसके अधीन प्रकाशित होने वाली अंग्रेजी पत्रिका के संपादन से जुड़ गए थे और फिर यहीं से 31 अगस्त 1986 को वे सेवा-निवृत्त होकर लिखने-पढ़ने में व्यस्त हो गए।

दिल्ली आने के पश्चात इस्सर साहब की राजनीतिक गतिविधियां तो बंद हो गईं मगर साहित्यिक गतिविधियां अधिक बढ़ गईं। इन्हीं दिनों उन्होंने कुछ साथियों के सहयोग से करोल बाग में एक साहित्यिक संस्था 'कल्चरल फोरम' की स्थापना की जिसमें बहुत सी महत्वपूर्ण हस्तियां भाग लिया करती थीं। कुछ ने तो इसी फोरम द्वारा अपने आपको साहित्यिक संसार से परिचित कराया था। इस संस्था का उद्देश्य प्रगतिशील एवं आधुनिक विचारों पर आधारित साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करना था।

किन्तु बाद में वे धीरे-धीरे प्रगतिशील आंदोलन और कम्युनिस्ट पार्टी से दूर होते गए हालांकि एक समय ऐसा भी था जब वे पार्टी के बहुत बड़े प्रचारक थे और इसकी हिमायत में हर किसी से वाद-विवाद में इतने जोश में आ जाते थे कि उनका स्वर बहुत ऊंचा हो जाता था। किन्तु दिल्ली आने के पश्चात इसमें शनैः शनै कमी आती गई और फिर एक ऐसा समय आया जब वे पार्टी से बहुत दूर हो गए। जब लोग इस परिवर्तन के बारे में पूछते थे तो वे कहते थे कि पार्टी ने बहुत सी गलतियां की हैं और इसके स्वार्थवाद और अवसरवाद ने आंदोलन को हानि पहुंचाई है। मगर मेरा ख्याल है कि हो सकता है पार्टी से संपूर्ण रूप से अलग होने का बड़ा कारण सरकारी नौकरी इख्तियार करना हो और इसीलिए उन्होंने अपनी सोच का रास्ता बदल लिया हो। स्वयं उन्होंने इस बारे में एक इंटरव्यू में कहा था कि वे साम्यवाद ही से नहीं, राजनीति से ही बेजार हो गए हैं और हर प्रकार के बंद विचारों और सत्ता की राजनीति का विरोध करते हैं क्योंकि ये व्यक्ति को मैनीपुलेट और मैनेज करते हैं और वे मनुष्य की मैनीपुलेशन, चाहे वह राजनीतिक हो, आर्थिक या धार्मिक हो या जाति एवं बिरादरी की, उसका समर्थन नहीं कर सकते।

जे-6, कृष्णा नगर, दिल्ली-110052

डॉ. गुरचरण सिंह

परछाईं और तितली को पकड़ते हुए

'क्या है मनुष्य के अन्दर जो उसे खुशबू, रंग और आवाज को पकड़ने के लिए जुनून की सीमा तक ले जाता है, जहाँ मृत्यु जीवन बन जाती है, उसकी शक्ति बन जाती है।' (खुशबू बनके लौटेंगे)

देवेन्द्र इस्सर की रचनाओं का यथार्थ व्यक्ति के अन्दर का है। व्यक्ति के मन, मस्तिष्क, उसकी भावनाओं, व्यवहार को समझने का प्रयास उनकी प्रत्येक रचना में है चाहे वह कहानी हो या विचारपरक निबन्ध। विचार और चिंतन उनके निबंधों में ही नहीं, उनकी कहानियों में भी उभरता है। उनके साहित्य के आस्वाद के लिए पाठक को रचना-सौन्दर्य, भाषा-शिल्प, चिंतन-दर्शन पर गम्भीरता से विचार करना पड़ता है। किसी एक पक्ष को पकड़कर उनकी रचना को नहीं समझा जा सकता।

साहित्य के विषय में देवेन्द्र इस्सर की अपनी मान्यताएं हैं। उनका मानना है कि साहित्य समाज में कोई बहुत बड़ा बदलाव या क्रांति नहीं ला सकता। यह काम पैगम्बरों तथा समाज-सुधारकों का है। साहित्य पाठकों की सौन्दर्यानुभूति को बढ़ाता है। साहित्यकार नवीन विचारों या चिंतन को अपनी वृत्तियों तथा पात्रों में बड़े सूक्ष्म और परोक्ष तरीके से बुनता है। वे 'स्वप्न और स्मृति के बीच' पुस्तक में लिखते हैं-'रचनात्मक साहित्य जिस तरह अतीत के होने का एहसास देता है, उसी प्रकार उससे भविष्य की आहट भी सुनाई देती है।' वे जानते हैं कि व्यक्ति अपने अतीत से मुक्ति नहीं पा सकता। सृजनात्मकता के लिए वे अतीत के नवीकरण पर बल देते हैं। अतीत का बोझ बनना सृजनात्मक शक्ति को क्षीण कर देता है। वे 'आवारा आवाजों का मौसम' में लिखते हैं-'सृजन और चिंतन का संसार खामोशियों और सरगोशियों का संसार है। फकीरों, 'काफिरों' और मंसूरों के अनलहक का संसार है।' इस तरह साहित्य पाठक के ज्ञान, चिंतन, सोच का हिस्सा बनता है तथा एक सीमा तक प्रभावित भी करता है। पर साहित्य राजनीतिक उद्देश्यों, उनके समाधान का साधन नहीं है। यदि साहित्य ऐसा करता है तो वह अपनी शक्ति खो देता है। जब यह सवाल उठता है कि आधुनिक साहित्य पश्चिमी साहित्यिक आन्दोलनों से प्रभावित है और हमने अपने साहित्य को परखने के प्रतिमान भी वहीं से लिए हैं तो इस्सर साहब को दुःख होता है। उनका मानना है कि जब विचार और चिंतन थम जाता है, उसका अस्तित्व संकट में पड़ जाता है। स्वतन्त्र वस्तुपरक ढंग से साहित्य का मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हम रचना के बीच से प्रतिमान ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं और कृति को बँधे-बँधाये नियमों से नहीं परखते। वे लिखते हैं-'प्रत्येक साहित्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने चिंतन के प्रतिमानों का निरन्तर निरीक्षण करे।' (उत्तर आधुनिता : साहित्य और संस्कृति की नयी सोच)

देवेन्द्र इस्सर की कहानियों के पात्र अपने जीवन अभावों, संत्रासों से वैचारिक स्तर पर जूझते दिखाई देते हैं। वे लिखते हैं-'पात्र के मन में झांकिये- हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, आस्था-अनास्था, संशय-विश्वास, संताप-सम्भावना, उपेक्षाएँ, सफलता-असफलता कितनी दुनियाएँ बसी हैं।' (पत्थरों के शहर में एक शीशागर) इसी कारण उनके पात्रों का अध्ययन किसी एक अनुशासन या विधा के तहत नहीं किया जा सकता। विभिन्न अनुशासनों के ज्ञान से ही हम उनके पात्रों तथा उनके परिवेश के अन्तर्सम्बन्धों, विरोधों तथा अन्तर्वृत्तियों को परत-दर-परत खोलते हैं। उसके विभिन्न आयामों का पता देते हैं। उसके मन के रहस्यों से पर्दा हटाते हैं। उसकी रूह की गहराइयों में प्रवेश करने का रास्ता बनाते हैं।

इसी कारण देवेन्द्र इस्सर का शिल्प अन्य समकालीन रचनाकारों से अलग है। सहज भाषा का प्रयोग होते हुए भी सम्प्रेषण सहज नहीं है। फैंटेसी, प्रतीक, मनोविश्लेषण, मार्क्सवादी, अस्तित्वादी विचारधारा का गहरा ज्ञान तथा आधुनिक तकनीकी शब्दावली का खुला प्रयोग उनकी रचना को असहज पर सुन्दर बनाता है। उनका साहित्य, साहित्य को समझने की समझ की मांग करता है। उनकी कहानियां, कविताओं की तरह अनेक अर्थों, संदर्भों तथा आशयों को लिए हुए होती हैं। जिन जटिल विषयों को इस्सर अपनी रचनाओं में उठाते हैं उन्हें किसी एक विधा के घेरे में रखकर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए उनकी रचनाओं में विधाओं का 'फ्यूज़न' देखने को मिलता है। 'खुशबू बनके लौटेंगे' में आत्मकथा, इतिहास, संस्कृति, जीवन-दर्शन आदि को इतनी कुशलता से बुना गया है कि आश्चर्य होता है। जैसाकि कृष्ण सोबती ने लिखा है-'उनके पास जमा है, देखा हुआ, पढ़ा हुआ, जिया हुआ और तजुरुबे से समेटा हुआ।' उनका ज्ञान, अनुभव तथा उसकी परिपक्वता उनकी रचनाओं का अभिन्न अंग बनकर उभरती है। इसलिए उनके पाठक का जागरूक तथा अध्येता होना जरूरी है। उनकी कहानियों के प्रतीक समझ में आते ही विविध आयाम खुलने लगते हैं तथा पाठक एक विस्मयकारी, रहस्यमयी दुनिया में विचरने लगता है। उसके पात्र 'परिंदे की तरह स्वच्छन्द खुले आकाश में विचरना चाहते हैं और एक रंगीन तितली को पकड़ने के लिए जान दे देते हैं।' इस्सर अपने पात्रों को यह छूट देते हैं। उनके पात्र जिज्ञासु हैं, अधिक भावुक तथा जीवन के कुछ महत्वपूर्ण क्षणों से गहराई से जुड़े हुए। लगता है कि ये विशिष्ट क्षण ही उनके जीवन को दिशा-निर्देश देते हैं और वे उनसे मुक्त होने के बजाय उनसे गहराई से जुड़ते चले जाते हैं। उनके जीवन में आया आकस्मिक मोड़ इन्हीं क्षणों के कारण होता है।

देवेन्द्र इस्सर का लेखन महान बनने के लिए नहीं है बल्कि अपने हमसफर से संवाद के लिए है। इसी कारण उनकी रचनाओं की रफ्तार सहज सामान्य है। कृष्णा सोबती के शब्दों में-'एक दुबला-पतला मगर सेहतमंद, साफ शफ्फ़ाक शख़्स, न तेज, न हल्के, न हड़बड़ाहट में, न जोश-खरोश में, इत्मीनान से, मापता रहा हर कदम, ऐसे कि उसके पास हर एक कदम के लिए दो-दो के दो-दो पांव हों; दौड़ते चलें कुछ ऐसे कि अपने तक को पता न चले कि दौड़ रहे हैं।' देवेन्द्र इस्सर की रचना के ये हमसफर कौन हैं? प्रत्येक पाठक तो हो नहीं सकता, क्योंकि उनकी रचना विशिष्ट पाठक वर्ग के लिए है। वे संवेदनशील, भावुक तथा साथ ही बौद्धिक, वैचारिक, चिंतनशील व्यक्ति से जोड़ते हैं। ऐसे लोगों की संख्या कितनी हो सकती है, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। तो क्या कहानियों के पात्र उनके हमसफर हैं? देवेन्द्र इस्सर ने कहा भी है कि उनके पात्र 'अपने गुमशुदा चेहरों को, अपने खोये हुए स्वत्व को, अपने लापता अतीत को, अपनी भूली हुई स्मृतियों को' तलाशते हैं। पात्रों की इस तलाश में इस्सर उनका साथ देते हैं और वे उनके हमसफर हो जाते हैं। यहां इस्सर को लगता है कि 'मैं भी वहीं हूं जो वे हैं-साइकिक। जो कुछ मैं लिखता हूं यह उनकी दास्तान है या मेरी अब इसमें कोई अन्तर नहीं रह गया।'

इस्सर अनजानी दुनिया में प्रवेश करते हैं और पात्र के स्वभाव-व्यवहार को अभिव्यक्त करते हुए कहानियां एक रहस्यमय वातावरण को बुनती हैं और सच को छूने की कोशिश की जाती है तो वह फिसलकर ठोस यथार्थ की सीमाओं से बाहर सरक आता है और उस बिन्दु पर ठिठक कर रह जाता है जहां से रहस्य की सीमा प्रारम्भ होती है और जहां सन्नाटा है। जब सच का सामना होता है तो आदमी मौन हो जाता है। शब्द साथ छोड़ देते हैं। उनकी कहानियों में यह रहस्यमय वातावरण इसलिए है क्योंकि वे मनुष्य के होने के रहस्य को जानना चाहते हैं।

इस्सर व्यक्ति को, समाज को, परिवेश के यथार्थ को कहानियों में व्यक्त करते हैं। यह यथार्थ सिर्फ बाह्य नहीं है, वह व्यक्ति के अन्दर का है। इसीलिए यथार्थ के विविध रूप उनकी रचनाओं में मिलते हैं। यथार्थ को इस्सर ने अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। वे लिखते हैं-'यथार्थ यथार्थ भी हो सकता है और नज़र का फरेब भी। यथार्थ का एक बाह्य पहलू भी है जिसके वजूद से इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन उसका बोध प्रामाणिक है, यह संदेहजनक है।' वे यथार्थ को भी संदेह की नज़र से देखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का नज़रिया अलग होता है। वह एक ही वस्तु, स्थिति, घटना को जिस कोण से देखता-समझता है, उसके लिए वही यथार्थ है। इसलिए यथार्थ और वास्तविकता में तथा सच में अन्तर आ जाता है। इसलिए वे लिखते हैं-'साहित्य, दर्शन और विज्ञान की यह मूल समस्या रही है कि यथार्थ वास्तव में है क्या और कहां स्थित है और उसे किस तरह गिरफ्त में लाया जा सकता है। लेकिन कहानी में यह समस्या अधिक जटिल हो जाती है कि यदि वह गिरफ्त में आ भी जाये तो उसकी अभिव्यक्ति कितनी वस्तुपरक होगी और क़ितनी संरचनात्मक या काल्पनिक।' एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं-'जो परछाईं है वही यथार्थ है। यथार्थ और परछाईं में अब भेद करना कठिन हो गया है।' वे मानते हैं कि 'यथार्थ बगैर मूल्यों के असत्य ही नहीं, घातक भी हो सकता है। मूल्य चाहे शाश्वत हों या सापेक्ष, परम्परागत हों या परिवर्तनशील, विश्वजनीन हों या संस्कृति-स्पेसिफ़िक, यथार्थ के साथ निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। शायद इसीलिए कथा-साहित्य में मनुष्य की विषमावस्था तथा मूल्यों के डिलेम्माज से पलायन मुमकिन नहीं।' यथार्थ का यही रूप उनकी कहानियों में उभरता है-'दिल की दुनिया में क्या हो रहा है, आत्मा की गहराइयों में क्या कुछ छिपा हुआ है, मस्तिष्क में कैसे महीन तार उलझे हुए हैं-ये ऐसे सूक्ष्म, पकड़ में न आने वाले 'इलूसिव' भाव तथा क्षण होते हैं कि स्थूल यथार्थ इसको अभिव्यक्त नहीं कर सकता।'

इस्सर की कहानियों के पात्र सजग, सचेत एवं जीवन स्थितियों के प्रति चेतस हैं। इसी कारण आत्म-पीड़ा से ग्रस्त हैं। उनके पात्र प्रायः निरीश्वरवादी हैं। उनकी कहानियों के पात्र जीवन कैसे जिया जाए, इसी कशमकश में मुब्तिला रहते हैं। वे इन प्रश्नों से जूझते हैं। इसके लिए वे खुद अपना रास्ता चुनते हैं जिसके लिए वे स्वतन्त्र हैं। पात्रों के सामने कई रास्ते होते हैं-समझौता, समर्पण, विद्रोह, मौन या एक-दूसरे की हत्या, पलायन और आत्महत्या आदि। पात्र जो भी मार्ग चुनते हैं उसके पीछे उनके अनुभव, सोच तथा जीवन का लम्बा सफर होता है। पात्र कौन-सा रास्ता चुनते हैं, इसका रचनाकार पर गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि पात्र रचनाकार के हमसफर हैं। सुख-सौन्दर्य, प्रकृति को भोगने वाले पात्र अकारण ही आत्महत्या नहीं कर सकते। उनके पात्र संवेदनशील हैं, बेचैन हैं, कुछ तलाश रहे हैं। वे मायूस हैं, व्याकुल हैं, उनके जीवन में भटकन है। वे आत्महत्या करते हैं या उसके किनारे-किनारे चलते हैं, पर ऐसा नहीं है कि वे जिंदगी की अपेक्षा मौत को प्राथमिकता दे रहे हैं। उनकी कहानियां जिंदगी से पलायन का संकेत नहीं देतीं बल्कि स्वायत्त जीवन की आकांक्षा का संकेत देती हैं। पात्र कहानी में कैसे आते हैं? ऐसे पात्रों को इस्सर साहब क्यों चुनते हैं? इसके उत्तर में वे कहते हैं-'मैं पात्रों को नहीं चुनता, पात्र मुझे चुनते हैं।' इसी कारण वे पात्रों पर किसी शक्ति का आरोपण नहीं करते। पात्रों को लगता

है कि यही उनके साथ न्याय कर सकता है, यही उन्हें ठीक तरह से समझ सकता है। कहानियों में पात्र जिस रास्ते से प्रवेश करते हैं उसी रास्ते से बाहर नहीं आते। बाहर निकलने के लिए उन्हें नये रास्ते तलाशने पड़ते हैं-इसी तलाश में पात्र विकसित होते हैं। नया रास्ता पाठक को भी कुछ नया देता है।

इस्सर के पात्र चित्रकार, सेल्समैन, एजेन्ट, आर्किटेक्ट, नौकरीपेशा, शिक्षित वर्ग से सम्बन्धित हैं। पात्र कैसे भी हों, वे लगभग समान मनःस्थितियों से गुजरते हैं। उनमें शारीरिक आकर्षण, भावुकता, स्मृतियां, मुस्कराहटें, हर्ष-विषाद हैं। वे वर्षा, धुंध, पर्वत, जंगल तथा प्रकृति के अन्य रूपों की तरफ आकर्षित होते हैं। इन्हीं के बीच से वे खुद को खोलते हैं। उनके अधिकतर पात्र खुद में खोये रहते हैं। उनकी कहानियों में नायक-नायिका का दैहिक मिलन नहीं होता। वे प्रेम की पीड़ा को सहते हुए एक-दूसरे के प्रति पूर्ण समर्पित तो नज़र आते हैं, पर जीवन में एक-दूसरे को पाते नहीं।

इस्सर के पात्र हमें संत्रास, उदासी, ऊब, घुटन, निराशा, विवशता, पीड़ा आदि से मुक्त कराने का प्रयास नहीं करते। वास्तव में समकालीन जीवन में कोई भी संवेदनशील या विचारशील व्यक्ति इनसे मुक्त नहीं हो सकता।

पात्रों के व्यक्तित्व और उनके व्यवहार के पीछे की प्रेरिकाओं को व्यक्त करना सहज नहीं होता। बहुत कुछ अनकहा रह जाता है। इस अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए रचनाकार कई तरीके अपनाता है। वह चेतना-प्रवाह, प्रतीक, बिंब, स्वप्न, कल्पना तथा फंतासी का प्रयोग करता है। फिर भी लगता है कि बहुत कुछ अनकहा रह गया है। रचनाकार वास्तव में पूरी तरह कह ही नहीं सकता। इसके लिए भाषा-शिल्प, अनुभव, ज्ञान आदि का अभाव या उन पर पूरी पकड़ का न होना एक कारण हो सकता है। दूसरा कारण जो कि ज्यादा महत्वपूर्ण है, रचनाकार का अनागत, अनजानी दुनिया में, जहां कुछ भी स्पष्ट नहीं उसमें प्रवेश करने से कतराना है। इस्सर अनजानी दुनिया में प्रवेश करते हैं और पात्र के स्वभाव-व्यवहार को अभिव्यक्त करते हुए कहानियां एक रहस्यमय वातावरण को बुनती हैं और सच को छूने की कोशिश की जाती है तो वह फिसलकर ठोस यथार्थ की सीमाओं से बाहर सरक आता है और उस बिन्दु पर ठिठक कर रह जाता है जहां से रहस्य की सीमा प्रारम्भ होती है और जहां सन्नाटा है। जब सच का सामना होता है तो आदमी मौन हो जाता है। शब्द साथ छोड़ देते हैं। उनकी कहानियों में यह रहस्यमय वातावरण इसलिए है क्योंकि वे मनुष्य के होने के रहस्य को जानना चाहते हैं। वे लिखते है-'मनुष्य जो हमारे सामने है, मनुष्य जो उसके पीछे है और मनुष्य जो उसके भीतर है, दिमाग और रूह में-जो उसके साथ परछाई से लिपटे हुए हैं। सामने का मनुष्य, बाहर का मनुष्य खत्म हो जाता है, लेकिन उसकी छवि, उसकी परछाई उसके साथ-साथ कायम रहती है। यह अमिट और अमर है। इसमें बड़ी शक्ति होती है।' यही जिज्ञासा उनकी कहानियों के केन्द्रीय पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। इस्सर की कहानियों के पात्र खुद को पहचानने-समझने का प्रयास करते हैं, पर पूरी तरह समझ नहीं पाते। अपनी परछाईं को पहचानना, फिर दूसरे की परछाईं को पहचानने का प्रयास करना, अनेक रहस्यों को खोलता है। ऐसा करते ही हमें लगता है कि हम औरों से अलग नहीं हैं। दूसरों को अलग देखना भौतिक पहचान के लिए है। इस्सर के पात्र इससे ऊपर उठते हैं। उनकी कहानियों की मुख्य थीम यही है। पूरी तरह खुद को समझना सम्भव नहीं है। जब एक रहस्य से पर्दा उठता है तो दूसरा रहस्य सामने आ जाता है। उनके पात्र अन्धेरे में और गहरे में जाते हैं-ऐसा करना वास्तव में रहस्य के उद्घाटन की तलाश है। यहीं से वह यात्रा प्रारम्भ होती है जो नये ज्ञान की ओर ले जाती है। व्यक्ति कोई भी हो, अन्दर से कमजोर तथा डरा हुआ होता है। वह अपने ही असली रूप को देखने से डरता है। इसीलिए हम खो जाते हैं और जीवन भर खुद को ढूंढ़ते रहते हैं। खोज, वास्तव में खुद को पहचानने की है। हम खुद को, इस खोज के दौरान अनन्त सम्भावनाओं में छोड़ देते हैं। इन सम्भावनाओं में ही हमारी तलाश प्रारम्भ होती है।

इस्सर के पात्र जब घर से बाहर निकलते हैं तो उनका एक ध्येय की ओर बढ़ना ही उनकी निर्बलता तथा भय को दूर करता है और वे ऐसी अवस्था में पहुंच जाते हैं जहां वे एक स्थान पर टिककर नहीं रह सकते।

उनके पात्रों में जिज्ञासा है, ज्ञान-पिपासा है। वे तितलियों के पीछे भागते हैं और सारी उम्र भागते रहते हैं। कहानियों में आये ऐसे प्रसंग व्यक्ति के मन में अदम्य जिज्ञासा की ओर संकेत करते हैं। वे व्यक्ति ही महान हुए हैं जिनमें सत्य को जानने की तीव्र जिज्ञासा थी। सत्य को जानने के लिए लोग सामाजिक बंधनों, लोक मर्यादाओं को त्याग देते हैं। यही कारण है कि इस्सर के पात्र अन्य समकालीन रचनाकारों से भिन्न हैं। इतना होने पर भी इस्सर के पात्र मनुष्य से अधिक रहस्यमय नहीं हैं, क्योंकि वे मनुष्य से अलग नहीं हैं। जिस दुनिया में हम जीते हैं उसी दुनिया में वे जीते हैं।

मृत्यु और आत्महत्या का प्रश्न उनकी कहानियों में उठा है। उनके कई पात्र आत्महत्या कर लेते हैं। मृत्यु तथा आत्महत्या पर उन्होंने विचार भी किया है-'मैंने मृत्यु को कई बार, कई प्रकार से, कई कोणों से सोचा है। अब वह शरीर का हनन नहीं, आत्मा की मुक्ति का मसला बन गयी है।' इससे स्पष्ट है कि उनके पात्र आत्महत्या से क्या प्राप्त करना चाहते हैं। इस्सर मृत्यु तथा आत्महत्या को दार्शनिक रूप देना चाहते हैं। आत्महत्या उनके चिंतन का हिस्सा है। इस्सर जीवन के किस एहसास को बचाने के लिए

आत्महत्या का पक्ष लेते हैं, इस सम्बन्ध में वे 'खुशबू बन के लौटेंगे' में लिखते हैं-'लेकिन जब कोई मनुष्य अपने दिल-दिमाग और शरीर को कुरुक्षेत्र बनाता है तो इस युद्ध के परिणाम में आत्महत्या भी करता है। क्योंकि वह स्वयं ही अर्जुन है और स्वयं ही कृष्ण। मैं उस आत्महत्या की बात नहीं कर रहा जो किसी असाध्य स्थिति के दबाव में, पीड़ा की पराकाष्ठा में, मानसिक रोग या शून्य या निराशा में या किसी क्षणिक आवेग में होती है, बल्कि उस आत्महत्या की बात कर रहा हूँ जिसके पीछे एक लम्बा सफर है, यातना है, तकरार है, सृजन और चिंतन है। मैं आत्महत्या के बारे में इसलिए नहीं सोचता कि जीवन निरर्थक है, बल्कि इसलिए कि मैं जीवन और मरण में एक पर अधिकार चाहता हूं।' जिस आत्महत्या के पीछे लम्बा सफर तथा चिंतन होता है वह पलायन या पराजय का परिणाम नहीं हो सकती। जीवन और मरण में से किसी एक को चुनने की स्वतन्त्रता पर अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है। उनकी कहानियों के पात्र आत्महत्या का वरण अपनी इच्छा से करते हैं। इस्सर ने लिखा है, 'किसी जज्बे से वंचित हो जाने का अहसास बड़ा पीड़ाजनक होता है' और वह एहसास जो जिंदगी का पता देता है उसे बचाने के लिए शरीर को छोड़ना आवश्यक है। वे नहीं चाहते कि व्यक्ति शरीर के स्तर पर जिये। श्रेष्ठ जीना भावना, अध्यात्म और जीवन मूल्यों के स्तर पर होता है।

इस्सर व्यक्ति के त्रास, दुःख, पीड़ा के बीच में से सुन्दरता को तलाशते हैं, जिससे उसकी खुशबू को पहचाना जा सके। खुशबू का थोड़ा-बहुत अंश हर व्यक्ति में होता है। यह खुशबू उन्हें वहां नज़र आती है जहां व्यक्ति स्वप्न देखता है और जिसके पास स्मृतियां हैं। उनका मानना है कि 'जो लोग स्वप्न नहीं देखते, जिनके पास अतीत की स्मृतियां नहीं हैं, सिर्फ सामने का यथार्थ है वे बड़े निर्मम और आततायी होते हैं। स्मृति और स्वप्न के बीच की स्पेस में से ही सृजन का सच जन्म लेता है और वर्तमान को अतीत से और अतीत को भविष्य से जोड़ देता है।' इस्सर उस स्पेस को पहचानते हैं तभी तो वे व्यक्ति के सुखद उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

'काला तिल' कहानी की सोनिया आत्महत्या कर लेती है। गर्दन का तिल उसके सौन्दर्य तथा अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। मॉडलिंग के समय फोटोग्राफर तिल को फोकस करता है। इससे सोनिया महसूस करती है कि तिल जिसका स्पर्श किसी के प्यार की शिद्दत का प्रतीक है, बाजार में रुसवा होने जा रहा है तो उसे अपना अस्तित्व बेमानी लगता है। अपने इस एहसास की रक्षा के लिए वह शरीर को मिटा देती है। 'काले गुलाब की सलीब' की सिलविया भी आत्महत्या करती है। उसे लगता है कि उसकी कल्पना तथा यथार्थ के बीच बहुत बड़ा अन्तराल है, वह जिस रिश्ते में बंधी है, वह सिर्फ शरीर का है, तो वह आत्महत्या कर लेती है। 'तीन मौन दृश्य और एक पीला फूल' की फ्रीडा भी आत्महत्या करती है। 'परिंदे अब क्यों नहीं उड़ते' की मालती प्राण दे देती है। 'बिजली का खम्भा' का नवयुवक प्राण त्याग देता है। 'बीते मौसम की बातें' की रोजना जीवन के मूलभूत प्रश्नों से जूझती आत्महत्या कर लेती है। इस्सर के पात्रों का स्वभाव है आत्महत्या। उनके पात्र जीवन में विफलता के कारण नहीं, बल्कि अनेक रहस्यमय कारणों की ओट में आत्महत्या करते हैं। इस्सर के नारी पात्र ही अधिकतर ऐसा कदम उठाते हैं, जबकि उनके नारी पात्रों में अधिक इच्छाशक्ति, मनोबल और भावनात्मक कमिटमेंट है। 'काला तिल', 'दिल की दहलीज', 'सत्य-असत्य' कहानियां इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं। 'सिद्धार्थ' कहानी की नन्दिनी शिवदासानी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की फैशन डिजाइनर है। इस्सर ने एक जगह यह भी लिखा है कि आदमी कितना भी गमजदा क्यों न हो, यदि तनहा है तो अपने दर्द के एहसास से मर जायेगा। पात्रों की आत्महत्याओं से ऐसा लगता है कि वे शरीर से इतर पराभौतिक सम्बन्धों में विश्वास रखते हैं। फ्रीडा शरीर से इतर प्रेम की इच्छुक है तो सिलविया भी पराभौतिक सम्बन्धों की तलाश में है और सोनिया भी सुन्दरता को भौतिकता तथा उपयोगिता से परे देखना चाहती है। इस्सर का मानना है कि व्यक्ति एक-दूसरे से पराभौतिक सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है।

इस्सर सर्जक हैं, चिंतक हैं, उन्हें मनुष्य की चिंता है। वे व्यक्ति के जीवन को केन्द्र में रखकर साहित्य पर विचार करते हैं। उनका मुख्य सरोकार जीवन की जटिलता तथा संकुलता है। उनके चिंतन पर मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, उत्तर संरचनावाद, वैज्ञानिक आविष्कार, आधुनिकतम टेक्नोलॉजी, मीडिया, बाजारवाद, भूमंडलीकरण आदि सभी का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में पड़ा है। इन सभी का उन्होंने गहन अध्ययन किया है। पर वे विचारों की बंद दुनिया में रहने के पक्षधर नहीं हैं। इसलिए वे लिखते हैं-'साम्यवाद हो या फासीवाद या मजहबी कट्टरपन हो या जातिवाद ये सब बंद दुनियाएं हैं और बंद दुनिया में प्रश्न नहीं उठते, बल्कि बने-बनाये उत्तर होते हैं।' आधुनिकतम टेक्नोलॉजी का व्यक्ति के अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ा है या पड़ सकता है, उनके निबंधों की चिंता का विषय यही है। टेक्नोलॉजी के सामने वे व्यक्ति को निरीह तथा बौना पाते हैं। व्यक्ति की पहचान व्यक्ति के रूप में, संस्कृति और सभ्यता के रूप में न होकर अंकों के रूप में होने लगी है। उन्हें भय है कि कहीं यंत्र मनुष्य पर हावी न हो जाए।

इस्सर की मान्यता है कि विज्ञान-टेक्नोलॉजी भी नये मूल्यों की

स्थापना में सहायक हो सकती है। जिस युग में हम रह रहे हैं, वहां टेक्नोलॉजी से बचा नहीं जा सकता, बल्कि उसमें नित नये हो रहे आविष्कारों को भी सहना होगा अर्थात् हमें उसी के साथ जीना और मरना है। वे टेक्नोलॉजी को संस्कृति का घातक नहीं मानते। 'उत्तर आधुनिकताः साहित्य और संस्कृति की नयी सोच' में उन्होंने लिखा है-'प्रत्येक परिवर्तन, नये संशयों, संतापों, सिद्धांतों, सम्भावनाओं को जन्म देता है। आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता की तब्दीली भी इसी व्यापक गतिमय प्रक्रिया को प्रकट करती है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव, सृष्टि, जीवन, मृत्यु सम्बन्धित हमारी धारणा को बदल दिया है।' इस्सर पाठकों के चिंतन को झकझोरना चाहते हैं, पर कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते। ऐसी विकट स्थिति में व्यक्ति के पास कौन-सा मार्ग बचता है। इस्सर चाहते हैं कि व्यक्ति पुनः प्रकृति की तरफ लौटे। यही कारण है कि उनके पात्र आदिवासी हो जाना चाहते हैं, जंगलों की तरफ भागते हैं, नंगे पांव घास पर चलना पसन्द करते हैं। वे निर्वस्त्र होकर चांदनी में, बरसात में नहाते हैं।

बेहतर दुनिया के लिए संघर्ष जरूरी है-इसे इस्सर ने स्वीकार किया है। 'लेकिन इस संघर्ष के भीतर एक अन्य दूरगामी संघर्ष भी अनिवार्य है और यह दूसरा संघर्ष गहरे मानवीय मूल्यों की चिंता करने वाले व्यक्ति और दूसरों के बीच होता है, जो तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निकृष्ट-से-निकृष्ट साधन का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते।' संघर्ष के साथ भी मूल्यों का प्रश्न जुड़ा हुआ है। संघर्ष सभी के सुख के लिए है या निज के विकास के लिए। यही चिंता, बेचैनी उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाती है। उनकी मूल चिंता जैसाकि पहले भी कहा, व्यक्ति है। वे उसे हर स्थिति, हर संदर्भ में खोजना चाहते हैं। वे व्यक्ति को ही नहीं उसकी परछाईं को भी पहचानना चाहते हैं। व्यक्ति के अंदर के यथार्थ को तभी पहचाना जा सकता है। इस्सर यह भी जानते हैं कि हम न तो खुद को और न ही औरों को पूरी तरह पहचान सकते हैं। पर जितना भी पहचान लें वही हमारी उपलब्धि है। इस्सर व्यक्ति के त्रास, दुःख, पीड़ा के बीच में से सुन्दरता को तलाशते हैं, जिससे उसकी खुशबू को पहचाना जा सके। खुशबू का थोड़ा-बहुत अंश हर व्यक्ति में होता है। यह खुशबू उन्हें वहां नज़र आती है जहां व्यक्ति स्वप्न देखता है और जिसके पास स्मृतियां हैं। उनका मानना है कि 'जो लोग स्वप्न नहीं देखते, जिनके पास अतीत की स्मृतियां नहीं हैं, सिर्फ सामने का यथार्थ है वे बड़े निर्मम और आततायी होते हैं। स्मृति और स्वप्न के बीच की स्पेस में से ही सृजन का सच जन्म लेता है और वर्तमान को अतीत से और अतीत को भविष्य से जोड़ देता है।' इस्सर उस स्पेस को पहचानते हैं तभी तो वे व्यक्ति के सुखद उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

रचनाकार की रचनाओं में उसके चिंतन की निरन्तरता या दृष्टि मिले यह जरूरी नहीं। समय के साथ विचारों में, चिंतन में अन्तर आता है। इससे रचनाकार की सोच तथा धारणाएं बदलती हैं। इस्सर पर भी विभिन्न वैचारिक, साहित्यिक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा है। उनके प्रभाव को वे स्वीकार करते हैं। कालान्तर में उनसे मोहभंग भी हुआ। ज्ञान का इतनी तेज़ी से विस्तार हो रहा है कि हम किसी जगह स्थिर नहीं रह सकते। इसी कारण उनकी प्रत्येक रचना में उनके चिंतन के कुछ अंश, कुछ पक्ष उभरते हैं। उनके चिंतन पक्ष को उनकी तमाम रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में ही जाना जा सकता है। इस्सर बहुत कम शब्दों में बहुत कुछ कह देने का सामर्थ्य रखते हैं। ऐसा एक साधक के लिए ही सम्भव है। इसे गहन चिंतन का परिणाम कह सकते हैं।

चिंतन, साधना व्यक्ति को अकेला बनाती है। जो 'व्यक्ति अपनी गहनतम संवेदना और उच्चतम कल्पना में सदैव एकाकी होता है' वही अच्छा रचनाकार बनता है। अकेले होते जाना ईश्वर होते जाना है। यह पूर्णता की प्राप्ति की सीढ़ी है।

इस्सर के साहित्य में जो मुख्य प्रश्न उभरते हैं, उन्हें उन्होंने कुछ कहानियों में उठाया है। 'काले गुलाब की सलीब' में वे लिखते हैं-'मैं क्या हूं? यह जीवन क्या है? मैं क्यों जिंदा हूं? मौत क्या है? प्रेम किसे कहते हैं? आदमी क्या है? ईश्वर कहां है?' मन का नरक क्या होता है? तन का स्वर्ग क्या होता है?' 'बीते मौसम की बातें' की रोजना के भी ऐसे ही सवाल हैं-'मैं क्या हूं? तुम क्या हो? यह जीवन क्या है? मैं जीवित क्यों हूं? मृत्यु क्या है?' आत्मा-अनात्मा, अस्तित्व-अनस्तित्व, मनुष्य-ईश्वर, सृष्टि-शून्य आदि प्रश्नों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि रोजना उस सीमा पर पहुंच गयी है जहां इन प्रश्नों के उत्तरों को खोजा जा सकता है। उसे जीवन और दर्शन में कोई अन्तर नज़र नहीं आता। वह जीवन के स्थान पर मृत्यु का वरण कर लेती है। उसने ज्ञान के जिस सोपान पर पैर रख लिया है वहां इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं था।

इस्सर के पात्र इन प्रश्नों का उत्तर खोजते हैं, पर क्या उन्हें इनका उत्तर मिल पाता है? शायद नहीं। पर रोशनी के अभाव में भी वे उसकी तलाश में निमग्न नज़र आते हैं। उनके पात्रों की यही स्थिति और नियति है जिसके सहारे वे अपने अस्तित्व को खोजने में प्रयत्नशील हैं। यह तलाश सहज नहीं बल्कि यातनापूर्ण, पीड़ादायक है।

इस्सर के पात्र नियति में बंधे हैं। उनके बाहरी जीवन की अपेक्षा भीतरी जीवन की समस्याएं अधिक गम्भीर हैं। ये समस्याएं उनके अस्तित्व के सथ जुड़ी हैं। ये पात्र निरर्थकता के शिकार होते हुए भी संकल्प-स्वातंत्र्य के भाव को लिए हुए हैं। यहां एकाकीपन अजनबीपन, आतंक, कुंठित मानस, खंडित व्यक्तित्व आरोपित नहीं लगता, बल्कि पात्रों की कठोर वास्तविकताओं को उभारता है। इस्सर सामाजिक

तथा परिवेशगत समस्याओं के प्रति सजग हैं तथा मानवीय संवेदनाओं को कुशलता से अभिव्यक्त करते हैं।

अपनी रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में इस्सर के विचार महत्वपूर्ण हैं। वे मानते हैं कि 'मुझे भाषा नहीं आती। मैं अशुद्ध भाषा का प्रयोग करता हूं। हिन्दी में असफल होता हूं तो अंग्रेजी की शरण लेता हूं, फिर ठेठ पंजाबी पर उतर आता हूं। शब्दों का प्रयोग भी सही नहीं होता। मैं प्रयोग ही नहीं करता।' यह उनका विनीत भाव है। वे हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी में लिखते हैं। इसलिए भाषा का गड्डमड्ड होना स्वाभाविक है। उनकी रचनाओं के बीच से गुजरकर हम उनकी भाषा के प्रयोग तथा उस पर मजबूत पकड़ को देख सकते हैं। जितने गम्भीर तथा नये विषयों को उन्होंने उठाया है, जिसके लिए नयी शब्दावली की आवश्यकता है, बिना भाषा पर अधिकार के सम्भव नहीं है। वे लिखते हैं-'शब्द का अर्थ जितना सीमित होगा या रखा जायेगा वह उतना ही हल्का पड़ जायेगा। साहित्य की अलग से कोई भाषा नहीं होती, लेकिन जब कोई शब्द साहित्य की दुनिया में लाया जाता है तो वह अपने साथ अर्थ का असीम संसार लेकर आता है।'

लेखक अपनी रचनाओं में कुछ मेटाफरों का प्रयोग करता है, जिनके आसपास वह अपनी सोच तथा संवदेना को व्यक्त करता है। इस्सर की कहानियों में बिल्ली, ब्लैक कॉफी, बुद्ध, भगत सिंह, परिंदा, परछाईं आदि शब्दों का प्रयोग बार-बार तथा विभिन्न संदर्भों में हुआ है। कभी बिल्ली दबे पांव कमरे में आती है। (काली बिल्ली) कभी चांदनी बनकर बिस्तर में दुबक जाती है। (नींद) कभी कार के नीचे आ जाती है और उसकी चीख पूरे परिवेश को झकझोर देती है। (मुर्दाघर) कभी खूंखार बन जाती है। (खुशबू बन के लौटेंगे) तो कभी प्यार का प्रतीक बन जाती है। (परिंदे अब क्यों नहीं उड़ते) बिल्ली के माध्यम से इस्सर व्यक्ति की अन्तरात्मा में व्याप्त भय का बोध कराते हैं। (अन्धेरे में बिल्ली) यही भय का बोध 'काले गुलाब की सलीब' में भी काली बिल्ली के माध्यम से व्यक्त होता है-'मेरे बिल्कुल करीब शरीर के घेरे में दुबकी एक काली बिल्ली बैठी हुई है-भयभीत जैसे किसी भयानक आक्रमण से डरकर सिमटकर बैठ गयी है।'

इस्सर को लगता है कि वे संकेतों, बिंबों, प्रतीकों, स्पर्श, दृष्टि, मिथ आदि के प्रयोग से अपनी बात को अधिक प्रभावी ढंग से कह सकते हैं और सौन्दर्यानुभूति तथा शब्द को व्यापक अर्थ दे सकते हैं। फंटेसी के प्रति उनका रुझान गहरा है। 'जब व्यक्ति यादों की धुंधली गलियों से गुजरता है और उस पार रोशनियों के शहर में प्रवेश करता है तो उसका चित्रण आप फंतासी से ही कर सकते हैं।' स्वत्व की तलाश के लिए वे इसी का प्रयोग करते हैं।

6/15, अशोक नगर, नयी दिल्ली-110018

संजय जोशी

हिन्दी का वैश्वीकरण-विश्वनागरी लिपि : एक विषम विचार

यदि वाणी के प्रसाद से लोकजीवन चालित होता है तो लिपि के प्रश्रय में भाषा को पहचान मिलती है। लिपि के द्वारा ही भाषा अपने विकासक्रम एवं संस्कारों को संजोकर रख पाती है। वस्तुतः इन दोनों में आत्मा और शरीर रूपी अन्योन्याश्रित संबंध है। सामान्य तौर पर हिन्दी संबोधन से हमारा अभिप्राय देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा के जिस वर्तमान स्वरूप से रहता है, उसका आविर्भाव एवं अधिस्थापन 19वीं शताब्दी में ही हुआ है किन्तु देवनागरी लिपि ने प्राचीन काल में संस्कृत-पालि-प्राकृत एवं अपभ्रंश तथा मध्यकाल में हिन्दी की विविध बोलियों, मराठी, नेपाली एवं कुछ भिन्न रूप में गुजराती आदि भाषाओं को अपने प्रतीकों से पोषित एवं पल्लवित कर अपनी उपादेयता, सक्षमता एवं महत्ता को निर्विवाद रूप से सिद्ध किया है। लेकिन समय के साथ-साथ ज़मीनी हकीकतें बदलती हैं और इस बदलाव के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना ही उत्तरजीविता की अनिवार्य शर्त है। डार्विन का प्राकृतिक चयन का सिद्धांत सर्वश्रेष्ठ की उत्तरजीविता में अनुकूलन की भूमिका एवं महत्त्व को स्पष्टतः रेखांकित करता है, एवं इसी संदर्भ में हिन्दी की उत्तरजीविता को सुनिश्चित करने एवं इसके वैश्वीकरण हेतु विश्वनागरी लिपि की अवधारणा की अनिवार्यता का विषम विचार परिपुष्ट होता है।

निस्संदेह मैक्समूलर से लेकर ग्रियर्सन एवं विलियम जोन्स जैसे विदेशी भाषाशास्त्रियों ने देवनागरी लिपि को विश्व की सबसे तार्किक एवं ध्वनिवैज्ञानिक लिपि माना किन्तु इस प्रशस्ति के दर्प में विमूढ़ होकर हमने उनकी मान्यता का तथ्यात्मक एवं तात्त्विक विश्लेषण करने की ज़रूरत ही नहीं समझी। वस्तुतः किसी भी लिपि के दो पक्ष होते हैं-पहला है वर्णमाला, जिसका संबंध उच्चारण एवं ध्वन्यात्मक प्रतीक व्यवस्था से होता है, एवं दूसरा पक्ष है ध्वनि-प्रतीकों की बनावट, स्वरूप या उनकी संरचना। इस प्रकार पहला पक्ष लिपि की आत्मा अर्थात् चैतन्य तत्त्व है एवं दूसरा उसका शरीर या अचेतन पक्ष है। यूरोप सहित विश्व के तमाम भाषाविदों ने यदि एक स्वर में देवनागरी की श्रेष्ठता का गुणगान किया है तो वह इसकी उच्चारण-स्थान और अवयंव पर आधारित विन्यास की युक्तियुक्तता एवं विज्ञान-सम्मत ध्वनिमूलक वर्ण व्यवस्था के लिए है न कि वर्णों की बाह्य संरचना के लिए। देवनागरी के वर्णक्रम में घोष-अघोष, अल्पप्राण-महाप्राण तथा उच्चारण-अवयव एवं प्रयत्न के आधार पर वर्गीकृत वर्ण-विन्यास विश्वभर के भाषाशास्त्रियों को सदियों से चमत्कृत किए हुए है। लेकिन आचार्य तुलसी के शब्दों में- जड़-चेतन, गुण-दोष मय बिस्व कीन्ह करतार। अतः सृष्टि में अनिंद्य अथवा दोषरहित कुछ भी नहीं है। यद्यपि हम यहाँ देवनागरी के गुणदोषों की विवेचना नहीं करने जा रहे हैं तथापि प्रासंगिक बने रहने हेतु काल सापेक्ष उपादेयता एवं प्रयोजनशीलता, युक्तियुक्तता एवं वैज्ञानिकता से कहीं अधिक मायने रखती है। प्राक्वैज्ञानिक युग में जब लेखन हेतु कैनवास दुर्लभ था, आक्षरिक एवं संश्लेषणात्मक रीति-प्रकृति वाली लिपियाँ सिरमौर रहीं और देवनागरी को भी नैसर्गिक महत्त्व मिला। लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक युग में लेखन हेतु कैनवास की सुलभता एवं यांत्रिकता के आ जाने के बाद पासा रोमन जैसी वर्णात्मक एवं विश्लेषणात्मक लिपियों के पक्ष में पलट गया। इतिहास गवाह है कि किस तरह यूरोप की जर्मन आदि भाषाओं ने अपनी लिपि को त्याग कर रोमन को अपना लिया।

भाषा के मामले में विदेशी शब्दों तथा शब्दों के निर्माण में ऑक्सीकरण, हाइड्रोजनीकरण जैसी संकरीकरण की अवधारणा को अपनाने में तो हम उदार रहे किन्तु समय की ज़रूरत, उपादेयता एवं प्रयोजनशीलता के मद्देनज़र, जिस तरह भाषा के क्षेत्र में पिड्जिन की अवधारणा विद्यमान है उसी तरह, लिपि के मामले में भी ऐसी ही मिश्रित संकल्पना को अपनाकर इण्डो-रोमन या रोमियो-नागरी लिपि जैसी अवधारणा को मूर्त रूप देने की दिशा में संजीदा एवं संगठित प्रयास नहीं किए गए, जिसके तहत संरचना की दृष्टि से यंत्रीकरण हेतु उपयुक्त लाइनो प्रोग्रेसिव रोमन के स्वरूप को अपनाकर उसमें नागरी का ध्वनि-वैज्ञानिक आत्म-तत्व निविष्ट करते हुए एक ऐसी लिपि तैयार की जाती जो विश्व की सभी भाषाओं की ध्वनियों को समाहित करते हुए कुछ अतिरिक्त ध्वनि-प्रतीकों के साथ विश्व-रोमियो-नागरी अथवा Pan Indo Roman लिपि के रूप में पूरे विश्व के लिए एक साझा लिपि का विकल्प दे पाती।

हो सकता है कि हममें से कइयों को यह विचार एकदम बेसिर-पैर का लगे, उन लोगों को ध्यान में रखकर ही मैंने इसे विषम विचार कहा है और इसी संदर्भ में मैं उनका ध्यान विश्व में प्रयुक्त अंकों की ओर ले जाना चाहूंगा, जो यांत्रिकीय क्षेत्र में परिवर्तनों के साथ विगत सदियों में निरंतर बदलाव की प्रक्रिया से गुजरे, आज इन्हें हम इण्डो-अरेबिक अथवा इंटरनेशनल इंडियन न्यूमेरल्स की संज्ञा से अभिहित करके फूले नहीं समाते। यदि ये अंक स्वरूप की दृष्टि से इस सामयिक बदलाव एवं मशीनी अपेक्षा के अनुरूप निरंतर अनुकूलन से नहीं गुजरे होते तो क्या आज जगमान्य होते? दुनिया ने हमारे अंकों को स्वीकारने में तो अनुदारता नहीं दिखाई। शायद इसकी वजह यह हो कि अंकों के साथ ये सब खेल-खिलवाड़ परोक्ष रूप से बरास्ता अरब एवं हमारी अनभिज्ञता में हुआ और आज इन्हें अपना कहने में किसी को गुरेज़ नहीं है। इसी संदर्भ में यह बात भी बड़ी अहमियत

रखती है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी सन् 1960 तक भारतीय सेना की सरकारी भाषा रोमन में लिखी जाने वाली हिन्दी ही थी और इस प्रकार हिन्दी व नागरी की ध्वनि-वैज्ञानिक विशेषताओं को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए दृश्यात्मक तौर पर नागरी के रोमनीकरण हेतु सबल पृष्ठभूमि तैयार थी। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने 'अ रोमन अल्फाबेट फॉर इंडिया' शीर्षक से 1933 ई. में कमोबेश इसी अवधारणा के समर्थन में अपने विचार रखे किन्तु किसी भी भाषाविद् ने इस अवधारणा को व्यवहारसिद्ध बनाने का साहस नहीं दिखाया। बावजूद इसके, भारत के आध्यात्मिक वाङ्मय एवं वैदिक साहित्य, जो कि मूलतः संस्कृत में है एवं जिसकी लिपि देवनागरी ही है, को विगत काफी समय से रोमन लिपि के वर्णों में ही अधो एवं उपरि रेखांकन (Subscript & superscript) के द्वारा प्रकारान्तर से इण्डो-रोमन अवधारणा को अपनाकर ही विदेशी एवं हिन्दी न जानने वाले पाठकों को मुहैया कराया जा रहा है और इससे हिन्दी के वैश्वीकरण हेतु विश्व-रोमियो-नागरी लिपि के विचार को पर्याप्त बल और समर्थन मिला है।

सृष्टि में प्रासंगिक बने रहने एवं अस्तित्व की खातिर समयानुसार अनुकूलन की प्रक्रिया सतत चलती रहती है। भाषा के क्षेत्र में भी कतिपय उदाहरणों से इसे सहज ही समझा जा सकता है। अब उर्दू को ही ले लीजिए, एक भाषा के तौर पर वह जिंदा है एवं जिन्दादिली से आगे भी बढ़ रही है किन्तु लिपि के स्तर पर देवनागरी का प्रयोग धीरे-धीरे उर्दू की पारंपरिक लिपि को विस्थापित कर रहा है। ठीक यही बात अंग्रेजी भाषा की उद्विकास-प्रक्रिया में भी देखने को मिलती है। 13वीं शताब्दी तक अनुचरों एवं परिचारकों की भाषा के तौर पर हेय दृष्टि से देखी जाने वाली अंग्रेजी भाषा उदारता से विश्व की सभी भाषाओं के शब्दों को अंगीकृत एवं आत्मसात करते हुए कालांतर में पुष्ट होकर विश्व की सिरमौर बन बैठी। खैर, अंग्रेजी को छोड़िए, यदि आधुनिक हिन्दी की ही बात की जाए तो भी हम देखते हैं कि तुर्की, अरबी, फारसी, पुर्तगाली, अंग्रेजी व ग्रीक भाषाओं के शब्दों को उन्मुक्त भाव से स्वीकार कर खड़ी बोली ने किस तरह भारतवर्ष में प्रतिनिधि हिन्दी का स्थान ले लिया, जबकि मध्यकाल में बुलंदी पर रहीं अवधी, ब्रज, भोजपुरी, बुंदेली एवं मैथिली परवान से उतर गईं।

भाषिक विकास एवं भाषा-नियोजन की दृष्टि से विवेचना करने पर हम देखते हैं कि भाषा के तौर पर हिन्दी के स्वरूपात्मक स्थिरीकरण के बाद प्रारंभ में परिमार्जन और बाद में मानकीकरण व सरलीकरण के नाम पर कुछ-न-कुछ प्रयास सतत होते रहे। भारतेन्दु जी एवं उनके परवर्ती हिन्दीसेवियों ने हिन्दी के स्वरूप को सांचे में ढाला तो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे परिमार्जित एवं पुष्ट किया। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डॉ. गोरख प्रसाद, आचार्य विनोबा भावे, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, काका कालेलकर, डॉ. रघुवीर एवं डॉ. बाबूराम सक्सेना प्रभृति विद्वानों के प्रयत्न हिन्दी के भाषिक स्वरूप के मानकीकरण एवं सरलीकरण पर केन्द्रित रहे। सरकारी भूमिका के तहत सन् 1947 में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक भाषिक समिति गठित की गई तथा संविधान में भी अनुच्छेद 351 के द्वारा हिन्दी भाषा के विकास एवं नियोजन की अपेक्षा को ध्यान में रखा गया। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में भी लिपि पक्ष उचित परिप्रेक्ष्य से वंचित एवं उपेक्षित ही रहा। जो कुछ प्रयास इस दिशा में हुए भी, उनका उद्देश्य वर्तमान लिपि में ही सुधार एवं सरलीकरण तक ही सीमित रहा। यांत्रिकीकरण की अपेक्षा के अनुरूप यथार्थपरक एवं तथ्यात्मक विवेचन कर इस दिशा में प्रयोगधर्मी मार्ग का अवलंब न किए जाने से हिन्दी का फैलाव वैश्विक क्षितिज पर तो रुका ही, साथ में देश के अंदर भी उसका अपेक्षानुरूप प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया।

यदि सच पूछें तो मुद्रण के क्षेत्र में आई यांत्रिकीय क्रांति के साथ ही अठारहवीं शताब्दी के अंत तक तत्कालीन मनीषियों एवं भाषावेत्ताओं को इस दिशा में प्रवृत्त हो जाना चाहिए था। जिन्हें लोकाचार में हम ऋषियों के संबोधन से अभिहित करते हैं, उन तपस्वी साधकों एवं मनीषियों को मैं आदि काल का समाज-वैज्ञानिक (Social Scientist) मानता हूं। उनसे विरासत में मिली इस नायाब धरोहर को काल की अपेक्षानुसार प्रासंगिक एवं उपादेय बनाए रखने का दायित्व कालांतर में हमारे पूर्वज नहीं निभा पाए। आज देर भले ही हो गई है और अंग्रेजी भाषा रोमन के रथ पर आरूढ़ होकर अंतर्राष्ट्रीय राजपथ पर काफी आगे भी निकल चुकी है किन्तु यदि हिन्दी को विश्व-क्षितिज पर स्थापित करना है और सूरीनाम में जून 2003 में संपन्न 7वें विश्व हिन्दी सम्मेलन में संजोई गई संकल्पनाओं को साकार एवं लिए गए संकल्पों को पूरा करना है, तो भावनाओं से ऊपर उठकर, वास्तविकताओं को स्वीकार करते हुए, पूर्वाग्रह एवं मोह से मुक्त होकर वस्तुपरक दृष्टिकोण के साथ इस विषम विचार की गहराई में जाना होगा।

यदि बारीकी से देखा जाये तो किसी भी अन्य भाषा को सीखने का अर्थ होता है पहले से ज्ञात शब्दों का एक-एक समानार्थी और सीखना या जानना एवं कुछ सर्वथा अपरिचित ध्वनियों के उच्चारण को आत्मसात करना। इस प्रकार दो भिन्न भाषाओं के बीच होने वाले इस सहज साहचर्य एवं समाहार की प्रक्रिया में यदि कोई तत्व बाधक है तो वह है लिपियों की भिन्नता। जबकि यदि लिपि एक हो तो दो नितांत भिन्न भाषाओं में भी अपने आप अंतःसमन्वय एवं साहचर्य पैदा हो जाता है और यही तथ्य भारतवर्ष के हिन्दीतर प्रांतों एवं विश्व के अनेक देशों, जहां हिन्दी का प्रचुर प्रयोग है, के विराट संगम हेतु साझा विश्व लिपि अपनाये जाने की अपेक्षा को स्वतः सिद्ध करता है।

सिडबी, 480, अण्णा सालै, नंदनम, चैन्नई-35

मीरा सीकरी

शब्दलोक में विचरण

मैं उन समझदार लोगों में से नहीं हूं जो रचना पढ़ने के साथ उस पर टिप्पणी लिख अपनी डायरी में दर्ज कर लेते हैं। मैं एक लती पाठक हूं-आसपास पढ़ने के लिए कुछ न कुछ होना चाहिए-निजी सुख के लिए पढ़ती हूं-इसमें वक्तकटी भी शामिल है और कुछ अपने आपको भरने के लिए। पढ़ते हुए रचना अच्छी यानी कि प्रभावित करने वाली या कुछ सोचने के लिए देने वाली हो तो लगता है अपने साथ कोई मित्र भी इसे पढ़ ले ताकि उस पर बातचीत कर लें, जो कुछ उसमें से हासिल करना है, कर लें और सन्तुष्ट हो लें। रचना नयी हो तभी उसे पढ़ने का मन होता है- जब तक पढ़ न लो छटपटाहट बनी रहती है। कथा साहित्य पढ़ने में मन विशेष रूप से रमता है। आत्मकथाओं को मैं इसी वर्ग में रख रही हूं।

पिछले वर्ष शरीर और मन से विचलित स्थिति में कथा साहित्य से इतर श्रीश्री रविशंकर और ओशो (आचार्य रजनीश) के साहित्य को भी कुछ पढ़ा। सार उनका यह कि अपने भीतर के बोझ को उलीच दो-वह विकार, वह भाव जो छटपटाहट दे रहा है उसे बाहर निकाल दो-लेट गो। पर लेट गो क्या इतना आसान है। वर्तमान को स्वीकार करो-सिद्धान्ततः हम सब उसे स्वीकार करते ही हैं-पर वे क्या करें जो अपनी पोटली निरन्तर साथ-साथ लिए चलते हैं।

निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती और कृष्ण बलदेव वैद मेरे प्रिय लेखक हैं-बहुत प्रिय। यह संयोग ही है कि ढलती उम्र की मानसिकता को लेकर निर्मल वर्मा और कृष्ण सोबती के उपन्यास 'अंतिम अरण्य' और 'समय सरगम' लगभग साथ-साथ ही आए। 'अंतिम अरण्य' का जटिल कथानायक आत्मकथा लिखवा रहा है-अपने आपको पूरी ईमानदारी से व्यक्त करने की चाह के साथ अपने आप से भी किया गया छद्म-मानस की गहराई में सूक्ष्म गांठों को छूती, दार्शनिक स्वर में भीतरी परतों को उघाड़ती, प्रभावशाली उक्तियों से भरा हुआ है यह उपन्यास। अपने पास लिखकर रखने की आदत होती तो उन उक्तियों को उद्धरण में रूप में यहां लिख देती। पर 'अंतिम अरण्य' शान्त नहीं करता, अवसाद और उद्वेलन के प्रभाव से मन को भर देता है। इसके विपरीत 'समय सरगम' जीवन की मीठी, खट्टी लय को सहज ढंग से स्वीकार करने की पोजीटिव सोच को, वर्तमान की स्वीकृति को सरल ढंग से पाठक तक पहुंचाती है। मैं समीक्षक नहीं हूं पर इन उपन्यासों पर लिखने के लिए मुझे कहा जाये तो इन्हें फिर से पढ़ना मुझे सुखद ही लगेगा।

कृष्ण बलदेव वैद के दो उपन्यास 'नर-नारी' और 'माया लोक' तथा वागर्थ में प्रकाशित उनकी कहानी 'पोटली' (शायद) वैद के विशिष्ट अंदाज में अभिव्यक्त रचनाएँ हैं। भाषा के अद्भुत अधिकार से भीतर तक पहुंचते हैं वैद। उनके छोटे-छोटे वाक्य छोटी-छोटी पगडंडियां हैं जिन पर चलते हुए भावों के सघन जंगल में पहुंचा जा सकता है। एक मायालोक की सृष्टि करते हैं वे- सुबह के कोहरे सा आकर्षक मायालोक जिसके आच्छादन में बाग में खड़े किये लोहे की तारों से बने जानवर सजीव ही नहीं हो उठते बल्कि अपने मारक हिंसक और डराऊ स्वभाव को छोड़ अपनी तरफ आमंत्रित करते अपने सम्मोहक से रहस्यमय रूप से रोमान और रोमांच दोनों की सृष्टि करते हैं।

महिला लेखिकाओं ने आज के साहित्यिक परिदृश्य को आच्छादित किया हुआ है-बहुत अच्छा और बहुत कुछ लिखा जा रहा है पर उनमें से कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो मन में बस गई हैं। मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' और कहानी संकलन 'समागम' की कहानी 'समागम' ऐसी ही रचनाएं हैं। मृदुला जी ने जिस निजी त्रासदी के दर्द को झेला है उसके बिना 'समागम' कहानी की विडम्बना और दर्द का अनुभव कलम की पकड़ में संभव ही नहीं हो सकता था। 'कठगुलाब' में लेखिका अनेक स्तरों पर स्त्रियों के शोषण को बारीकी से उद्घाटित करती है। विशेष रूप से प्रभावित करती है इस उपन्यास की विदेशी पात्र द्वारा एकत्रित सामग्री को उसका पति अपने नाम से उपन्यास के रूप में प्रकाशित करवा प्रशंसा बटोरता है। बृहत स्तर पर यह उपन्यास स्त्री शोषण की व्यथा मात्र नहीं, उसके जीवन के यथार्थ को उद्घाटित करता है- विलक्षण कृति है यह।

पर जो कृति मन पर छप गई वह है मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै'। बहुत बेबाकी से लेखिका ने मां-बेटी के दो विरोधी स्वरों में मां के आदर्शों को चिन्दी-चिन्दी उड़ाती बेटी को चित्रित किया है। वह बिना हिचकिचाये देह की भूख को व्यक्त करती है, खुलकर विवाह की इच्छा प्रकट करती है-आगे पढ़ना नहीं चाहती, नौकरी करना नहीं चाहती क्योंकि उसकी सबल अकुंठित प्राकृतिक मांग के पीछे इतिहास है-उसके बच्ची से युवा होने तक की यात्रा का, जिसके हर कदम पर घर-स्कूल-कॉलेज, रास्ता सब जगह उसकी देह के लोलुप पुरुष उसे झपटने के लिए तैय्यार थे। वह भागती नहीं सामना करती है, पर उनकी शिकार होकर कुंठित और विक्षिप्त होने के स्थान पर मांग रखती है विवाह की जिसके द्वारा वह पुरुष के रूप में साथी और कुछ हद तक संरक्षक पा सके। यह आम सी युवती की सहज पर मुखर मांग ही उसे विशिष्ट बना देती है।

शुद्ध आत्मकथा के नाम पर खुशवन्त सिंह की 'ट्रथ लव एंड अ लिटिल मेलिस' को पढ़ना एक अच्छा अनुभव हो सकता है। खुशवन्त सिंह को निजी तौर पर न जानने के बावजूद जितना उनके बारे में पढ़ा-सुना है, उससे एक रोचक, ईमानदार, बेबाक शब्दों के धनी जिस व्यक्ति की तस्वीर मन में बनती है, उसकी पुष्टि यह कृति करती है। प्रसिद्ध कलाकारों, ब[illegible] अफसरों, रचनाकारों, राजनीतिज्ञों के बारे में उनकी स्पष्टोक्तियाँ कहीं मन में बसे भ्रमों को तोड़ती हैं, तो कहीं चुटकियों का मज़ा देती हैं। अपने को महिमान्वित करने का प्रयास यह लेखक नहीं करता। सामान्य विद्यार्थी, असफल वकील कलम की नोक पर अचानक अपनी दिशा पा जाता है। भूतों और मृत्यु से डरने वाले खुशवन्त सिंह जीवन को भरपूर ढंग से जीना चाहते हैं-साँस के अन्तिम जाम तक। जीवन को उसकी समग्रता में उसके दृश्य-श्रव्य-रस-गन्ध-राग-स्वाद-प्रकृति-जड़-चेतन-स्त्री-पुरुष में और अपनी कलम के अन्तिम शब्द के साक्ष्य में।

सुचित्रा भट्टाचार्य के बंगला उपन्यास 'दहन' का उल्लेख अवश्य करना चाहूंगी विशेषतः उसके यथार्थ अंत के लिए जिसकी सजग नायिका संवेदनशील आत्मीय प्रेमी के खोल में छिपे परम्परागत पुरुष को पति के रूप में स्वीकार तो कर लेती है पर जिस खूबी से इस यंत्रणा के दंश को अनकहे ढंग से लेखिका ने कहा है, वह इस उपन्यास की विशिष्टता है।

ई-230, अमर कॉलोनी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली -24

मजीद अहमद

समय की एक लम्बी आह : कुछ क्रियापद

पत्र अंतरंग जीवन के दस्तावेज़ होते हैं। इस अर्थ में रचनाकारों के पत्रों का अध्ययन दिलचस्प विषय साबित होता है। कवि शमशेर के पत्रों पर विचार करते हुए यह बात सहसा मन में आ रही है। यों शमशेर ने मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रामविलास शर्मा की तरह अधिक पत्र नहीं लिखे होंगे। इसका सहज अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उनके अभी तक बहुत कम पत्र संकलित-प्रकाशित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शमशेर पत्र लिखने के मामले में बहुत सतर्क थे। जब जहाँ ज़रूरत पड़ी, उन्होंने पत्र लिखे। दूसरे, उन्होंने कभी अपने पत्रों में आलोचकों की ठकुरसुहाती नहीं की।

शमशेर जिस समय रचना कर रहे थे, वह उत्तर-छायावाद का काल था। अपने समकालीनों में शमशेर निराला से काफी प्रभावित थे जो निराला को सम्बोधित कविता-पंक्तियों से भी स्पष्ट है-'भूलकर जब राह, जब-जब राह भटका मैं, तुम्हीं झलके हे महाकवि!' लेकिन उन्होंने कभी निराला को पत्र लिखा भी या नहीं, यह पता नहीं चलता। 'निराला की साहित्य-साधना' (भाग-3) में उनका कोई पत्र संकलित नहीं है। इससे जो बात समझ में आती है, वह यह कि जिन दिनों वे इलाहाबाद में रह रहे थे, उन दिनों निराला भी दारागंज में रहते थे। शमशेर का उनसे बराबर सम्पर्क होता रहता था। एक बार निराला जी गम्भीर रूप से बीमार हो गये, परन्तु डॉक्टर के परामर्श के बावजूद उन्होंने अस्पताल जाकर विशेषज्ञ चिकित्सकों की देख-रेख में अपनी चिकित्सा कराना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे चाहते थे कि चिकित्सा और शिक्षा का लाभ समान रूप से सब तक पहुँचे। इस बात का शमशेर पर गहरा प्रभाव पड़ा और निराला उनकी नज़र में काफी ऊँचे उठ गये।

इलाहाबाद में शमशेर का सरोकार श्रीराम वर्मा, मलयज और उनके परिवार के साथ हुआ और वे परिवार में ताऊजी के नाम से जाने जाते थे। मलयज और शमशेर के सम्बन्ध बहुत आत्मीयतापूर्ण थे। 1960 के आसपास शमशेर ने 'कृति' पत्रिका के लिए एक लेख लिखा था-'मेरी पसन्द के कुछ आधुनिक कवि : एक पर्सनल ऐसे'। उन्हीं दिनों मलयज का लेख शमशेर पर 'लहर' (सं. प्रकाश जैन) में प्रकाशित हुआ था, जो शायद शमशेर को ज्यादा पसन्द नहीं था। हालांकि बाद में, मलयज के नहीं रहने पर उनकी स्मृति में लिखे लेख 'एक प्रतिभा के विकास का परिवेश' में शमशेर ने यह ज़रूर स्वीकार किया था कि-''वह मेरी कविता के एक मर्मी पाठक ही नहीं, वह अपने निर्मम और विश्वसनीय आलोचक भी थे।'' (पूर्वग्रह, मलयज-स्मृति अंक)। उल्लेखनीय है कि मलयज शमशेर को अन्तर्विरोधों का कवि मानते थे, जो उनकी डायरी (7 दिसम्बर, 1967) से स्पष्ट है। साथ ही उन्होंने रमेशचन्द्र शाह को लिखे अपने पत्र (2 अप्रैल, 1971) में भी इसी आशय का विचार व्यक्त किया था। जाहिर है कि मलयज ने शमशेर की कविताओं पर लिखते हुए अपने बीच के सम्बन्धों को कभी तरजीह नहीं दी और बेबाक ढंग से अपने विचार व्यक्त किए।

शमशेर ने अपने एक संस्मरण में स्वीकार किया है कि अज्ञेय से उनका परिचय 1947-48 के आसपास हुआ था तथा उसी समय वे प्रभाकर माचवे के सम्पर्क में भी आये थे। शमशेर और प्रभाकर माचवे का पत्राचार लम्बे समय तक चला था, जिसकी चर्चा करते हुए शमशेर ने लिखा है-''माचवे जी से मेरी बेतकुल्लफी सन् 1947-48 से, इलाहाबाद के जमाने से थी जब वे रेडियो में थे। मेरा पद्यबद्ध पत्राचार किसी से कभी चला तो केवल माचवे जी से। माचवे जी के साथ मेरे साहित्यिक से अधिक बेतकल्लुफ घरेलू जैसे सम्बन्ध थे।'' 1937 से पूर्व शमशेर 'रूपाभ' के सम्पादक मण्डल में थे, 1937 में 'कहानी' पत्रिका में काम करने लगे थे तथा 1940 में वे मुम्बई जाकर 'नया पथ' का सम्पादन करने लगे थे। तभी उन्होंने अपनी कहानी 'प्लॉट का मोर्चा' की रचना की थी, जिसमें द्वितीय विश्वयुद्ध का परिवेश चित्रित हुआ है। 1963 में शमशेर कुछ दिनों तक सारनाथ (वाराणसी) में भी रहे, वहाँ उन्होंने डायरी, कविता और आलोचनात्मक लेखों पर खूब काम किया। अगर देखा जाये तो उस समय की लिखी डायरियों और कविताओं की संवेदना में बहुत कम अन्तर लक्षित होता है। 1979 में वे दिल्ली आ गये थे और मलयज के परिवार के साथ ही मॉडल टाउन में रहने लगे थे। मलयज और शमशेर एक-दूसरे की रचनाओं के प्रति संवेदनशीलता और सहयोग का दृष्टिकोण रखते थे। यही कारण है कि शमशेर की कहानियों और रेखाचित्रों के संग्रह 'प्लॉट का मोर्चा' की पाण्डुलिपि मलयज ने खुद अपने हाथों तैयार की थी।

'मुक्तिबोध रचनावली' में संकलित मुक्तिबोध के दो पत्रों से, जो शमशेर को सम्बोधित हैं, स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध के साथ उनका पत्राचार 1950 के आसपास शुरू हुआ था। 7 जुलाई, 1950 को मुक्तिबोध ने शमशेर को प्रथम पत्र अंग्रेजी में लिखा था, जिसकी आरम्भिक पंक्तियों से मालूम होता है कि शमशेर से तब मुक्तिबोध की भेंट नहीं हुई थी। शमशेर से मुक्तिबोध की भेंट 'प्रगतिशील लेखक सम्मेलन', इलाहाबाद (1958) में हुई, जिसकी चर्चा उन्होंने एक घटना के रूप में की है। बहरहाल, नागपुर से लिखे पत्र में शमशेर को मुक्तिबोध ने लिखा-''मैं नहीं जानता कि मुझको क्या कहना चाहिए। मैंने कई बार प्रयत्न किया किन्तु पत्र लिखने में असफल रहा, मैं आपको क्यों लिखूं।'' दूसरा पत्र भी नागपुर से ही लिखा गया, जो हिन्दी में है। चूंकि शमशेर ने एक पत्र प्रभाकर पुराणिक को लिखा था,

जिसमें मुक्तिबोध की चर्चा मात्र थी। उसी आधार पर मुक्तिबोध ने शमशेर को लिखा था। पत्र में मुक्तिबोध ने शमशेर की 'नया साहित्य' में प्रकाशित कोरिया पर लिखी कविता की प्रशंसा की थी। बाद में 7 फरवरी, 1964 को मुक्तिबोध पक्षाघात का शिकार होकर दिल्ली आये, तब शमशेर मुक्तिबोध की चिकित्सा आदि में जुट गये। और उनके देहावसान के बाद उनके प्रथम कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' का सम्पादन किया। 15 अगस्त, 1964 को मुक्तिबोध के सम्बन्ध में 'एक विलक्षण प्रतिभा' संज्ञक निबन्ध लिखा।

शमशेर ने लेखक मित्रों के अतिरिक्त कुछ पत्र अपने परिजनों को भी लिखे थे, जो उनकी संवेदना और आत्मीयता के स्तर को ही निर्धारित करते हैं। 18 अक्टूबर, 1959 को इलाहाबाद से तेजबहादुर चौधरी को लिखे पत्र से पता चलता है कि शमशेर की आर्थिक स्थिति उन दिनों काफी खराब थी और वे जीविका के अभाव में अपने निर्वाह के लिए अपने अनुज पर निर्भर थे। अर्थाभाव के कारण शमशेर ज्यादा चिंतित थे, इसलिए वे चेकोस्लोवाकिया जाने के स्वप्न देख रहे थे। वे वहाँ के लेखकों को मिलने वाली सुविधाओं की चर्चा करते हैं तथा इच्छा करते हैं कि यदि वहाँ से आमन्त्रण आया तो वे ज़रूर जाना चाहेंगे। साथ ही, वे अपनी दो किताबों की, की जा रही तैयारी की सूचना भी देते हैं जिसमें वे तीन वर्षों से लगे हुए थे। फिर अपनी तंगी की हालत का यों बयान करते हैं-"अपने खर्चे के बारे में दरअसल मैं तुमको लिखना नहीं चाहता था मगर अब साफ-साफ लिखता हूँ, क्योंकि इन्हीं के साथ मेरी ज़रूरतें जुड़ी हुई हैं जिनके बारे में तुमने पूछा है। मैंने खास काम इधर यह किया कि दूध अच्छी तरह लिया है। इसमें आसानी भी थी कि उधार मिलता गया। मगर एक तरफ खाने-पीने की और कोई चीज़ न ले सका या वे बेहद कम मात्रा में ली जा सकीं। दूसरी तरफ कर्ज़ा भी बढ़ा। काम जो मैंने लिया था वह वापिस करना पड़ा, जैसा कि मैं तुमको लिख चुका हूँ। फिर हाथ-पाँव मार रहा हूँ। इस दौरान ही हेरम्ब मिश्र मेरे पास आकर रहे, करीब बीस दिनों से रसद आदि का खर्चा उन्होंने अपने ऊपर ले लिया है। विद्यार्थी जी से भी मैं 14 रुपया उधार लाया था। खुद मकान मालिक से 10 रुपये लिये थे जब चमन सिंह (अनुज के दामाद) यकायक आ गये थे। तुमने जो 60 रुपये भेजे थे, उसमें से किराया और दस रुपये कर्ज़, 35 रुपये अदा किये, और कुछ छोटे-मोटे कर्ज़े चुकाये। विद्यार्थी जी को भी जल्दी देना है। वह खुद गरीब आदमी हैं, बहुत ज़रूरत के मौके पर उन्होंने दिया था।" इसी प्रकार वे प्रायः अनुज तेजबहादुर चौधरी से रुपये की माँग करने की विवशता झेलते रहते थे। अन्तिम समय में जब वे सुरेन्द्र नगर (गुजरात) में रंजना अरगड़े के साथ रहने लगे थे, उन दिनों लेखक मित्रों के नाम लिखे गये उनके पत्रों की संख्या अत्यन्त कम है, लगभग नहीं के बराबर।

1991 में शमशेर की पेंटिंग की प्रदर्शनी मण्डी हाउस में लगी थी, जिसे देखकर कवयित्री मधु शर्मा ने कुछ अद्भुत कविताएँ लिखीं। 1992 में साहित्य अकादमी ने शमशेर के कविता-पाठ का आयोजन किया। खराब स्वास्थ्य और खाँसी के कारण बार-बार उनकी कविता-लय टूट जाती थी, रंजना अरगड़े पीठ पर हाथ फेरतीं और वे एक विनम्र जिद के साथ पढ़ रहे थे-

एक नीला आईना
बेठोस-सी यह चाँदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में।
मौन में इतिहास का
कन, किरन जीवित, एक, बस।
एक पल के ओट में है कुल जहान।
आत्मा है
अखिल के हठ-सी!
चाँदनी में घुल गये हैं
बहुत से तारे बहुत-कुछ
घुल गया हूँ मैं
बहुत-कुछ अब।
रह गया-सा एक सीधा विम्ब
चल रहा है जो
शान्त इंगित-सा
न जाने किधर।

समय की एक लम्बी आह....भँवराले अँधेरे। उदास रंगीनियाँ। संघर्ष। सवाल। भावभिव्यक्ति का माध्यम वर्ण, इससे जुड़ी हुई एक चीज़ है-चमक, जो पीड़ा का द्रवीभूत रूप है- फ़क़त।

एक खुशबू जो मेरी पलकों में इशारों की तरह
बस गयी है, जैसे तुम्हारे नाम की नन्हीं-सी
स्पेलिंग हो, छोटी-सी प्यारी सी, तिरछी स्पेलिंग

शमशेर जीवन और रचना दोनों पर विश्वसनीय व्यक्ति थे, 'व्याकुल शान्ति' के कवि थे। उनके जो भी निजी अन्तर्विरोध रहे थे, उसके लिए वे खुद ज़िम्मेवार नहीं थे। उनकी पारिवारिक और सामाजिक स्थितियाँ भी कम ज़िम्मेवार नहीं थीं। फिर भी, उन अन्तर्विरोधों के बावजूद वे उनसे एक प्रकार से ऊर्जा ग्रहण कर उनका रचना में इस्तेमाल भी करते थे, जो अन्ततः उनकी पहचान क़ायम करने में सहायक भी बने। आखिर तक स्वयं अपने ही सॉनेट की इन पंक्तियों के जरिये अपनी कर्मठता का इजहार करते रहे-

कवियों की उम्र अजीब शै है, ओ कवि
पुनः अमर उसी का जो युगों कर्मठ है।

द्वारा-श्रीदरगाहीलाल सियाराम, कछौना, हरदोई (उत्तर प्रदेश)

ग्लेशियर पर लड़े जा रहे युद्ध की कहानी : बुखारी

(पंजाबी की सुप्रसिद्ध कहानीकार राजिन्दर कौर कुछ समय पूर्व अपने पुत्र के पास अमेरिका गई हुई थीं। वहां उन्होंने एक उपन्यास पढ़ा-बुखारी। संचेतना की संयुक्त संपादक कमलेश सचदेव को एक पत्र लिखकर उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया दी जो यहां प्रस्तुत है। -संपादक)

प्रिय कमलेश, मैंने यहां आकर एक उपन्यास पढ़ा है। यह मैं भारत से ही साथ लाई थी। पुस्तक का नाम है 'बुखारी' और लेखक का नाम है श्यामल भट्टाचार्य। यह उपन्यास ग्लेशियर युद्ध पर आधारित है। बंगला से इस उपन्यास का अनुवाद रूपाली मजूमदार ने किया है। वायुसेना में होने के कारण 1991-92 में लेखक की पोस्टिंग विश्व के सबसे ऊँचे युद्ध क्षेत्र सियाचिन ग्लेशियर में हुई थी। एक सैनिक, जिसे स्वयं बर्फीले प्रदेश में लड़ने का अनुभव हो, ही ऐसा उपन्यास लिख सकता है।

इस उपन्यास को मैं लगतार नहीं पढ़ पाई। कुछ ही पन्ने पढ़कर मन बोझिल हो जाता, कंपकंपी होने लगती, दिल जैसे किसी ने मुट्ठी में जकड़ लिया हो। भयभीत होकर मैं घर से बाहर खुली हवा में सांस लेने के लिए आ जाती।

इस उपन्यास में युद्ध की ही बातें हैं। दो पड़ोसी देश- भारत और पाकिस्तान- बर्फ की चोटियों के लिए लगातार आठ साल युद्ध करते हैं। दोनों देशों के नेता वातानुकूलित कमरों में बैठकर वीडियो स्क्रीन पर युद्ध का आनन्द लेते हैं।

कमलेश, ग्लेशियर पर तैनात सैनिकों को जो कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं वे सब मैं इस पुस्तक में से ही लेखक के शब्दों में ही लिख रही हूं-

पृथ्वी की सारी न्याय व्यवस्था में एकान्तवास एक कठोर सजा है। सैनिक लोग बिना किसी अपराध के ही एकान्तवास को अभिशप्त हैं-कर्तव्यपालन! एक हजार सैनिक एक साथ रहने पर भी हर एक अकेला है। हाथ-पांव एक ही लय में चलते हैं। शरीर एक ही लय में आगे बढ़ता है। लेकिन हर एक का मन रहता है अलग-अलग जगहों पर। अकेलेपन के साथ अकेलापन जितना भी जोड़ो-घटाओ, गुणा-भाग करो उसका परिणाम अकेलापन ही होगा।

दो महीने की छुट्टी में सैनिक पूरे साल की जमा हुई पारिवारिक समस्याओं को कितना सुलझा पाता है। समझने में ही कुछ दिन लग जाते हैं। उसके बाद समाधान का रास्ता ढूंढने के पहले ही छुट्टी खत्म हो जाती है। समाधान नहीं हो पाता। एक सैनिक लेट आया है छुट्टी से, उसे सजा मिलती है-अट्ठाईस दिन का वेतन काटा जाएगा।

लगातार दो घंटे से गोलाबारी हो रही है। सैनिक बर्फ की गुफा में शेल्टर लेते हैं। बाहर से किसी के कराहने की आवाज आ रही है। हवलदार लाम्बा है- बुरी तरह घायल, खून से लथपथ। सोलह तोपचियों में से वही बचा था। परन्तु जख्म इतने गहरे हैं, दवा-दारू का कोई प्रबन्ध नहीं। वह भी दम तोड़ देता है।

चारों ओर बर्फ का साम्राज्य है। नदी, झरने सब बर्फ में बदल चुके हैं। पीने के लिए पानी चाहिए। चाय बनाने के लिए पानी चाहिए। आईस एक्स से नरम जगह से बर्फ काटी जाती है। काट-काट कर टिन में भरी जाती है। फिर इस टिन को स्टोव पर गर्म किया जाता है तो पानी मिलता है। बर्फ काटना आसान काम नहीं। सांस फूल जाती है। कई बार बर्फ के बड़े टुकड़े गिरकर बहुत नीचे खाई में चले जाते हैं। दुर्घटनाएं भी हो जाती हैं। पैर फिसल जाता है। सैनिक खाई में गिर जाते हैं। बचाव का कोई साधन नहीं मिलता। हिमपात से दब जाते हैं उनके शरीर। ऐसे ही बर्फ काटते-काटते एक सैनिक को पैराशूट में लिपटे दो शव मिलते हैं। बड़ी मुश्किल से उनको बर्फ में से निकाला जाता है। पता चलता है- नौ साल पहले ये कुमायूंनी वीर सबसे पहले ग्लेशियर में आए थे पर लौट नहीं सके। आखिर तक एक दूसरे से लिपट कर बचने की कोशिश करते रहे होंगे।

प्रायः दो कदम पर एक बार दम लेकर दोनों टिनों के साथ आलोक तम्बू में लौटता है। टिन रख कर पहले अपने मैले तौलिए से चेन के अन्दर हाथ घुसाकर सीना, पीठ, बगल और जाँघों के बीच का पसीना पोंछता है। नहीं तो अभी पसीना बर्फ बनकर परेशान करेगा।

दाढ़ी-मूंछ में छोटी-छोटी बर्फ की काठी झूलती रहती है और तापमान माइनस 40 डिग्री सेन्टीग्रेड के नीचे चले जाने पर ग्लेशियर ट्राउजर और जैकेट पहने रहने पर भी लगता है मानो कोई नंगा होकर बर्फीली झील में नहाकर निकला हो।

आज तापमान और नीचे चला गया है। पेशाब करने जाकर इनर में अपना पुरुषांग नहीं ढूंढ पाता। परन्तु पेशाब के दबाव से हड़बड़ी में उसकी उंगलियां पुरुषांग को खींचकर बाहर निकालते वक्त चेन में रगड़ खाकर कट जाती हैं। उसके बाद और कोई मौका दिए बगैर जीवन में पहली बार ट्राउज़र में पेशाब हो जाता है।

बाध्य होकर आलोक डेरे में जाकर पानी गर्म करता है। इसके बाद किसी तरह ग्लेशियर पैण्ट और ट्राउज़र और जाँघिया खोलकर कमर के नीचे का हिस्सा धो डालता है। पानी इतना गर्म होगा इसका अंदाजा ही नहीं रहा। पल-भर में लगता है उसके शरीर में आग लग गई हो, उसके लिंग, अण्डकोष और जंघाओं में फफोले उठ आते हैं।

आठ सालों से चल रहा है यह युद्ध। लोग इस बात से बेखबर हैं कि पृथ्वी के सबसे ऊँचे युद्ध क्षेत्र में दो देशों के सैनिकों के यौवन में कब कैसे श्मशान घुस जाता है।

पत्रकारों के अनुसार फारवर्ड पोस्टों पर एक लीटर केरोसीन पहुंचाने का खर्च लगभग 130 रुपए और एक फ्रूटी का 45 रुपया पड़ता है। वे लिखते हैं कि सैनिकों के लिए सरकार कितना खर्च कर रही है। हर रोज कितना करोड़ खर्च हो रहा है। यह सब सुनकर आँखों के आगे तैरने लगता है- अधनंगे, भूखे कई भिखमंगों का शरीर। हाय अभागा देश, विखंडित देश, विवादास्पद सीमाओं पर युद्ध कर रही किसानों की सन्तान। धमनियों में एक-दूसरे के प्रति अरोपित नफरत का जहर! हाय सभ्यता!।

राजपूत रेजिमेण्ट का 28 वर्षीय सैनिक चन्द्रभान बीस हजार फुट ऊंचे ऑबजरवेशन पोस्ट से ड्यूटी पूरी करके एक हजार फुट नीचे उतरते वक्त अचानक सीने में चुभन सी महसूस करता है। वह किसी तरह जल्दी से बर्फ के नीचे बने आवास स्थान के प्रवेश पथ पर लुढ़क जाता है। उसका एक सहकर्मी बबलू उसके सीने में मालिश करता है, फ्लास्क से गर्म पानी उसके मुंह में डालता है। लेकिन चन्द्रभान दर्द से छटपटा रहा है।

चन्द्रभान के फेफड़े में ठण्डी हवा घुस गई है। उसे पालमोनरी एमबोलिज़्म हो गया है। कैम्प की रोशनी में चन्द्रभान का चेहरा भुतहा लग रहा है। अब कोई स्पन्दन नहीं। बबलू मालिश करता है पर कहां है छाती! मानो पत्थर को मालिश कर रहे हो। बबलू और चन्द्रभान ने एक साथ ट्रेनिंग ली थी, कई प्रदेशों में एक साथ काम कर चुके थे। वह सोचता है, 'क्या जवाब दूंगा उसकी बीवी को?' बबलू चन्द्रभान की पथराई आंखों और मुंह को चूमता है। इस पृथ्वी पर वह एकदम अकेला हो गया है। मुंह के बल गिरकर फूट-फूट कर रोता है। चन्द्रभान की बीवी के गर्भ में उसकी तीसरी सन्तान है। इसी महीने उसका प्रसव है। उसे कुछ रुपये, चिता की राख और रिबन में लगे हुए मेडल मिलेंगे। कम से कम इतना तो मिलेगा उस भागवान को। जिनके पति बर्फ की दरार के अन्धकार में खो जाते हैं, हिमस्वखलन के नीचे दब जाते हैं, उन्हें तो इतना भी नहीं मिलता। ऐसे ही जाने कितने बदकिस्मत सैनिक निष्प्राण पड़े हैं ग्लेशियर के जबड़े में। और बबलू को अठारह दिन चन्द्रभान के मृत शरीर के साथ बिताने पड़ते हैं। चूहे चन्द्रभान के मृत शरीर में से होंठों को खा लेते हैं।

हिन्दी में अण्डमान निर्वासन को काला पानी कहते हैं, इसकी तुलना में सफेद पानी कई गुना ज्यादा भयावह कष्टकर है।

बेसकैम्प में बड़े-बड़े चूहे स्लीपिंग बैग के ऊपर रोटी के टुकड़े को लेकर छीना-झपटी करते हैं। चूहों की उछलकूद से ऐसा लग रहा था मानो युद्ध चल रहा हो। चूहों से परेशान होकर एक गांव से बिल्ली के बच्चे मंगवाते हैं। वे चूहों के डर से स्लीपिंग बैग में छुपे रहते हैं। अगले दिन वह बिल्लियों की छाती या पीठ में पैराशूट की रस्सी हल्के से बांधते हैं फिर लटका कर बार-बार चूहों के भोज या सभा में पैराड्राप करते हैं। जीभ में एक बार खून का स्वाद लग गया, अब चैन नहीं। पृथ्वी का सबसे निष्ठुर सत्य है यह शिकार। बिल्ली के बच्चों को वही स्वाद मिल गया है...बड़े चूहों के अलावा उन्होंने सभी को साफ कर दिया है। जो जिन्दा बच गए हैं वे बिल्लियों की अनुपस्थिति में भी बाहर नहीं निकलते। इसी को शायद आधुनिक युद्ध विज्ञान में कहते हैं-चैक एण्ड बैलेन्स। दुश्मन को पूरा खत्म मत करो। कमजोर बनाकर तड़पा-तड़पाकर मजा लो।

बेसकैम्प में आलोक को कपड़े उतारने का मौका ही नहीं मिलता। जूते उतारकर स्लीपिंग बैग में घुसना और सुबह निकलकर जूते पहनना। सबसे बड़ी समस्या है शौचकर्म से निपटना। खुली हवा में काफी कष्ट होता है। बर्फ हो जाता है शौच के लिए पहाड़ी से सटकर बैठा। तब वह मन ही मन सोचता है अगर बर्फ का कोई टुकड़ा लुढ़क कर उसके सिर पर आ गिरे? वह अचानक डर-सा जाता है। उसका पखाना नहीं उतरता। लौटकर स्लीपिंग बैग के अन्दर कुण्डली मारकर भी हड्डियों की ठकठकी रुकना नहीं चाहती।

एक सैनिक कहता है, 'यहां हवा जबर्दस्त ठण्डी है। वह नाक व गाल को चाकू की धार की तरह काट रही है।' दूसरा कहता है- 'बार-बार हाथ से नाक व गाल को रगड़ो।' पहले वाला उत्तर देता है, 'रगड़ते-रगड़ते दर्द हो गया है, कहीं-कहीं चमड़ी निकल गई है, कितनी भी क्रीम थोपो।'

यहां नहाने का कोई मौका नहीं है, क्योंकि पानी ही नहीं है। बिना नहाए शरीर से निकली तरह-तरह की बदबू वातावरण में छा जाती है। स्लीपिंग बैग में घुसकर सभी सटकर सोने की कोशिश करते हैं। वहां सांसों में बीड़ी व खैनी की बदबू, टिनफूड हजम न होने से पेट से निकलती गैस की बदबू, कुल मिलाकर एक असहनीय माहौल है। फिर भी नाले के आसपास झुग्गियों में रहने वाले लोगों की तरह आदत-सी पड़ जाती है। नींद व सपने में भी वही दुर्गन्ध घुस जाती है।

कोर्ट आफ इनक्वारी की टीम आती है क्योंकि एक डेरे में भयंकर आग लग गई थी, कितने ही सैनिक हताहत हो गए थे। कइयों

आठ सालों से चल रहा है यह युद्ध। लोग इस बात से बेखबर हैं कि पृथ्वी के सबसे ऊँचे युद्ध क्षेत्र में दो देशों के सैनिकों के यौवन में कब कैसे श्मशान घुस जाता है।

हिन्दी में अण्डमान निर्वासन को काला पानी कहते हैं, इसकी तुलना में सफेद पानी कई गुना ज्यादा भयावह कष्टकर है।

को बचाया नहीं जा सका था। उनके चले जाने के बाद एक सैनिक कहता है-

'साले, उड़कर आकर सवाल करते हैं। कुछ दिन यहां रह कर देखें फिर समझेंगे कितना पम्प मारकर स्टोव जलाना पड़ता है, कितने झटकों से चालू होता है जेनरेटर, स्पार्क प्लग साफ करते हुए किस तरह उंगलियों की चमड़ी निकल जाती है! किस तरह टट्टी करते हैं हम, एक बार यहां रहकर देखें!''

घर से चिट्ठी-पत्र की हमेशा इन्तजार रहती है। मौसम थोड़ा ठीक हो, हेलिकॉप्टर आता है। बार-बार पढ़ते हैं वे उनको, सीने से लगाकर रखते हैं, रात के सन्नाटे में घर की याद, मां-बाप, पत्नी, बच्चों की याद में रोते भी हैं दिल ही दिल में। कुछ सैनिकों की पत्नियां बेवफाई भी करती हैं। उनके मित्र या सगे सम्बन्धी उनकी पत्नियों को फुसला लेते हैं। वे खून के आंसू रोते हैं, अपने आपको शराब में डुबोते हैं। स्वप्न तथा दुःस्वप्न में हस्तमैथुन और स्वप्नदोष से पहने हुए कपड़े किस प्रकार चिपचिपे हो जाते हैं...जम गए सफेद धब्बे तथा वीर्य की बदबू, लम्बे समय से बिना नहाए हर एक के शरीर से निकलती है बकरे जैसी बदबू!

आलोक को टिनफूड में कोई स्वाद नहीं लगता, सिर्फ नमक और मिर्च लगाकर खाने में स्वाद लाने की कोशिश करता है। पेट भर कर भी नहीं खा सकता, पेट में जलन है, गैस है। उसको कुछ दिन की छुट्टी मिलती है। वह यात्रा की कई मुसीबतें झेल कर, लम्बे सफर के बाद अपने घर अरगतला पहुंचता है। मां, बहन, पिता, भाई, पत्नी और बच्चे से मिलना होता है। उसका सारा अस्तित्व झंकृत हो उठता हैं लेकिन 'वे दिन' कितनी जल्दी उड़न छू हो जाते हैं। वह दूरदर्शन पर समाचार ध्यान से देखता है। मन्त्रियों की कृत्रिम मुस्कराहट, पाकिस्तानं की निन्दा, अमेरिका के राजदूत ने क्या कहा।

आलोक सोचता है-यह नृशंसता ही युद्ध है। युद्ध में मानवता, दुःख, शोक, विवेक, बुद्धि सब निरर्थक है। युद्ध एक आदिम प्रवृत्ति मात्र है। युद्ध एक नशा है, जीत का नशा, कुछ पाने का नशा।

''यह खोखलापन, हाहाकार मेरे दिल को खाली कर देता है। सरवाइवल ऑफ दी फिटेस्ट... यह लड़ाई चलती रहेगी। धुएं से जन्म लेगी और काली बर्फ। सभी नदियों का पानी काला हो जाएगा। सारी नदियां नाला जैसा लगेंगी। भविष्य के सभी बच्चे इसी तरह पत्थर की मूर्ति की तरह, यन्त्र की तरह माया युद्ध लड़ेंगे। यह सोच कर ही मैं सिहर उठता हूं। एक अज्ञात भय मुझे दबोच लेता है।''

आलोक कहता है- ''कठिन जीवन जीते-जीते, रोज देखते-देखते प्रकृति के सौंदर्य के प्रति कोई अनुराग नहीं रह जाता। सत्य की अनुभूति की गहराई और उसकी व्यापकता इतनी ज्यादा है कि शब्दों में नहीं कहा जा सकता। उसे महसूस करना पड़ता है, जैसे बाँसुरी की धुन...।''

कुछ सैनिकों की पत्नियां बेवफाई भी करती हैं। उनके मित्र या सगे सम्बन्धी उनकी पत्नियों को फुसला लेते हैं। वे खून के आंसू रोते हैं, अपने आपको शराब में डुबोते हैं। स्वप्न तथा दुःस्वप्न में हस्तमैथुन और स्वप्नदोष से पहने हुए कपड़े किस प्रकार चिपचिपे हो जाते हैं...जम गए सफेद धब्बे तथा वीर्य की बदबू, लम्बे समय से बिना नहाए हर एक के शरीर से निकलती है बकरे जैसी बदबू!

एक सैनिक साथी के वहां से बेस कैम्प में जाने पर आलोक सोचता है, ''कौन जाने फिर मुलाकात होगी भी या नहीं। न जाने क्यों दर्द का एक टुकड़ा गले में आकर अटक-सा गया है। मन की पीड़ा अव्यक्त रह जाती है। अंततः हर इन्सान दूसरों से अलग रह जाता है। अपनी गरिमा के साथ...युद्ध के समय संवेदनशीलता बदल जाती है एक अद्भुत अमानवीय विकृति में...।''

युद्ध के बीच ही सैनिकों को समाचार मिलता है- देश में अभी दुर्गा पूजा चल रही है। मिलन का उत्सव है यह दशहरा। परन्तु सैनिकों के मन में तीव्र विरह। फिर दीपावली का समाचार मिलता है। उत्सव में डूबा देश सिर्फ सैनिकों की कल्पना में है। थके हुए शरीर और मन से बुखारी को घेरकर बैठे वे लोग यादों के उत्सव की उदासी में उदास होते रहते हैं।

छः दिसम्बर की शाम को रेडियो बताता है कि कट्टरपंथियों ने बाबरी मस्जिद तोड़ डाली है। सारे देश में दंगे फैल गए हैं। हजारों लोग मारे गए हैं, अनाथ हो गए हैं असंख्य बच्चे! शोक छा जाता है उनके फ्रण्ट में भी। शोक छा गया है हर एक सैनिक शिविर में। हिन्दू-मुसलमान-सिख-ईसाई सैनिक कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे हैं।

ग्लेशियर पर तापमान है माइनस पचास या इक्यावन। नया साल चढ़ रहा है। हवा का वेग तेज हो गया है, स्टोव उड़ गया है। धड़ाम-धड़ाम की आवाजें आ रही हैं- महाप्रलय में दोनों देशों के सैनिक बह रहे हैं। आलोक मृत्यु चेतना में डूब रहा है। सभ्यता का कोई भी अस्तित्व इस पल आलोक को मालूम नहीं।''

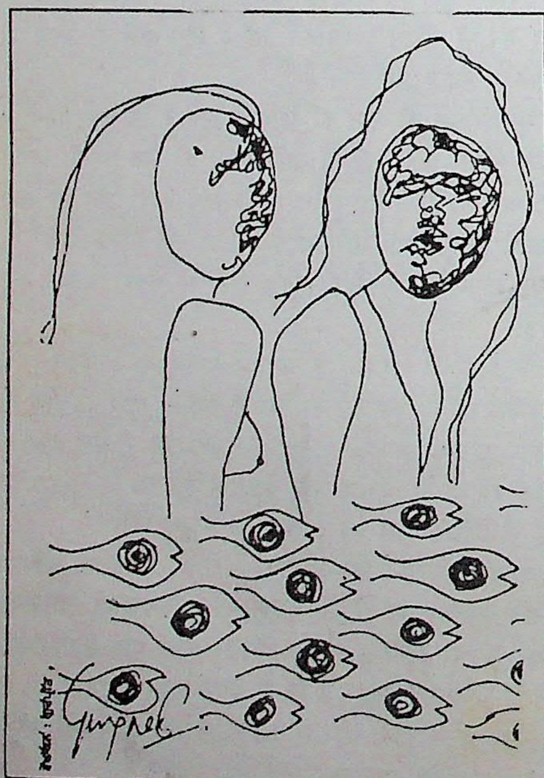
कमलेश, आजकल यहां अमेरिका में टी.वी. पर इराक के विषय में रोज समाचार आ रहे हैं। इराक पर आक्रमण को न्यायसंगत ठहराने की पूरी कोशिश की जा रही है। इनके पास प्रचार-प्रसार के इतने शक्तिशाली साधन हैं कि ये अपने गलत दृष्टिकोण को भी ठीक सिद्ध करके रहेंगे। और ये युद्ध चलते रहेंगे-लोग मरते रहेंगे। हम साधारण लोग असहाय बनकर सब देखते रहेंगे।

एच-355, डी.डी.ए. फ्लैट्स, नरायणा, नई दिल्ली-11002

मेराज अहमद

अमरूद और हरी पत्तियाँ

पति ऑफिस से जल्दी लौट आया। उसके डिवीज़न के एक चपरासी की बूढ़ी माँ मर गयी थी। ऑफिस पहुँचते ही उसे यह खबर मिली। कम्प्यूटर लैब का तो ताला ही नहीं खुला था। लोग आपस में हल्की-फुल्की बातें करते यूनिट के असिस्टेंट डायरेक्टर की प्रतीक्षा कर रहे थे, कि कब आयें और कंडोलेन्स हो, फिर ऑफिस बन्द हो। वैसे तो डायरेक्टर साहब अक्सर लंच का टाइम होते-होते ही आते मगर आज प्रतीक्षा को बिना लम्बी किये जल्दी ही आ गये। चलो, छुट्टी का एक दिन और मिल गया। वह भी खुश-खुश घर की तरफ रवाना हुआ। रास्ते में एक अमरूद वाले का ठेला दिखा। ठेला अमरूद से भरा था। अमरूद गोल चिकने लगभग एक आकार के काफी बड़े-बड़े थे। कुछ हरे थे, कुछ पीले। उनके साथ हरी पत्तियाँ भी थीं। पत्नी ने ऑफिस के लिए निकलते समय अमरूदों के लिए कहा था। उसे अमरूदों का जुनून की हद तक शौक था। शादी से पहले एक बार इतने अधिक अमरूद खा लिए कि पेट में बीज कहीं ऐसी जगह इकट्ठे हो गए कि ऑपरेशन की नौबत आ गयी, अमरूदों का जुनून फिर भी कम नहीं हुआ।



उसने सोचा अमरूद देखते ही प्रसन्न हो जायेगी। छुट्टी का समय अच्छा बीत जायेगा। घर पहुँच कर स्कूटर की डिग्गी से अमरूदों को निकाला नहीं। सोचा थोड़ा नाराज़ हो ले फिर चौंकाऊँ।

पत्नी उसे अचानक दोपहरी में देखकर खुश हो गयी। थोड़ा आश्चर्य भी हुआ। इसी समय! सुबह में ही खाने के लिए आलू-मेथी का साग, रोटी और रायता बना था। उत्साहित हो शाम के लिए छील कर रखे मटर से थोड़े-से मटर निकालकर आलू काट मटर-पुलाव की तैयारी में लग गयी। पति को आलुओं वाला मटर-पुलाव बेहद पसंद था।

पति कपड़े बदल, हाथ-मुँह धोकर बाथरूम से निकला तो पत्नी को रसोई में खट-पट करते देख वहीं से पूछा, ''आज इस समय खाना बनाने की तैयारी चल रही है? सुबह खाना कम बना था क्या?'' घर में सामने बरामदे के बाद दो कमरे थे। लैट्रिन-बाथरूम एक कमरे में था, दूसरे में किचन। दोनों कमरे आगे-पीछे इस तरह बने थे कि हर जगह की गतिविधियाँ पूरे घर की नज़र में होतीं।

पत्नी ने रसोई से ही उत्साह-भरे स्वर में जवाब दिया, ''मैंने सोचा जब खाने के समय घर आ गये हो तो कुछ अच्छा खिलाऊँ। इसीलिए आलुओं वाले मटर-पुलाव की तैयारी चल रही है।''

पति बाहर वाले कमरे से ही बोला, ''मैंने तो सुबह ही कहा था कि आजकल मेरा पेट ठीक नहीं है। घी-तेल से कितनी परेशानी होती है तुम्हें पता है? रहने दो। मेरे लिए साग ही काफी है। फिर मटर भी तो अभी चालीस रुपये किलो हैं!''

''तुम तो बस! हर समय हिसाब-किताब में लगे रहते हो। खाने-पहनने की कंजूसी से भला खजाना इकट्ठा हुआ है। अगर अपना मन हो तो तीसो दिन एक ही चीज बने चाहे कितनी ही महंगी क्यों न हो। मेरा मन कुछ भी हो तो हमेशा बचत का बहाना।'' पत्नी सामान्य स्वर में बात कर रही थी कि अचानक उसे याद आया कि आज जाते-जाते मैंने अमरूदों के लिए कहा था मगर आए नहीं, यह सोचकर उसकी आवाज में थोड़ी तल्खी घुल गयी। ''पता है मुझे अमरूद कितने पसंद हैं। एक हफ्ते से कह रही हूँ अमरूदों के लिए तो कहते हैं बीस रुपये किलो हैं।'' उसके मन में तल्खी और बढ़ गयी मगर कहा केवल इतना ही कि, ''क्या मेरा मन नहीं हो सकता पुलाव खाने का?'' फिर वह चुप हो गयी।

गोद का छोटा बेटा अन्दर वाले कमरे में खेलते-खेलते सो गया था। इसी बीच बड़ा बेटा बस्ते के बोझ से दबा पानी की बोतल गले में लटकाये बाहर वाले कमरे में खुले दरवाजे से अन्दर आ गया। अपने पापा को अपनी स्कूल से वापसी पर ही घर में देखकर प्रसन्न होते हुए वहीं से चीखा, ''मम्मी! पापा!''

पत्नी रसोई से मुस्कुराती हुई निकली। सम्भवतः बच्चे की आवाज के उत्साह ने उसकी तल्खी को पिघला दिया। बोली,

"अच्छा इसके कपड़े बदल दो, मगर उलट-पलट नहीं होनी चाहिए आलमारी में।" आलमारी का ध्यान आते ही पत्नी के तेवर फिर चढ़ गये, "कितने दिन हो गये, कह रही हूँ ठीक करवा लो। खोलने पर इतनी तेज आवाज करती है। भड़-भड़। हमेशा पैसों का रोना! अभी गाँव से खबर आ जाये कि पैसे चाहिए तो तुम्हारे धन में बाढ़ आ जाती है।"

पति को पत्नी के ताने पर ताव आ गया, "कब मैंने खजाना दे दिया है और किसको? तुम क्या समझोगी किसी की आवश्यकताओं को? आँख खोलते ही सब हरा ही हरा देखा है। अपने बाप से पूछो। छुटपन में कुर्सियाँ तक बुनी हैं। अगर तुम्हारे दादा के समय से पहले ही मर जाने पर ताऊ ने न सहारा दिया होता सबको तो? बाप ने मेरे पूरा जीवन अभावों में बिता दिया हम लोगों के लिए।" उसकी आवाज भावुक हो उठी, "सब पढ़-लिखकर ठौर-ठिकाने से लग जायें, जीवन में बस एक ही लक्ष्य था उनका! और न कोई इच्छा न चाहत। अब सबका भाग्य एक जैसा तो नहीं। गाँव में खेती-बाड़ी है तो उसे चाहिए ही चाहिए। रही बात दीदी से सम्बन्धों को निभाने की तो उन्होंने ही संभाला हम लोगों को। अम्मा! जब से आँख खुली बीमार ही देखा उन्हें। जीजा जी अगर न चाहते तो क्या कुछ कर सकती थीं, जो उन्होंने किया मेरे और छोटे के साथ? ऐसे में क्या हमारा कोई कर्तव्य नहीं है उनके लिए? कोई कमी नहीं है उनके यहाँ, भगवान का दिया सब कुछ है!"

दीदी का प्रसंग आते ही पत्नी को त्योरियाँ थोड़ी नर्म पड़ गयीं। बोली, "मैंने कब कहा उन्हें न दो-लो? आज अगर सास भी जिन्दा होतीं तो उनके जितना भला क्या निभातीं। मैं तो बड़े भैया और छोटे बाबू की बात कह रही हूँ। लेने के लिए हमेशा मुँह फैलाए रहते हैं मगर देने के नाम पर कभी ये भी नहीं कहा होगा कि दस-पाँच किलो चावल-दाल ही लेते जाओ। कपड़े-लत्ते का तो खैर कहना ही क्या! कमी किसको कितनी है? मैं सब जानने-समझने लगी हूँ। गाँव में एक की दुकान और दूसरे की नौकरी कहने को छोटी है। खेती-बाड़ी में क्या हमारा हक-हिस्सा नहीं है? परदेश में रहने का क्या यही मतलब है कि देश वाले बेगाना कर दें?" पत्नी को पति का जवाब दे लेने के बाद आत्मसंतुष्टि सी महसूस हुई।

पति को पत्नी की बातों में दम तो लगा परन्तु वह निरुत्तर नहीं होना चाहता था। इसलिए पत्नी के तर्क का रुख दूसरी तरफ मोड़ते हुए बोला, "हक-हिस्से को कौन देखता है? जिसको अवसर मिले वही मार लेता है। वह तो भाई हैं, माँ-बाप तक अक्सर ध्यान नहीं रखते। बेटा एक! घर तीन! बेटी सारी जिन्दगी किराये के घर में व्यतीत कर दे।"

पत्नी तिलमिला उठी, "मैं समझ रही हूँ आप क्या कहना चाह रहे हैं। रात-दिन मेरे मैके वालों पर चढ़े रहते हैं। इतनी ही चाहत

> "हर समय हर बात में बराबरी। आसानी से शादी हो गयी न! ऑफिस और लैब तो इसे लगता है बस घूमने की जगह है। नौकरी में ऊपरी आमदनी न होने का रोना अलग से। हो गयी होती किसी हाइडिल के क्लर्क से शादी और शाम में आठ अंडों के साथ भरपेट दारू पीकर आता तो पता चलता कि शादी क्या होती है। रिसर्च के साथ असिस्टेंट लग गया, कोई कीमत ही नहीं समझती। किसी बनिया के यहाँ ब्याह दी गयी होती तो सारी हेकड़ी गुम हो जाती। चार महीने दो बच्चों को लेकर जरा मैके ही जाकर रहे तो देखूँ! काश! चली ही जाये तो एक बार भी न रोकूँ।"

थी तो विवाह के समय ही बता देते क्या चाहिए। लिस्ट दे देते। कहलवाया तो था पापा ने, मगर उस समय आदर्शवादी बनकर नाम कमाना था समाज में। दिया नहीं तो माँगने तो नहीं आते। पर दूसरी तरफ लोगों को जैसे माँगने के अलावे कुछ आता ही नहीं। दूध देने वाला जानवर समझते हैं।"

पत्नी की इस तल्ख टिप्पणी से पति को वास्तव में गुस्सा आ गया, "बड़ी आयी दुधारू जानवर बनने वाली! क्या किया हम लोगों ने? ट्रैक्टर खरीदते समय और घर बनवाने में थोड़ी मदद। बस! और फिर साल में एक-एक जोड़ी कपड़े लोगों के, वह भी घर के मतलब के! तो! समझती हो कि हम ऐसा न करें तो सब नंगे घूमेंगे! क्यों? यही कहना चाहती हो न?"

पत्नी की तिलमिलाहट पति के इस प्रश्न से बजाय घटने के बढ़ गयी। परन्तु वह इस प्रश्न के उत्तर में भला यह कैसे कह देती कि हाँ! उत्तर तो देना ही था। बोली, "मैंने तो ऐसा नहीं कहा। मगर जब उनका काम चल रहा था तो क्या जरूरत थी हम लोगों को हैरान करने की? हमारी नौकरी में वेतन के अलावा कुछ भी नहीं, ये बात सबको पता है। इतने से घर के बिजली सहित ढाई हज़ार देने पड़ते हैं महीने के। क्या सबको पता नहीं कि ये कितना महंगा शहर है?" उसने अपनी मुद्रा को भरसक सहज रखने का प्रयत्न करते हुए लहजे में समझाने का भाव भरने की कोशिश की।

पति भी कुछ नर्म पड़ता हुआ बोला, "देखो! हर काम के पीछे कोई ठोस कारण नहीं होता है, न ही आवश्यकताओं का कोई एक निश्चित रूप ही होता है। कुछ काम देखने में तो अकारण ही लगते हैं, पर ये काम वास्तव में इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि उसकी कल्पना भी मुश्किल है। सम्बन्ध, भावनाएँ..."

पति की बात बीच में ही लपकते हुए पत्नी बोली, "शुरू कर दिया दर्शन!" वह अब तक लगभग सामान्य हो चुकी थी, "जब

उत्तर नहीं बन पड़ता है तो लगते हैं दर्शन झाड़ने। बात साफ-साफ कहनी चाहिए, घुमा-फिराकर नहीं।''

''साफ-साफ सुनने की हिम्मत हो तब न!'' पति ने कहा।

पत्नी को पति का जवाब अच्छा नहीं लगा। बोली, ''आखिर आप कहना क्या चाहते हैं? मैं अधिक दान-दहेज लेकर नहीं आयी तो कम भी नहीं लेकर आयी थी!''

''बिल्कुल ठीक कह रही हो! मैंने तो लिस्ट दी थी शायद? तुम्हें बताया नहीं गया! जिस दबंगई से रहती हो तुम खुद समझ सकती हो कि जो दहेज कम लाते हैं वह तुम्हारी ही तरह रहते हैं! क्यों?'' पति का लहजा व्यंग्यात्मक हो उठा।

पति को अनसुना करके पत्नी फिर शुरू हो गयी, ''अपनी पसंद से कुछेक साड़ियाँ खरीद लीं। चप्पलें ले लेती हूँ। तुम्हारे लिए ये सब मेरी दबंगई है? मगर तुम्हें ये भी समझना चाहिए कि बचाती भी कम नहीं। कामवालियों की तरह लगी रहती हूँ दिन-रात! पहले चाहे जैसी स्थितियाँ रही हों। आँख खुली तब से तो यही देखा कि पापा ने हम लोगों के इशारे को समझा। जो चाहा मिला। तुम्हारे यहाँ आकर गुलामी नहीं लिखवा ली है।''

पति फिर तैश में आ गया। ''सही कह रही हो। अरे जहाँ राजशाही मिलती वहीं चली जातीं।''

''चली गयी होती तो भी! इस नरक से मुक्ति तो मिलती।'' पत्नी का चेहरा गुस्से से तमतमा रहा था। आवाज भी कुछ तेज हो गयी थी।

''नरक है ये घर!'' पति को पत्नी के साथ स्वयं पर भी क्रोध आ रहा था। ''आजादी है तुम्हें यहाँ, तुम्हारी अपनी पहचान है मेरे समाज में। अपनी इच्छाओं की मालिक हो! जो चाहो करो! जहाँ चाहो आओ-जाओ! नरक ऐसा ही होता है।'' इस बीच वह बड़े बेटे के कपड़े बदल चुका था। उसे झिड़कते हुए अन्दर के कमरे से उठकर बाहर वाले कमरे में आकर गुस्से से भरा बैठ गया।

बच्चा सहमकर बाहर बरामदे में आकर यूँ ही कुछ देर खड़ा रहा, फिर स्कूटर में उलझ गया। स्कूटर में मन अधिक देर तक नहीं लगा तो अपनी छोटी साइकिल इधर-उधर करने लगा। हालांकि शाम पाँच बजे से पहले उसे साइकिल छूने से दोनों ने सख्ती से मना किया था, मगर दोनों में से इस समय किसी ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया। वह साइकिल में उलझकर सम्भवतः यह भूल गया कि मम्मी-पापा दोनों आपस में लड़ रहे थे।

गुस्से से भरा पति बाहर वाले कमरे में बैठा सोच रहा था, काश! कहीं और जाकर रहती तो पता चलता। दूर के ढोल कितने सुहावने होते हैं! पता नहीं इसे शायद! जीवन की वास्तविकताएँ पुस्तकों की वास्तविकताओं से कितनी अलग होती हैं। हर समय हर बात में बराबरी। आसानी से शादी हो गयी न! ऑफिस और लैब तो इसे लगता है बस घूमने की जगह है। नौकरी में ऊपरी आमदनी न होने का रोना अलग से। हो गयी होती किसी हाइडिल के क्लर्क से शादी और शाम में आठ अंडों के साथ भरपेट दारू पीकर आता तो पता चलता कि शादी क्या होती है। रिसर्च के साथ असिस्टेंट लग गया, कोई कीमत ही नहीं समझती। किसी बनिया के यहाँ ब्याह दी गयी होती तो सारी हेकड़ी गुम हो जाती। चार महीने दो बच्चों को लेकर जरा मैके ही जाकर रहे तो देखूँ! काश! चली ही जाये तो एक बार भी न रोकूँ। बल्कि उसने सोचा कि चलकर खुद ही ससुराल फ़ोन कर दिया जाए कि आकर इसे ले जाएँ।

जबसे आयी हूँ कोल्हू का बैल बनाकर रख दिया है। सो रहे बच्चे के पास बैठी पत्नी तमतमाया हुआ चेहरा लिए सोच रही थी। घर जेल से बदतर हो गया है। न कहीं आना न जाना। बस जब देखो शहर में रहने वाले गाँव-पड़ोस के लोगों का जमघट लगा रहता है। गाँव-पड़ोस से आने वालों की भी कमी नहीं है। किसी की दवा तो किसी की पढ़ाई। मरे ये मुकदमे वाले भी कम तंग नहीं करते। मम्मी न दें तो ढंग की एक साड़ी भी न नसीब हो। छह महीने के लिए चली जाऊँ तो पता चले! सारी राजशाही खत्म। उसके मन में आ रहा था कि बस अभी सूटकेस उठाये और स्टेशन रवाना हो जाए। भाड़ में जाए घर-गृहस्थी, भाड़ में जाएँ बच्चे! जब खुद के लिए कोई सुख-चैन नहीं तो बाल-बच्चों का क्या?

बरामदे में साइकिल से खेल रहे बच्चे का मन जब उससे भर गया तो दुबारा स्कूटर में उलझ गया। अचानक उसकी दृष्टि स्कूटर की बंद डिग्गी से बाहर झाँकती हरी पत्तियों पर पड़ी। वह समझ गया कि अमरूद ही हैं। दरअसल पति जब भी अमरूद लाता तो उसकी यही कोशिश होती कि उसमें हरी पत्तियाँ जरूर हों, क्योंकि पत्नी को लगता कि बिना हरी पत्तियों वाले अमरूद ताजे हो ही नहीं सकते। बच्चे ने भी माँ से सुन-सुनकर यह जान लिया था। पत्तियों का देखते ही वहीं से चीखा, ''अमरूद!'' फिर दौड़ता हुआ सीधे मम्मी के पास पहुँचा, 'मम्मी! मम्मी! पापा अमरूद लाए हैं।''

अमरूद का नाम सुनते ही पत्नी अपना सारा गुस्सा जैसे एक पल में भूल गयी और स्वभावानुसार चहक सी उठी, ''कहाँ हैं?''

पति को आश्चर्य हुआ कि बच्चे को कैसे पता चल गया कि स्कूटर की डिग्गी में अमरूद है। उसने गुस्से को भूलकर जिज्ञासा-भरे स्वर में पूछा, ''तुम्हें कैसे पता चला?''

''क्योंकि उसकी पत्तियाँ बाहर दिख रही हैं, तो मैं समझ गया।'' बच्चा अपनी बुद्धिमत्ता पर कुछ-कुछ गौरवान्वित होते हुए बोला।

पत्नी के मुँह से बेसाख्ता निकला, ''ताजे हैं?''

पति के चेहरे से आक्रोश की सारी रेखाएँ मिट गयीं। मुस्कुराते हुए कहा, ''हरे भी हैं।''

प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, ए.एम.यू. अलीगढ़

यशपाल वैद

पानी की ताकत

कुलबुलाते हुए मैं बस की सीट पर आ बैठा था। नीचे उतरा था कि पानी पी लूं लेकिन बिना पिये आना पड़ा। पीता भी क्योंकर, था ही नहीं, या तो कोल्ड ड्रिंक या शिंकजवी का गिलास उठा लो। कोल्ड ड्रिंक के बीस-पच्चीस रुपये दो और शिकंजवी के दस। शिंकजवी के गिलास इसलिए नहीं भाये क्योंकि आसपास मक्खियां भिनभिना रही थीं। और बीस-पच्चीस का बड़ा कोल्ड ड्रिंक खासा महँगा लगा। ज़रूरतमंद, मजबूर, बाल-बच्चेदार तो ले ही रहे हैं। लेकिन छोटा कोल्ड ड्रिंक क्यों नहीं रखा गया। मेरी तरह, शायद, कुछ और यात्री भी इसी सोच के साथ मन मसोस रहे हों। सुनने में आता है कि बसें ऐसी दो-चार जगहों पर रुकती हैं क्योंकि बस कर्मचारियों को यहाँ खान-पान सुलभ होता है। हैंडपम्प है लेकिन हत्था उतरा हुआ है। पानी की टूटी में पानी नहीं है। पछतावा होने लगा कि कहीं से पानी की बोतल डाल लेता। उन्होंने कहा भी। यहां मिरनल वॉटर भी इस वक्त उपलब्ध नहीं। है जो महँगा ही महँगा। दरअसल आदमी ज़िद पर उतर आए तो क्या नहीं कर जाता और यहां तो, यहां से पानी जैसा कुछ न पीने की ज़िद है। ऐसा तो है नहीं, कुछ काल पानी न पिया, तो मौत आ जायेगी। आगे कहीं पी लेंगे।

बस ड्राइवर सीट पर आ बैठा, हार्न बजाया तो उतरे यात्री बस में आने लगे। ज्येष्ठ-आषाढ़ की धूप तेज़ होती है। बस में कई सीटें खाली थीं। मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए किसी की आवाज़ कानों में पड़ी, 'क्यों प्रोफेसर साहब, नीचे उतरे भी, कुछ खाया-पिया नहीं। बस सब जायज़ा ले कर आ गये।'

'ओह, आप नन्दा साहब। आइये बैठिये।' मैं चहक उठा।

छोटा बैग अपनी गोद में रखते हुए वह आराम से बैठ गये।

'मैं दूसरी बस में था। एक मित्र आगे जा रहे थे। अपनी गाड़ी में थे। उन्हें तो दूसरी जगह जाना था, आगे उतारते। मैंने कहा यहीं उतार दो, यहां बसें आसानी से मिल जाती हैं। टिकट अभी लिया नहीं था। सोचा क्यों न आपके साथ बैठने का आनन्द उठाया जाये। सो उतरकर आ गया यहां।' नन्दा साहब ने सूत्र मिलाया।

'बहुत अच्छा किया आपने नन्दा साहब। कुछ सुनने-सुनाने को मिलेगा। आपकी संगत का लाभ उठाने का मौका मिल गया।'

''हाँ, आपसी बातचीत से कुछ नया तो मिलता ही है बात करने वालों को बशर्ते कि बात में कोई स्वार्थ न हो।'

'यह तो, ख़ैर, पहली बात है नन्दा साहब'

नन्दा साहब मुझसे ज्यादा नहीं तो दस-बारह साल उम्र में बड़े होंगे ही। सबके मददगार। बीमा कम्पनी से उच्च पद से सेवानिवृत्त। अब तो मैं भी सेवामुक्त। बरसों से एक ही शहर में रहते हुए मेल-मिलाप होता रहता है। कभी किसी काम से, कभी यूं आते-जाते। शहर में उनकी बड़ी इज़्ज़त है। बड़ा परिवार सबका मददगार और मेहनती। देखने-भालने में तंदरुस्त ऊँचे-लम्बे, दुबले-पतले। मैं भी कुछ-कुछ उन जैसा लग सकता हूँ। कम से कम शारीरिक गठन के लिहाज़ से।

बस तो अपनी रफ्तार में चल रही थी। बस में तकरीबन चुप्पी छाई हुई थी। कहीं पर कोई बीच-बीच में बोल उठते थे।

'हाँ तो प्रोफेसर साहब, आप तो पीछे से आ रहे हैं। दिल्ली गये थे शायद। सब सुख-शान्ति है न?' उन्होंने कण्डक्टर को पैसे देकर टिकट लेते हुए कहा।

'हाँ जी, सब कुशल-मंगल है। बच्चे दिल्ली में हैं। सो कभी-कभार आना-जाना पड़ता है। सेवानिवृत्ति के बाद कुछ ज़्यादा ही।'

'क्यों नहीं, ज़िन्दगी में मिलना-मिलाना होना ही चाहिए। आने-जाने से चुस्ती बनी रहती है, नहीं तो बैठ गये सो बैठ गये।' नन्दा साहब का कहना बजा था।

नन्दा साहब ने अपने बैग से मिनरल वॉटर की बोतल निकाली। स्टील के एक छोटे गिलास में आराम से पानी डाला और मुझे देते हुए कहा, 'लीजिये, पानी पीजिए।

मुझे बहुत अच्छा लगा। पानी पीने में सुख मिला। कहने का अवसर भी मिला।

'इन कस्बों, शहरों में इस गर्मी के मौसम में प्याऊ हुआ करते थे। अब कम ही नज़र आते हैं। पानी के नाम पर कोल्ड ड्रिंक या कुछ और।'

मेरी बात सुनते ही वह अपने अनुभव और पारखी दृष्टि के तहत बोले, 'अच्छा तो आप पानी की छानबीन कर रहे थे। अब



बहुत कुछ बदल रहा है। वक्त वड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रहा है। हर चीज़ खरीदी और बेची जा रही है। मल्टीनेशनल कम्पनियां आ रही हैं। और यहाँ इन बँधे-बँधाये बस रुकने के स्थानों पर हर तरह से मिलीभगत है। ट्यूबवेल चलाने वाले को भी इन दूकानदारों ने बांधा हुआ है मतलब उसकी हथेली गर्म करके। दोपहर को ट्यूबवेल, किसी भी बहाने से न चलाना या पानी छोड़ने वाले से यही मनवाना कि इधर का वॉल्व बन्द कर देना। हमारा माल बिकेगा। कोल्ड ड्रिंक्स बिकेंगी। दसअसल बड़े दामों पर इस जगह में ठेका लेते हैं, पूरा पड़ता नहीं तो ये हथकण्डे अपनाते हैं। बहुत जगह ऐसा है। फिर कहीं ऐसा नहीं भी होगा। फिर भी, कहना होगा कि भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक पांव फैलाए हुए है। जो बचे हुए हैं, बस वही बचे हुए हैं। क्या पूछते हैं आप, प्रोफेसर साहब।' नन्दा साहब ने विस्तृत जानकारी दे डाली।

'पर, नन्दा साहब, पानी तो मिलना चाहिए। प्यासे की प्यास बुझाना पुण्य का काम माना जाता है।' मैंने कुछ और जानने के लिए बात आगे बढ़ाने चाही।

'ज़रूर पुण्य का काम है। इस पुण्य को कमाने वालों की गिनती कम हो रही है दिन-ब-दिन। शायद आपने भी कहीं सुना होगा, पढ़ा होगा कि आने वाली जंगों में पानी का मसला भी हो सकता है। पानी की संभाल कई देशों में ठीक नहीं। ज़मीन के नीचे से पानी निकल रहा है, कहीं नहीं निकल रहा। ज़मीन पथरीली होती जा रही है हालांकि पानी अपना रास्ता खुद बना लेता है, फिर भी उसे संभालना तो आदमी का काम है। घर हो, देश हो।'

नन्दा साहब का कहना ठीक लगा, मसला है गम्भीर। हमारी बातचीत को आसपास बैठे यात्री कान लगाकर सुनने की कोशिश कर रहे थे।

कुछ क्षणों की चुप्पी के पश्चात् नन्दा साहब ने बात शुरू की, 'चूंकि पाल साहब, आपने पानी का मुद्दा उठाया है तो इसी पर बात करते चलते हैं। वैसे मुद्दे और भी हैं, लेकिन मेरी समझ में, पानी का मुद्दा हर लिहाज़ से इन्सान के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। मैं तो पाकिस्तान के पंजाब में पैदा हुआ, वहीं पढ़ा-लिखा, बड़ा हुआ, घूमा-फिरा, वहां के पानी में खेला-कूदा, अपने साथियों के साथ। आपका भोला-बचपन भी वहीं बीता होगा। शायद, कुछ याद हो, न भी पूरी तरह याद हो तो भी बड़ों से सुनते-सुनाते, ऐसे लगता है कि सब देखा-भाला है।'

'आप ठीक कह रहे हैं। मैं भी पूरी होश संभाल चुका था। सब याद है।' मैंने कहा।

'हाँ जी, तो कह रहा था कि पंजाब में हमने जन्म लिया, पानी वाली उपजाऊ धरती पर। पंजाब का मतलब, पांच आब, मतलब पांच दरियाओं का पानी। मुहब्बत, प्यार, पानी की ही ताकत है। बँटवारे ने सब मलियामेट कर दिया। क्या प्यार से रहते थे, एक घड़े का पानी पीते थे। दु:ख-सुख में एक दूसरे के साथी। लड़ना-झगड़ना, रूठना-मनाना सब चलता था। अंग्रेजों की कूटनीति और वक्ती उन्माद, पागलपन, मारकाट-लूट-खसोट और कभी-कभी उसी पागलपन के जरासीम अब भी कहीं-कहीं मनुष्यों को पशुओं का चोला पहना देते हैं।'

'आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। लेखकों ने उस वक्त के दर्दनाक नज़ारों का बारीकी से बयान किया है।'

'हाँ जी, आप तो सब पढ़ते-लिखते रहते हैं। लो आपको आपबीती सुनाता हूं कि प्यार कभी मरता नहीं। रावलपिंडी, लाहौर की पढ़ाई और अपना दोस्त असलम। अब तो जानता नहीं कैसा होगा। लेकिन उसकी यादें दिलोदिमाग में ताज़ा हैं। उसकी अम्मा बहुत प्यार करती थी हमें। सुनिए, ज़रा ध्यान से। सच्ची सीधी यादें। आज दो हज़ार तीन है और बातें कल की लगती हैं।' वह बोलकर मेरी तरफ़ एकटक से देखते दिखाई दिए।

'आप कहते जाइए। मैं बड़े ध्यान से सुन रहा हूँ।'

'पाल साहब, ध्यान से क्यों न सुनेंगे। जैसे साफ पानी वैसी ये बातें। भले ही पसीना आ रहा है, लेकिन इन यादों से ठण्डक पहुंच रही है। साथ-साथ उतरना है अम्बाला में।'

'हाँ जी, आपसे मिलना सदा अच्छा ही होता है।'

'आप सुन रहे हैं तो ही सुना रहा हूँ। हाँ तो, देश के बंटवारे के कुछ साल बाद शायद पचपन या अट्ठावन में लाहौर में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच क्रिकेट का मैच था। यहाँ से जाने वालों को कुछ थोड़ी कागज़ी कार्यवाही के बाद वहाँ जाना मुमकिन हो गया था। मेरा मन किया, घूम आऊँ। साथ में यहाँ से तीन साथी और तैयार हो गये। अच्छा साथ बन गया। भले ही उस ज़माने में हम क्रिकेट के इतने शौकीन नहीं थे जितने अब मजा लेकर देखते हैं, लेकिन लाहौर घूमने, सैर-सपाटे का मौका हाथ से न गँवाना चाहते थे। क्या बताऊँ, हमारी क्या, सभी आने वालों की जमकर मेहमाननिवाज़ी हुई। सिर आँखों पर बैठाया उन मुसलमान भाइयों ने। दूसरे-तीसरे दिन ख्याल आया। रावलपिंडी जाना तो मुमकिन न होगा। वहाँ असलम को तार भेज दिया। भेजने के बाद जैसे भूल गये। अगली रात थके-मांदे नींद की आगोश में जाने को थे कि होटल के नीचे से नौकर आया। उसने दरवाज़ा खटखटाते हुए कहा, 'नंदा साहब को रावलपिंडी से असलम नाम के वकील साहब मिलने के लिए आए हैं। मिलना चाहो तो ऊपर ले आऊँ।' आप अन्दाज़ा नहीं लगा सकते कि खुशी के मारे उस वक्त मेरी क्या हालत हुई होगी। मैं बिना कुछ बोले, नंगे पांव नीचे पहुंचा। सामने खूबसूरत हट्टा-कट्टा असलम खड़ा था। मैं उसे प्यार से एक क्षण के लिए निहारने लगा तो वह बोला, बेशक कुछ शरारती हँसी के साथ-'मैं समझता था कि

हिन्दुओं में बड़ा दिमाग़ होता है लेकिन ऐसा है नहीं।' मेरी समझ में कुछ नहीं आया। बग़ैर समझे, उसके साथ बग़लगीर होने के बाद, उसे ऊपर ले आया, उसके सामान समेत। अपने साथियों से मिलवाया और फिर पूछा, 'नीचे क्या बक रहा था, असलम।' 'बक नहीं, ठीक कह रहा था कि यही समझते थे कि हिन्दुओं में बड़ा दिमाग़ होता है लेकिन तुम तो पाजी निकले।' चूंकि उसके लबों पर मुसकराहट थी, इसलिए इसे मज़ाक ही समझते हुए पूछा, 'कुछ बकेगा भी।' बोला, 'तार तो दे डाला लेकिन लिखा नहीं कि ठौर-ठिकाना क्या है। यह तो मेरा दिमाग़ काम कर गया, तार में तेरी सूरत ढूंढते-ढूंढते तारघर की मोहर नज़र आ गई। अनारकली बाज़ार तार घर। वहाँ जाकर तार भेजने वाले का पता पूछा। मिल गया, नहीं मैं तो खज्जल-ख्वार होकर बैरंग लौट जाता।' मुझे अपनी भूल का अहसास हुआ लेकिन मैंने कहा था, 'जहां चाह होती है, वहां राह होती है। फिर तुम्हारी वकालत किस काम आती।' हम सभी ठहाका मारकर हँसे थे। पाल साहब, आप समझिये, गई रात तक दोनों मुल्कों की बातें होती रहीं। घर-परिवार, नौकरी सबकी बखिया उधेड़ी। सियासत को कोसा। सुबह नाश्ते के बाद असलम ने अलग होने यानी जल्दी लौटने की मजबूरी बताई तो दिल सहम गया। उसके अब्बाजान बीमार हैं। ख़ैर, अब सुनिये पंजाब के पानी की खासियत। असलम ने उठने से पहले जेब से पाकिस्तानी करंसी के कुछ गिने-चुने नोट यह कहते हुए दिये-यह तुम्हारी अम्मा ने तुम्हारे लिए सौग़ात भेजी है और फिर कुछ अपनी तरफ़ से भी दिये, यह कहते हुए कि दोस्त का नज़राना है। कहा, दिल खोल के खाओ, पीओ, सौगातें ले जाओ, अपने दोस्तों के साथ खुशियां मनाओ।मेरे पास सिवाय चुप रहकर उसे प्यारभरी नज़रों से देखने के और क्या था।' बोलते हुए नन्दा साहब का गला रुँध गया, जैसे भाव-विभोर हो उठे हों। मेरी हालत भी कुछ ऐसी ही थी।

अन्तराल के बाद नन्दा साहब बोले, 'अगर सुन-पचा पाए हों तो वहीं की दूसरी मुहब्बतभरी याद सुनाऊँ?'

'सुनाओ न, अच्छा लग रहा है।'

इस बीच, बस एक-दो स्टाप पर रुक चुकी थी। आज भीड़-भाड़ का कोई मन्ज़र न था। वक्त कैसे बीत जाता है बातों में, पता चल रहा था। बेशक, टाँगें सीधी करने के लिए, कभी मैं उठ खड़ा होता, कभी नन्दा साहब उठ खड़े होते। तभी पता चलता कि कोई न कोई जानकार दूर-पास बैठा हमें स्नेहभरी नज़रों से देख रहा है।

'हाँ, तो सुनो पाल साहब, आप भी क्या याद रखेंगे कि बात पानी की होते-होते कहाँ पहुँची।'

'हाँ जी, सब बातें पानी से जुड़ रही हैं।'

'क्यों नहीं, एक घाट का पानी पीने वाले एक दूसरे के दुश्मन नहीं रह जाते।'

'यही तो।'

'हां तो आगे सुनिये, ये कोरी कहानियां नहीं। जीवन की सच्ची घटनाएं हैं, जिनकी यादों के सहारे, अब यह बुढ़ापा कट रहा है।'

'नन्दा साहब, अच्छी कहानियां सदा सच पर आधारित होती हैं।'

'यह तो आप पढ़ने-लिखने वाले जानें। कितनी होती हैं, कितनी नहीं होती हैं-कहाँ कल्पना होती है, यह आपका पढ़ने-पढ़ाने का काम रहा। मैं जानता हूं लेकिन ये बातें सौ फ़ीसदी सच्ची हैं। हाँ जी, तो हम असलम के जाने के बाद वहीं मेज़ के इर्द-गिर्द कुछ इधर-उधर की बातें करने लगे। मैं जब वहाँ बैठा बोल रहा था कि जगह बहुत दूर है-ज़्यादा दूर भी नहीं-हड़प्प नाम था शायद, वहाँ के माल्टे बहुत उम्दा होते हैं। वज़नदार। देखते ही चेहरे पर रौनक आ जाए। खुशबू की क्या बात है। देखते ही बनता है। यहाँ कहीं किसी फल की दुकान पर, शायद, मिल भी जाएँ।' इतना कहते हुए नन्दा साहब बोले, 'पाल साहब, आप हैरान होंगे। यह कोई करिश्मा था या चमत्कार या इन्सानी फ़ितरत का उम्दा नमूना कि जब दूसरी सुबह हम चलने को हुए, एक बांका छहफुटा गोरा-चिट्टा-गभरू जवान सामने आ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर कुछ बोलने की कोशिश कर रहा था। 'अरे, यह क्या माजरा है, कहिये आप?' नन्दा साहब कह रह थे कि उनका इतना कहना था कि वह बोला, 'बस कहना क्या है, मेरी तरफ़ से ये दो छोटी पेटियाँ सौगात की हैं। इनमें पचास-पचास माल्टे हैं।'

हैरत तो हुई, पर कहा, 'यह क्यों और कैसे?' वही बोला, 'आपकी बातें सुन ली थीं। मुझसे रहा न गया। अपनों के, भला, अपने ही बाग हैं। तसकीन इस बात की है कि मेरा वहाँ तक भागना रंग लाया। आपकी ख्वाहिश पूरी हुई, मेरी मुराद पूरी हुई।' हम चारो उससे एक साथ जैसे लिपट गये थे क्योंकि उसका शुक्रिया अदा करने के लिए शब्द और उसकी मुहब्बत का जवाब हमारे पास नहीं था।'

इस वाकया को सुनकर मैं तो गहरी सोच में डूबा ही, नन्दा साहब भी ख़ामोश हो गए थे। हम दोनों की आँखों में पानी था जो अभी सूखा नहीं था। कुछ लोग पानी की किल्लत की वजह से भी कह देते हैं न कि धरती का पानी सूख गया, क्या आदमी की आँख का पानी भी सूख गया या कई बार इसी का उलट। काफ़ी देर ख़ामोश रहने के बाद, शायद, हम दोनों ही, मन ही मन पानी की ताक़त को महसूस कर रहे थे।

बस से उतरकर हमने अपने-अपने ठौर-ठिकाने पर जाने के लिए हाथ मिलाए, दिल तो पहले ही मिलते-मिलते आ रहे थे इस सुखद यात्रा में। अब धूप ढलने को थी।

203, विवेक विहार, सिविल लाइन, अम्बाला शहर-134003

प्रेम गोरखी

छोटी-छोटी दीवारें

तीसरे दिन भी बारिश वैसी की वैसी ही पड़ रही थी। पहले चार दिन लगातार बारिश होती रही, फिर रात भी गुज़रने न दी। कच्चे घर ढह रहे थे और पक्के घरों की छतें टपकनें लग पड़ी थीं। गाँव के मेंहर तरफा पानी ही पानी फैला हुआ था। सूरज उगने की ओर से बादल छंटने लगे तो लोगों के चेहरे खिल उठे, लेकिन जब उध र से ही घटा उमड़ पड़ी तो खिले चेहरे फिर मुरझा गए।

घर के पिछवाड़े जब धड़ाम करके कुछ गिरने की आवाज़ आई तो दरवाज़े के पास बैठी माँ जो विचारों में डूबी हुई थी, बरामदे में बहते पानी को घूरे जा रही थी, चीख मार कर उठी, 'हाय! मैं मर गई।' वह अन्दर आई तो कोठरी के बीचोंबीच खड़ी हो टपकती छत को घूरने लगी। छोटी दोनों बहनें सहमतीं, 'हाय भाई...मर गए' कहतीं मेरी बगल में सिमट गईं।

'ओय, क्या हो गया तुम्हें'-चारपाई पर छाती से घुटने सटाए बैठा बापू अपने ऊपर लोई लेता लड़कियों को झिड़कने लगा-जैसे वह खुद भी डर गया हो। तभी धड़ाम करके फिर कुछ गिरा और साथ ही कोठरी के कोने से रोशनी का एक हिस्सा अन्धेरे को चीर गया। बड़े से सूराख को देख हम सबके पैरों तले से ज़मीन खिसक गई। इसी दौरान बाहर से किसी ने आवाज़ दी 'ताया, तुम्हारी दीवार ढह गई है...बाहर तो निकलो!'

मैंने आने वाले को 'आते हैं' कहकर वापिस भेज दिया। माँ और बापू आपस में झगड़ने लगे। माँ इस बात से क्रोध में थी कि उसके ताकीद करने पर भी हमने गड्ढे से मिट्टी लाकर छत पर नहीं डाली और पिछली वाली दीवार चिनते समय पड़ोसियों से फसाद खड़ा कर पैसे खराब कर लिए थे। बहनें माँ को रोक रही थीं। मेरी काँपती नज़र कभी बाहर की ओर घूर रही थी तो कभी अन्दर। उस सूराख से बारिश के छींटें अन्दर गिरने लग पड़े थे और पानी का बहाव दीवार के साथ-साथ अन्दर आने लग पड़ा।

बात घूमघुमाकर मेरी तरफ आ गई। बापू कह रहा था-मैंने उसके कहने पर सोसायटी से कर्ज़ा क्यों नहीं लिया। 'हाँ...हाँ...कर्ज़ा तो तेरे कहने से ऐसे ही मिल जाता है जैसे? इस सैक्टरी कुत्ते को पहले सौ का पत्ता दो, सरपंच की चाकरी अलग करो, क्यों भला? उसने अपने पल्ले से देने हैं?' मैं बोलना तो नहीं चाहता था पर अब करता भी क्या।

'ओए बेवकूफ...बकवास नहीं करते...यहां तो उम्र ही बीत गई...।'

'तुम्हारी बीत गई न!...मैं चापलूसी नहीं करता।' मैं बड़बड़ाता हुआ दालान में इधर-उधर घूमने लगा। माँ और बहनें कोठरी में से टीन-टप्पर-बर्तन उठा-उठा दालान में रख रहीं थीं। मेरी बात सुनते ही माँ मुझ पर बिफर पड़ी, 'ले, पसार ले अब अपनी टांगें। चार पैसे होते तो ईंटों की रेहड़ी लाके छत पूर देते...अब तो इस शहतीर का भी डर है।'' तभी पानी में निचुड़ता कमजोर पतला सा एक लड़का साइकिल को घसीटता हुआ गली से ही बोला, 'ओ भाई ...मैंने कहा, जय सिंह का घर यही है?' बापू उठकर दरवाज़े में आया और लड़के को पहचानता हुआ बोला, 'हाँ...हाँ...आ जा भई जवान।'

'मैं ठक्करवाल से आया हूँ।' लड़के की आवाज़ सुन माँ कोठरी के भीतर से दौड़ती हुई बाहर आ गई और डरी सी बोली, 'काका, खैर तो है?'

'माँ जी, वो...तुम्हारा कुन्दु मर गया...तुम लोग गाँव आ जाना।' लड़का रुक-रुक कर बोला ओर बोलते ही वापिस मुड़ गया।

माँ देहरी में खड़ी-खड़ी दुहत्थड़ मार रोने लग पड़ी। बहनें भी जोर-जोर रोने लग पड़ीं। देहरी में खड़ा बापू हिल भी न सका। हम सबके मुँह खुले के खुले रह गए।

मुसीबत पर मुसीबत आ पड़ी। घर में रोना-धोना पड़ गया। सारा घर लोगों से भर गया। बापू ने चारपाई खींच कर दीवार से सटा दी। कोठरी में दुबारा कुछ गिरने की आवाज आई, मैंने अन्दर जाकर देखा...पानी के बहाव से छत के दो शहतीर नीचे को खिसक आए थे।

बारिश और तेज हो गई थी। हवा थोड़ी-सी तेज चलने पर ही बारिश का रुख ही बदल गया था। मैंने कोठरी की दीवार के साथ पड़े हुए खाद के बोरे उठाकर दालान में रख दिए। तभी अन्दर जाते हुए देखा कि कोई घास-फूस से उस सूराख को ढकने का यत्न कर रहा था।

बारिश रुकने के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे थे। घर में रोने-पीटने ने मन को कसैला सा कर दिया था। जो भी औरत दरवाज़े के अन्दर पैर रखती, डुस-डुस करती रोने बैठ जाती। बिलख-बिलखकर रोती हुई बहनों ने सभी को सुन्न सा कर दिया था। माँ सिर के बाल झंझोड़ती, छाती पीट रही थी। बापू धीरे-धीरे आँसू बहाता उठा, बाँह से नाक पोंछी और जाकर दरवाज़े के बीच देहरी में इकट्ठे हुए पानी को बाहर फेंकने लगा।

कुछ देर पश्चात जब बारिश थमी तो छाती पीटती हुई माँ घर से बाहर निकली। वह गली में दीवार के साथ फिसलते-फिसलते बची। बापू भी पंचों के बुजुर्गों और तीन-चार लोगों के साथ बाहर चला गया। छोटी बहन भी माँ के साथ तैयार थी। पाँच और बूढ़ी औरतें शोक के कपड़ों में तैयार थीं। मैं छत की दीवारों को घूरता हुआ चलने ही वाला था कि बापू हाथ में जूता पकड़े अपनी धोती संभालते मेरे पास आ खड़ा हुआ।

'सुन बेटा, पैसा-धेला अपने साथ ले लेना। घर में तो कानी कौड़ी भी नहीं।' कहकर उसने अपनी पगड़ी का छोर संवार कर लपेट लिया।

'मैं कहां से लाऊं...आगे कुछ कम देना है... पता तो वापिस करने पर लगेगा...।" मैं जला-भुना खीझ कर बोला।

'ओ बहादुरा...वक्त तो सम्भालना है न। कोई अपने वश में है। बता यहां किसका जोर चलता है। जा मास्टर के घर से पकड़ ला। उसकी बहू को कहना इस फसल पर रकम चुकता कर देंगे...। कह कर बापू मुड़ गया।

मास्टर की घरवाली बैठी चादर पर कढ़ाई कर रही थी। वह अफसोस करती हुई आँखें पोंछने लगी और अन्दर से पैसे लाकर मेरे हाथ पर रखती बोली-'ले, यह चार बीस और पांच ऊपर हैं।' जब पैसे हाथ में आए तो मेरे मन को ढाढ़स सी बंधी। मैं बाहर की सड़क पर पहुँचा तो देखा बापू और सभी लोग पहले से बस स्टाप पर पहुँच चुके थे। मैंने पलट कर दूर तक सड़क पर निगाह दौड़ाई तो झुरमुट के घुप्प अन्धेरे में से बस आती दिखाई दी। मैंने ज्यों ही दौड़ कर पैर उठाए तो बारिश भी आरम्भ हो गई।

सरी बस खाली थी, मुश्किल से पाँच-सात सवारियाँ बैठी थीं। बस चलते ही कण्डक्टर आगे से उठकर हमारे पास आ गया और चाचा से पूछने लगा कि कहां की टिकटें काटे? बापू ने धीरे से 'ठक्कर वाल' कहकर मेरी तरफ कनखियों से देखा फिर जैसे मरी हुई आवाज कांपी, 'टिकटें कटवा लेना'

'कितने आदमी हैं?' कहते हुए मैंने सबके चेहरे को घूरा। किसी ने अपनी टिकट लेने के लिए हुंगारा भी न भरा। तेरह टिकटें कटवा कर जब मैं पैसे देने लगा तो मेरा मन और बुझ सा गया। तभी पंचों का बुजुर्ग जोर से बोलता हुआ आगे को झुका, 'पुत्तर यह ले मेरे पैसे, मेरी टिकट भी कटवा लेना।'

'रहने दे ताऊ, टिकटें तो ले ली हैं।' बापू ने कह दिया।

'पुत्तर, तुम क्यों इस भार को सहते हो।' एक ने जैसे ऊपर के मन से इस भार को महसूस किया।

'मेरे भी डाल दे काका...मेरे पास यह दस का है...छुट्टे तो होंगे?' मेरे साथ बैठी चाची सर्वन कौर धीरे से बोली तथा शॉल को लपेटकर और भींच लिया।

सबकी बातें सुनकर मेरे अन्दर और उबाल उठने लगे। मैं कह भी क्या सकता था। बस! दुःखी मन से सभी को नज़रें घुमाकर देख रहा था।

बारिश उसी तरह जोरदार थी। सड़क कहीं-कहीं पानी से भरी हुई थी और कहीं-कहीं से कीचड़ से लथपथ थी। तभी आगे से उठ कर एक अधेड़ सा आदमी हमारे पास आ बैठा और चाचा को 'सत श्रीकाल' कह कर सभी कुछ पूछने लगा और धीरे-धीरे बातों का रुख बदलता गया।

'पागल, कमरतौड़ कर रख देती है जवान बेटे की मौत तो... यह भगवान भी किसी न किसी वक्त का बदला ही लेता है...उम्र ही क्या थी अभी...छोटे-छोटे बच्चे हैं...कोई कह रहा था।

'लड़का बड़ा ही समझदार था, बड़ा भोला। कोई बराबरी थीं उसकी-जी कर बगैर बात ही नहीं करता था।' बापू के पास बैठी चाची जीतो बोल रही थी।

चाची की बात से ही मेरी आँखों के सामने वे पल फैल गए जब कुन्दु गाँव से अपना सामान लेकर चला गया था। बापू के साथ हिस्सेदारी बाँट ली। खूब लड़ाई हुई थी और बात हद से बढ़ गई जब कुन्दु ने कुदाली उठाकर बापू की टांग पर मार दी थी। पुलिस तक बात पहुँची और कुन्दु अपने हिस्से की जमीन गाँव के किसी आदमी को ठेके पर देकर अपने साले के साथ ठक्करवाल रहने चला गया था। बापू ने फिर कुन्दु का मँह नहीं देखा। अब महीने भर से कुन्दु अस्पताल में पड़ा था, पर बापू उसे देखने नहीं गया। सभी गाँव वालों ने तब कुन्दु को बुरा-भला कहा था। पर अब इस वक्त बातों का रंग बदल गया था।

बस झटके से रुकी। ठक्करवाल आ चुका था। बाहर हल्की-हल्की बूंदाबांदी हो रही थी। रोते-पीटते औरतों ने दीवारों को भी सुन्न कर दिया था। तीन-चार बार माँ को गश पड़ चुका था। बहन की दशा देखी नहीं जा रही थी। दालान में कुन्दु की लाश शहतीर की तरह पड़ी हुई थी।

बैठे हुए अभी दो घड़ी भी नहीं बीती थीं कि कुन्दु का साला बापू के पास बैठता हुआ धीमे से बोला, 'मासड़, दाग देने के लिए क्या करना है...बारिश तो जरा भी रुकती नहीं दिखती...लकड़ी भी यहां कहां मिलनी हैं...।"

उसकी बात सुनके बापू चौंक सा गया और असमंजस में उसकी ओर देखने लगा। तभी पास बैठा चाचा बोला उठा, 'दाग ही देना है...लकड़ी का क्या है वह भी मिल जाएगी...तुम लड़कों उठो तो कुन्दु को नहला दें...।'

'फिर भी मासड़, कोई मौका तो बने।'

'तू उठके जा सामान उठवा ला। बाहर की ओर प्रीतम मिस्तरी के आरे पर काफी लकड़ी है।' कुन्दु के साले ने कहकर मेरी ओर देखा।

'आजा भाई हम चलते हैं। जो न हुई तो कहीं और देखेंगे..' कुन्दु के साढू ने मुझे कहा। तभी बापू भी बोल पड़ा और उसके कहने पर मैं उठकर चल दिया।

लकड़ी तोलते समय कुन्दु का साला न जाने कहां खिसक गया। मैंने दबे-घुटे चालीस रुपए निकाल कर दिए। और बैलगाड़ी पर गट्ठर लाद श्मशान की ओर भेज दिया।

बारिश जरा सी रुकी, पर जैसे ही अर्थी लेकर चले बारिश ने आंधी का रूप ले लिया। श्मशान गाँव से दूर था। वहां तक पहुँचते- पहुँचते सभी निचुड़ते चलते गए। अन्तिम संस्कार से पहले कुन्दु की औरत और माँ को पास बुलाया गया। माँ ने दोनों हाथों से कुन्दु का पीला सा मुँह पकड़ कर दुलार दिया और फिर गश खाकर पीछे गिर पड़ी। कुन्दु की औरत ने कुन्दु के पैर छुए और वापस गिरती बैठ गई।

भगवान ने कुछ सुन ली। एकदम बारिश भी रुक गई और हवा भी। मिट्टी के तेल का सारा का सारा कनस्तर चिता पर उड़ेल दिया, फिर आग दे दी। आग लगी तो बापू पेड़ों के झुरमुट में बैठ डुसकने लगा।

आग जली हुई देख हम वापस हो गए।

मुँह जूठा करते-करते दिन डूबने वाला था। माँ और बहन ने कुन्दु की बहू और उसके बच्चों को भी साथ ही ले लिया।

इसी समय कुन्दु का साढ़ू मेरे पास आया, 'जरा एक बात है। अब घर का सारा भार तेरे जिम्मे है। हौसले से रहना। दिल छोड़ने की कोई बात नहीं। बिचारी जीत कौर...उसकी अभी उम्र ही क्या है...दो छोटे बच्चे बेचारे ठोकरें खाते फिरेंगे। हां...एक बात और है....यह बनिए की दुकान के सौ-पचास हैं...दो-चार दिनों में आकर दे जाना...वह जीत कौर को सब कुछ पता है।' कहकर वह बाहर चला गया। मैंने उसके मुँह की बातों को दबोच लिया और जल-भुनकर रह गया। मैं बुझा सा, मुँह लटका, कीचड़ से बचता-बचता बाहर की गली आ गया। छप्पड़ के पास आकर मैंने जेब से पैसे निकाल कर गिने...तीस रुपए बचते थे। अभी घर पहुँचना था। सभी साथ के लोग बस-स्टैंड चले गए थे। मैं हार सा गया। छप्पड़ की ओर से मैं सड़क पर नहीं गया बल्कि इससे हटकर टेढ़ी हुई बरगद के तने पर बैठ हिसाब-किताब के चक्कर में पड़ गया।

मैंने मन ही मन सोचा क्यों न बस को गुज़र जाने दूं। जो और पन्द्रह रुपए खर्चने पड़ेंगे उससे तो बच जाऊंगा। मैं असमंजस में घिरा छप्पड़ के दूसरे किनारे पर घास चरते पशुओं को और पानी में कांपती हुई उनकी परछाइयों को देखता सोच में डूब गया।

जब छिट-पुट हल्की-हल्की बौछार सी पड़ने लगी तो मैं चौंककर उठ बैठा। तभी मेरी निगाह सामने बेरी की झाड़ियों से परे सड़क के ऊपर जाती हुई बस पर पड़ी। देख कर मैंने राहत महसूस की। मैं उठा और जल्दी-जल्दी धर्मशाला पार की। नल से पेट भर पानी पिया, आँखों पर छींटे मारे, शरीर हल्का-फुल्का सा लगा। मैं आराम से सड़क तक आ गया। तभी कुन्दु के साढ़ू की कही हुई बात दिमाग में घुस गई और मैं डर सा गया। बड़ी कोठी के पास से मैंने सड़क पर पांव रखते हुए बस स्टैंड को घूरकर के देखा-वहां कोई भी न था। वे सभी बस लेकर जरूर जा चुके होंगे। मैंने शरीर को झटका दिया। हाथों से मुँह को रगड़ा और सड़क के ऊपर दुकान की ओर कदम बढ़ाए ही थे कि आवाज़ सुनकर मैं झनझना गया- 'हम तेरा इन्तज़ार कर रहे थे। कहां चला गया था?' चाचा दीवार की ओट से उठकर मेरी ओर आते हुए बोला।

'ऐसे दिल नहीं छोड़ते...तू तो अभी जवान-गभरू है...अपने बापू की ओर तो देख...कितना वड्डा जिगरा है...' लाला मेरे कन्धे पर हाथ रखते कह रहा था। मेरी टांगें जैसे जवाब दे रही थीं और मैं अधमुंदी आंखों से दीवार के साथ बैठे सारे जनों को देखता रह गया।

अनुवाद : निर्मल जसवाल

3054/ए, सैक्टर-29 डी चण्डीगढ़

लघु कथा

प्रभा दीक्षित

लोकतंत्र

जवार में सूखा पड़ा था, आदमी और जानवर पानी की एक बूंद के लिए तरस रहे थे। इस पर जग्गा डाकू का आतंक जवार की जिंदगी के कोढ़ में खाज बन गया था। तभी लोकसभा का चुनाव आ गया। गांव जवार के सबसे दबंग भूतपूर्व जमींदार पण्डित जय श्रीराम राष्ट्रीय पार्टी के टिकट पर खड़े हो गये। उन्होंने हर गांव में हैण्डपम्प लगवाये और पचास गांवों की विशाल किसान-सभा में ललकारते हुए घोषणा की कि अगर जग्गा डाकू अपनी जान की खैर चाहता है तो मेरा क्षेत्र छोड़कर चला जाए वरना वह या तो जेल काटेगा या मेरी गोली का शिकार बनेगा। मतदाताओं को लगा कि श्रीराम ही जग्गा का मुकाबला कर सकते हैं, उनके मुक्तिदाता बन सकते हैं। चुनाव में पण्डित जी भारी बहुमत से जीते और विरोधी पार्टी के प्रत्याशी की जमानत जब्त हो गई। चुनाव के दौरान भी जग्गा का कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ा। लोगों ने समझा जग्गा डर गया। सबने चैन की सांस ली और पण्डित जी मंत्री बनकर दिल्ली में रहने लगे। पण्डित जी के दिल्ली जाने के बाद गांव जवार में पुनः फिरौती, अपहरण और डकैतियां प्रारंभ हो गई। पूरा क्षेत्र पुनः जग्गा के आतंक के साये में भेड़िये से डरे हुए मेमनों की तरह दुबक गया। क्षेत्र के कुछ लोगों ने हिम्मत करके आपस में सलाह की कि क्षेत्र की इस दुर्दशा की सूचना पण्डित जी को दी जानी चाहिए, वही कुछ कर सकते हैं। क्षेत्र के आठ-दस प्रतिष्ठित किसान दिल्ली गये और पता लगाते हुये मंत्री जी के बंगले पर पहुंचे। अभी वे सब बंगले के गेट में प्रवेश ही कर रहे थे कि उन्होंने देखा जग्गा वेशपरिवर्तन किए हुए सूटेड-बूटेड मंत्री जी के बंगले के भीतर से निकल रहा है। सब हतप्रभ रह गए। जग्गा भी गांव-जवार के किसानों को पहचान गया। वह पास में खड़ी हुई कार में बैठकर पल-भर में गायब हो गया। एक किसान ने लान में काम करते हुए बूढ़े माली से पूछा- 'दादा ये साहब कौन थे?' माली ने इधर-उधर देखते हुए कहा-'यह मंत्री जी के खास मेहमान हैं। बंगले के पीछे गेस्ट हाउस में महीनों पड़े रहते हैं।'

128/222, वाई वन ब्लॉक, किदवई नगर, कानपुर

प्रताप सहगल की तीन कविताएँ

चाँद का गीत

बादलों की खिड़कियों से
बाहर आकर
झाँकता है चाँद
दे रहा दस्तक
सब्ज़ पत्तों पर
उजाले लोक की

रोशनी के दस्त छूते सब्ज़ पत्ते
सब्ज़ पत्तों की रगों से
रोशनी
हौले से फिसल कर
भर रही आंगन ज़मीं का
लौटा रहा है रोशनी
पाई जहां से
कृतज्ञता के गीत गाता
झूमता है चाँद
बादलों की खिड़कियों से
बाहर आ कर

रचना

चक्की पीसती है
चाक रचता है
रचना सिर्फ़ बनना नहीं
एक शक्ल अख़्तियार करना है
शक्ल में कोई रंग न हो तो
वह मिट्टी है।

रंग रोज़ी देता है
रोज़ी मिट्टी को भी
मायने देती है

अर्थ पाने के लिए
मिट्टी होना ज़रूरी है
दुकान पर सजे किसी भी
बर्तन की
यह शाश्वत मजबूरी है

कैनवस पर शिमला

कैनवस पर शिमला उतरा है
कई कई आँखों से
झाँक रहा
समतल दुनियाँ के
ऊबड़-खाबड़ मन को
परख रहा है

समतल सिर्फ़ नहीं
मैदानी दुनियाँ
खड्डे-वड्डे खूब यहां हैं

शिमला उतरा है कैनवस पर
कहो कि दिल्ली कौन उतारे
बोलो बोलो मोहन प्यारे!

एफ-101, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-27

बरमिंघम से कृष्ण कुमार की तीन कविताएँ

क्यों?

क्यों खुले
आकाश को
तुम देखते हो
क्यों समुन्दर की
सतह को नापते हो
है क्षितिज के पार क्या
क्यों सोचते हो?
क्या परिंदे
कह रहे
क्या जानते हो?
क्या पवन
बतला रहा
क्या जानते हो?
क्या जलद
क्यों कह रहा
क्या जानते हो?
है फ़िज़ा
क्या कह रही?
हर तरफ़
केवल दुःशासन दिख रहे
द्रौपदी का चीर फटता जा रहा
देखते सब जा रहे
नर्तन यहां
भीम-अर्जुन
सब खड़े लाचार हैं।
दृश्य बदलो, अब
अंधेरा छा रहा है
सूर्य की किरणें
मसलना व्यर्थ है।
सौर मण्डल
डगमगाता देखता हूँ
मैं धरा की
चीख को अब
सुन रहा हूँ।
कब तलक होगी परीक्षा
कुछ कहो
अब मरुत उनचास से
डर लग रहा है
क्यों न इसका
अब नियंत्रण
कुछ करो
मैं तुम्हें आवाज़
देता जा रहा
पर मगर मैं जानता
तुम भी विवश हो।

पुनः आना पड़ेगा

मैं समय को
थाम कर बैठा रहा हूँ
आज तक
काल का ही
अब गला घुटने लगा है।
उठ रहा है
जो धुआं
सब-
देखते हैं
जल रहा आंगन
गगन
आवाज़ देता
सब परिन्दे

छोड़ कर उड़ने लगे हैं
किन्तु
तुमको तो मगर
रहना पड़ेगा
घर तुम्हारा है
तुम्हें तपना पड़ेगा
शान्त जब
हो जाएगा
सब कुछ
यहाँ तब
लौट कर
तुमको पुनः
आना पड़ेगा।

भूल जाओ

मैं मरूंगा
पर
अभी मरने नहीं
मैं जा रहा हूँ
ज़िन्दगी का घर
अभी
खाली नहीं है
मौत का घर
भी अभी
खाली पड़ा है।
साँस को तो
अभी चलाना पड़ेगा
रक्त को निश्चय
अभी बहना पड़ेगा
इन्द्रियों को भी
सभी सहना पड़ेगा।
क्यों परीक्षा
अब हमारी हो रही है
शब्द का भी ज्ञान
जब जाता रहा
क्यों बजाते
जा रहे हो साज़ तुम?
गीत औ संगीत
सब जाता रहा
हो सके तो
रोशनी कुछ तो दिखाओ
गर नहीं तो
तुम मुझे अब
भूल जाओ।

राजकुमार कुम्भज की तीन कविताएँ

लोकतंत्र का विश्वास

लोकतंत्र का विश्वास इतना कुछ बड़ा है
कि बेचारा लोकतंत्र अपने नागरिकों के
समक्ष भिखारी जैसा खड़ा है
सात दिन पहले का आलू बड़ा सड़ा है
पता नहीं हिम्मत का धन कहां गड़ा है ?
मगर हीरा है कि मुकुट में ही जड़ा है
जिसने भी लिखा था शायद यही लिखा था
कि जीवन ज़िद पर अड़ा है
पता नहीं वह कौन था जो सबसे पहले लड़ा था?
अभी-अभी ख़बर मिली है कि जो सबसे
पहले लड़ा था
आज बाज़ार में बिकने के लिए खड़ा है
लोकतंत्र का विश्वास इतना कुछ बड़ा है
कि आज आलूबड़ा तक सड़ा है।

ईश्वर की बकरियां

ईश्वर की बकरियां
चारा तो चरती हैं, लेकिन दूध नहीं देती हैं
उससे तो भली हैं बड़ी'बी की वे बकरियां
जो बकरे भी जनती हैं और दूध भी देती हैं
बड़ी-बी के सामने कभी भी झुकता नहीं है ईश्वर
मगर दुनिया को बनाता रहता है उल्लू।

प्रतीक्षा-पत्र

हर चीज़ में रोशनी थी, जैसे कपट भी
मगर ज़रा ग़ौर से देखो तो मिलेगा पता कुछ भिन्न
जैसेकि आकाश और समुद्र के मिलन की प्रतीक्षा में
पृथ्वी की निरंतर गुज़र गई सदियां
मैंने ज़रा झुककर देखा तो पाताल था गड्डमड्ड
और जो उठाई गर्दन ज़रा तो देखा
विरल सितारे थे चमचम करते
हर चीज़ में रोशनी थी, जैसे कपट भी
और विस्तृत चमक भी
जैसे पहली बार हंसा हो कोई हत्यारा
लिए हाथों में प्रतीक्षा-पत्र।

331, जवाहर मार्ग, इन्दौर

बसंत कुमार परिहार की तीन कविताएं

अनचीन्हे पड़ाव

ज़िन्दगी लगाती रही साँसों का हिसाब
और
वह अबोध बालक
लगातार
सही सवालों के ग़लत जवाब निकालता रहा!
दो साँसों के बीच
ज़िन्दगी के
जो असंख्य अनचीन्हे पड़ाव हैं
उन पर
मृत्यु का आतंक
कहाँ विश्राम कर पाता है?
भँवर में जब
भटक जाता है दरिया का जल
तब रवानी के नाम पर
मौजों के पास
औंधे मुंह
कूद मरने के सिवा
और कोई चारा नहीं रह जाता...

दरअसल
धमनियों में दौड़ता खून
जब काँप उठता है थरथर
तब युगों से घूमती
यह धरती भी रुक जाती है
और दुनिया भर के भारी-भरकम सिद्धान्त
अपने हथियार डाल देते हैं-

हवा में गूँजता संगीत
जब अपना बोझ
स्वयं वहन नहीं कर पाता
तब जीवन बेमानी हो जाता है

और
तब
गले में अटकी हिचकी
साँस के रुकने की
प्रतीक्षा करने लगती है!

बोटी बोटी कटता मांस

सूरज की किरणें
अपनी तेज़ छैनी से
आवारा बादलों को
देती रहीं
नये नये आकार
और हवा
करती रही
अपनी मनमानियाँ...

जब कोई तुल जाता है करने पर मनमानी
तो पहाड़ों में छिपे डायनेमाइट
गूँज उठते हैं यकदम
और भुरभुराती चट्टानें
ढूंढने लगती हैं अपना वजूद...
आकाश में बादलों की उड़ रही हैं धज्जियाँ
और
मरुथलों को/आज भी
प्यासे होने का गिला है-

एक छटपटाहट है कविता

अपने रंगीन पंखों के विस्तार में
आह्लाद छिपाए
मन की किन वीथियों में
घूम रही है तितली
और भौंरे की गुंजार में
जो आत्म-निवेदन है
उसे कहाँ लिख पाए हैं
कवि के निहत्थे शब्द!
पलकों के उठने और गिरने के बीच
जो असंख्य पड़ाव हैं
वहाँ तक मेरे बौने शब्द
कहाँ कर पाते हैं यात्रा?
एक ही जगह खड़े
नामशेष होते शब्द
अपनी अल्पता में
कवि का संबल नहीं
मात्र कुतूहल हैं
इसीलिए कविता
कवि के सत्य से अधिक
मुक्ति के लिए
एक छटपटाहट है!

1/1, पत्रकार कॉलोनी, अहमदाबाद

रमेश सिद्धार्थ

पिंजरे की चिड़िया का गीत

पड़ोस की बालकनी में टंगे
पिंजरे में बंद चिड़िया
फुदकती है, गर्दन मटकाती है
चहचाती है। और मेरे ज़हन में
एक प्रश्न छोड़ जाती है।

पास के खाली प्लॉट में पड़ी
झुग्गी वाली शांताबाई, रोज सवेरे उठती है
घर-घर जा झाडू बुहारी करती है,
और कपड़े धोती है।
कभी गर्मी तो कभी सर्दी का रोना रोती है
फिर भी, फर्श पर पौंछा लगाते लगाते
दुखते घुटनों पर कुहनी टिका
एक पल का कोई नन्हा सा ख्वाब संजोती है।
कभी-कभी उसके होंठों पर कोई बन्ना, कोई लोरी होती है।
तभी मालकिन की आहट उसे फर्श पर ही ले आती है।
फिर अभावों के पिंजरे में वह रह-रह छटपटाती है।

सामने वाली कोठी के सर्वेंट क्वार्टर में
अनाज फटकती माँ से गुड़िया मांगते मांगते
वो छोटी गुड़िया सो जाती है।
सीपियों सी आंखों से, बांह के नीचे धूल में
कुछ पिघले हुए मोती बो जाती है।
सपनों के कसैले कुहासे में अक्सर,
खुद को परीलोक में पाती है
नाच, गानों, बीन, बंसी की तानों पर
डूबती, उतरती, झूमती, लहराती है।
आँख खुलने पर झिड़कियों के जाल में फड़फड़ाती है,
पर उसके अवचेतन में वही धुन झनझनाती है।

बराबर के फ्लैट में अधेड़ कमला
जब तब तंद्रा से उबर आती है, अधपके बालों को सहलाती है।
बीते, लंबे बरसों को अक्सर खोजती,
कुछ लम्हों को दोहराती है।
यादों की सलेटी डगर से टूटे सपनों को बीन-बीन
हर बार एक पुराना ताजमहल बड़े जतन से बनाती है
और फिर किचिन में टंगे कलैंडर के सामने शीश नवा
मान्यताओं के बहुरंगी तारों में घिरी
बचपन के याद रहे भजनों में से एकाध पंक्ति दोहराती है।

इतने में ही, आफिस में फाइल से फाइल तक
शिष्ट, फक्कड़ तो कभी किसी जाहिल तक
सबसे निपटती, दिनभर यूं ही खटती
सुबह बस से जाते, लंच में खाना खाते
और फिर बस में ही वापस आते
बदरंग नजरों के स्पर्श से झुरझुराती
सीमाओं और तनाव से कसमसाती
मेरी अपनी जीवन संगिनी, सीढ़ियां चढ़ती आती है
घर में आ इधर-उधर निगाहें घुमाती है
मुझे बालकनी में अलसाता पाती है, मुस्कुराती है
और थकी हारी सांसों में कोई नया गीत गुनगुनाती है
तब मैं समझ जाता हूं
पिंजरे में बंद चिड़िया कैसे गाना गाती है।

81, हाउसिंग बोर्ड कालोनी, रेवाड़ी-123401

डॉ. बलदेव वंशी

साहित्यिक सरोकार

'कुछ सोचा : कुछ समझा' डॉ. महीप सिंह द्वारा समय-समय पर लिखे गये बीस निबंधों का संग्रह है। डॉ. महीप सिंह स्वयं 'संचेतना' पत्रिका के संपादक है एवं एक प्रसिद्ध दैनिक के स्तंभकार हैं। देश-समाज की समस्याओं को लेकर अपने सुचिंतित विचारों को व्यक्त करने में वह तर्क एवं तटस्थता बनाये रखते हैं। मुख्यतः पांच बिन्दुओं को लेकर ये निबंध यहां संग्रहीत हैं। भाषा समस्या, साहित्य एवं साहित्यकार बनाम सत्ता, दलित एवं नारी लेखन, हिन्दी कहानी तथा हिन् दी-पंजाबी के छह प्रसिद्ध गद्यकारों पर मूल्यांकन लेख। इन निबंधों में लेखक बहुत से प्रश्नों के उत्तर तलाशने के क्रम में अनेक प्रश्न सामने रखता है जिन पर विवाद की पर्याप्त संभावनाएं बनती हैं। विचार/तर्क के क्षेत्र में असहमति एक स्वाभाविक परिणति मानी जाती है।

सबसे पहले राष्ट्रभाषा हिन्दी को लेकर चार निबंध हैं। भारत देश और समाज की यह सबसे बड़ी त्रासदी है कि यहां आज तक एक विदेशी भाषा अंग्रेजी का वर्चस्व बना हुआ है। बना ही नहीं हुआ परन्तु उत्तरोत्तर आज़ादी के पचपन वर्षों में बढ़ता जा रहा है। स्वतंत्रता की लड़ाई में समूचे देश में एकता का मजबूत सूत्र बनी हिन्दी कहने मात्र को राष्ट्रभाषा बनी, वास्तव में तो सर्वत्र अंग्रेजी का ही बोलबाला, अधिकार और चलन है। इस कारण भारतीय लोकतंत्र, उसकी स्वतंत्रता, सम्प्रभुता भी मजाक बनकर रह गयी है। चुनावों के समय सम्पूर्ण देश में सभी नेता अपनी-अपनी स्थानीय भाषाओं में जनता से संवाद करते हैं। उन्हें 'लुभाते, फुसलाते और तरह-तरह के वायदे करते हैं, किन्तु चुने जाने पर अंग्रेजी के माध्यम से सारा राजकाज चलाते हैं। क्या न्यायालय, क्या कार्यालय। इतना ही नहीं, चुनाव सम्बन्धी जो बहसें, अनुमान और विश्लेषण प्रचार माध्यमों द्वारा किये जाते हैं उनमें अंग्रेजी सबसे आगे होती है। हिन्दी सहित प्रांतीय भाषाएं यहां बड़ी गौण भूमिका निभाती हैं।' (पृष्ठ 15) हिन्दी को राजभाषा की संज्ञा भी दी जाती है और सभी मंत्रालयों, सरकारी कार्यालयों में कामकाज में इसके कार्यान्वयन के लिए समितियां गठित की जाती हैं, जिनमें प्रायः हिन्दी के विद्वानों, लेखकों को रखा जाता है। उदाहरण के लिए लेखन आकाशवाणी के महानिदेशालय की एक हिन्दी सलाहकार समिति का अपना अनुभव लिखता है, 'समिति के सभी सदस्य हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार और प्राध्यापक थे। किन्तु जैसे सभी में होड़ सी लग गई। एक-एक करके सभी ने अंग्रेजी में बोलना शुरू किया।' (पृ. 21) इस तरह के साहित्यकार अपनी मातृभाषा-सृजनभाषा का ही अनादर करके क्या दिखाते हैं? क्या यह उनके चरित्र को, अस्मिता को रेखांकित नहीं करता? फिर चाहे हिन्दी विश्वविद्यालय बना दिया जाये जहां अंग्रेजी मानसिकता ही रहती है। भाषाई मुद्दों-प्रश्नों को सुलझाने के लिए महीप सिंह एक 'भारतीय भाषा आयोग' के गठन का सुझाव देते हैं। यह कारगर भी लगता है।

संग्रहीत निबंधों में दूसरा प्रमुख बिन्दु सत्ताव्यवस्था और लेखक के सम्बन्धों को लेकर उभरता है। देश का मध्यवर्ग जो स्वतंत्रता पूर्व देश-समाज के लिए बड़े आदर्शवादी विचार रखता था, स्वतंत्रता, स्वाभिमान के लिए बड़े से बड़े मूल्य देने को तैयार रहता था, स्वतंत्रता के बाद कहीं स्वार्थी-चरित्रभ्रष्ट राजनेताओं द्वारा उपेक्षित कर दिए जाने पर अपने सारे आदर्श, मूल्य अलग फेंक, तुच्छ स्वार्थों के लिए (पद, प्रतिष्ठा, विदेश यात्राएं, पुरस्कार) अपना सर्वस्व गंवा बैठा है। इतना ही नहीं, अपने स्वाभिमान और स्वतंत्रता को स्वयं ही भ्रष्ट, जनता के धन पर भूखे भेड़ियों से टूट पड़े नेताओं के कदमों पर रख दिया। इसके बदले में जो कमाया उसकी बिना पर 'माफिया गिरोह' के सरगना की भांति 'डान' बन बैठा। साहित्य का 'डान' विश्वविद्यालय में अपनी प्रभुता स्थापित करता है, सरकारी-अर्द्धसरकारी संस्थानों में चेयरमैन या कम-से-कम सदस्य बनकर घुसता है। पुरस्कार समितियों में अपनी पकड़ मजबूत करता है, किसी पत्र-पत्रिका का संपादक बनने की जुगाड़ करता है।

इस देश के अपराध-जगत में माफिया और डान दोनों ही सरगरम हैं। अब राजनीति भी पूरी तरह इसकी होड़ में आती जा रही है। 'किन्तु क्या संस्कृतिकर्मी भी इसी होड़ में शामिल हो रहे हैं? यदि यह सच है तो किसी देश के लिए, किसी भी भाषा के लिए इससे अधिक लज्जा और व्यथा की कोई बात नहीं हो सकती।' (पृ. 32) इस साहित्यिक भ्रष्टाचार का एक कारण यह भी है कि जो जहां एक बार पहुंचा-बैठा, वहीं चिपक गया। व्यवस्था का भ्रष्ट किन्तु अनुकूल पुर्जा बन गया। इसके तोड़ का उपाय भी लेखक ने सुझाया है। उसका यह कहना भी सही है कि किसी पद पर लम्बे समय तक अधिकार जमाए हुए लोग भ्रष्ट हो जाते हैं और उनके चारों ओर निहित स्वार्थों का एक जमावड़ा तैयार हो जाता है। इसके लिए लेखक का सुझाव हैं कि 'सत्ता का केन्द्र बिन्दु टूटता रहना चाहिए। चाहे वह राजनीति हो, धर्म स्थान हो विभागाध्यक्ष का पद हो अथवा साहित्य-संस्कृति से सम्बन्धित कोई केन्द्र हो।' (पृ. 36) लोकतंत्र में व्यवस्था की सड़ांध और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए सत्ता केन्द्रों का टूटना अनिवार्य है, तो साहित्यकारों में भी विचारधारा के नाम पर बनाये गये एवं चलित माफिया गिरोहबंदी का विरोध होना चाहिए। तभी लेखक की स्वाधीनता, सम्मान का भी कोई अर्थ है।

तीसरा मुख्य बिन्दु है दलित और नारी लेखन और सामाजिक परिवर्तन के साहित्य सम्बन्धी लेखन का। इन तीनों लेखों में डॉ. महीप सिंह भारतीय समाज की मूल संरचना में ही दलित-अछूत जाति-पांति को, नारी को अनेक प्रकार की जंजीरों में जकड़ने की समस्याओं को देखते हैं, जहां कर्मफल, पुनर्जन्म आदि के सिद्धांत अपनी जकड़बंदी बनाए हुए हैं। प्रमाणरूप में लेखक एकलव्य और शंबूक के आख्यानों को सामने लाता है। वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मणवाद आदि की जकड़न को चुनौती देने वाले सिद्ध-नाथ जोगियों की परम्परा तथा संतों की परम्पराओं का उल्लेख करता है। कर्मफल के सिद्धांत को नामदेव (दर्जी), कबीर (जुलाहा), दादू (धुनिया), रविदास (चमार), सैन (नाई), नाभादास (डोम), सदना (कसाई), धन्ना (जाट) आदि छोटी, अछूत समझी जाने वाली जातियों के सन्तों ने नकारा। निर्गुण ब्रह्म के अद्वैत मार्ग के माध्यम से सभी प्रकार की विभेदी दीवारों को ढहा दिया। नारी की स्थिति भी, भारतीय समाज में 'दलितों' जैसी ही है। 'भारतीय समाज की मानसिकता में नारी के दो ही रूप हैं-वह कामिनी या प्रेयसी है अथवा ममतामयी मां है, घर उसकी सीमा है और यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।' (पृ. 52)

दलितों और नारियों की स्थिति सुधारने के लिए चलाये गये आन्दोलनों की चर्चा भी लेखक ने की है और गार्गी, मैत्रैयी लोपामुद्रा, दुर्गाबाई, लक्ष्मी बाई, अवन्तिका बाई के नामों का उल्लेख भी किया है। और इस सन्दर्भ में अपना महत्वपूर्ण मत लेखक इन शब्दों में रेखांकित करता है-'किन्तु लोकतंत्र की अवधारणा ने कुछ अनिवार्यताएं उत्पन्न कर दी हैं। कोई चाहे या न चाहे, कोई कितना भी नाक-भौं चढ़ाए, राजनीति अब न दलितों की स्वीकृति के बिना चल सकती है, न महिलाओं की। (पृ. 52)

इसके बाद लेखक 'सचेतन कहानी', आठवें दशक की कहानी और हिन्दी कहानी के वर्तमान परिदृश्य के माध्यम से कहानी में समकालीनता, सर्जनात्मकता के सरोकारों को विश्लेषित-रेखांकित करते हुए सार्थक प्रभावी हस्ताक्षरों को सामने लाता है तथा अंतिम छः लेखों में अध्यापक पूर्ण सिंह, प्रेमचंद, नानक सिंह, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भीष्म साहनी तथा मॉरीशस के हिन्दी लेखक अभिमन्यु अनत के अवदान का मूल्यांकन किया गया है। इन लेखों-निबंधों के आधार पर डॉ. महीप सिंह के समाजिक चिंतन-सरोकारों का भी व्यापक धरातल पर परिचय मिलता है। उनका कथाकार निंबधकार के रूप में समग्रतः सामने आया है।

कुछ सोचा कुछ समझा : डॉ. महीप सिंह; भारत पुस्तक भण्डार, 343- ई ब्लॉक, सोनिया विहार, दिल्ली-110094; मूल्य : 150 रुपये

ए-3/283, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

डॉ. मधु सन्धु

कतरा कतरा सच : एक संचयन

'मुझे आवाज़ देना' आलोचक, संपादक, अनुवादक एवं कवयित्री कीर्ति केसर का दूसरा काव्य-संग्रह है। उनके इस संग्रह में युग-यथार्थ के भिन्न पहलू हैं, औरत के अनेकानेक रूप हैं, व्यंग्य का छौंक है, समय का सच है। वे कहती हैं-"मेरे लिए ये कविताएं आधे अधूरे जीवन को पूरा करने वाले टुकड़े हैं। स्थित और संभावित के परिचय पत्र हैं।" (पृ. 7) 'मुझे आवाज़ देना' को भाषा विभाग पंजाब द्वारा 2004 में 'ज्ञानी संत सिंह' पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया है। संग्रह की बहुत सी कविताएं नारी विमर्श के घेरे में आती हैं। कीर्ति नहीं मानती कि औरत पैदा नहीं होती, बना दी जाती है। यहाँ कल की पिछलग्गू, अनुगामिनी औरत नाक की सीध में चल पड़ी है। उसने पीछे मुड़कर देखना ही बंद कर दिया है। यूँ वह अनासक्त नहीं है। प्रतीक्षा उसके अंदर रची-बसी है। कहती है, 'मुझे आवाज़ देना' आवाज़ दोगे तो ठीक, अन्यथा वह तुम्हारे चरणों में एड़ियां नहीं रगड़ेगी-"किसी शाम/ मन्दिर का शंख/ जब उदास हो जाए/ रिश्ते नाते / तुम्हें व्यर्थ से लगने लगें/ धुंधले हो जाएं/ चारों दिशाओं के संकेत / कुछ न कहना/ तुम मुझे आवाज़ देना।" (पृ. 11) यह आवाज़ उनके लिए ज़िंदगी की दस्तक है-"मेरे कांधे पर टिकी/ तेरी गर्म हथेली/ खंडहर के द्वार पर/ सावन की फुहारों से धुली/ ज़िंदगी जैसे / दस्तक देती सी लगी है।" (पृ. 24) औरत जीवन की जलधारा के किनारे पड़ी वह चट्टान है, जिसमें आग की चिंगारी भी बसती है और जिसकी दरारों में हरियाली भी लहलहाती है। जिसका खुरदरापन खुर तो गया है, पर भावुकताओं से उसने नाता भी तोड़ लिया है-"गर्म पानी की / कोई बूंद भी / मुझ पर न गिराना/ क्योंकि दहकते अंगारों पर / कोई बूंद/ ओस का मोती नहीं बनती।" (पृ. 13) कविता कीर्ति के हाथ में एक शान्त अस्त्र सी है। वे विप्लवों का मुकाबला कविता की अहिंसा से, संन्यास अथवा योग के दमन से, उपवास के शमन से करने का साहस रखती हैं-"मेरे लिए कविता/अहिंसा है/ अनुराग है/ योग है उपवास है/ मेरे लिए कविता/ भोग में संन्यास है।" (पृ. 9)

स्वप्न भंग, अनुताप और रूमानी वेदना उनकी औरत की नियति है-"स्वप्न टूटा/ बीहड़ रेगिस्तान में / मेरी जान/ मोमबत्ती सी/ पिघलती रही/ तमाम रात।" (पृ. 15) प्रेम न मिल पाने की विडम्बना वेदना को जन्म देती है। यहाँ जीवन की कड़ी धूप में प्रेम की छाया का इन्तज़ार है। उस पत्र की पतीक्षा है, जो कभी लिखा ही नहीं गया।"ऐ दोस्त / आखिरी उम्र में भी/ इन्तज़ार है मुझे/ कि तू आए/ और ले जाए/ वे महकते हुए/ आसमानी सपने/ जो आज भी हैं/ मेरे पास/ गुनाहों की तरह।" (पृ. 25), पुरुषसत्ताक समाज में औरत के लिए संबंध नहीं होते। तब कीर्ति की स्त्री संबंधों के दायरों से अनाम संबंधों

की ओर जाना चाहती है। वह अपनी सुप्त भावनाओं को दुलारना, मरणासन्न आकांक्षाओं को सहलाना, दबी चाहतों को कुरेदना, स्वप्नों को आवाज़ देना चाहती है-''बहुत सुखद लगता है तब/ अपने साथ रहना/ अपनी सुगंध के साथ/ दूसरों के बीच रहकर/ जीना और अमर होकर/ मरने की कल्पना करना।'' (पृ. 31)

कवयित्री अकेली नहीं है। उसके पास एक अहसास है। यह अहसास उसे जीवट देता है। स्मृति की बंद खिड़कियों पर जैसे ही बीते पल दस्तक देते हैं-अंधकार उजाले में बदल जाते हैं। खुशबुएं बिखर जाती हैं-''मैंने जाना/ आतंक और अविश्वास/ की सलीब पर/ टंगी में/ संसृति की तमाम/ खुशबुओं के साथ ज़िंदा हूं।'' (पृ. 16) उनकी नारी छटपटा रही है कि उसे गांठ से बांधने वाला पुरुष दाता हो सकता है, पर विधाता क्यों नहीं बन सकता? ''आओ, तुम आओ/ दाता नहीं/ विधाता बनकर आओ...चले/ इस अनमोल जीवन के/ अनंत सफर में/ बढ़े आगे निरन्तर/ क्षितिज की ओर/ अ-मृत/ जीवन की तलाश में।'' (पृ. 23) 'तुम्हीं कहो' में कीर्ति का व्यंग्य सिर चढ़कर बोल रहा है। यहां पौराणिक युग से आधुनिक युग तक के आधी दुनिया के संताप हैं। पुरुष ने जुल्म को अपना अधिकार मान लिया है, इसीलिए स्त्री कभी लाचारी में, कभी संस्कारवश, कभी गौरवशाली छद्म परम्परावश उन्हें झेल रही है। उनके जुल्म अमर बेलि की तरह फैल रहे हैं। द्रौपदी को वस्तु मान बाँटना, जुए में हारना, हस्तिनापुर की राजसभा में उसका चीरहरण करना- इस सबके लिए कौन उत्तरदायी है? उसके लिए जितने अधर्मी कौरव थे, उतने ही दोषी पांडव भी थे। पुरुष ने औरत के लिए अग्नि परीक्षाओं, सती प्रथाओं, चकलों, बाज़ारों का एक साथ सृजन किया है।

यथार्थ की खुरदुरी ज़मीन भी इन कविताओं में मिलती है। कवयित्री के अंदर नायक-खलनायक, दोस्त-दुश्मन के बीच सीमा रेखा न बांध पाने की जिद है-''देखना/ कभी दोस्त/ बेईमान हो जाएंगे/ और कभी/ दुश्मन भी/ दोस्त से/ नज़र आएंगे।'' मसीहा और खलनायक में कोई भेद नहीं। दोनों की शक्ल, वेशभूषा समान है। दोनों सभ्य और शालीन हैं।

आतंकवाद का तूफ़ान भी यहां चित्रित है। लेकिन कवयित्री का विश्वास है कि बंदूक की जगह हल को लेनी ही है-''अपनी धरती पर/ हल से अपना पता लिख दो/ बन्दूक की संगीन पर/ अपनी शुभ्र पताका लहरा दो/ इतिहास गवाही देगा।/ तुम्हारे जीवट की।'' (पृ. 80)

शहरों के बीच की दूरियां भले ही सिकुड़ रही हों, पर इन्सानों के बीच का फासला बढ़ ही रहा है। 'एक खत मिर्जा गालिब के नाम' साम्प्रदायिकता विरोधी कविता है-''बहुत आसान है/ हर काम का आसां होना/ किसी आदमी का/ हिन्दू मुसलमां होना/ पर आज भी आदमी को/ मयस्सर नहीं इन्सां होना।'' (पृ. 56)

सैनिक जीवन की वेदना और दोहरे दर्द को भी उन्होंने चित्रित किया है। एक ओर सैनिक देश के लिए पिता, पत्नी, संतान सबका मोह छोड़ युद्धभूमि में शहीद होते हैं और दूसरी ओर पीछे छूटे परिवार-जनों का जीवन अबूझ पहेली बन जाता है-''घर जिनके/ खुले किवाड़ों से/ झाँकती हैं कई जोड़ी आँखें/ बसती हैं/ ज़िंदगी की/ अनबूझ परेशान पहेलियां।'' (पृ. 82) कारगिल युद्ध पर लिखी कविता 'नन्हें भीखी के नाम' में व्यंग्य काफी तीखा हो गया है-''इस देश की/ यह रिवायत है/ जो उसके लिए/ लहू बहाता है/ भुला दिया जाता है/ जो लहू पीना जानता है/ वह पीढ़ियों तक/ सत्ता का सुख पाता है।'' (पृ. 65) यहाँ जंगल राज है। सैनिक के बेटे को विरासत में मात्र वीरगति ही मिलती है।

खुदगर्ज राजनीतिज्ञ कुछ भी कर सकता है। धर्म को धिक्कार भी सकता है और उछाल भी सकता है। 1992 में लिखित कविता 'प्रश्नों से घिरा प्रजातन्त्र' सुरक्षा बलों द्वारा आरक्षित काले शीशों वाली बुलेट-प्रूफ गाड़ियों में चेहरे छुपाकर निडरता का भाषण देने वाले नेताओं का चित्रण लिए है। देश तो सतरंगे इन्द्रधनुष सा है। इसके हर रंग को अलग करने का प्रयास देश को ही नष्ट कर सकता है-''देश एक/ पार्टी नहीं होता/ देश कोई/ खानदान विशेष नहीं होता/ देश राजनीति/ भी नहीं होता/ देश जाति या/ धर्म नहीं होता/ तुम्हारे हित साधन का/ सतरंगी इन्द्रधनुष है देश।'' (पृ.69-70) चुनाव के दिनों में नेता शोशे उछालते हैं। कल्याण योजनाओं से भरमाते हैं-''बूढ़ों के लिए पेंशन/ बच्चों के लिए मजदूरी से निज़ात/ पाठशालाओं में जलपान...।'' (पृ. 51)

एक छायावादी गुनगुनापन 'मुझे आवाज़ देना' में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। फूल, चाँद, नीली झील, लहरों के झुरमुट, आकाश में छिटके तारे, नीले नरम ख्याल, तितली के रंग बिरंगे रेशमी पंख, लहरों पर झूमती चाँदनी, बादामी आँखें, तरल उजाला, उजली लकीर, चुम्बकीय वाणी, धनुषाकार चमकीली आँखें, फूलों पर मँडराती तितलियाँ, नागकेसर की सुगंध, फूली सरसों, दाना चुगते चहचहाते पक्षी- पता नहीं कीर्ति इतना कुछ कहां से बटोर लाई है। भाषा में पंजाबियत की भरपूर गंध है जैसे-रुत, दरख्त, वंझली, जोबन रुत। गुस्ताख, शोशे जैसे उर्दू शब्दों की रवानियत भी है। सिद्धहस्त, स्मित जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग भी है। सुरीली सरसराहट, गोलियों की गड़गड़ाहट आदि में अनुप्रास की छटा है। कीर्ति में ताजगी भी है, परिपक्वता भी। स्वानुभूति की भट्ठी से निकले शब्द गहरे तक धंसने की क्षमता रखते हैं। नारी विमर्श के साथ जुड़ी छायावादी रूमानियत थोड़ी खटकती तो है, पर कुल मिलाकर ये कविताएं समय के सच से रू-ब-रू कराती हैं।

मुझे आवाज देना : कीर्ति केसर; अभिव्यंजना : नई दिल्ली-26
मूल्य : 90 रुपए

बी-14, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर-143005 पंजाब

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ अलग है 'तापसी'

भारतीय समाज में स्त्री का विधवा हो जाना कितना बड़ा अभिशाप है, विशेष रूप से युवावस्था में, यह सर्वविदित है। सामाजिक दृष्टि से वह तिरस्कृत तो होती ही है, चारित्रिक दृष्टि से भी उसे कम लांछित नहीं किया जाता। पर सबसे भयानक स्थिति है आर्थिक। अधिकांश परिवारों में विधवा स्त्री को सिर्फ आर्थिक कारणों से ही लांछित-प्रताड़ित किया जाता है। पहले इसी कारण उन्हें 'सती' होना पड़ता था अब घर से निकाल दिया जाता है। और यह घर से बाहर निकालने की प्रक्रिया कहीं बहुत ही असभ्य तरीके से है तो कहीं बहुत ही सभ्य तरीके से। जो स्त्रियाँ इस प्रक्रिया में मार दी जाती हैं, यहां उनकी चर्चा न करके सिर्फ बाहर निकाल दी जाने वाली स्त्रियों की चर्चा कर रहा हूँ। बनारस और वृंदावन की असंख्य विधवाओं में उन स्त्रियों की संख्या बहुत ज्यादा है जो सिर्फ इसी प्रक्रिया में 'सभ्य तरीके' से लाकर यहाँ छोड़ दी गई हैं, विशेष रूप से बंगाल की औरतें। 'पाप-मुक्ति' और 'स्वर्ग-प्राप्ति' का भय और मोह दोनों मिलाकर परिजनों द्वारा त्याग दी गई ये स्त्रियाँ आज इन स्थानों के आश्रमों में किस अवस्था में हैं यह जानने की कोशिश बहुत कम की जाती है, पर की जाती है, और ऐसा ही एक प्रयास कुसुम अंसल का है।

वृंदावन में रहने वाली विधवाओं के जीवन को बहुत निकट से देखने की कोशिश कुसुम अंसल ने अपने नये उपन्यास 'तापसी' में की है। इस उपन्यास को लिखने से पहले वे छह वर्षों तक वृंदावन और गोवर्धन की गलियों, सड़कों, मंदिरों और आश्रमों के गलियारों में चल-चलकर वहाँ की वास्तविकता को निकट से देखती ही नहीं रहीं, उसे जाना और अनुभव भी किया और वह सब कुछ इस उपन्यास में उतर आया है। वे अपनी भूमिका में कहती हैं-"बहुत-सी स्त्रियों से जो मंदिर में जाप कर रही थीं या सड़क के किनारे बैठी भीख मांग रही थीं, मैंने बातचीत की, जानना चाहा उनकी अपनी सत्ता और स्वायत्तता, उनके जीवन का सच क्या था? क्या हो गया है? उनके दुःख, शारीरिक कष्ट, उनकी व्याकुलता-प्रश्नाकुलता ने मुझे भीतर तक सिहरा दिया है।" इन विधवाओं के जीवन को लेकर अनेक प्रश्न मन में उठते हैं, किसी भी मन में उठ सकते हैं, और लेखिका जैसे अपने मन के प्रश्नों के उत्तर ही 'तापसी' के माध्यम से खोलने की कोशिश में है।

'तापसी' को नायिका तापसी बंगाल के एक गाँव की निर्धन बालिका है, जो एक वेश्या-पुत्री होने के कारण माँ द्वारा त्याग दी गई है। एक काका के सहारे पलती-बढ़ती है। वह मेधावी है और खूब पढ़ना-लिखना चाहती है परन्तु एक दिन पता चलता है कि गाँव के एक अमीर आदमी से उसकी शादी तय हो गई है। तय क्या हुई है, उस धनी आदमी के हाथ उसे बेच दिया जाता है जो उसके काका की उम्र का ही व्यक्ति है। उसका पति मजुमदार उसे ब्याह कर ही अपने घर लाता है किन्तु वह नपुंसक व्यक्ति है और अपनी असमर्थता को गुस्से के माध्यम से व्यक्त करता है। तापसी को बराबर मारता-पीटता है और अबोध तापसी यह समझ नहीं पाती कि उसे किस बात का दंड दिया जा रहा है। उसके मन में तरह-तरह के प्रश्न हैं, वह हमेशा प्रश्नाकुल रहती है, इसलिए कई बार उसका नाम 'तापसी' की जगह 'प्रश्ना' ही उभरकर सामने आता है।

दुर्भाग्य से तापसी दो सालों के बाद ही विधवा हो जाती है। तब उसके पति के भाई और दूसरे रिश्तेदार उसकी सारी सम्पत्ति पर कब्जा कर लेते हैं और उसे वृंदावन लाकर एक आश्रम में छोड़ जाते हैं। उसे लाने वाला उसे बताता है कि यह वृंदावन है और यहां रहने से विधवाओं को बैकुंठ मिलता है। यह भगवान का घर है, इस पवित्र भूमि पर वास करने से अगले-पिछले सब पाप धुल जाते हैं।

उपन्यास के प्रारंभिक भाग में तापसी के वृंदावन पहुंचने और उस पर होने वाले अत्याचारों-अनाचारों का रोमांचक वर्णन है-किस तरह एक काली औरत रात के समय उस पर मर्दों की तरह बलात्कार करती है, किस तरह अंबिका देवी डंडे के बल पर आश्रम का काम चलाती है, विधवाओं को आधा पेट भोजन देती है और दान में पाये सारे वस्त्र, कम्बल, अन्न बेचकर उससे अपना बैंक बैलेंस बढ़ाती है। यह सब कुछ बहुत ही यथार्थपूर्ण दृष्टि से चित्रित हुआ है। उपन्यास का आधा हिस्सा इन विधवाओं की दुःखद और दयनीय स्थिति का चित्रण करता है और साथ ही उनकी उन विवशताओं का भी जिनके कारण वे यहाँ पहुंची हैं। शोषण का जो भयानक रूप यहाँ दिखता है-अम्बिका देवी और कुछ साधु-संतों के माध्यम से- वह हिला देने वाला है। तापसी हर जगह पाती है कि जहाँ वृंदावन में भगवान कृष्ण की बड़ी-बड़ी प्रतिमाएं हैं, पूजा-पाठ है, वहीं चोर-उचक्कों, जेबकतरों के आश्रयदाता यहाँ के महंत हैं। न उन्हें भगवान का डर है न कानून का, क्योंकि दोनों इनके वश में हैं।

तापसी को पढ़ने-लिखने का शौक है और संयोग से उसकी मुलाकात जयमाला देवी से हो जाती है जो एक स्कूल चलाती है। तापसी को उस स्कूल में पढ़ाने की आज्ञा अम्बिका देवी दे देती है और तापसी को जैसे नया जीवन मिल जाता है। वह जयमाला के साथ वृंदावन छोड़कर गोवर्धन के परिवेश में 'कुसुम सरोवर' आ जाती है, जहाँ वह स्कूल है। छोटे-से कमरे में पन्द्रह-बीस बच्चे, मैले चीकट हाथ-पैर, बाल उलझे हुए, स्कूल की बदरंग काली पड़ गई यूनिफार्म में जमीन पर बिछी दरी पर बैठे हुए। ये सभी बच्चे सपेरों की बस्ती के थे।

तापसी को नया कुछ करने को मिल जाता है। वह इन बच्चों को नहला-धुलाकर साफ-सुथरा बनाती है। स्कूल की सफाई करती है।

जयमाला के साथ मिलकर वह स्कूल का नक्शा बदल देती है। इस बीच तापसी अपनी पढ़ाई भी शुरू करती है। पहले बी.ए. पास करती है फिर दिल्ली जाकर वहाँ जी. मैट की परीक्षा देती है।

तापसी के साथ लेखिका की पूरी सहानुभूति है। वह अपनी प्रतिभा के बल पर आगे बढ़ती है। उसे हर किसी से सहयोग और स्नेह मिलता है, यहाँ तक कि आश्रम में भी ज्यादा शोषित या पीड़ित नज़र नहीं आती। मैं 'असंभव' शब्द का प्रयोग तो यहाँ नहीं करूंगा परन्तु इसे 'अविश्वसनीय' जरूर कहूंगा। वृंदावन में सुन्दर और जवान औरतों का जिस तरह शारीरिक शोषण होता है, उससे तापसी बिल्कुल बची रहती है जबकि उसी आश्रम में रहने वाली अनेक महिलाएं इधर-उधर पुरुषों की भोग्या बनती फिरती हैं।

पूरा उपन्यास पढ़ने के बाद एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास के केन्द्र में तापसी है, वृंदावन नहीं। आधे से अधिक उपन्यास तापसी के जीवन को लेकर चलता है, वृंदावन भी उसी का एक अंग है। इसी कारण वृंदावन में रहने वाली विधवाओं की दुर्दशा, दयनीयता और शोषण का उभार (चित्रण) समग्रता में नहीं हो पाया है, जबकि लेखिका के अनुसार यही इस उपन्यास के कथानक का केन्द्र बिन्दु है। यह सच है कि वहाँ की स्थितियों को समझने के लिए, विधवाओं के नारकीय जीवन को पास से देखने-परखने और प्रस्तुत करने के लिए कुसुम अंसल ने काफी परिश्रम किया है, बहुत अंशों तक बहुत कुछ प्रस्तुत करने में वे सफल भी रही हैं, परन्तु यह बाह्य अनुभव, इधर-उधर से बटोरा गया अनुभव उन विधवाओं की पीड़ा और वेदना, शोषण और घर्षण को पूरी तरह नहीं व्यक्त करता, लगता है कि कहीं बहुत कुछ छूट रहा है।

किन्तु इन तीर्थ-स्थलों की आज जो दुर्दशा है, अत्याचार-दुराचार, छल-प्रपंच का जितना वहां बोलबाला है, भगवान के नाम पर जो झूठ और धोखा है, जो लूट-खसोट है, व्यभिचार है, उसका बहुत ही जीवंत चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। लेखिका का यह कथन शत-प्रतिशत सही है कि 'आज के तीर्थ अपना गंतव्य, अपनी भव्यता, कलात्मकता, यहां तक कि अपनी भाषा भी खो चुके हैं। आज का तीर्थ छीनने-झपटने का तीर्थ है। और आश्रम? जहां षड़यंत्र रचे जाते हैं, एक प्लैनिंग चलती है और जिसके बंद दरवाजों के भीतर सैल्फिश और मैनीपुलेटेड संसार की संरचना होती है। उनके विध्वंसकारी चक्रव्यूह में फंसकर कोई भी विधवा स्त्री अपनी मनुष्यता खो देने को विवश है।" और इसी चक्रव्यूह में तापसी भी अंत में फंस जाती है। अचानक पता चलता है कि जयमाला का सारा स्नेह, सद्व्यवहार एक छल का हिस्सा है तो तापसी ही नहीं, पाठक भी स्तब्ध रह जाता है। अमेरिका भेजने के बहाने तापसी को जयमाला अपने भाई के पास दिल्ली भेजती है। वहाँ उसका खूब आदर-सत्कार होता है। उसका पासपोर्ट वगैरह बनवा दिया जाता है। अब वह एक ऊँची उड़ान के सपने देखती है कि तभी अचानक एक दिन पाती है कि वह एक अस्पताल में पड़ी है। नर्स बताती है कि उसके पेट में अल्सर था इसलिए उसका आपरेशन करना पड़ा, किन्तु उसे पता चल जाता है कि उसकी एक किडनी निकाल ली गई है, जयमाला की भतीजी के लिए। अम्बिका देवी, जयमाला, उसके भाई आदि ने मिलकर जो चक्रव्यूह रचा था, उसमें वह फंस गई थी। इस छल-प्रपंच से तापसी क्षुब्ध हो उठती है। वह कच्चे टाँकों के साथ बंगाल लौटती है, अपने गांव, अपने घर, लेकिन वहां तक पहुंच नहीं पाती, रास्ते में ही उसके घाव का टाँका टूट जाता है और उसकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है।

कुसुम अंसल विश्व की सामयिक समस्याओं पर गहराई से ध्यान ही नहीं रखतीं, उनका रचनात्मक उपयोग भी करती हैं। निर्धन, भूख से तड़पते, हड्डी-हड्डी दिखाते बच्चों को देखकर तापसी को बार-बार सोमालिया और सूडान की याद आती है, वहाँ के भूख से बिलखते बूढ़े-बच्चों की याद आती है, जिन्हें उसने कभी टी.वी. पर देखा था। भूख और बेरोजगारी आज निर्धन देशों की सबसे बड़ी समस्या है इस तथ्य को इस उपन्यास में बार-बार दर्शाया गया है। उड़ीसा में भूख से व्याकुल माँ-बाप अपने बच्चों को कुछ रुपयों में बेच देते हैं या गिरवी रख देते हैं, यह अखबारों के लिए रोज की खबर है, किन्तु इसी तथ्य को एक विधवा के जीवन के साथ जोड़कर उसकी दयनीयता को लेखिका ने अधिक मर्मस्पर्शी बना दिया है।

लेखिका ने मूल कथा को प्रभावी और विश्वसनीय बनाने के लिए अनेक घटनाओं, लोक-कथाओं और काव्यांशों का सहारा लिया है। वास्तव में लेखिका का उद्देश्य है वृंदावन की विधवाओं के साथ ही देश और समाज तथा व्यक्ति की मूल कठिनाइयों, विसंगतियों, दुर्गतियों को उभारना। और अपने उद्देश्य में लेखिका पूर्णतया सफल भी है, यह बेहिचक कहा जा सकता है।

'तापसी' में तापसी का संघर्ष, उसका दृढ़ संकल्प, जीवन में आगे बढ़ने की तीव्र आकांक्षा, चेष्टा दुःखी और विवश औरतों के मनोबल को बढ़ाने में सहायक हो सकती है। परन्तु उपन्यास के अंत में तापसी की मौत का संदर्भ उसके सारे संघर्ष और विजय को मलिन कर देता है। संघर्ष का अंत अगर मौत ही है तो फिर कौन उधर कदम बढ़ायेगा? एक वैचारिक और ज्वलंत समस्या के धरातल पर खड़े अच्छे उपन्यास का यह अंत 'प्रश्ना' की तरह हमारे मन में भी कई प्रश्न खड़ा कर देता है और उन प्रश्नों में से एक प्रश्न तो उपन्यासकार से पूछा ही जा सकता है-'आखिर ऐसा क्यों?'

तापसी : कुसुम अंसल; राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110007; मूल्य : 200 रुपये

बी-3/76, सैक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

डॉ. गुरचरण सिंह

जहाँ रोशनी की नदी सूख गयी है

समकालीन कविता सामाजिक सम्बन्धों, विडम्बनाओं, विसंगतियों आदि को केन्द्र में रखकर लिखी जा रही है। यही कवि का भोगा हुआ तथा जिया हुआ अनुभव है। वह कविता को अपने आसपास के परिवेश से उठाता है। इसी कारण समकालीन व्यक्ति के तनाव, परेशानियाँ, व्यावसायिक, मानसिक दबाव उसमें उभरते हैं। मूल्यों तथा संवेदनाओं का अभाव वह महसूस करता है। व्यक्ति इन्हीं दबावों, विघटनकारी तत्वों के कारण अनिश्चय, चिंता, अनिर्णय, आक्रोश, अविश्वास आदि स्थितियों में जी रहा है। डॉ. ज्ञान चन्द गुप्त की कविताएं भी इन्हीं स्थितियों के आसपास रची गयी हैं। इनमें निजी, पारिवारिक, सामाजिक जीवन के प्रश्नों को सीधे-सीधे उठाया गया है। ये प्रश्न कवि के ही नहीं हम सभी के हैं-इसीलिए ये कविताएं अपनी लगती हैं।

हम स्वप्न और यथार्थ को एक साथ लेकर जी रहे हैं-एक ओर पीठ पर सपनों की गठरी है तो दूसरी ओर हम सूरज की भूमिका से भी परिचित हैं और अपने आसपास फैलता हुआ उजाला देखना चाहते हैं।

व्यक्ति असहाय है। उसकी विवशता, बेचारगी को कवि समझता है- 'होंठ भींचकर भी/ जब चुप रह जाना पड़ता है' ऐसी स्थितियां ही व्यक्ति को उसकी पहचान कराती हैं। 'उसका हृदय तो सागर है/ व्यथा कथाओं का' आज के व्यक्ति की वास्तविक स्थिति इन पंक्तियों में उभरती है। यह व्यथा तब और बढ़ जाती है जब उसे लगता है कि निष्ठा, विश्वास, कर्म को लेकर वर्तमान समाज में जीवित नहीं रहा जा सकता। आज का वातावरण स्वार्थ, नफरत से भरा हुआ है। स्थितियों की सही समझ रखते हुए भी-'तोड़ना, टूटना, झुकना ही/ बनकर रह जाता है उसकी नियति'। लोग स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकते हैं-'वह एक खून चूसने वाला कीड़ा है/ जो दांत छिपा कर दबी हँसी हँसता है/...उसका असली पैंतरा फंसाना है/आदमी को।'

कवि आपसी भेदभाव, अविश्वास, संशय को दूर करना चाहता है जिससे अपनत्व का भाव पैदा हो सके-'आओ, समझें, समझायें/ अपनों और परायों को सबके लिए/ सभी गांठें खोलें, बीती बात भूलें।' पर चारों ओर मची लूट, भ्रष्ट व्यवस्था में यह कितना सम्भव है इसे भी कवि जानता है। ऐसा नहीं कि लोग स्थितियों से अनभिज्ञ हैं, पर सामने खड़े होने का, प्रश्न पूछने का साहस किसी में नहीं है-'बौरायी सत्ता से, खोये विपक्ष से/ भ्रमित न्यायकर्ता और व्यवस्था से' कवि पूछना चाहता है कि-'लक्ष्मी कहां और क्यों जा रही है?' कवि जानता है कि ऐसे सवाल ही व्यवस्था, सत्ता में सुधार ला सकते हैं। विरोध और विद्रोह की भूमिका जनता को निभानी ही होगी। कवि चाहता है कि हम सोचें-जिस परिवेश में हम रह रहे हैं, उसके लिए हमने क्या किया। हमारे प्रयास ही वातावरण को नया रूप दे सकते हैं-'क्या कर पाये इस बस्ती के लिए/ यहां तो दर्द के जंगल आज भी दहकते हैं।'

युवा पीढ़ी को अपने निर्णयों पर विश्वास है जबकि उसके माता-पिता उसकी अपरिपक्वता को जानते हैं, पर वह उनका परामर्श लेने को, उनकी बात सुनने को तैयार नहीं। इसी कारण वे कहीं पहुंच नहीं पाते। 'अपने लिए' कविता में वह इसी ओर युवाओं का ध्यान दिलाना चाहता है-'तुम चाहे जितने विवेकशील हो/ या हो शक्तिपुंज यौवन के/ तुम्हारे गढ़े विश्वासों का जन्म तो/ जिद की कोख से हुआ है/ जो अभी आधे-अधूरे हैं।'

कवि युवाओं को सचेत करना चाहता है जिससे वे संघर्ष कर सकें ओर अपनी राह बना सकें-'क्या तुम्हारे भीतर की/ रोशनी की नदी सूख गयी है/ जो देख नहीं पाती/ आने वाले ऊबड़-खाबड़/ अधियारे रास्तों को/ पहाड़ और टीलों को।' इन रुकावटों को हमें सिर्फ देखना नहीं, बल्कि उनसे बचने के उपाय भी सोचने हैं तथा उनका सामना भी करना है तभी हम जीवन के ध्येय को पा सकते हैं।

प्रकृति की ओर भी कवि का ध्यान गया है-'सरसों के फूलों की/ पीली चादर ओढ़े खेत के खेत/ खेत में थिरकती जौ की बालियां/ और मटर के रंगीन फूलों पर/ तथा अन्य क्यारियों में/ इतराती तितलियां/ और गुंजायमान भौंरे/ ऊपर नीले आकाश में उड़ते पंख फैलाये पक्षी।' प्रदूषण के प्रभाव को पेड़-पौधे अनुभव कर रहे हैं-'आम के पेड़ बिन बौराये ही/ सांस थामे असहाय से खड़े हैं/ डाल पर बैठी कोयल हुई उदास/ कैसे कूके बेचारी गंध बिना।'

कवि ने कुछ कविताएं व्यक्ति विशेष को लेकर लिखी हैं-बिल क्लिंटन, उदयभानु सिंह, नित्यानन्द तिवारी, प्रकाश मनु, श्याम सिंह शशि आदि। 'बिल क्लिंटन के जाने पर' कविता में वह लिखता है-'कुछ तो तुम्हारे भीतर भी हुआ होगा?/ सुनकर खबर मरते आदमियों की घाटी में/ जहां संवेदनाओं का जंगल/ सारी उर्वरता और लहलहाहट के रहते/ सूख चला है बीमार बन कर।' वह महान हस्ती है, उसका देश महान है, इस महानता के पीछे कितने स्वार्थ हैं कवि उस तरफ संकेत करता है। कवि जानता है कि निर्बल देश उसके सामने सिर्फ झुक सकते हैं-सवाल पूछने का साहस ज्ञान चन्द गुप्त जैसे कवि ही कर सकते हैं।

किसी दिन के लिए : ज्ञान चन्द गुप्त; नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली-110002; संस्करण : 2003; मूल्य : 125 रुपये

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ पत्रिकाओं के महत्वपूर्ण अंक

कुछ ही समय में अपनी विशिष्टता स्थापित करने वाली पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' (सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली) का एक अपूर्व विशेषांक आया है। 'बिन पानी सब सून' विशेषांक! मुझे याद नहीं कि इससे पूर्व किसी पत्रिका ने 'पानी' को साहित्य के घेरे में लेकर किसी अंक की कल्पना भी की हो! तीन सौ से अधिक पृष्ठों में फैला यह पानी विशेषांक पानी के महत्व को ही नहीं दिखाता बल्कि साहित्य में पानी की उपयोगिता कितनी रही है, यह भी व्याख्यायित करता है। 'पानी पर लिखी इबारत' में संपादक का कहना है कि ऋग्वेद का 'आप सूक्त' जल पर लिखी विश्व की पहली कविता है। इसके बाद वैदिक-औपनिषदिक साहित्य में जल पर या जल के संदर्भ में अपरिमित लिखा गया। और यह परंपरा अनवरत चलती रही है। और इस अंक में अमृतवाही जल को लक्षित करने के लिए परंपरा से कुछ झलकियां दी गई हैं जो जल के पवित्र रूप, उसमें निहित आध्यात्मिकता, प्रेम, सौन्दर्य, क्रीड़ा और सहजता को ध्वनित करती हैं। अंक में जहां कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूड़ी, सुनीता जैन, विजेन्द्र, अमृता भारती, दिनेश कुमार शुक्ल आदि की पानी पर आधारित आधुनिक कविताएं हैं वहीं मध्यकालीन कवियों रहीम, कबीरदास, मीरा, सूरदास, जायसी, तुलसीदास, मतिराम, देव, पद्माकर आदि की रचनाएं भी। यही नहीं, संपादक ने भारतीय बोलियों से भी गीत और कविताओं को संकलित करने में हिचकिचाहट नहीं दिखाई है। मैथिली के जीवकांत और कुमार सरोज की कविताएं हैं तो भोजपुरी का 'रोपनी का गीत', मालवी का 'पावस गीत', संताली का 'घनकाई का शोक गीत', बुंदेली का वर्षागीत आदि हमें नये अनुभवों से जोड़ते हैं। इसी तरह कहानियों में जयनंदन, नरेन्द्र नागदेव, मृदुला सिन्हा, नवनीत मिश्र, रामदेव शुक्ल आदि की मौलिक रचनाओं के साथ ही बोलिवियाई, मलयाली, कश्मीरी, ओड़िया, उर्दू आदि भाषाओं से अनूदित कहानियां पानी के प्रभाव को कई रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित करती हैं और जन-जीवन से पानी के जुड़ाव को दर्शाती हैं।

इसके अतिरिक्त इस विशेषांक को महत्वपूर्ण बनाने में कई तरह की रचनाओं का योगदान है। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का कथा रिपोर्ताज, वीरेन्द्र जैन की व्यंग्य कथा, रामदरश मिश्र का आलेख 'पानी के रंग का रचना नेपथ्य', मैग्से से पुरस्कार प्राप्त राजेन्द्र सिंह और इरफान हबीब से बातचीत आदि के साथ ही पानी-पंचायत में उभरे विद्वानों-चिन्तकों के विचार विचारणीय हैं। इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है इस अंक में जिससे हमें जल के अधिकांश पक्षों की जानकारी मिलती है। अपनी विशिष्टता के कारण यह अंक सदैव के लिए संग्रहणीय बन गया है।

'अकार' (सं. गिरिराज किशोर, 15/269, सिविल लाइन्स' कानपुर-1) का मार्च 2004 का अंक दसवां अंक है। इसका अर्थ यह है कि वर्ष में तीन बार प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका अपने प्रकाशन के तीन वर्ष पूरे कर चुकी है। किसी भी अव्यावसायिक लघु पत्रिका के लिए यह महत्वपूर्ण है परन्तु उससे भी महत्वपूर्ण बात है कि इस पत्रिका ने अपनी एक पहचान स्थापित की है। संपादक की कोशिश रहती है कि रचना-श्रेष्ठता के साथ-साथ रचना-विविधता भी हो ताकि पाठक को नया कुछ मिलता रहे-अर्थपूर्ण, विचारपूर्ण! इस अंक में कुछ लंबी कहानियों को स्थान दिया गया है। संपादक का कहना है कि कहानी और लंबी कहानी के गुपचुप दो वर्ग बन गए हैं। जैसे लंबी कहानी कहानी से कुछ अलग चीज हो। लंबी कहानियां अंत में उपन्यास में अवतरित हो जाती हैं। यह तय होना बाकी है कि इसके पीछे व्यावसायिक कारण है या विधागत। राजेन्द्र लहरिया, महेश्वर नारायण सिंहा, प्रेम कुमार, एम. टी. वासुदेवन नायर आदि की कहानियां अंक को पठनीय बनाती हैं। पर सबसे महत्वपूर्ण रचना है मिलोवान जिलास की 'जल और जंगल' जिसका अनुवाद द्रोणवीर कोहली ने किया है। जिलास की रचनाओं से हिन्दी जगत परिचित नहीं है, और यह कहानी उसे मजबूर करेगी कि वह इस लेखक की रचनाओं को खोज-खोजकर पढ़े।

दिल्ली से प्रकाशित पत्रिका 'ऋचा' (प्रधान संपादक-दिनेशनन्दिनी डालमिया, 3, सिकन्दरा रोड, नई दिल्ली-1) का तीसरा अंक, जनवरी-मार्च 2004 का, अभी आया है। दिल्ली जैसे शहर में जहां छोटी-छोटी पत्रिकाएं भी बेहद शोर-शराबे के साथ-साथ प्रकाशित-प्रसारित होती हैं, 'ऋचा' जैसी सुरुचिसम्पन्न, रचना-सम्पन्न और सतर्क दृष्टि-सम्पन्न पत्रिका का गुपचुप प्रकाशन चौंकाने वाला है। यह सच है कि पत्रिका के केन्द्र में मुख्यतः 'स्त्री' हैं, लेखिकाएं हैं किन्तु रामदरश मिश्र, श्रवण कुमार, जगदीश चतुर्वेदी, प्रकाश मनु आदि की रचनाएं भी यहां उपलब्ध है, इसलिए ऐसा नहीं लगता कि पत्रिका किसी घेरे में कैद है। इसका जो स्वरूप है, रचनाओं का जो चयन है, वह प्रशंसनीय है और हिन्दी जगत में इस पत्रिका का स्वागत होना चाहिए। नये अंक में नामवर सिंह से अनीता वर्मा की बातचीत, श्रवणकुमार का आत्मकथांश, सौरभ भारद्वाज, स्वराज्य शुचि, प्रतिभा जौहरी और मित्र राशा की कहानियां, कमल कुमार, सुनीता जैन, श्याम निर्मम, अमरनाथ अमर आदि की कविताएं पठनीय हैं। चन्द्रकांता ने अपनी कृति 'कथा-सतीसर' को लेकर जो आत्मविश्लेषण किया है वह रोचक तो है ही, उपन्यास को समझने में मददगार भी। इसके अतिरिक्त पुस्तक समीक्षाएं, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण आदि के साथ दिनेशनन्दिनी डालमिया का 'चिन्तन, लेखन, सृजन' पढ़ना काफी सुखकर है। दिनेशनन्दिनी जी का कहना बिलकुल सही है कि 'चिन्तन, लेखन, सृजन एक ऐसा स्रोत है जिसे जितना खाली करो उतना ही भरता जाता है।' अच्छी पत्रिकाओं की खोज में भटकते साधारण पाठकों के लिए 'ऋचा' एक आवश्यक पत्रिका है।

और अब दो काव्यधर्मी पत्रिकाएं। बलदेव वंशी के संपादन में 'विचार कविता' (ए-3/283, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63) का विज्ञान-बोध कविता विशेषांक आया है। आज व्यक्ति का जीवन पूरी तरह से विज्ञान् ने आवृत कर लिया है, ऐसे में कविता भी उससे अछूती नहीं है, इसी सोच के साथ इस अंक का संयोजन किया गया है। परन्तु यहां सिर्फ कविताएं नहीं हैं, बल्कि विज्ञान और कविता के परस्पर संबंधों को, विज्ञान के युग में कविता की अनिवार्यता को दर्शाने वाले कई महत्वपूर्ण लेख भी हैं जो विचार और चिन्तन की दृष्टि से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। 'विज्ञान और कविता' (रमेश कुंतल मेघ), 'आधुनिक हिन्दी काव्य में विज्ञान-बोध के आयाम से विज्ञान काव्य तक' (बलदेव वंशी), 'नयी कविता में विज्ञान-बोध का परिदृश्य' (वीरेन्द्र सिंह), 'समकालीन हिन्दी कविता में वैज्ञानिक चेतना' (राजेन्द्र उपाध्याय), 'जिज्ञासाओं को नया अर्थ देता पृथ्वीकल्प' (कृष्णदत्त पालीवाल), 'आधार-स्खलन' (प्रभाकर श्रोत्रिय) आदि लेख इस संदर्भ में अवश्य ही पठनीय हैं। निराला, गिरिजाकुमार माथुर, अरुण कमल, इन्दु जैन, कन्हैयालाल नंदन, कुसुम अंसल, के. सच्चिदानन्दन, गिरधर राठी, दिविक रमेश, प्रताप सहगल, रामदरश मिश्र, हरदयाल, ब्रजेन्द्र त्रिपाठी आदि करीब सत्तर नये-पुराने कवियों की रचनाओं से सजा यह अंक विषयगत नवीनता के कारण महत्वपूर्ण हो उठा है।

करीब दो दशक पुरानी पत्रिका 'उन्नयन' (सं. श्रीप्रकाश मिश्र, 406, त्रिवेणी रोड, कीडगंज, इलाहाबाद) पूर्णतया कविता को समर्पित है। इस अनियतकालीन पत्रिका का अंक 23 सामने है जिसमें केवल गोस्वामी, राजकुमार कुंभज जैसे कुछेक प्रसिद्ध कवियों के साथ तीस से अधिक नये कवियों की कविताएं छपी हैं। नये कवियों के प्रति यह पत्रिका विशेष आग्रही है। प्रकाशकीय घोषणा के अनुसार 'उन्नयन हिन्दी की एकमात्र कविता-केन्द्रित पत्रिका है, जो नये रचनाकारों को सामने लाने के इरादे से निकाली जा रही है।' कविताओं के अतिरिक्त श्रीप्रकाश मिश्र का 'आधुनिकतावाद', शैलेन्द्र चौहान का 'प्रगतिवादी आलोचना की कुछ अवसरवादी प्रवृत्तियां' तथा सेवाराम त्रिपाठी का 'समकालीन कविता में लोक तत्व' विचार-प्रधान निबंध हैं जो आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों को समझने में सहायक हैं। बांदा के कवियों पर एक विशेष खंड है जो महत्वपूर्ण है। छोटे-छोटे नगरों और कस्बों में लिखने वालों की कमी नहीं है पर उन्हें न तो उचित प्रोत्साहन मिलता है न छपने का अवसर। ऐसे में इस तरह के प्रयासों की प्रशंसा करनी चाहिए।

और अंत में, एकदम नई पत्रिका 'सदाकांक्षा' (सं. मुहम्मद अहमद, इस्लामी साहित्य संगम, 2703, बारादरी, दिल्ली-6) के प्रकाशन पर बधाई। वार्षिकी के रूप में प्रकाशित यह पत्रिका इसलिए महत्वपूर्ण लगती है कि इसमें हिन्दी-उर्दू रचनाकारों का सम्मिलन है। इसका प्रथम अंक काव्य-रचनाओं पर केन्द्रित है जिसमें करीब चालीस रचनाकारों की रचनाएं हैं। परन्तु रचनाओं से पूर्व मुहम्मद अहमद ने 'भारतीय काव्य-प्रवृत्तियों' का जो परिचय दिया है वह बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कृत, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालय, सिंधी, कश्मीरी, पंजाबी, बांग्ला, असमिया, उड़िया, मराठी, गुजराती, उर्दू, हिन्दी आदि भाषाओं की काव्य-प्रवृत्तियों का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है, वह भारतीय काव्य साहित्य को समझने में विशेष सहायक है।

पत्रिका को इस स्वरूप में प्रकाशित करने के पीछे क्या कारण रहे हैं, इसका उल्लेख करते हुए संपादक का कहना है, 'वर्तमान साहित्य सृजन मानव मूल्यों और मानव हितार्थ दायित्व बोध के प्रति अपेक्षित रूप से गंभीर नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि इसमें नैतिक, मानवीय और दिशाबोधक कल्याणकारी मूल्यों का पर्याप्त समावेश हो, स्वस्थ और रचनात्मक साहित्य-सृजन हो, भारतीय भाषाओं में उत्कृष्टता का परस्पर आदान-प्रदान हो, ताकि साहित्य से सद्समाज बने। 'सदाकांक्षा' की यही आकांक्षा है और हमारी भी! पत्रिका वर्ष में कम से कम दो बार निकले यह प्रयास होना चाहिए।

बी-3/76, सैक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

डॉ. कमलेश सचदेव

महिला लेखन का चिन्तन आयाम

सामान्यतः महिला लेखन को कविता, कहानी और उपन्यास तक सीमित मान लिया जाता है और यह समझ लिया जाता है कि गंभीर चिन्तनपरक लेखन उनके बस की बात नहीं है। इसके लिए पर्याप्त आधार भी मौजूद है और इसके कारण भी समझ में आते हैं। गंभीर चिन्तनपरक लेखन के लिए विस्तृत अध्ययन, विश्लेषण-बुद्धि तथा विषय में गहरे उतरने की क्षमता, धैर्य एवं समय अपेक्षित होता है। कविता, कहानी, उपन्यास की रचना में भी इस सबकी आवश्यकता होती है लेकिन विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा संवेदनशीलता एवं भाषा-सामर्थ्य की अधिक भूमिका रहती है जो कम समय-साध्य होती है। महिलाएं अपने घरेलू दायित्वों के कारण उतना समय, और उतना एकाग्र मनन कर सकने लायक समय नहीं निकाल पातीं। इसलिए वे अपनी संवेदनशीलता, सह-अनुभूति और सहज भाषा-सामर्थ्य से कविता (सबसे अधिक), कहानी (उससे कुछ कम) और उपन्यास (और कम) तो लिख पाती हैं लेकिन गंभीर आलोचना, साहित्यिक चिन्तन एवं सामाजिक विषयों पर गंभीर लेखन में उनका योगदान अब तक लगभग नगण्य रहा है। महादेवी वर्मा ('शृंखला की कड़ियां में नारी की स्थिति विषयक लेख), निर्मला जैन (आलोचना) जैसे इक्का-दुक्का नाम ही हिन्दी के गंभीर चिन्तनपरक लेखन में हाल-फिलहाल तक दिखाई देते रहे हैं। इधर नारी-विमर्श केन्द्रित गंभीर लेखन में प्रभा खेतान, अनामिका, मनीषा, कात्यायनी आदि तथा गंभीर सामाजिक, राजनीतिक पत्रकारिता में मृणाल पाण्डे, नासिरा शर्मा, मणिमाला आदि ने पहचान बनाई है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिन्दी लेखिकाओं में विस्तृत अध्ययन एवं तलस्पर्शी विश्लेषण-क्षमता का अभाव है। इतना अवश्य है कि इस ओर प्रतिबद्ध प्रयास कम हुए हैं। 'नये आयामों को तलाशती नारी' (संपादक : दिनेशनंदिनी डालमिया, रश्मि मल्होत्रा) एक ऐसा प्रतिबद्ध प्रयास है जो महिला लेखन के गंभीर चिन्तनपरक लेखन जिसे भूमिका में निबन्ध कहा गया है, को सामने लाने के उद्देश्य से प्रेरित है। वरिष्ठ लेखिका दिनेशनंदिनी डालमिया के मार्ग निर्देशन में बनी दिल्ली की साहित्यिक संस्था 'ऋचा' की सदस्याओं के निबन्ध इसमें संकलित हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुस्तक में संकलित लगभग आधे से अधिक निबन्ध लेखिकाओं की लेखन-विवेचन-चिन्तन क्षमता के प्रमाण माने जा सकते हैं। राजी सेठ ने अपने निबन्ध 'संप्रेषण के विकल्प' में कम्प्यूटर के मनुष्य के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव पर, विशेष रूप से सूचना, ज्ञान एवं अवधारणा के अंतर को दृष्टिगत रखते हुए, विचार किया है। वे पुरानी पीढ़ी के पुस्तक-प्रेम, कम्प्यूटर और इंटरनेट के माध्यम से अथाह सूचना भंडार की उपलब्धता से हो सकने वाली मानसिक दिशाहीनता और उसमें साहित्य की भूमिका को गहराई से परखती हैं। उनका कहना है कि एक माध्यम के रूप में कम्प्यूटर द्वारा उपलब्ध सूचना-भंडार का लाभ उठाने से परहेज नहीं किया जाना चाहिए लेकिन उसी की अनंतता में खोकर रह जाना जीवन को दिशाहीन बना देगा-"रास्ते बहुलदिशाधर्मी और यथार्थ बहुआयामी हो जाए तो अनुभव को अवधारणा में बदल पाने का कौशल घट सकता है, आत्मान्वेषण की क्षमता कम हो सकती है। बहुलता की इस बाढ़ में हमें किस कोटि की दिशावानता, कैसी संकल्पवानता और सजगता चाहिए होगी, यह बताने की जरूरत नहीं।" वे कम्प्यूटर की क्षमताओं को देखते हुए उसे एक माध्यम भर मानने को इसमें निहित खतरों का सरलीकरण करना मानती हैं। उनका कहना है- "वैश्विक व्यापकता, सूचना उपलब्धता और दक्षता की विशेषता के रूप में वह एक शक्ति है। सत्तावानता, संकेन्द्रण का प्रतीक है। सत्तावानता के खतरे हम सबके जाने हुए हैं।" उनकी तीक्ष्ण दृष्टि इस सवाल से भी अनजान नहीं है कि टी.वी. एजेंसियाँ तथा व्यवसायी इस माध्यम को अपने हितों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करते हुए जो कुछ इसमें फीड कर देते हैं, समाज को उसी पर निर्भर होना पड़ता है। "आगे जाकर यह सवाल भी उठने लगेगा कि टी.वी. एजेंसियों या धनकामी व्यवसायियों द्वारा फीड किया गया भोजन क्या हमें सदा खाते रहना पड़ेगा?"

इसी प्रकार उषा महाजन (क्यों टूट रहे हैं रिश्तों के धागे?), कमल कुमार (कामकाजी स्त्री : घर, समाज, समय और संस्कृति), मृदुला सिन्हा (चूड़ियां : नारी-शक्ति की प्रतीक), शामा (सृजना के आयाम), डॉ. रश्मि मल्होत्रा (अहिल्या : एक पाषाणी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण), कुसुम अंसल (साहित्य में नैतिक सामाजिक मूल्यों के बदलते प्रतिमान), चित्रा मुद्गल (साहित्य में स्वचेतना और स्त्री), चन्द्रकान्ता (कथा सतीसर के निमित्त), डॉ. मंजु गुप्ता (नये सन्दर्भों को तलाशती आज की कविता), सुनीता जैन (तेवर और कलेवर : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता), डॉ. मुक्ता (वर्तमान परिवेश में सृजन) तथा नासिरा शर्मा (दरवाजे दर दरवाजों का सफर) के निबन्ध भी अपने-अपने विषयों की व्यापक जानकारी, गहन विश्लेषण तथा निर्भ्रान्त दृष्टि को लिए हुए हैं। इन लेखिकाओं में से एकाध (नासिरा शर्मा जैसी) को छोड़कर सभी के लिए सृजनात्मक साहित्य (कविता, कहानी, उपन्यास) ही उनकी पहली प्राथमिकता है, इस प्रकार के निबन्ध इनकी अभिव्यक्ति का गौण माध्यम हैं। ये तभी लिखे जाते हैं जब किसी संस्था द्वारा किसी गोष्ठी में इनसे आलेख पाठ का आग्रह किया जाता है। इसीलिए ऐसा लगता है कि चिन्तनपरक लेखन के लिए लेखिकाओं मे प्रतिबद्धता का अभाव है। चित्रा मुद्गल ने अपने निबन्ध में इस ओर संकेत भी किया है कि महिला लेखन को पुरुष

आलोचकों द्वारा गंभीरता से नहीं लिया जा रहा है, इसलिए आलोचना के क्षेत्र में भी महिलाओं को सक्रिय होने की आवश्यकता है। नासिरा शर्मा का निबंध 'दरवाजे दर दरवाजों का सफर' इस सिलसिले में एक उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। अपने इस निबंध में उन्होंने चार लेखिकाओं (कृष्णा अग्निहोत्री, कुसुम अंसल, शीला झुनझुवाला और पद्मा सचदेव) की आत्मकथाओं पर विस्तार से चर्चा करते हुए उनके जीवनानुभवों का आत्मीयता से विश्लेषण किया है। लेकिन कुल मिलाकर सक्षमता के बावजूद अभी यह क्षेत्र सृजन के मुकाबले बहुत कम-न के बराबर-महिलाओं का चुनाव है।

'नये आयामों को तलाशती नारी' के शीर्षक से ऐसा लगा था कि पुस्तक नारी-विमर्श पर केन्द्रित होगी लेकिन इसमें संकलित निबन्धों में विषय की कोई अन्विति नहीं है। नारी-विमर्श पर निबन्ध हैं तो अध्यापन के गिरते स्तर, नयी टेक्नोलॉजी की चुनौती और साहित्यिक प्रवृत्तियों से लेकर पुस्तक विशेष पर लिखित निबन्ध भी इसमें मौजूद हैं। इस प्रकार इसमें सम्पादकीय दृष्टि का अभाव दिखाई देता है। सम्पादकीय दृष्टि का अभाव निबन्धों के वर्गीकरण में भी स्पष्ट है जहां पुस्तक को तीन खंडों में विभाजित किया गया है- 1. नए आयामों को तलाशती नारी, 2. साहित्य और स्त्री-चेतना, 3. दरवाजे दर दरवाजों का सफर। पहले खंड में तो शीर्षक के अनुरूप विषयों की विविधता है। लेकिन दूसरे और तीसरे खंडों को अलग-अलग रखने का कोई तर्क समझ में नहीं आता। दूसरे खंड में साहित्यिक प्रवृत्तियों पर निबन्ध हैं तो उसी में चन्द्रकान्ता का अपने उपन्यास 'कथा सतीसर' पर निबन्ध भी है, फिर केवल नासिरा शर्मा के महिला आत्मकथाओं पर लिखे गए निबन्ध के लिए एक अलग खंड की आवश्यकता सम्पादकों को क्यों पड़ी, कहना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त डॉ. रश्मि मल्होत्रा का निबन्ध 'अहिल्या : एक पाषाणी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' अपने आप में अच्छा होते हुए भी किसी काव्यकृति पर आधारित है और उस काव्यकृति के नाम का उल्लेख पूरे निबन्ध में कहीं नहीं है। यह उल्लेख किया जाना चाहिए था और इस निबन्ध को 'साहित्य और स्त्री-चेतना' खंड में सम्मिलित किया जाना तर्कसम्मत होता। कुछ निबन्ध साफ तौर पर भर्ती की सामग्री प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए आशारानी व्होरा का निबन्ध 'अधिकार-चेतना के साथ नारी की पहचान' अच्छा होते हुए भी किसी वर्ष महिला दिवस के अवसर पर पढ़ा गया आलेख है जिसकी शैली इस प्रकार के संकलन के उपयुक्त नहीं है। यदि इसे लेना ही था तो इसके सन्दर्भ का उल्लेख किया जाना बेहतर रहता।

जो भी हो, लेखिकाओं की चिन्तनपरक लेखन की सक्षमता को रेखांकित करने का काम तो यह पुस्तक बखूबी करती है।

सी-25, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026

चक्राचक्र

हो भी सकता है...नहीं भी

बिहारी लाल जी बड़ी गहरी सोच में डूबे हुए थे। बोले-'हो भी सकता है, नहीं भी।'

उनकी बात को समझना मुझे हमेशा ही बहुत मुश्किल लगा है, किन्तु इन दिनों उनका रवैया कुछ ज्यादा ही बदल गया है। भगवान बुद्ध के विषय में कहा जाता है कि जब भी वे किसी प्रश्न का उत्तर हां या ना में नहीं देना चाहते थे, वे चुप रहते थे। बिहारी लाल जी उनसे दो कदम आगे चले गए हैं। वे बोलते तो हैं, पर उनके बोलने और भगवान बुद्ध के न बोलने में विशेष अंतर नहीं है।

मैंने उनसे पूछा था-'पंडित जी, आपकी पुत्रवधू को संतान होने वाली है। आप क्या सोचते हैं...लड़का होगा या लड़की?'

'लड़का भी हो सकता है...लड़की भी।'

'आप क्या चाहते हैं?' मैंने पूछा।

'लड़का हो तो भी ठीक है...लड़की हो तो भी ठीक है।"

मैं खीझ गया-'यदि कुछ भी न हुआ तो?'

वे मुझे घूरकर देखने लगे-क्या ऐसा भी हो सकता है?

मैंने उन्हीं के अंदाज में कहा-'हो भी सकता है और नहीं भी।'

'तुम मेरा मज़ाक उड़ा रहे हो?"

मुझे हँसी आ गई। हम लोग घर के बाहर बरामदे में बैठे हुए थे। सामने से चाटवाला अपना ठेला लेकर निकला। मैंने कहा-'पंडित जी चाट खाएंगे?'

बोले-'खा भी सकता हूं...नहीं भी।'

'बताइए...क्यों खा सकते हैं...और क्यों नहीं?'

बोले-'खा इसलिए सकता हूं कि चाट मुझे अच्छी लगती है। और नहीं इसलिए कि चाट खाने से मेरा गला खराब हो जाता है और खांसी लग जाती है।'

आम चुनाव से पहले मैंने उनसे पूछा था-'इस बार वाजपेयी जी प्रधानमंत्री बनेंगे या नहीं?'

उनका उत्तर था-'बन भी सकते हैं और नहीं भी।'

उस समय भी मुझे बड़ी खीझ हुई थी।

मैंने पूछा था-'आपके हिसाब से वे क्यों फिर से प्रधानमंत्री बन सकते हैं?'

'इसलिए कि देश की आम जनता का बहुमत उन्हें प्रधानमंत्री बना देखना चाहता है।'

'पंडित जी, आप भी बिल्कुल बच्चों जैसी बातें करते हैं। जब देश की जनता का बहुमत उन्हें प्रधानमंत्री के रूप में देखना चाहता है तो वे प्रधानमंत्री क्यों नहीं बनेंगे?'

'इसलिए कि संघ परिवार के कुछ सदस्य उन्हें प्रधानमंत्री नहीं बनने देंगे।'

'यह ' मैंने चौंक कर पूछा-"वाजपेयी जी भी तो संघ परिवार से ही आए हैं। क्या यह परिवार उनका समर्थन नहीं करता है?'

'करता भी है और नहीं भी।'

'दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? या तो संघ परिवार उनका समर्थन करता है या नहीं।'

'यही तो मजे की बात है।' उस समय वे बहुत खुलकर मुस्कुराए थे। 'इस परिवार का एक भाग चाहता है कि वे फिर से प्रधानमंत्री बनें। आधी सदी की लम्बी जद्दोजहद के बाद यह दिन आया है कि भाजपा के हाथ में सत्ता आई है। इससे संघ के स्वयं सेवकों का मनोबल बढ़ा है। किन्तु केवल मनोबल बढ़ने से क्या होता है? प्रवीण भाई तोगड़िया को मनोबल नहीं, भुजबल चाहिए जिससे वे मुसलमानों और ईसाइयों की चिंदी उड़ा सकें। वाजपेयी यह करने नहीं देते।'

उस समय मैंने पूछा था-'अगर सोनिया गांधी प्रधानमंत्री बन गईं तो क्या तोगड़िया को अपना मंसूबा पूरा करने का अवसर मिलेगा?

'अवसर तो नहीं मिलेगा, पर उन्हें संतोष बहुत मिलेगा।'

'क्यों?'

'इसलिए कि तोगड़िया के पतीले में पड़े हुए पानी में बार-बार उबाल इसलिए आता है कि उन्हें लगता है कि पतीले के नीचे आग तो अपने परिवार की ही जल रही है। लोग बहती गंगा में हाथ धोते हैं। तोगड़िया जलती आग पर रखे पतीले का पानी उबलता हुआ देखते हैं। चारों ओर खूब चर्चा होती है। अखबारें उनकी खबरें छापती हैं। टीवी वाले अपना कैमरा लिए उनके पीछे-पीछे घूमते हैं। लेकिन रह-रहकर उन्हें वाजपेयी जी पर गुस्सा आता है। वो बार-बार उनके उबाल पर ठंडा पानी डाल देते हैं। तोगड़िया पेशे से डॉक्टर हैं। ज्यादा गुस्सा आने से ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है। न वाजपेयी जी प्रधानमंत्री रहेंगे न उन्हें अपने पानी में उबाल लाने की जरूरत रहेगी, न उनका ब्लडप्रेशर बढ़ेगा।'

'क्या सोनिया गांधी प्रधानमंत्री बन सकती हैं?' मैंने पूछा

उनका वैसा ही उत्तर था- 'बन भी सकती हैं, नहीं भी।"

"कैसे बन सकती हैं?'

'इसलिए कि विपक्ष में सोनिया का कोई विकल्प नहीं है।'

"क्यों नहीं बन सकतीं?'

'इसलिए कि भाजपा के हाथ में वे विदेशी मूल की संजीवनी नहीं देना चाहेंगी।'

'क्या वाजपेयी और सोनिया के अलावा भी कोई प्रधानमंत्री बन सकता है?'

'बन भी सकता है और नहीं भी।'

मैंने झुंझलाकर कहा-'इस बार आप नहीं का जवाब पहले दीजिए।'

वे बड़े शांत स्वर में बोले- 'इसलिए कि अन्य किसी नेता का यहां जनाधार ही नहीं है। तुमने सभी चुनाव सर्वेक्षणों में देखा होगा कि

वाजपेयी को देश के पचास-साठ प्रतिशत लोग प्रधानमंत्री के रूप में पसंद करते हैं। सोनिया गांधी को बीस-पच्चीस प्रतिशत लोग चाहते हैं। बाकी के हिस्से में तो दो-चार प्रतिशत लोग भी नहीं आते।'

'अब बन सकता है का जवाब दीजिए।'

'भगवान की माया तो अद्भुत है...।' कहते-कहते वे थम गए- 'तुम्हारे सामने भगवान का नाम लेना बेकार है...तुम तो भगवान को मानते-वानते नहीं।'

मैंने कहा-'आप अपनी बात कहिए। यह देश जिस प्रकार चल रहा है उसे देखकर कभी-कभी भगवान को मान लेने का मन करता है।'

'अब इसे भी भगवान की माया ही मानो।' वे कुर्सी के हत्थे पर हाथ मारते हुए बोले-'भगवान विकल्पहीनता में से ही कभी-कभी विकल्प निकाल देते हैं। आखिर इसी विकल्पहीनता में से ही देवगौड़ा और गुजराल जैसे प्रधानमंत्री निकल आए थे।'

कुछ समय बाद जब चुनाव-परिणाम आए तो मैं पंडित बिहारी लाल का लोहा मान गया। न अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने न सोनिया गांधी। भगवान की लीला ने मनमोहन सिंह पर गलबहियाँ डाल दीं।

मैं बिहारी लाल जी के सम्मुख नतमस्तक हो गया।

"पंडित जी, आप मुझे अपने महान सिद्धान्त वचन-हो भी सकता है और नहीं भी-का रहस्य समझाइए। यह तो एक पूरा दर्शन है।'

बिहारी लाल जी ने तथास्तु मुद्रा में हाथ ऊपर उठाया। बोले-'वत्स, मैंने अपनी जीवन भर की साधना से कुछ गूढ़ रहस्यों का पता लगाया है। जो तुम पूछे रहे हो वह बात भी बड़ी गूढ़ है।'

मैंने एक विनम्र भक्त की भांति सिर झुकाया - 'प्रभु मुझे यह रहस्य समझाइए।'

वे बोले- 'मैं तुम्हें कुछ गुर देता हूं। इन्हें गांठ बांध लो। पहली बात- कभी दो टूक बात न करो। कभी निर्णयात्मक मुद्रा न बनाओ ...सदा विकल्प के दरवाजे और खिड़कियां खुली रखो, जिससे निकल भागना आसान हो।'

'मतलब यह कि सदा हां और ना के बीच झूलते रहो?'

'तुमने ठीक समझा। हां और ना दोनों ही किसी स्थिति को स्वीकार करना है। मेरा दर्शन कहता है कि इंसान को हमेशा ऐसी बात कहनी चाहिए जिससे न हां का पता लगे न ना का। तुम्हें पत्रकारों की भाषा का ज्ञान होना चाहिए। अच्छा पत्रकार कभी 'कमिट' नहीं करता है। इसलिए अपने हर समाचार के साथ कहता है-विश्वस्त सूत्रों से पता लगा है...कहा जाता है...सुनने में आया है...ऐसी अफवाह है...आदि आदि। हर पत्रकार अपनी ही दी हुई खबर से भाग निकलने की गुंजाइश रखता है।...आधुनिक युग का सबसे बड़ा मंत्र है-न हां कहो...न ना कहो।'

निर्देशक जयदेव हट्टंगडी से एक रंग-संवाद

पिछले दिनों 'रचना पर्व' की तरफ से प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक जयदेव हट्टंगडी के साथ एक रंग संवाद का आयोजन किया गया। इस संवाद में देवेन्द्र राज अंकुर तथा अन्य कई रंगकर्मियों के साथ साहित्यकारों की भी सक्रिय भागीदारी रही।

बातचीत की शुरुआत करते हुए डॉ. नरेन्द्र मोहन ने आज के रंग-परिदृश्य की चर्चा की। रंगकर्म के कई व्यावहारिक पहलुओं की तरफ संकेत करते हुए उन्होंने भारतीय रंगमंच में शब्द के दृश्य में और संपूर्ण प्रस्तुति में ढलने की प्रक्रिया से जुड़े कई बुनियादी प्रश्न उठाए और जयदेव हट्टंगडी इन प्रश्नों से दो-चार होते हुए अपनी रंग-यात्रा के बारे में बताने लग गये।

जयदेव हट्टंगडी ने बताया कि वह मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रारम्भ से ही प्रयोगशील रंगमंच के हिमायती रहे हैं और उसकी चुनौतियों और संकटों का सामना करते रहे हैं। प्रयोग करने की शक्ति उन्हें बाहर से नहीं, नाटकों के भीतर से मिली है। यही वजह है कि उन्होंने चौंकाने के लिए नहीं, नाटक के केंद्रीय कथ्य को संवेदनशील श्रोताओं तक पहुंचाने के लिए नाटक किए हैं-एक साथ कई रंग-शैलियों में। आजकल वे 'कथाकथन' के जरिये रंगमंच में कुछ नया लाने की कोशिश में हैं। इस तरह के प्रयोग में दो या तीन व्यक्ति बैठे-बैठे किसी एक कहानी का साभिनय वाचन करते हैं। इसके अलावा मंच पर अन्य कोई हरकत नहीं होती, यहां तक कि प्रकाश और संगीत तक का उपयोग नहीं किया जाता। पात्र मुखाभिनय और शब्दों के आरोह-अवरोह द्वारा नाटकीय कथ्य को खोलने का प्रयास करते हैं।

कथाकार महीप सिंह ने कहा कि व्यक्ति जब तक व्यक्ति रहता है तब तक उसमें मानवीयता के अंश रहते हैं लेकिन जब वह भीड़ या हुजूम का हिस्सा बन जाता है तो उसके भीतर की मानवीयता भी दब जाती है। देवेन्द्र राज अंकुर ने भी माना कि मानवीयता का कोई एक पक्ष नहीं है, अनेक पक्ष हैं। रंगमंच का सरोकार किसी एक पक्ष में बंदी होना नहीं है, सभी पक्षों का सामूहिक प्रतिनिधित्व करना है।

प्रस्तुति : डॉ. प्रभात शर्मा

सुदर्शन नारंग वरिष्ठ नागरिक हुए

वरिष्ठ कथाकार सुदर्शन नारंग के 65वें जन्मदिन पर जनवादी लेखक संघ की हापुड़ इकाई की ओर से एक भव्य आयोजन किया गया। इस समारोह में हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने भागीदारी की तथा बाईस पुस्तकों के लेखक सुदर्शन नारंग को न केवल जन्मदिन की बधाई दी बल्कि उनके दीर्घायु होने की कामना भी की। अब तक उनके दस उपन्यास, छः कहानी संग्रह तथा सात सम्पादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस अवसर को एक शुभकामना गोष्ठी के रूप में मनाया गया जिसमें उनके सद्य प्रकाशित कहानी संग्रह 'योद्धा' को केन्द्र में रखकर चर्चा की गई। इस समारोह के मुख्य अतिथि डॉ. गंगाप्रसाद विमल थे तथा अध्यक्षता सुपरचित कवि उपेन्द्र कमार ने की।

कार्यक्रम का संचालन लेखक एवं पत्रकार अवधेश श्रीवास्तव ने किया। समारोह के मुख्य वक्ता स्थानीय पोस्ट ग्रेज्युएट कॉलेज में रीडर एवं भाषा विज्ञान विशेषज्ञ डॉ. तिलक सिंह थे।

प्रस्तुति : डॉ. तिलक सिंह

हिन्दी, भारतीय भाषाएं और राष्ट्रीय एकता

पिछले दिनों गाजियाबाद के अग्रसेन भवन में एकदिवसीय '5वें अ.भा राष्ट्रभाषा विकास सम्मेलन' में हिन्दी विद्वानों ने अपने आलेख व स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किये। अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा विकास संगठन व यू.एस.एम. पत्रिका के संयुक्त तत्वावधान में नेशनल बुक ट्रस्ट के सहयोग से आयोजित विचार गोष्ठी में पहले सत्र की अध्यक्षता नेशनल बुक ट्रस्ट के संयुक्त निदेशक व मुख्य संपादक डॉ. बलदेव सिंह ने की तथा वक्ताओं में सर्वश्री रमेश सोबती, डॉ. सुरेश पाण्डेय, डॉ. वीरेन्द्र शर्मा, नारायण कुमार तथा डॉ. हरिसिंह पाल के नाम विशेष उललेखनीय हैं। इस सत्र का संचालन नेशनल बुक ट्रस्ट के संपादन सहयोगी श्री पंकज चतुर्वेदी ने किया।

दूसरे सत्र की अध्यक्षता पूर्व सांसद एवं प्रख्यात हिन्दीसेवी डॉ. रत्नाकर पाण्डेय ने की तथा इस सत्र में सर्वश्री डॉ. रामशरण गौड़ (पूर्व सचिव, हिन्दी अकादमी, दिल्ली), श्री राजमणि तिवारी, (पूर्व निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय) तथा देश के दो जाने-माने कथाकार-संपादकों श्री हिमांशु जोशी और डॉ. महीप सिंह सहित जयपुर से पधारे वरिष्ठ राजभाषा प्रबंधक डॉ. जवाहर कर्नावट ने अपने विचार प्रस्तुत किये।

प्रस्तुति : उमाशंकर मिश्र

तीन दिवसीय रंगसंवाद का आयोजन

नटरंग प्रतिष्ठान का तीन दिवसीय आयोजन 'रंग संवाद' लखनऊ के ख्यात अभिनेता हरिकृष्ण अरोड़ा उर्फ हल्लो भइया के विविध अनुभवों, अभिनय के विभिन्न शेड्स और संवाद अदायगी के बेहतरीन नमूनों के साथ संपन्न हुआ। इस आयोजन की शुरुआत

प्रसिद्ध नाटककार महेश एलकुंचवार के साथ बातचीत से हुई थी। दूसरी शाम वरिष्ठ रंग निर्देशक व डिजायनर बंसी कौल ने अपनी रंगयात्रा के विभिन्न पड़ावों से श्रोताओं को अवगत कराया।

साहित्य अकादमी और संगीत नाटक अकादमी पुरस्कारों से सम्मानित महेश एलकुंचवार ने एक नाटककार के रूप में खुद को परिभाषित करते हुए कहा कि वे खुद को एक साहित्यिक ज्यादा मानते हैं बनिस्बत एक रंगकर्मी के।

दूसरे दिन नटरंग प्रतिष्ठान के संस्थापक और वरिष्ठ साहित्यकार नेमिचंद्र जैन ने आगंतुकों का स्वागत किया और कहा कि ऐसे आयोजनों के द्वारा वे सृजनधर्मी व्यक्तियों से संपर्क को तरोताजा कर लेते हैं। निर्देशक के रूप में इस शाम बंसी कौल लोगों से मुखातिब हुए। उन्होंने कहा, "मेरा रंगकर्म एक यात्रा है तब से जब मैं यह नहीं जानता था कि मुझे रंगकर्म करना है।" उन्होंने अपने बचपन के उन हिस्सों को सामने रखा जिन्होंने एक डिजायनर व निर्देशक के रूप में उनके काम को प्रभावित किया। उन्होंने एक चित्रकार के रूप में शुरुआत की, उनकी प्रस्तुतियों में भी रंगों का खेल दिखता है।

नाटककार, निर्देशक के बाद तीसरे दिन बारी थी रंगमंच की तीसरी किन्तु सबसे अहम् कड़ी अभिनेता की। लखनऊ इप्टा के रंगकर्मी राकेश ने 79 वर्षीय हल्लो भइया के बारे में संक्षिप्त परिचय दिया। ब.व. कारन्त, बलराज पंडित, रवि वासवानी, बंसी कौल आदि निर्देशकों के साथ आधुनिक नाटकों में अभिनय का लोहा मनवाने वाले हल्लो भइया ने काफी समय तक पारसी शैली में अभिनय किया।

रंगकर्मियों और दर्शकों के बीच एक अनौपचारिक बातचीत शुरू करने के प्रयास के रूप में 'रंगसंवाद' एक महत्वपूर्ण आयोजन रहा।

प्रस्तुति : रश्मि वाजपेयी

युवा काव्य संध्या एवं नवोदित लेखक पुरस्कार

हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा अपने कार्यक्रमों की शृंखला की कड़ी में त्रिवेणी सभागार, तानसेन मार्ग, नई दिल्ली में युवा काव्य संध्या एवं नवोदित लेखक पुरस्कार वितरण 2003-4 का आयोजन किया गया। यह कार्यक्रम हिन्दी अकादमी के उपाध्यक्ष श्री जनार्दन द्विवेदी के सान्निध्य में संपन्न हुआ। युवा काव्य संध्या का मंच संचालन युवा कवि श्री हेमंत कुकरेती ने किया। साथ ही नवोदित लेखक पुरस्कार वितरण में 37 नवोदित लेखकों को पुरस्कृत किया गया। इस कार्यक्रम में अकादमी की संचालन समिति के सदस्य, वरिष्ठ साहित्यकार एवं युवा काव्य प्रेमी भी उपस्थित थे।

डॉ. शोभनाथ यादव को 'साहित्य-गौरव सम्मान'

'जयहिंद फाउंडेशन' की ओर से सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक गतिविधियों की लंबी कड़ी में एक और बेहतरीन शुरुआत 'साहित्य-गौरव सम्मान' के रूप में की गयी है। संस्था ने यह सम्मान प्रतिवर्ष किसी एक वरिष्ठ साहित्यकार को देने का निर्णय किया है। पिछले दिनों आयोजित प्रथम 'साहित्य-गौरव सम्मान 2004' वरिष्ठ साहित्यकार एवं 'प्रगतिशील आकल्प' के संपादक डॉ. शोभा नाथ यादव को प्रख्यात कवि एवं शायर निदा फाज़ली के हाथों प्रदान किया गया।

संस्था के राष्ट्रीय अध्यक्ष दृगेश यादव ने अतिथियों का स्वागत-परिचय दिया और संस्था के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि 'जयहिंद फाउंडेशन' जाति, धर्म, भाषा और प्रांतीयता की दीवारें तोड़कर इंसानियत को बचाये रखने के संकल्प के साथ आगे बढ़ रहा है। कार्यक्रम का संचालन कवि एवं समीक्षक हृदयेश मयंक ने किया।

कार्यक्रम का प्रारंभ डॉ. शोभनाथ यादव की कविताओं के अनूदित मराठी, अंग्रेजी और मूल हिन्दी कविताओं के पाठ से हुआ। हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद का पाठ दृगेश यादव ने पाठ किया और मराठी अनुवाद का वाचन सुनील ओवाळ ने किया।

इस अवसर पर डॉ. शोभनाथ यादव की कविताओं पर सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय तथा अन्य विद्वानों के अभिमतों का भी अमर यादव द्वारा वाचन किया गया।

प्रस्तुति : दृगेश यादव

कथाकार वासुदेव को प्रथम पुरस्कार

हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिका राष्ट्र धर्म द्वारा आयोजित श्री राधेश्याम चितलांगिया स्मृति अखिल भारतीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता 2004 में राँची (झारखंड) के सुप्रसिद्ध कथाकार डॉ. वासुदेव की कहानी 'धरती आबा' का चयन प्रथम पुरस्कार के लिए किया गया है। यह पुरस्कार उन्हें अक्तूबर माह में आयोजित पुरस्कार वितरण समारोह में ससम्मान प्रदान किया जाएगा।

डॉ. वासुदेव हिन्दी के जाने-माने कथाकार हैं जिनकी अब तक 100 के आसपास कहानियाँ देश की विभिन्न स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं तथा अब तक 08 कहानियाँ पुरस्कृत हो चुकी हैं।

प्रस्तुति : सिबिल कण्डुलना

संचेतना बुक क्लब का लाभ उठाइए

संचेतना के जागरूक पाठकों के लिए एक आकर्षक योजना

संचेतना के देश में असंख्य पाठक हैं। असंख्य शिक्षण-संस्थाओं में संचेतना वर्षों से जा रही है जहाँ इसकी प्रतियों को सजिल्द करा कर संजोया जाता है। हमने संचेतना की सहयोगी संस्था अभिव्यंजना प्रकाशन के साथ मिलकर पुस्तक-प्रेमी पाठकों के लिए यह आकर्षक योजना तैयार की है। 60 रु. भेजकर एक वर्ष अथवा 100 रु. भेजकर दो वर्ष के लिए आप संचेतना के वार्षिक ग्राहक बनिए और निम्नलिखित पुस्तकों में से **कोई भी कितनी भी मनचाही पुस्तकें आधे मूल्य पर मँगवाइए**। डाक-खर्च भी हमारे द्वारा दिया जाएगा। मूल्य मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। वी.पी.पी. भेजने की व्यवस्था नहीं है। 50 रुपये से कम की पुस्तकें साधारण डाक द्वारा और अधिक की पुस्तकें रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाएंगी।

कहानी संग्रह

धूप की उँगलियों के निशान	महीप सिंह	125.00
चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह	40.00
इक्यावन कहानियाँ	महीप सिंह	150.00
रुहने हुए	महीप सिंह	60.00
इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर	100.00
इकत्तीस कहानियाँ	कुसुम अंसल	150.00
पते बदलते हैं	कुसुम अंसल	25.00
चिनारों की आग	शामा	125.00
तेंतीस कहानियाँ	सिम्मी हर्षिता	300.00
घरों से मकानों तक	गुरनाम गिल	80.00
जिंदा पल मुर्दा पल	बचिंत कौर	45.00
अतीत से संवाद	बचिंत कौर	80.00
गिरोह तथा अन्य कहानियाँ	आनन्द अस्थाना	30.00
नया मोड़	कमलेश बख्शी	25.00
उधार की जिन्दगी	बसंत प्रभा	35.00
एक दिन का सुलतान	गुरमुख सिंह जीत	25.00
तीन दिन का बेईमान	सविन्द्र सिंह उप्पल	25.00
आसमान दूर है	गुरबचन सिंह	100.00
काली छोटी मछली	समद बहरंगी	40.00
काला नवम्बर	सं. सुरेन्द्र तिवारी	100.00
ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ	डॉ. सुभद्रा	40.00
खोई हुई खुशबू	सं. नरेन्द्र मोहन	40.00
श्रेष्ठ कहानियाँ	कुसुम अंसल	75.00
प्रवासी पंजाबी कहानियाँ	सं. महेन्द्र धींगड़ा	80.00

कविता

ख़त्म नहीं होती यात्राएँ	मधु शर्मा	100.00
आरंभ से हाशिये तक	अनिता वर्मा	60.00
सबूत क्यों चाहिए	इन्दु जैन	90.00
धुएँ का सच	कुसुम अंसल	25.00
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35.00
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	70.00
एक और दिन	सुनीता जैन	25.00
पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100.00
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50.00
तुम मुझे झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि कविताएँ–83 और 84	संकलन	30.00

उपन्यास

यह भी नहीं	महीप सिंह	160.00
दिशा खोजती ज़िंदगियां	कमलेश बख्शी	90.00
मंज़िलें	मनजीत हेयर	80.00
समय हार गया	मनजीत हेयर	150.00
सम्बन्धों के किनारे	सिम्मी हर्षिता	35.00
यातना शिविर	सिम्मी हर्षिता	75.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	80.00
एक और पंचवटी	कुसुम अंसल	70.00
शिखर और शून्य	गुरमुख सिंह जीत	55.00
प्रश्नों के रेगिस्तान	कु. इन्दिरा	35.00
चेतना की परतें	शकुन्तला दुबे	35.00

आलोचना/निबन्ध

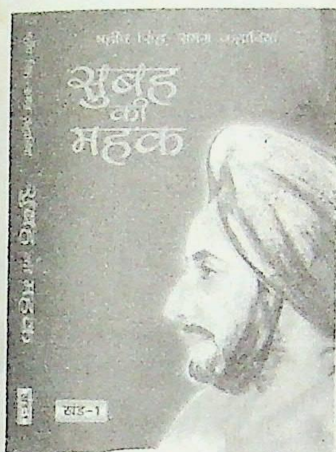
महीप सिंह का कथा-संसार	डॉ. कमलेश सचदेव	200.00
कथाकार महीप सिंह	सं. डॉ. गुरचरण सिंह	150.00
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर	डॉ. कुसुम अंसल	200.00
डॉ सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल	सं. डॉ. गुरचरण सिंह	200.00
हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन	डॉ. सुधाकर अदीब	250.00
कबीर ग्रंथावली में प्रेमा भक्ति	डॉ. शकुन्तला श्रीवास्तव	150.00
कुसुम अंसल का कथा साहित्य	नग़मा जावेद मलिक	90.00
लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता	सं. डॉ. महीप सिंह	60.00
साहित्य और दलित चेतना	सं. डॉ. महीप सिंह; डॉ चन्द्रकांत बांदिवडेकर	120.00
समकालीन हिन्दी कहानी: स्त्री-पुरुष सम्बन्ध	सुनंत कौर	80.00
हिन्दी कहानी: समकालीन परिदृश्य	डॉ. सुखबीर सिंह	50.00
मध्यकालीन बोध: मानवीय प्रयोजन	डॉ. भगवान दास वर्मा	30.00
साहित्य, संस्कृति और सम्प्रेषण	डॉ. भगवान दास वर्मा	60.00

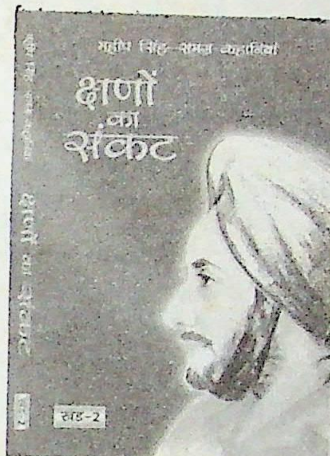
नाटक/व्यंग्य/विविध

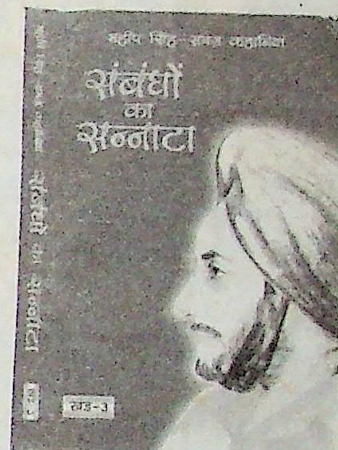
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य : सृजन की यात्रा	सं. सुदर्शन मजीठिया, डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	300.00
शहीद ऊधम सिंह	सत्येन्द्र श्रीवास्तव	25.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	100.00
पालतू	भगवान अटलानी	20.00
भैंस के आगे बीन	रामावतार चेतन	40.00
गंजत्व दर्शन	श्याम गोइन्का	10.00
ऐसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं	सरोज वशिष्ठ	[illegible]
श्राउड	कु. इंदिरा	40.00

प्रख्यात कथाकार महीप सिंह की

तीन खंडों में समग्र कहानियाँ







सुबह की महक	**300.00**
क्षणों का संकट	**300.00**
संबंधों का सन्नाटा	**300.00**

महीप सिंह की कहानियाँ महानगरीय मध्य वर्ग के जीवन की धड़कनों को बड़ी गहराई से हमें महसूस कराती हैं। इसका कोई भी पक्ष उनकी कथा-दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। समकालीन जीवन में व्याप्त अन्तर्विरोध, तनाव और छद्म भी अपनी समूची विडम्बना के साथ इन कहानियों में मूर्त हो उठे हैं। कथा-शिल्प के भी कितने ही रंग उनके कथा-संसार में उभरे दिखाई देते हैं।

मनुष्य की सोच को सचेतन रखने के प्रस्थान-बिंदु से चले अपनी पीढ़ी के अत्यन्त समर्थ कथाकार के विकास क्रम को दर्शाता उसकी रचना-यात्रा का दस्तावेज़।

विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और कथा-रसिकों को
९०० रु. का पूरा सेट केवल 500 रु. में।

अभिव्यंजना

का एक गौरवशाली प्रकाशन

एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026
फोन : 25222888

मूल्य : रु.15

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

सन्ध्या छाया



रामदरश मिश्र का रचना संसार

मराठी और गुजराती दलित काव्य में उभरता नकारवाद

डॉ. वामन वी आहिरे

संचेतना

पूर्णांक 168, वर्ष 34, अंक 2
जून-2004
(प्रकाशित सितम्बर-2004)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
राजेश सिंह

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे(जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-26, फोन-25222888 (मो.) 35932888
मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
सुमन प्रिन्टर्स
पीरागढ़ी, दिल्ली-110035
में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित


साहित्य

हिन्दी अकादमी, दिल्ली
राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार
समुदाय भवन, पदम नगर, किशनगंज, दिल्ली-7
लोकप्रिय योजनाएँ एवं कार्यक्रम

हिन्दी अकादमी का उद्देश्य हिन्दी भाषा एवं उसके साहित्य का प्रचार-प्रसार करना है। अकादमी हिन्दी को जन-जन की भाषा बनाने और उसके साहित्य के उन्नयन के लिए सतत् प्रयत्नशील है। अकादमी के कुछ महत्वपूर्ण कार्यक्रम एवं योजनाएं इस प्रकार हैं :-

1. पुरस्कार एवं सम्मान

1. हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समग्र योगदान के लिए प्रतिवर्ष साहित्यकारों को 'शलाका' एवं 'साहित्यकार सम्मान', हिन्दी के श्रेष्ठ हास्य के लिए लेखक/ व्यंग्यकार को 'काका हाथरसी सम्मान'।
2. चुनी हुई श्रेष्ठ एवं स्तरीय कृतियों एवं बाल साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को 'साहित्यिक कृति' एवं 'बाल साहित्य सम्मान'।

2. संस्थाओं को सहयोग

1. हिन्दी की स्वयंसेवी संस्थाओं, विद्यालय/ महाविद्यालयों, सरकारी, स्वैच्छिक संस्थाओं विभागों को कार्यक्रम सहयोग तथा उनके साथ मिल कर संयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन।

3. रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम

1. दिल्ली के बारहवीं तथा स्नातक उत्तीर्ण बेरोजगार युवाओं (अधिकतम आयु ३० वर्ष) को अलग-अलग एक वर्षीय हिन्दी कम्प्यूटर का प्रशिक्षण।
2. हिन्दी टंकण एंव आशुलिपि का दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर प्रशिक्षण।
3. हिन्दी पत्रकारिता का एक वर्षीय प्रशिक्षण (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भोपाल से मान्यता प्राप्त)
4. व्यावहारिक अनुवाद का एक वर्षीय प्रशिक्षण (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भोपाल से मान्यता प्राप्त)

4. प्रकाशन सहयोग

पांडुलिपियों पर पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखकों को 7500/- रु. का आर्थिक सहयोग।

5. नवोदित लेखकों को पुरस्कार

नवोदित लेखकों तथा विद्यालय/महाविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न कार्यशालाओं एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन एवं पुरस्कार।

6. विविध

1. महत्वपूर्ण अवसरों/साहित्यकारों की जयंतियों के अवसर पर साहित्यिक संगोष्ठियों/सम्मेलनों एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन।
2. दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का संचालन।
3. महत्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन एवं उपयोगी साहित्यिक और शैक्षिक महत्व की पुस्तकों का अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन।

नयी सहस्राब्दी को हिन्दी सहस्राब्दी बनाने के लिए कृतसंकल्प हिन्दी अकादमी के कार्यक्रमों में सहयोगी बनें।
कृपया अधिक जानकारी के लिए उपरोक्त पते पर सम्पर्क करें।

नानक चंद
संचिव

दूरभाष : 23690274, 23693118, 23694562, 23693137 फैक्स : 23696897
E&Mail:hindiacademy_delhi@Vsnl.net

सैनिकों के कष्टों की कल्पना

संचेतना का नया अंक मिला। संयोग से इस बार मैं बहुत कुछ पढ़ गया इसमें। प्रिय बंधु डॉ. देवेन्द्र इस्सर पर जो सामग्री आपने दी है वह बहुत विचारोत्तक है। संक्षेप में बहुत कुछ कह दिया गया है। कहानियां तीनों ही पठनीय और रोचक हैं। और दूसरे लेख भी बहुत ही उपयोगी और पठनीय हैं। बहुत जानकारी मिली मुझे 'ग्लेशियर पर लड़े जा रहे युद्ध की कहानी' से। इस उपन्यास 'बुखारी' के संबंध में जानी-मानी कथाकार राजिन्दर कौर का पत्र बहुत ही मर्मस्पर्शी है। ग्लेशियर पर हमारे सैनिक कैसा जीवन जी रहे हैं, इसकी तो हम यहां बैठे कल्पना भी नहीं कर सकते। मुझे तो केवल 15000 मीटर में बर्फ में घिर जाने का अनुभव है वह अनुभव इन सैनिकों के अनुभव के सामने अर्थहीन है। माइनस 50 डिग्री तापमान पर ग्लेशियर में जीवन जीने वाले हमारे सैनिक सचमुच धन्य हैं। उनके कष्टों की कल्पना तो हम जैसे मैदान में रहने वाले लोग स्वप्न में भी नहीं कर सकते लेकिन यहां भी बिल्ली और चूहों का खेल मन में गुदगुदी पैदा कर देता है। लेकिन कुल मिलाकर एक असहनीय माहौल में जीने वाले इन सैनिकों के कष्टों की कल्पना की जा सकती है।

विष्णु प्रभाकर

बी-151, महाराणा प्रताप एन्क्लेव, पीतमपुरा, दिल्ली-34

इस्सर अभी काफी अलक्षित है

'संचतेना' का देवेन्द्र इस्सर पर अंक मिला। जीवन की संध्या में देवेन्द्र इस्सर का छाया-बिम्ब नहीं जीवन-बिम्ब देने के लिए आप बधाई के पात्र हैं। देवेन्द्र इस्सर हिन्दी-उर्दू के मौन साधकों में से हैं, परन्तु उनका मौन मुखर होता है। वे प्रचार-प्रदर्शन से दूर हैं, परन्तु साहित्य निष्ठा से भरपूर। वे माफिया के विरोधी हैं और वे स्वयं गुटबन्दी से दवैव दूर रहे। 'एक जमाना बीत गया' में इस्सर ने अपने बारे में जो लिखा है, वह रोचक तो है ही, मुझे उनके बारे में काफी नयी जानकारियां भी मिली हैं और उससे उनके प्रति मेरा आदर भाव और भी बढ़ गया है। अपने प्रिय लेखक और मित्र के बारे में जानना सदैव उत्सुकता के साथ सन्तोष का भी विषय होता है, परन्तु इस्सर के बारे में अभी काफी अलक्षित रह गया है। उनके लिए 2-3 अंक देकर ही हम उनके बारे में कुछ और भी जान सकते हैं।

डॉ. कमल किशोर गोयनका

ए-98, अशोक विहार, फेस-प्रथम, दिल्ली-52

लघु पत्रिकाओं का दायित्व है यह

'संचेतना' का मार्च 2004 का अंक प्राप्त हुआ। हार्दिक आभार। श्री देवेन्द्र इस्सर पर केन्द्रित यह अंक मन को भाया। यह अच्छा ही है आप अपने समय के प्रख्यात साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। आखिर साहित्यिक पत्रिकाओं की तो यह दायित्व निभाना ही है। इस क्षेत्र में आप नेतृत्व कर सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

सम्पादकीय (अपनी ओर से) के अंतर्गत आपने एक गैर साहित्यिक विषय को अवश्य लिया लेकिन यह सामयिक ही है। साहित्य तो समाज का दर्पण ही है। समाज में जो कुछ घटित हो रहा है वह साहित्य में आना ही चाहिए। आखिर झाड़ फूंक और तंत्र-मंत्र के पीदे हम कब तक पड़े रहेंगे।

राजिन्दर कौर ने 'बुखारी' के माध्यम से भीषण विषम परिस्थितियों के जूझती मनःस्थिति का बेबाक वर्णन किया है। 'चक्राचक्र' पूर्ववत गुद गुदाने वाला नियमित स्तम्भ है। इस बार भी लेटपोट कर गया। साधुवाद स्वीकार करें किन्तु लेखक महोदय का रहस्य तो खुलना चाहिए। मर्जी आपको हम तो पढ़ते रहेंगे अनाम लेखक की रचना को।

डॉ. हरिसिंह पाल

684, इन्द्रा पार्क, नई दिल्ली-45

इस्सर संबंधी सामग्री महती उपलब्धि

'संचेतना' का मार्च 2004 अंक मिला। आपने मेरी कहानी 'अमरूद और हरी पत्तियां' को। पत्रिका में स्थान दिया यह मेरे लिए फ़ख़्र की बात है। देवेन्द्र इस्सर साहब का एवं उन पर संस्मरण इस अंक की महती उपलब्धि हैं। इस अंक को जब मैंने उर्दू विभाग के प्राध्यापकों को दिखाया तो तारीफ के साथ-साथ अपने लिए इसे विशिष्ट बताते हुए अंक को खरीदने की भी ख्वाहिश जाहिर की- विशेष रूप से खुरशीद साहब ने।

शायद डॉ. नकवी ने इस्सर साहब के आलेख में अलीगढ़ के मरहूम शायर चंगेज़ी साहब से सम्बन्धित हिस्से को उनके घर पहुंचाने के लिए मुझसे फोटो कापी करवा के लिया था।

डॉ. मेराज अहमद

हिन्दी विभाग, ए.एम.यू. अलीगढ़ (उ.प्र.)

महत्वपूर्ण आयोजन

'संध्या छाया' महत्वपूर्ण आयोजन है, इसकी समूची परिकल्पना के लिए आप बधाई के पात्र हैं। मुझे विश्वास है यह पाठकों के साथ रचनाकारों को नये रूप में रूबरू होने के मौके के साथ ही कई जरूरी जानकारियां भी उपलब्ध करायेगा। जैसे कि इस बार देवेन्द्र इस्सर को जानना अच्छा लगा।

कमल

डी-1/1, मेघदूत अपार्टमेंट, मरीन ड्राइव रोड, कदमा, जमशेदपुर-831005 (झारखंड)

पठनीय और विचारणीय सामग्री

इस बार 'संचेतना' का नया अंक, पूर्णांक 167, मिलते ही लगभग पूरा पढ़ गया, क्योंकि काफी ऐसी सामग्री है, जो पठनीय और विचारणीय है। सबसे पहले तो देवेन्द्र इस्सर से संबंधित सामग्री, जो उनके बारे में काफी कुछ कह देती है और कई अनजाने पक्षों पर भी रोशनी डालती पाई है।

अंक में प्रकाशित तीनों कहानियां भी काफी मार्मिक हैं, पर तर्कसंगत भी हैं, इसलिए पढ़ने पर पर्याप्त प्रभावी प्रतीत होती हैं। अतः मेरी ओर से तीनों कहानीकारों को बधाई और शुभकामनाएं।

और विशेष बधाई राजिन्दर कौर को भी क्योंकि उस 'विशेष' पत्र के माध्यम से 'ग्लेशियर पर लड़े जा रहे युद्ध' के बारे में बहुत कुछ ठेठ जानने को मिला, जो हिन्दी के पाठकों के लिए अब तक अनजाना ही था।

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना

6118/4, पाकेट डी-6, वसंत कुंज, नई दिल्ली-70

सभी स्तंभ रोचक और ज्ञानवर्धक

'संचेतना' का 167वाँ अंक प्राप्त हुआ। हार्दिक धन्यवाद। पत्रिका का आद्योपांत पठन किया। सभी स्तंभ ज्ञानवर्धक व रोचक लगे। प्रभा दीक्षित की लघुकथा 'लोक तंत्र' तथाकथित लोकतंत्र पर प्रहार करती है। समीक्षा का स्तंभ भी पठनीय है। 'पत्रिकाएं' स्तंभ के माध्यम से नई पत्रिकाओं की जानकारी प्राप्त हुई।

शहाबुद्दीन नियाज

हिन्दी अध्ययन, मंडल पुणे विश्वविद्यालय 78/484 सिविल हडको, अहमदनगर-414003 (महाराष्ट्र)

मज़ाक नहीं है

'संचेतना' मिलती है तो आपसे भेंट हो जाती है। 'अपनी ओर से' और चक्राचक्र नाम से लिखे आपके व्यंग्य में आपकी गहरी सूक्ष्म पकड़ शायद सभी को प्रभावित करती होगी, मुझे प्रभावित करती है। व्यंग्य में आपकी कलम ज्यादा ही नुकीली है। वैसे तो एक अच्छे स्तर की पत्रिका निकालना और इतने लम्बे समय तक निकालना मजाक नहीं है। आगे भी निकलती रहे लम्बे समय तक, इसके लिए शुभ कामनाएँ।

कमलेश बख्शी

8/ए, आनन्द नगर, फोरजेट स्ट्रीट, मुम्बई-400036

जनता के धन का सदुपयोग!

राजस्थान सरकार की मुख्यमंत्री के आदेश पर राज्य के विभिन्न पूजा स्थलों पर पूजा-अर्चना का जो सत्र राज्य के मंत्रियों व उनके अनुयायियों ने चलाया वह काबिले-गौर है। हम भारतीय चमत्कारों में विशेष प्रकार का विश्वास करते हैं तभी तो अपनी हर समस्या का समाधान वहीं ढूंढने व पाने का प्रयास करते हैं। यह इसलिए होता है कि हमारी समस्याओं को हमारे जन-प्रतिनिधि महत्व नहीं देते व हमारा महत्व मात्र सत्ता प्राप्ति के साधन वोट तक ही सीमित रहता है।

राजस्थान की मुख्यमंत्री ने दैवी चमत्कार से राज्य में बरसात की झड़ी लगवाने का जो प्रयास किया उसमें जनता ने उत्साह तो नहीं दिखाया मगर जनता के धन का सदुपयोग संभवतः होते अवश्य देखा है। वैसे भी जनता की मेहनत की कमाई का उपभोग करने का अधिकार हमारे इन नेताओं को है। वसुंधरा राजे जी ने कोई गलत काम तो नहीं किया।

होरीलाल कनोजिया

3 जश सोसायटी, इंदिरा नगर, नासिक-422009

पूजा-उपासना प्रयास नहीं है

मैं 'संचेतना' का हर अंक पढ़ता हूं। मुझे विशेष रूप से इसमें प्रकाशित चिन्तनपरक लेख, कहानियां और कविताएं बहुत अच्छी लगती हैं। नए अंक (167) में आपने 'अपनी ओर से' में भारतीय परम्परा के नाम पर तंत्र-मंत्र को बढ़ावा देने वाली मानसिकता पर सही प्रहार किया है। देश की दुर्दशा अथवा प्राकृतिक आपदा का निदान मनुष्य के प्रयासों से होता है न कि पूजा-उपासना आदि से। पूजा-उपासना तो ईश्वर से शक्ति पाने के लिए की जाती है ताकि हम अपनी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास कर सकें। वह अपने आप में किसी समस्या का समाधान नहीं है। आपने बिल्कुल ठीक कहा है कि बरसात के लिए हवन करना, दरगाहों पर चादर चढ़ाना, मन्नतें मानना आदि प्रतिगामी सोच के सूचक हैं। वास्तव में ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं।

इस अंक की तीनों कहानियां बहुत अच्छी हैं। छोटी-छोटी घटनाओं में गहरी बातें कहती ये कहानियाँ रोचक हैं

परमजीत सिंह

बी-98, टैगोर गार्डन एक्सटेंशन नई दिल्ली-110027

अविस्मरणीय आत्मकथ्य

संचेतना (पूर्णांक 167) में वरिष्ठ साहित्यकार देवेन्द्र इस्सर पर दी गई सामग्री बहुत महत्वपूर्ण है। विशेष रूप से उनका अपना आत्मकथ्य 'एक ज़माना बीत गया' अविस्मरणीय है। इस पहल के लिए आप बधाई के पात्र हैं। आगामी अंकों की इसलिए भी प्रतीक्षा रहेगी कि अन्य वरिष्ठ हिन्दी साहित्यकारों पर बहुत महत्वपूर्ण सामग्री की अपेक्षा है। हिन्दी जगत ने अपने साहित्यकारों के प्रति कर्तव्य की सदा ही अपेक्षा की है। इन लोगों ने अपना पूरा जीवन साहित्य को अर्पण कर समाज के लिए जो कुछ किया है उसका कुछ भी प्रतिदान हम नहीं दे पाते हैं। संचेतना का 'संध्या छाया' के तहत इस अभाव को अपने तईं कम करने का प्रयास निश्चय ही श्लाघनीय है।

शैलेन्द्र सिंह

एच-355, नारायणा विहार, नई दिल्ली

अच्छी टिप्पणी

शमशेर बहादुर सिंह पर मजीद अहमद की टिप्पणी समय की आह : कुछ क्रियापद, अच्छी लगी। यह बात बिल्कुल ठीक है कि पत्र अंतरंग जीवन के दस्तावेज होते हैं। इस अर्थ में रचनाकारों के पत्रों का अध्ययन दिलचस्प विषय साबित होता है।

पत्र केवल अंतरंग जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं होते हैं, उनके माध्यम से उस विधा को गति मिलती है, जिसे हम पत्र साहित्य कहते हैं। हिन्दी में अभी इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। विदेशी साहित्यकारों द्वारा लिखित पत्रों को बड़े सुव्यवस्थित ढंग से संकलित और संपादित किया गया है, जिन्हें वहाँ साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार किया जाता है।

प्रफुल्ल नारायण दास

बड़ा बाजार, भुवनेश्वर

कहानियाँ बहुत अच्छी है

'संचेतना' का मार्च 2004 पूर्णांक 167 प्राप्त हुआ। हार्दिक धन्यवाद। इस अंक के तीनों कहानियाँ बहुत अच्छी हैं, मेराज अहमद की अमरूद और हरी पत्तियाँ, यशपाल वैद की पानी की ताकत और प्रेम गोस्वामी की पंजाबी कहानी छोटी-छोटी दीवारें जीवन के विविध पहलुओं का सीधा साक्षात्कार कराती है। तीनों लेखकों को हमारी ओर से मुबारकबाद दीजिए।

ज़ेबुन्निसा

जामिया नगर, नई दिल्ली

विदेशों में भारतीय भाषाओं का संरक्षण किस प्रकार हो?

इस बीच लगभग दो माह का मेरा कनाडा प्रवास रहा। कनाडा एक नया और समृद्ध देश है। उसकी लम्बी सीमा संयुक्त राज्य अमेरिका से जुड़ी हुई है। इसीलिए इन दोनों देशों को संयुक्त रूप से उत्तर अमेरिका कहा जाता है। दोनों देशों का इतिहास पिछली चार-पांच सदियों में ही सिमटा हुआ है। यह कहानी अपने आपमें कम रोमांचक नहीं है कि किस प्रकार यूरोप की गोरी जातियों ने उत्तर और दक्षिणी अमेरिका की भूमि पर अतिक्रमण और आक्रमण करके वहां के मूल निवासियों को या तो मार डाला अथवा उन्हें जंगलों और पहाड़ों में खदेड़कर अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए।

उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में इन प्रदेशों में संसार के अन्य भागों से आप्रवासन प्रारम्भ हुआ। गोरे शासकों को यहां के जंगल काटने, कृषि और उद्योग धंधों का विकास करने, नए नगर बसाने, उनमें रेल लाइनें बिछाने के लिए सस्ते मज़दूरों की ज़रूरत थी। अमेरिका में ये मज़दूर अफ्रीका की काली जातियों से लाए गए। इन काले नीग्रो लोगों को वहां दास बनाकर लम्बे समय तक रखा गया। कनाडा में इन काली जातियों के लोग अधिक नहीं गए। यह काम चीनियों और भारतीयों से कराया गया।

भौगालिक दृष्टि से कनाडा भारत से कई गुना बड़ा देश है किन्तु उसकी जनसंख्या भारत की जनसंख्या के मुकाबले बहुत कम है-कुल साढ़े तीन करोड़। सारा देश अमेरिका की सीमा से डेढ़-दो सौ किलोमीटर की लम्बाई में जुड़ा हुआ देश है। उत्तर का विशाल बर्फीला प्रदेश लगभग निर्जन पड़ा हुआ है।

कनाडा के आप्रवासियों में इस समय चीनी मूल के लोग सबसे अधिक हैं। दूसरे क्रम में भारतीय हैं। इनमें भी पंजाबी मूल के लोगों की बहुतायत है। कृषि, उद्योग और व्यापार की दृष्टि से इन लोगों ने वहां बहुत प्रगति की है। यह भी सच है कि अधिसंख्य भारतीय वहां छोटी-मोटी नौकरियां ही करते हैं। इस समय जो पीढ़ी वहां रह रही है, उसमें अपनी मूल भूमि, भाषा, संस्कृति तथा खान-पान का जुड़ाव बना हुआ है। उनके बीच रहकर यह अनुभव नहीं होता कि आप अजनबियों के मध्य आ गए हैं। किन्तु नई पीढ़ी, जिसने अपनी आँखें उसी भूमि पर खोली हैं, उसमें कनाडाई गोरेपन की पूरी छाप लगी दिखती है। वह सिर्फ अंग्रेजी बोलती है और वैसा ही रहन-सहन और व्यवहार करने लगी है।

कनाडा में मेरी भेंट हिन्दी, पंजाबी और उर्दू के कुछ लेखकों से हुई। उनकी रचनाएँ पढ़ने और सुनने का अवसर भी मिला। वहां पंजाबी लेखकों की गिनती और सक्रियता सबसे अधिक दिखाई देती है। टोरंटो, मांट्रियाल और वैंकुवर जैसे क्षेत्रों में पंजाबी लेखकों की साहित्य सभाएँ हैं, उनकी नियमित बैठकें भी होती हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इन क्षेत्रों से पंजाबी में अनेक (तीस से अधिक) साप्ताहिक पत्र छपते हैं जिनमें लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

किन्तु ऐसी सक्रियता मुझे हिन्दी में नहीं दिखाई दी। मुझे यह भी ज्ञात नहीं हुआ कि वहां से कोई अच्छा हिन्दी मासिक या साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होता है। कुछ वर्ष पूर्व टोरंटों में मेरी भेंट श्री रघुवीर सिंह से हुई थी। उस समय वह वहां से विश्व भारती नाम से हिन्दी साप्ताहिक निकालते थे। बाद में उसका प्रकाशन भी स्थगित हो गया था।

कनाड़ा में कुछ लेखकों से मिलकर मैंने यह अनुभव किया कि अपनी भाषा में लिखने, अपने आपको व्यक्त करने की इच्छा सभी में है, किन्तु अभिव्यक्ति के उचित साधन उन्हें नहीं मिल पाते। भारत में जिन पत्र-पत्रिकाओं को वे अपनी रचनाएँ भेजते हैं, वे प्रकाशित हुई हैं या नहीं इसकी उन्हें सूचना नहीं मिलती। पुस्तक प्रकाशन की दृष्टि से उनकी व्यथा कहीं गहरी है। यहां के प्रकाशकों को वे पत्र-लिखते हैं, किन्तु शायद ही कोई प्रकाशक उन्हें उत्तर देता हो, जिन प्रकाशकों को धन भेजकर वे अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं, उनसे धन वापस होना तो दूर, उसके बदले में समुचित पुस्तकें भी नहीं मिल पातीं। यह स्थिति लेखकों में गहरी हताशा उत्पन्न करती है।

कनाडा में मुझे भारत से प्रकाशित किसी पत्रिका के दर्शन नहीं हुए। ओटावा में स्थित भारतीय उच्चायोग के पुस्तकालय में हिन्दी की कुछ पुस्तकें और पत्रिकाएँ देखने को मिलती हैं। किन्तु वहां जिस प्रकार की व्यवस्था है, उससे कोई लेखक या पाठक लाभान्वित हो सके, इसकी बहुत कम संभावना रहती है।

इस स्थिति का सबसे बड़ा संकट यह है कि भविष्य की पीढ़ी न किसी भारतीय भाषा से कोई जुड़ाव रख सकेगी, न ही यहां के साहित्य से।

मैं समझता हूं कि इस दृष्टि से संसार के विभिन्न देशों में स्थापित भारतीय दूतावास महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इन दूतावासों का दायित्व इतना ही नहीं होना चाहिए कि वे अपने देश के कूटनीतिक और आर्थिक हितों का उन देशों में प्रतिनिधित्व करें, वरन् आप्रवासी भारतीयों में भारतीय भाषाओं, साहित्य, विविध कलाओं तथा संस्कृति के अन्य पक्षों का संरक्षण और संवर्धन भी उनके कार्यक्षेत्र का भाग होना चाहिए।

[signature]

रामदरश मिश्र

मैं और मेरी सर्जना

तन में थकान सी आने लगी है। अस्सी वर्ष के तन में थकान तो आयेगी ही, फिर भी मन है कि मानता नहीं। कहता है चलो-चलो, अधिक नहीं तो एक बार चलो अपने डुमरी गांव में। गांव गये कितने साल हो गये...दस-एक साल तो हो ही गए होंगे। मेरा मन भी अजीब है, अवसर पाकर भी देश या विदेश के उन स्थानों पर जाने से बिदकता है जहां जाने की कितनी तड़प लोगों में होती है किन्तु अपने गांव जाने की बेचैनी सदैव उसे तड़पाती रहती है। तन जाने से डरता है, उसे भय बना रहता है कि दिल्ली के वातावरण में रहने का आदी वह इस अवस्था में जैसे ही गांव जायेगा वहां की असुविधाएं और अलग प्रकार की दिनचर्या उसके ऊपर बीमारी बनकर लद जायेगी। इस तन ने उस परिवेश का कितना कठिन शीत-घाम सहा है, कितने-कितने मौसमों और ऋतुओं के प्रीतिकर और अप्रीतिकर साहचर्य को गहरे जिया है, कितने लम्बे-लम्बे कठोर रास्ते तय किये हैं, खेती-बाड़ी के कितने-कितने भारी-भारी काम अपने पर उठाये हुए फिरा है लेकिन अब? अब वह इस 15 अगस्त को अस्सी साल का हो गया है। मन की सनक में क्या अब भी उसे वहां की असुविधाओं के जंगल में ले जाकर छोड़ दिया जाए और लौटने दिया जाए बीमारी का बोझ लादे हुए? यह पगला मन क्यों बार-बार गांव की उन असुविधाओं की ओर तन को ठेलना चाहता है? शायद इसलिए कि उन असुविधाओं के भीतर भी जीवन-सौन्दर्य का गहरा राग प्रवहमान था। सच बात तो यह है कि तब ये असुविधाएं असुविधएं लगती ही नहीं थीं और लगती थीं तो उनके साथ चलते-चलते भीतर एक शक्ति महसूस होने लगती थी ओर उनके बीच में उगते हुए तर-त्योहार, पर्व, मेले, शादी-ब्याह आदि के सामूहिक राग तथा प्रकृति की विविध छवियों के छन्द हमारी धमनियों में रक्त की तरह वहते रहते थे, और उदासी में भी उल्लास तथा हंसी के फूल खिलते रहते थे।

शहर में रहते हुए मुझे 58 साल हो गए किन्तु वह गांव मुझसे नहीं छूटा। बुलाता ही रहता है। आज भी बुलाता है। मगर कहा न कि तन उसकी पुकार सुनकर भी चुप रहता है। कभी-कभी गांव की पुकार बड़ी गहरी हो उठती है। आज भी महसूस हुई लेकिन तन की वही उदासीनता।

तन तो चाहे जैसा हो मन तो अभी भी वैसा है, जैसा पहले था। तन को उदासीन होना हो तो हो, मन तो उसी ललक से भरा हुआ है और न जाने कब वह चुपके से गाँव में पहुंच जाता है। आज भी पहुंच गया। गोरखपुर से बस में सवार हुआ और चल पड़ा गाँव की ओर। पहले तो गोरखपुर से गांव तक की बीस मील की दूरी पैदल पार करनी पड़ती थी, अब पैदल की दूरी सिमट कर दो मील की रह गयी है। आजादी के 55-56 साल बाद ही सही, पक्की सड़क गांव के करीब तक ले जाई गई है। सो मन बस में सवार होकर चल पड़ा गांव की ओर। बस से उतर कर गांव की ओर चला। हां, यह बिशनपुरा है। यहां पहुंचते ही मन भावुक हो उठा। हां, यह वही जगह है जहां सोमवार को बाजार लगता है। इस बाजार के दक्षिणी हिस्से में जो बड़ी-बड़ी दुकानें दिखाई दे रही हैं, वहां पहले हमारा प्राइमरी स्कूल था। वह गिर गया और काफी दिनों तक खंडहर बना रहा, फिर बाजार का हिस्सा बन गया। मुझे अभी भी लग रहा है कि वहां हमारा प्राइमरी स्कूल है। यहां आते ही बचपन की कितनी स्मृतियां जाग पड़ी हैं। वे हँसती आंखें, खेल-कूद, आपसी झगड़े और प्यार, स्कूल की दहशत और छुट्टी होने पर उमड़ता हुआ मुक्त उल्लास। सोमवार का दिन होता था तो हम स्कूल के बन्द और डराते हुए माहौल से निकलकर सीधे बाजार के मुक्त कोलाहल में समा जाते थे और खोजते थे अपने-अपने पिताओं को, गांव के लोगों को। खरीदने की कुछ क्षमता न होने पर भी यों ही घूमते-घामते बहुत कुछ पाने की अनुभूति से गुजरते रहते थे। तब यह बाजार एक खुला हुआ मैदान-सा था जहां दूर-दूर के सामान-विक्रेता आते थे, अपनी दुकान लगाते थे और फिर चले जाते थे। अब तो इसमें स्थायी रूप से अनेक दुकानें बन गयी हैं।

आगे बढ़ा तो मिडिल स्कूल की बिल्डिंग दिखाई पड़ी। यह भी जर्जर अवस्था में है किन्तु खुदा का शुक्र है कि अभी बनी हुई है। इसके अहाते से गुजरते हुए रोमांच हो आया। यह वही आमला का पेड़ है, जिसके फलों का कसैला स्वाद अभी तक जुबान पर चिपका है। आम, पाकड़, पीपल सभी तो हैं अपने भीतर हमारा कितना-कितना अतीत छिपाये हुए। यहां दर्जा सात की पढ़ाई होती थी, यहां छः की, यहां पांच की। यहां बिकाऊ पंडित बैठते थे, यहां मौलवी साहव, यहां मुंशी जी। याद आया-यहीं, हां, ठीक यहीं मैं बैठा था जब मेरी पहली कविता फूटी थी। तब मैं दर्जा छः में था और मेरे एक सहपाठी ने सूचित किया कि उसके गांव का एक लड़का कविता लिखता है। यह सुनते ही मेरे भीतर कब से कुलबुलाता और दमित होता एक कवि जाग पड़ा और उसने विश्वासपूर्वक कहा-"मैं भी कविता लिख सकता हूं।" उसी दिन पास के बागीचे में कांग्रेस की सभा थी। मैंने उसी पर कविता लिखनी शुरू की और इस बार कविता जैसी कोई चीज बन गयी। मुझे कितनी खुशी हुई होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। मेरे साथ मेरे अभिन्न मित्र भी खुशी व्यक्त कर रहे थे। मैं फूला-फूला फिर रहा था।

कितने-कितने रूपों और रंगों में यह स्कूल मुझमें बसा हुआ है। बाद में मैं कितने-कितने बड़े शिक्षा-संस्थानों से छात्र और शिक्षक

के रूप में जुड़ा किन्तु इन दो स्कूलों की जो गंध मुझमें व्याप्त हुई वह और कहीं नहीं मिली-गंध, एक आदिम गंध। इन स्कूलों के बारे में कहना शुरू करूं तो कहता ही रह जाऊंगा और मुझे अपने गांव पहुंचने की जल्दी है। आगे बढ़ा तो रास्ते में रानापार गांव आया। इस गांव में पैठते ही बड़ा घर मिला। लगा कि इस विशाल जर्जर घर के आगे की खुली सहन में बने झोंपड़े में मदनेश जी बैठे होंगे। उनके हाथ में रामायण या महाभारत या संस्कृत का अन्य कोई क्लासिक होगा। और मुझे देखते ही कहेंगे-अरे आओ आओ, कब आये भाई? लेकिन कोई आवाज़ नहीं आयीं तो मुझे अपनी भूल का अनुभव हुआ-अरे ये तो कबके जा चुके हैं इस लोक से।' मन उदास हो गया और दलितों की बस्ती को पार करता हुआ आगे बढ़ने लगा। लेकिन मदनेश जी अपने अनेक रूपों में साथ चलते रहे। मेरे लिए उनका सबसे विशिष्ट रूप था कवि गुरु का। हां मैंने कविता लिखनी शुरू तो कर दी मगर वह क्या है, कैसी है इसका भान कहां था? गांव के एक सहपाठी मित्र ने सुझाव दिया कि चलो चलते हैं कवि मदनेश जी के यहां। वे कविता देखकर बता सकते हैं कि कैसी है? हम दोनों उनके यहां बहुत संकोच के साथ पहुंचे। जाकर उनके पास खड़े हो गये। वे बोले...कैसे आये हो? मेरे मित्र ने ही कहा... पंडित जी, रामदरश भाई ने कुछ कविताएं लिखी हैं, आपको दिखना चाहते हैं। 'हां हां क्यों नहीं, क्यों नहीं, दिखाओ तो सही।' मैंने झिझकते हुए अपनी कुछ कविताएं उनके हाथ में पकड़ा दीं और डरा हुआ सोचता रहा पता नहीं वे क्या कहेंगे। 'अच्छी हैं, बहुत अच्छी हैं, बेशक, बेशक तुम बहुत अच्छा लिखोगे,' मदनेश जी की आवाज सुनकर मैं प्रफुल्लित हो उठा।

'कहां रहते हो?' उन्होंने पूछा।

'डुमरी।'

'अच्छा, डुमरी के हो। किसके बेटे हो?'

'रामचन्द्र मिश्र के।'

'अच्छा, चन्नर भाई के सपूत हो। अच्छा, बहुत अच्छा। देखो तुम कविताएं लिखकर मुझे दिखाया करो, संकोच नहीं करने का।'

मैं बहुत पुलकित होकर घर लौटा और उत्साह के साथ कविताएं लिखने लगा। मदनेश जी सनेही स्कूल के कवि थे। उनके निर्देशन में मैं छन्द का अभ्यास करने लगा। वे मेरी कविताएं सुधारते थे और प्रोत्साहित करते थे। धीरे-धीरे मुझे छन्द की पकड़ हो गयी और छन्द में गांव की प्रकृति, सामाजिक जीवन तथा निजी सुख-दुःख की अभिव्यक्ति करने लगा। 1940-41 में मैंने घनाक्षरी छन्द में 'चक्रव्यूह' नामक एक खंड काव्य लिखा। उन्हीं की सहायता से 1940 में मेरी पहली कविता 'चांद' छपी-गोरखपुर की 'सरयूपारीण' पत्रिका में। रानापार पार करते ही मेरा गांव दिखाई देने लगता है। रास्ते में बारी आमी-यानी आम के पेड़ों का बागीचा। इस बारी में आते ही अपने बचपन के खेलते हुए दिन उतरा आये। हम लोग गर्मियों में स्कूल से छूटते थे तो इस बारी में घंटों खेलते थे। यह बारी मुख्य मार्ग पर है अतः आने-जाने वालों की चहल-पहल मची रहती थी और आम के दिनों में तो क्या कहना? बूढ़े-बच्चे-जवान सभी का मेला लगा रहता था। इसके सारे पेड़ों के नाम थे और हम उन्हें उन्हीं नामों से पुकारते थे। देख रहा हूं इसके तमाम पेड़ कट गये हैं, यह लगभग आधा रह गया है और कटे पेड़ों की जगह से ईंट के भट्ठे का धुआं निकल रहा है। इसके बीच से जाती हुई कच्ची सड़क की धूल में खेलते हुए हम सोचते थे पता नहीं कहां से आती है यह सड़क और कहां जाती है। हम इस पर से जाती हुई बैलगाड़ियों, सायकिलों और पैदल यात्रियों को रह-रहकर निहारा करते थे और मन ही मन पूछते थे...'कहां जाओगे भाई?' अब यह सड़क पिचरोड हो गयी है।

इस बागीचे से गांव की ओर एक धूल भरी कच्ची सड़क जाती थी। अब वह भी थोड़ी सख्त बना दी गयी है। उससे होकर गांव में प्रवेश करने लगा। हां, प्रवेश करने से पहले एक छोटा-सा नाला पड़ता था, उसी के पास पहला घर पड़ता है शिवदत्त बाबा का-यानी गांव के सबसे धनी व्यक्ति का। अब नाला नहीं है, पाट दिया गया है लेकिन मेरी स्मृति से कैसे जा सकता है? मैंने जब पहले-पहल तैरना सीखा था, तब बढ़ियाये हुए इस नाले के इस पार से उस पार, उस पार से इस पार हो रहा था। बड़ा मजा आ रहा था लेकिन एक बार धारा का वेग मुझे पोखरे की ओर बहा ले गया। मैं किनारे आने के लिए हाथ-पांव मारने लगा किन्तु धारा मुझे अपने में लपेट कर गहराई की ओर लिए जा रही थी। चारों ओर दूर-दूर तक हाहाकार करता हुआ बाढ़ का जल ही जल था। लगा अब मैं गया इस दुनिया से। इस मकान के आगे रस्सी बंटते हुए हलवाहे संतू की नजर मुझ पर पड़ी। उसने आव देखा न ताव, पानी में कूद पड़ा और मुझे खींच कर किनारे लाया। आज जब मैं इस मकान के आगे आया तो संतू की याद आ गयी। वह तो कब का इस दुनिया से जा चुका है लेकिन मुझे लगता है कि अभी भी वह यहां बैठा हुआ रस्सी बँट रहा है।

इस धनी मकान से गांव ही नहीं शुरू होता, होली का उत्सव भी यहीं से शुरू होता था। इस मकान के साथ भिन्न-भिन्न रंग की कई शख्सियतें जुड़ी हैं। हमारे गांव के प्रसिद्ध अधिवक्ता कैलाशपति मिश्र इस घर के थे और उनका गहरा स्नेह मुझे मिला था। लेकिन एक और शख्सियत मेरी यादों में अपनी सुगंध बिखेरती रहती है वे थे तामेश्वर मिश्र। वे एकदम जवानी में चल बसे थे और जब जिन्दा थे तब मैं बहुत छोटा था। न उनके समीप आ सका, न उन्हें समझ सका था। जब मैं कविताएं लिखने लगा तब ज्ञात हुआ कि तामेश्वर जी कवि थे। वे प्राइमरी स्कूल में शिक्षक भी थे। सुना था

कि वे बहुत प्यारे मनुष्य थे। उनके कवि से मेरी भेंट-मुलाकात तो नहीं हुई, किन्तु उनसे मैं एक अदृश्य सम्बन्ध अनुभव करता रहा और यह तड़प भी कि काश वे मेरे सचेत होने तक जीवित रहे होते तो उनका साहचर्य कितना कुछ दे सका होता।

आगे बढ़ा। यह घर दीनानाथ का है। दीनानाथ मेरे सहपाठी तो थे ही, बड़े अच्छे मित्र थे। उर्दू मिडिल तक हम लोग साथ-साथ पढ़े और खेले-कूदे। गरीब तो हम सभी थे किन्तु दीनानाथ कुछ ज्यादा ही गरीब थे-गरीब इसलिए भी माने जाते थे कि उनके पिताजी भीख मांगते थे। दीनानाथ मिडिल पास करने के बाद कहीं कुछ काम करने लगे, लेकिन क्षयरोग से ग्रस्त होकर चल बसे। उनके जाने की पीड़ा मेरे भीतर इस कदर समाई हुई है कि वे प्रायः मेरे सपनों में आते हैं और लगता हे कि वे मरे नहीं, जिन्दा हैं। इनके घर के बाद एक घर और, और फिर मेरा घर।

बच्चों ने शोर किया-'दिल्ली वाले बाबा आ गये, दिल्ली वाले बाबा आ गये।' बैठा, पानी-वानी पिया। मझले भाई साहब रामनवलजी, भतीजे रामनिवास, श्रीनिवास, श्रीप्रकाश पास आकर बैठ गये। देखते-देखते मेरे बाद की पीढ़ी के कुछ लोग आ गये। नयी पीढ़ी के लड़के (जिन्हें मैं नहीं पहचानता) कुछ दूर खड़े होकर मुझे देखने लगे। बड़े भाई साहब के दिवंगत होने के पश्चात् मैं पहली बार गांव गया था और जाते ही लगा था कि वे खेत गए हुए हैं या खलिहान में हैं। मेरा आना सुनते ही उल्लास के साथ मेरे पास चले आयेंगे और पूछेंगे- कैसे रहे? बाल-बच्चे कैसे हैं? फिर याद आ गया कि अब वे नहीं रहे। कितना उदास लगा था उनके न होने का वातावरण। ऐसा बार-बार लगता रहा है। जब पिताजी के मरने के बाद गया था तब भी लगा था कि वे कहीं से आकर मेरे पास बैठ गये हैं और उनका अंग-अंग मुझमय हो गया है। जब माँ के मरने के बाद पहली बार गया था तब लगा था कि माँ अभी लोटे में पानी और गुड़ लेकर निकलेगी और अपनी बहू तथा पोते-पोतियों का हालचाल पूछेगी। मेरी भी अजीब विडंबना है कि परदेश में रहने के कारण घर के किसी भी व्यक्ति के चिरविदा के समय पास नहीं रह सका और उनके अंतिम दर्द का साक्षी नहीं बन सका। पिता, माँ और भाई साहब मेरे लिए जो कुछ कहना चाहते रहे होंगे, उसे ओठों में दबाए हुए चले गए।

अब यह घर पक्का बन गया है, मेरे बचपन में कच्चा घर था। कमरे तो वही थे, उतने ही थे। आंगन भी वैसा ही था। खाना खाने के लिए जब अंदर गया तो आंगन सामने आ गया। माँ के साथ जुड़ी कितनी-कितनी स्मृतियां भरी हैं इस आंगन में। माँ के मुंह से फूटी हुई कितनी-कितनी करुणार्द्र कहानियां समायी हुई हैं इस आंगन में, जो आज तक मुझे भिगोती रहती हैं। माँ के प्यार के कितने-कितने रंग भीने हुए हैं इस घर के अंतराल में। खाना खाते समय मैं उस छोटे से कमरे को देख रहा था। हाँ अब पक्का हुआ तो क्या हुआ, जगह तो वही है, आकार भी वही है। सुना था उसी कमरे में मेरा जन्म हुआ था 15 अंगस्त सन् 1924 (श्रावण पूर्णिमा, बृहस्पतिवार संवत 1961) को। मेरे भोजन के लिए भतीजे ने न जाने कितनी कितनी चीजें बनवायी थीं। यह रसोईघर तमाम पकवानों की सुगंध से महक रहा था। चूल्हा खिलखिला रहा था। धीरे-धीरे न जाने कब कैसे यह चूल्हा बचपन के चूल्हे में बदल गया जो पर्वों और त्योहारों के दिन ही खिलखिलाता था। बाकी दिनों में आंच की ठंडी-ठंडी हँसी हँसता रहता था। कभी-कभी यह ठंडी हँसी भी नहीं होती थी। इस सन्नाटे में पिताजी के सैलानीपन और माँ की कर्मठता का द्वंद्व चीखता रहता था। बड़े भइया की किशोरावस्था इस सन्नाटे को तोड़ने की इच्छा से लगातार कसमसा रही थी।

आखिर एक दिन उनकी इच्छा फलवती हुई, सन्नाटा यहां-वहां से दरका, चूल्हे को उसकी सहज खिलखिलाहट प्राप्त हो गयी। बरसात में भहरा-भहराकर गिरने वाली दीवारों वाला कच्चा घर पक्के घर में बदल गया और मैं...हां मैं पढ़ाई के रास्ते पर निःशंक आगे बढ़ने लगा। प्राइमरी में था। फीस माफ थी। केवल एक पैसा गेम फीस लगती थी। पिता जी वह भी नहीं दे पाते थे। याद है उस दिन मास्टर ने गेम फीस लाने के लिए मुझे घर भेज दिया। मैं गया। पिता जी ने कहा-अभी नहीं है, फिर दूंगा। मैं अड़ गया। कहा कि बिना लिये जाऊंगा तो मास्टर जी मारेंगे। पिता जी ने हाथ में खरहरा लेकर मुझे खदेड़ लिया। मैं भागने लगा। वे दूर तक मुझे खदेड़ते हुए गए। पता नहीं उस दिन मैं स्कूल गया कि नहीं। कहां वह दिन और कहां बाद में हिन्दू विश्वविद्यालय की पढ़ाई। बाद की पढ़ाई बड़े भइया के कारण ही संभव हो सकी।

'क्या सोच रहे हैं चाचा जी? खाते क्यों नहीं?' भतीजे ने मुझे टोका।

'अरे कुछ नहीं, बस यों ही।' मैं चौक-सा उठा।

'नहीं कुछ तो है।'

'अरे कुछ नहीं रे। यहां बहुत दिन बाद आया हूं न, बचपन की स्मृतियां जाग-जाग जा रही हैं।'

तिपहर को इच्छा हुई कि अपना गांव घूम आऊं। निकल पड़ा यों ही। साथ में भाई साहब भी हो लिये। घर के पिछवाड़े पहुंचा तो याद आया-यहां एक अमरूद का पेड़ था। हम लड़के अमरूद तोड़ते थे तो नरेश भाई की माँ (अमरूद की मालकिन) आंधी की तरह हहराती हुई निकलती थी और हम सब भाग चलते थे। आगे बढ़ते गये। यह घर ब्रजनाथ का है। हां वे हैं, गोरखपुर में उनसे भेंट हुई थी। यह घर छेदी राम का है-छेदी राम जो हम लोगों के बीच विदूषक था। 'पता नहीं, है कि नहीं मैं बड़बड़ा उठा।

'कौन?' भाई साहब बोले।

'छेदी राम।'

'अभी जीवित हैं।'

'बहुत अच्छा। उनसे मिलूंगा।'

यह मेरे प्रिय मित्र और दूर तक सहपाठी कपिलदेव का घर है। ज्ञात हआ था कि वे भी नहीं रहे। यह रामलला और घूरनाथ का घर है। खबर मिली थी कि दोनों चले गये। भाई साहब समझ गये थे कि मैं घूमने की प्रक्रिया में जानना चाहता हूं कि बचपन के साथियों में कौन-कौन लोग हैं, कौन-कौन चले गए, अतः उनके घर आते ही स्वतः ही बोल पड़ते थे कि ये हैं या नहीं रहे, यह मुक्तिनाथ का घर है यह राम कृपाल का। दोनों नहीं हैं। हां वैद्य जी यानी सीताराम जी अभी हैं और एक दूकान पर बैठते हैं। यह जोखू तेली का घर है, नहीं रहे। जोखू तेली का प्रसंग आते ही परम शरारती संतू यानी संत प्रसाद याद आ गये। याद आ गया स्कूल से छुट्टी होने पर संतू का जोखू को खदेड़ना और जोखू का लोमड़ी की तरह भागना। हंसी आ गयी।

'क्या बात है?' भाई साहब बोले।

'जोखू के साथ संतू याद आ गये।'

'हां वे बेचारे भी नहीं रहे। बुरी मौत मरे।'

'और केशव?'

'वे हैं, ठीक-ठाक हैं।'

गांव से गुजरते हुए अनेक अनपहचाने चेहरे मिलते रहे और मुझे उत्सुकता से देखते रहे। शायद उन्हें बताया गया था कि रामदरश मिश्र नामक एक प्राणी इस गांव के हैं और दिल्ली में रहते हैं। कुछ लिखते-विखते हैं। ये चेहरे शायद इस भाव से मुझे देख रहे हैं कि अच्छा यही हैं रामदरश मिश्र। गांव से गुजरने की प्रक्रिया में वे स्थान आते रहे जहां मित्रों के साथ खेलत-कूदता था। गाता-बजाता था झगड़े करता था, फिर प्यार से लिपट जाता था।

गांव से बाहर निकल गया। यों ही एक चक्कर लगा आने की इच्छा हुई। दिखाई पड़ा भगड़ा नाला, जिसके द्वारा राप्ती बरसात के दिनों में फुफकारती हुई आती थी और पूरे क्षेत्र को बाढ़ की लपेट में ले लेती थी। इसी के तट पर नाग पंचमी को लड़कियां पुतलियां दहाती थीं और हम बच्चे डंडों से उन्हें पीटते थे। यहीं पर पाकड़ का एक पेड़ था जिस पर न जाने कितनी दुष्ट रूहों का डेरा था और हम यहां से गुजरते हुए कांपने लगते थे। थोड़ी दूर पर घंटहवा पीपल दिखाई पड़ रहा था, जिस पर मृतकों के घंट बांधे जाते थे और जिस पर कई भूतों का बसेरा माना जाता था। इस रास्ते से होने वाली अपनी तमाम यात्राएं याद आ गयीं-पढ़ाई के लिए जा रहा हूं, मेले में जा रहा हूं, बारात के साथ जा रहा हूं, सम्बन्धी के यहां जा रहा हूं, जा रहा हूं...जा रहा हूं।

ये सारी यात्राएं मेरा अनुभव बनती चली गयी हैं और उतरती रही हैं मेरी रचनाओं में। काली माई के थान से गुजरा, बरम बाबा की पीढ़ी से गुजरा, डीह राजा की मृत्तिका-मूर्ति से गुजरा। लगा था कि वैज्ञानिक सोच और विकास के तेज प्रवाह में सभी बह गये होंगे लेकिन आश्चर्य कि उनके आसपास की चहल-पहल वैसी ही थी, बल्कि बढ़ गयी थी। मैं एक-एक कर अपने खेतों से गुजरता रहा। यद्यपि चकबंदी की हलचल में सभी इधर से उधर हो गये हैं तो भी क्या? जहां वे पहले थे वहां से होकर जाते समय एक अद्भुत रोमांच हो आता था। लगता था मैं उनमें खाद फेंक रहा हूं, उन्हें गोड़ रहा हूं, निराई कर रहा हूं। धान, कोदो सावाँ, टाँमुन, पक्का, अरहर; फिर गेंहू, जौ, सरसों, तीसी, मटर आदि की रंग-बिरंगी उड़ती फसलों के सौन्दर्य के बीच भूला-भूला-सा, फूला-फूला-सा बह रहा हूं, कटिया कर रहा हूं, फसल ढोकर खलिहान में ला रहा हूं।

खलिहान की याद आते ही मैं अपने खलिहान में पहुंच गया। पाकड़ के दो बड़े-बड़े पेड़, उनके बीच फैला हुआ गांव भर का खलिहान, चैत का महीना, पाकड़ों में से फूटते किसलय, उनके बीच बोलती हुई कोयल, दँवरी की ध्वनियां, रात को किसी के कंठ से फूटता हुआ चैता। क्या अद्भुत दृश्य होता था। दँवरी हांकते हुए, अनाज ओसाते हुए, भूसा ढो-ढोकर घर लाते हुए मेरे दिन मुझमें इतने गहरे समाए हुए हैं कि शहर के बंद सुविधामय कमरे में भी दस्तक देते रहते हैं। इन तमाम स्थानों, दृश्यों, क्रिया-कलापों, प्रकृति और समाज की प्रीतिकर-अप्रीतिकर छवियों से लदा-फदा मेरा बचपन और किशोर-काल आज मुझे सामने से पुकार रहा है। यों मेरे संस्कारों में घुला-मिला होकर मौन भाव से तो सदा मेरी रचनाओं में समाता ही रहता है।

हां, यह वह पोखरा है जिसमें हम बच्चे मस्ती से नहाते थे और खेतों में से उखाड़ कर लाई हुई घास इसके तट के पानी में पटक देते थे धुलने के लिए। मस्ती और भय का द्वन्द्व हर जगह चला करता था। इस पोखरे के पास बँसवारी है। लोग कहते थे कि इसमें चुड़ैलें रहती हैं जो रात को नाचती-गाती हैं। दूसरी ओर इमली का एक बड़ा-सा पेड़ है, उस पर भी भूतों का डेरा था। खुद पोखरे में ही कितने बुड़वे रहते हैं। इस भय के बीच भी हम बच्चे इस पोखरे में खुलकर नहाते थे, हां अकेले नहाने में भय लगता था। यह काल्पनिक भय इतना बद्धमूल हो गया कि जीवन-भर साथ चलता रहा-पहले चेतन में बाद में अचेतन में। द्वंद्व हमारी मस्ती और काल्पनिक भय का ही नहीं था, यथार्थ से यथार्थ का भी था। जेठ की भयानक लू के बाद जब आषाढ़ बरसता था तब जड़-चेतन आनंद से नाच उठते थे। धरती रसमयी होकर अपने भीतर से फसलें उगलने लगती थी। एक ओर पुरवाई में लहराती फसलों की हँसी आंखों में भावी समृद्धि का लोक रच देती थी, दूसरी ओर आने वाली बाढ़ की आशंका से आंखें थर्रा-थर्रा उठती थीं। रिमझिम-रिमझिम

बरसते सावन के संगीत के साथ भादों के जलप्लावन की दहाड़ टकराती रहती थीं। जाड़ों में खेतों में झूमती फसलें गा रही होती थीं और घरों में भूख उपवास का सन्नाटा पसरा होता था। हां फागुन-चैत यानी बसंत में एक सम लक्षित होता था । संगीत, प्रकृति में भी होता था, खेतों में भी होता था, पेट में भी होता था और कंठों में भी होता था। पूरा कछार भीतर से बाहर तक विविध छवियों की चित्र-पटी बन जाता था। और यह सब कुछ विह्वल भाव से मेरे भीतर उतरता रहता था। इतना उतरा कि बाद में मेरी कविताओं में, कहानियों में, उपन्यासों में, निबंधों में, आत्मकथा में बार-बार उमड़ता रहा और लगता रहा कि अभी और कुछ है, और कुछ है जो उमड़ने से रह गया है।

बार-बार तुम आये, छाये छाये छाये
लेकिन हर बार लगा पहले पहले आये
आंखों ने कहा तुम्हें बार-बार देखा है
लेकिन हर बार खिंची नयी नयी रेखा है
ओठों ने कहा तुम्हें बार बार गाया है
लेकिन हर बार रहे तुम जैसे अन गाये

'अरे खाना-पीना नहीं होगा?' पत्नी ने आवाज दी। मैं चौंक पड़ा और एकाएक गांव से लौटकर अपने कमरे में आ गया। 'हां हां क्यों नहीं, कितने बजे हैं?' 'दो बज रहे हैं।' 'चलो भाई यह काम भी कर लेते हैं।'

खाना खाकर आराम करने के लिए लेटा और अपनी अगली कहानी के बारे में सोचने लगा। सोचते-सोचते अनजाने मन फिर भटक गया अपने अतीत की ओर। संपादक ने पत्र में लिखा था कि आप कहानी के साथ अपनी रचना यात्रा पर एक छोटा-सा लेख भी भेजिएगा। शायद इसीलिए कहानी पर सोचता हुआ मन उस जीवन-यात्रा की ओर चला गया जो मेरी रचना-यात्रा का स्रोत रही है। याद आने लगीं-एक के बाद एक खंडित यात्राएं। उर्दू मिडिल करने के बाद विशेष योग्यता की पढ़ाई करने ढरसी गया। ढरसी मेरे गांव से पांच कोस की दूरी पर एक गांव है। वहां पंडित रामगोपाल शुक्ल विशेष योग्यता की कक्षा चलाते थे। वहां मैं साल भर रहा। घर से दूर होने का यह पहला अवसर था। शुक्ल जी का आचार्यत्व, अनेक अनजाने गांवों से आने वाले नये-नये छात्रों का साथ, अपने हाथ से खाना बनाने की क्रिया, कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों का वहां आना-जाना और उनसे परिचय, ये सब नये अनुभव थे जो शुरू में बेगाने लगते रहे फिर अत्यंत प्रिय बन गये। अपेक्षाकृत एक बड़ी दुनिया में मेरे कवि की पहचान प्रसारित होने का अद्भुत सुख था। शुक्ल जी मेरी कविताएं संवारते थे। कोर्स में इतना कुछ था, जिससे गुजरकर हिन्दी साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य के ज्ञान की शुरुआत हुई। तुलसी, सूर, बिहारी, रत्नाकर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, अलंकार, छंद आदि कितने विषय थे जिन्होंने मुझे साहित्य की समझ का प्रारंभिक उजास दिया।

यह परीक्षा पास करने के बाद मैं विशारद और साहित्यरत्न करने के लिए बरहज चला गया। मेरा सामाजिक परिप्रेक्ष्य और भी बड़ा हुआ, सुख-दुख के अनुभवों का विस्तार हुआ और साहित्य के कुछ और व्यापक लोक से साक्षात्कार हुआ। वहां मेरे कवि को कुछ और बड़ा परिप्रेक्ष्य प्राप्त हुआ लेकिन शुरू से जिस ढर्रे पर कविताएं लिख रहा था उसी ढर्रे पर लिखता रहा, हां उस ढर्रे में परिष्कार होता गया। मुझे दिशा देने वाला कोई ऐसा कवि या आचार्य नहीं मिला जो तत्कालीन साहित्य-रचना के मार्ग से अवगत कराता। हां मेरी कविताओं की चर्चा अवश्य वहां चारों ओर फैली हुई थी।

सन् 45 में मैट्रिक की पढ़ाई करने बनारस गया तो वहां प्रसाद जी के अत्यंत प्रिय शिष्य डॉ. राजेन्द्र नारायण शर्मा के सम्पर्क में आया। उन्होंने दो काम किये...एक तो मेरी कविताओं का खूब परिष्कार कर उन्हें छायावादी रंग दे दिया, दूसरे उन्होंने अपने प्रभाव से 'आज', 'समाज', 'संसार' आदि समाचारपत्रों में मेरी कविताएं खूब प्रकाशित कराई और मैं बनारस में व्यापक तौर पर जान लिया गया। जब मैं सन् 46 में बी.एच.यू. में प्रविष्ट हुआ तब धीरे-धीरे नई चेतना के कई कवियों के सम्पर्क में आया और मुझे बताया गया कि जिस शैली में मैं लिख रहा हूं उसका समय बीत चुका है। अब कविता नये स्वर और नये मार्ग ग्रहण कर चुकी है। धीरे-धीरे मैं इस नये मार्ग की ओर उन्मुख हुआ और 50 के पास तक आते-आते लगा कि मेरी कविता नया रूप ले रही है। मैं प्रगतिवाद की ओर उन्मुख होने लगा और इसी समय नयी कविता की यात्रा भी शुरू हुई। इसलिए मेरी कविता नयी कविता की उस धारा में शामिल होने लगी जिसकी दृष्टि प्रगतिवादी और वस्तु सामाजिक है तथा जिसकी भाषा लोक भाषा के करीब जाने के प्रयास में है। मुझे लगने लगा कि मेरी बात (चाहे वह प्रकृति से सम्बद्ध हो चाहे प्रेम से, चाहे सामाजिक समस्याओं से) अधिक सघन और मूर्त तथा भाषा अधिक सहज और ठोस हो रही है।

मैं प्रगतिवाद की ओर उन्मुख तो हुआ किन्तु अपने स्वभाव के अनुसार ही उसके साहित्यिक या राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं हुआ। इसीलिए मैंने वस्तु और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में अपने को मुक्त रखा-किसी वर्जना या स्वीकृति के कठघरे में कैद नहीं हुआ। आज तक मैं समय के साथ तो चल रहा हूं किन्तु समय के खंडों को ले-लेकर जो वाद उछाले जाते रहे हैं और जिनके बैनर के नीचे आ-आकर लोगबाग इतिहास में अपने-अपने नाम दर्ज कराते रहे हैं, मैं उनसे नहीं जुड़ पाया। इसका खामियाजा मुझे भोगना पड़ा। यानी जब साहित्य के इतिहास को वादों का इतिहास मान लिया जाए तब वादों से असम्बद्ध लोगों की इतिहास में जगह कहां से हो सकती

है? इतना विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि मेरे अनुभव में जो सत्य उभरा वही मेरे साहित्य में आया। उस अनुभव को मैंने एक सामाजिक दृष्टि से रचा। गांव से लेकर बनारस, बड़ौदा, अहमदाबाद, नवसारी, दिल्ली तक जो मेरी जीवन-यात्रा रही, उसने इन स्थानों और समयों के विविध अनुभवों को मेरे भीतर संचित किया और वे अनुभव मेरी रचनाओं में उतरते रहे-कभी कविता बनकर, कभी कहानी बनकर, कभी उपन्यास बनकर, कभी निबंध बनकर, कभी संस्मरण और यात्रावृत्त बनकर तथा कभी आत्मकथा बनकर।

बनारस में मैंने जीवन के अमूल्य दस वर्ष व्यतीत किये। मैट्रिक से लेकर पीएच.डी. तक की शैक्षिक यात्रा की। इस दरम्यान वहां कितना कुछ सीखा, पाया, सुख-दुख भोगा, अनेक महत्वूपर्ण मित्रों का साहचर्य तथा स्नेह पाया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे महान गुरु का आशीषमय सान्निध्य प्राप्त किया और मेरा जीवन तथा साहित्य दोनों समृद्ध हुए। नौकरी को लेकर मैं बहुत भटका हूं और न जाने कितनी बार अपरिचय को परिचय में उतारने की जद्दोजहद करता रहा हूं। बी.एच.यू. का छात्र था। एम.ए. में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया था किन्तु वहां नौकरी नहीं लगी। पीएच.डी. का शोध-प्रबंध जमा कर दिया। अब तो काशी से दूर कहीं जाना ही था। पीएच.डी. करते समय परिवार के साथ एक किराये के कमरे में रहता था। हेमंत पैदा हो चुका था। पास में पैसा नहीं था और हेमंत लगातार बीमार चलता था। उन दिनों की तस्वीर मेरी 'शाम', 'बंद कर लो द्वार' आदि कई कविताओं में देखी जा सकती है। 'एक रात' कहानी भी उसी तकलीफ की कथा है। इन तकलीफों के बीच भी बनारस मुझे बहुत प्रिय लगता था। यहां हमारे साहित्यकार मित्रों की एक आत्मीय दुनिया थी। किन्तु जब यहां नौकरी नहीं लगी और पीएच.डी. का शोध-प्रबंध जमा कर दिया तब अपनी यह प्यारी नगरी छोड़नी ही थी। दर्द फूट पड़ा-

आखिंरी मोड़ ना कि हां कहिए
और रोयें कहां कहां कहिए
राह यह आज तक बहाना थी
आज से जायें हम, जहां कहिए

बनारस छोड़ना पड़ा और नौकरी लगी बड़ौदा में। मन भर आया-अपने शहर ने आश्रय नहीं दिया और इस अनजाने-अनपहचाने शहर ने मुझे अपनाया। 'बड़ौदे की शाम' निबंध में यह प्रतीति व्यक्त हुई। फिर वहां भी अजनबीपन का एक अजब दर्द था। साल भर बाद मुझे गुजरात विश्वविद्यालय के सेंट जेवियर कॉलेज से जुड़ने का अवसर मिला तो वहां चला गया। एक अजनबीपन में अपनी दुनिया खोजने लगा। फिर नयी जगह का सन्नाटा, नयी उदासी, अकेलापन, संघर्ष। फिर वहां से नवसारी, फिर अहमदाबाद और फिर दिल्ली। दिल्ली में भी पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय का सांध्य संस्थान, फिर साउथ कैंपस। मेरी शैक्षिक यात्रा कितनी कटी-फटी, टूटी-फूटी और निरंतर यायावरी रही है। न जाने मेरी कितनी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों में यह यायावरी जिन्दगी बोलती है-

भटक रहा खानाबदोश सा
आज यहां कल वहां
छोड़ जानी पहचानी हुई बस्तियां
रोज बसाता घर/ घर रोज छूट जाता है
ज्यों ही जुड़ा कहीं से क्षण भर
रिश्ता हाय टूट जाता है
फिर फिर अनजाने चेहरे हैं मुझे घूरते
अनजानी राहों के नये-नये भटकावे
अनजानी रीतियां/अजनबी स्वर, पहनावे
अनजानी आंखों से अनजानी टकराहट
कानों पर उठती गिरती अनजानी आहट
भटक रहा खानाबदोश सा

लेकिन बड़ौदा से लेकर दिल्ली तक की यायावरी जिन्दगी में भिन्न-भिन्न स्थानों से कितना पाया, इसका गहरा अहसास मुझे है। इस यात्रा ने मुझे नये-नये अनुभव दिये, नयी-नयी शैली दी, नये-नये साहचर्य दिये, नयी-नयी चुनौतियां एवं तज्जन्य विश्वास दिये, मेरी दृष्टि को व्यापकता दी और कुल मिलाकर एक बड़ा संसार दिया और मैं तथा मेरी रचनात्मकता दोनों निरंतर समृद्ध हुए। मैंने शहरों से शहरों तक की यात्राओं में बहुत कुछ पाया किन्तु लगता है कि मूलधन तो गांव के जीवन का अनुभव ही रहा, बाद के अनुभव तो ब्याज की तरह लगते रहे। इसलिए शहरों में रहते हुए भी मुझमें और मेरी रचनाओं में गांव बार-बार आता रहा-पात्र बनकर, स्थितियां बनकर, प्राकृतिक मानवीय सौन्दर्य बनकर तथा दृष्टि बनकर।

लोग प्रायः पूछते हैं- 'आप कविता से कहानी या उपन्यास में कब और क्यों आये?' मेरा उत्तर होता है-'मैं कविता से नहीं, कविता के साथ कहानी या अन्य विधाओं में आया। कविता के साथ तो मैं निरंतर चलता रहा हूं, यहां तक कि अन्य विधाओं में भी अपने कवि की उपस्थिति अनुभव करता रहता हूं।' सच बात तो यह है कि तैयारी करके विधाओं में नहीं आया, सहज भाव से आया। बनारस में नये साहित्यकारों का जो लोक था उसमें कवि भी थे, कहानीकार भी थे और मैं गाहे-बगाहे कहानी या निबंध लिख दिया करता था। जब मुझे लगा कि मेरे भोगे हुए यथार्थ का कुछ ऐसा रूप-रंग है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए कविता के अतिरिक्त भी कोई विधा चाहता है तब मैं कहानी की ओर भी झुका और धीरे-धीरे मेरा झुकाव सघन होता गया। साथ-साथ

व्यक्तिव्यंजक निबंध का भी सहारा लेता रहा। सन् 60 तक तो मेरी कहानी-यात्रा बहुत मंद गति से चलती रही किन्तु उसके बाद उसकी रफ्तार में तेजी आ गयी। कहानियों में ग्राम-यथार्थ के साथ-साथ शहर का यह यथार्थ भी आता रहा जो मेरे आसपास घटित होता था। सोचा नहीं था कि उपन्यास भी लिखूंगा। जब कहानी-लेखन में हाथ कुछ सध गया और इच्छा जागने लगी कि गांव के यथार्थ के विविध आयामों को परस्पर अनुस्यूत कर कुछ लिखा जाए, तब उपन्यास की ओर मेरी दृष्टि गयी। उन्हीं दिनों 'मैला आंचल' प्रकाशित हुआ और उसने रास्ता दिखा दिया कि कैसे ग्राम-जीवन के समग्र यथार्थ को एक साथ चित्रित किया जा सकता है। इस उपन्यास से प्रेरित होकर मैं उपन्यास लेखन में प्रवृत्त हो गया। परिणाम-स्वरूप 'पानी के प्राचीर' आया। लगा यह विधा बड़ी सशक्त है और कुछ-कुछ मेरी पकड़ में आ रही है। प्रवाह बह चला। फिर तो क्रमशः 'जल टूटता हुआ', 'बीच का समय', 'सूखता हुआ तालाब', 'अपने लोग', 'रात का सफर', 'आकाश की छत', 'बिना दरवाजों का मकान', 'दूसरा घर', 'थकी हुई सुबह' और 'बीस बरस' उपन्यास आये जिनमें गांव से लेकर शहरों तक की जिन्दगी के उस यथार्थ के चित्र हैं जिनके बीच में से मैं गुजरता रहा हूं।

आलोचना मेरे मन से नहीं, पेशे से जुड़ी हुई विधा रही है। एम.ए. में 'ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा' विषय पर लघु शोध प्रबंध लिखा, फिर पीएच.डी. का शोध-प्रबंध लिखा। उसके बाद पत्र-पत्रिकाओं के आग्रह पर आलोचनात्मक निबंध और समीक्षाएं लिखता रहा। 'हिन्दी उपन्यासः एक अंतर्यात्रा', 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान', 'छायावाद का रचना लोक', 'हिन्दी कविता : आधुनिक आयाम' आदि सभी पुस्तकें मुझसे साग्रह लिखवाई गई हैं। अपनी स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से मैंने कुछ ही आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं। हां, व्यक्तिव्यंजक निबन्ध तो मेरे अंतरतम से फूटते रहे हैं। निबंध मेरी मुख्य विधाओं में शामिल नहीं हैं, कभी-कभार ही लिखता रहा हूं। ये निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में तो छप जाते रहे किन्तु पुस्तक के रूप में छापने को कोई तैयार नहीं था। हां, पहली बार जब प्रभात प्रकाशन ने 1982 में मेरा 'कितने बजे हैं' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित किया तब मेरे इस रूप पर भी लोगों की दृष्टि गयी और मझे भी अपनी इस विधा के प्रति कुछ अधिक लगाव महसूस होने लगा। उसके बाद व्यक्तिव्यंजक निबंधों तथा संस्मरणों की सर्जना में मैं अधिक प्रवृत्त होता गया और मेरे कई संग्रह प्रकाशित हुए। यात्रा-वर्णन भी मेरे परवर्ती लेखन में एक आयाम बनकर जुड़ा। विदेश की कुछ यात्राएं करने का अवसर मिला। देश में तो इच्छा न होने पर भी यात्रा करनी पड़ जाती ही रही है। दोनों प्रकार की यात्राओं ने कभी मुझसे कहा होगा कि 'हमें अपनी रचना में रूप देते क्यों नहीं?' और उन्हें रूप मिलना शुरू हो गया।

'सहचर है समय' मेरी आत्मकथा है। सपने में भी नहीं सोचा होगा कि मैं आत्मकथा लिखूंगा। इसका कारण यह है कि मेरे मन में कहीं यह था कि 'आत्मकथा' उनकी होनी चाहिए जिन्होंने किसी क्षेत्र में बहुत जद्दोजहद के साथ बड़ी हैसियत बनायी हो और जिनकी जीवन-यात्रा में समाज कहीं अपने को देख रहा हो और कुछ शक्ति, कुछ आदर्श, कुछ मूल्य अर्जित कर रहा हो। मैं तो एक सामान्य व्यक्ति हूं मुझमें समाज को क्या मिलगा? लेकिन धीरे-धीरे ऐसा कुछ बनता गया कि सहज ही, अनजाने ही मेरी आत्मकथा रूप पाती गयी। मेरी रचनाओं पर एम.ए., एम.फिल. और पीएच.डी. का शोध कार्य करने वाले छात्र बार-बार मुझे पत्र लिखकर मेरे जीवन और साहित्य से सम्बन्धित सूचनाएं मांगते रहे। शुरू में तो भेज देता रहा किन्तु जब शोधार्थियों की संख्या बढ़ती गयी तब सोचा क्यों न एक बड़ा-सा निबंध लिख दूं जिसमें मेरे जीवन के शुरुआती दिनों की सच्चाइयां संक्षेप में दर्ज हों। 'जहां मैं खड़ा हूं' नाम से एक लम्बा निबन्ध लिखा। वह खूब पसंद किया गया। फिर मुझसे आग्रह किया गया कि मैं अपने बचपन के जीवन-यथार्थ को विस्तार से कह डालूं। बात मुझे भी अच्छी लगी और अपनी स्मृति के सहारे बचपन के दिनों की एक लम्बी यात्रा कर डाली। इसे 'जहां मैं खड़ा हूं' नाम से किताबघर ने प्रकाशित किया। यह पुस्तक लोगों को बहुत प्रिय लगी। किताबघर के सत्यव्रत शर्मा ने आग्रह किया कि क्यों न मैं कई खंडों में अपने समूचे जीवन का वृत्तांत लिख डालूं। मैंने उनके प्रस्ताव पर सोचा। उधर मेरे ऊपर काम करने वाले शोध छात्रों की संख्या बढ़ती गयी और मेरे जीवन के बारे में जानने की उनकी इच्छा का दबाव भी। मैंने तय किया-चलो भाई, यह भी कर डालो। और धीरे-धीरे यह भी कर डाला। मुझे सदा इस बात का ध्यान रहा कि कथा मेरी ही नहीं, मेरे माध्यम से मेरे परिवेश की भी हो। मैं छोटा हुआ तो क्या हुआ, मेरा परिवेश तो बड़ा है। पाठकों को उसके महत्व का तो बोध होगा ही। इस बात का भी ध्यान रहा कि अपने को चाहे जितना उधेड़ लो, यथार्थ के नाम पर गंदगी परोसने और बिना वजह दूसरों को नंगा करने का छिछोरापन न व्यक्त होने पाये। हमारे समाज में अनेक बुनियादी समस्याएं हैं जिनसे हम टकराते हैं, लहूलुहान होते हैं और जीने की शक्ति अर्जित करते हैं- आत्मकथा में इनसे रूबरू होने के स्थान पर यथार्थ के नाम पर चटखारे ले-लेकर यौन प्रसंगों को परोसना, अपनी सड़ी कुंठाओं का प्रसाद बांटना, मस्ती के नाम पर पीने-पिलाने के निरर्थक आवारा प्रसंगों का लज्जतदार वर्णन करना मुझे प्रिय और सार्थक नहीं लगता। इस तरह की आत्मकथाओं के माहौल में मेरी आत्मकथा फीकी जैसी लगती है, तो लगे, मुझे दुःख नहीं है।

आर-38, वाणी विहार, नई दिल्ली-110059

विवेकी राय

डॉ. रामदरश मिश्र : भीड़ में पृथक पहचान

यह एक विचित्र संयोग रहा कि रामदरश मिश्र के नाम से मैं एक भोजपुरी कविता के माध्यम से परिचित हुआ था। बात सन् 1954 के इर्द-गिर्द की है। मैं 'हिन्दी काव्य में ग्राम-चित्रण' नामक एक लम्बा निबन्ध लिख रहा था। उसके लिए जहां कहीं भी ग्राम-जीवन से सम्बन्धित कविता दिख जाती वहां मैं चयन-दृष्टि के साथ अटक जाता था। रामदरश मिश्र जी की कविता ने मुझे बहुत प्रभावित किया। वह 'आज' (वाराणसी) दैनिक के साप्ताहिक विशेषांक में छपी थी। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं-

''खेत में बदमास बदरा लेत होइहैं घेरि प्यारी ओ,
देह पर लुग्गा सुखत होई तोरे अधफेरि प्यारी ओ।
पेट जीअत होई पापी,
खाइ-खाइ उधार सावन आ गइल।''

इस लोकरंग में रसी-बसी भोजपुरी कविता में एक प्रवासी मजदूर की वेदना छिटकी हुई है। वह अपनी युवती प्रिया को याद कर रहा है और उसके सामने सावन की विभीषिका नाच रही है। उसकी प्रिया उत्पाती बादलों से घिरी खेत में काम कर रही है। पानी की बौछारों से उसकी साड़ी गीली हो गयी है। वह उसे आधा लपेट कर आधा सुखा रही है। इस प्रकार के उभरते चटक चित्रों में अपनी प्रिया को याद कर अन्त में मजदूर सोचता है, इस पापी पेट के लिए जो न करना पड़े।

वास्तव में पूरी कविता अनूठी व्यंजना से पूर्ण तथा मर्मस्पर्शी थी। उसे चयन कर उपयोग करने के पश्चात् मैं उसके रचयिता की खोज में पड़ा। उन दिनों भोजपुरी में रचना करने वाले बहुत कम लोग थे और जो लोग थे वे बहुत गहराई के साथ गांव से जुड़कर लिखते थे। बाद में यह जानकर आकर्षण और बढ़ गया कि रामदरश मिश्र जी काशी हिन्दी विश्वविद्यालय में हिन्दी-प्रध्यापक हैं। यह आकर्षण इसलिए भी बढ़ता गया कि अपने लेखन की जमीन गांव की माटी रही। इस कविता के बाद रामदरश जी की और भी रचनाएं पढ़ने को मिलती गयीं। मुलाकात का सुयोग बहुत बाद में सन् 1970 के आसपास मिला। मगर भोजपुरी में उनकी रचना उसके बाद फिर कभी देखने में नहीं आयी।

उनके उपन्यास 'पानी के प्राचीर' (1961) और 'जल टूटता हुआ (1969) को पढ़कर परिचय की उत्सुकता बहुत अधिक बढ़ गयी। कौन है जो गांव की पीड़ा को इतनी अन्तरंग गहराइयों के साथ उभार रहा है? अपने स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तिक उपन्यासों सम्बन्धी शोध प्रबंध को तैयार करने में मिश्र जी के उक्त दो उपन्यासों को बहुत भरपूर तल्लीनता के साथ पढ़ा था। विशेषकर 'पानी के प्राचीर' की लोक-राग-रंग धुली बेजोड़ व्यंजनापूर्ण चित्र भाषा ने बहुत प्रभावित किया था।

अन्ततः मिश्र जी के दर्शन हुए। वह भी एक विचित्र सुयोग था। समाचार पत्रों में उनके वाराणसी में सम्पन्न होने वाले किसी कार्यक्रम का समाचार छपा था। वहां जाने पर ज्ञात हुआ कि वे कैंट स्थित रेलवे कालोनी में श्री जगदीश नारायण श्रीवास्तव के यहां रुके हुए हैं। श्रीवास्तव जी आधुनिक साहित्य-चेतना सम्पन्न एक सुपठित सज्जन व्यक्ति थे। उनके यहां जाने पर रामदरश जी के नहीं मिल पाने का दुःख नये परिचय के सुख से धुल गया। ज्ञात हुआ कि कुछ समय पूर्व वे डॉ. शुकदेव सिंह के यहां सुन्दरपुर चले गये हैं। मैं हार मानने के लिए अभी तैयार नहीं था। मुझे उलटे पांव कैंट जाने के लिए तैयार देखकर डॉक्टर साहब ने बताया कि अभी भेंट होना संभव है। वेटिंग रूम में या गोरखपुर जाने वाली ट्रेन के प्लेटफार्म पर या खड़ी गाड़ी में जो व्यक्ति कोट पैंट में, लम्बी कद-काठी वाला, सतेज वर्णी और सिर पर उड़ते अति धवल बालों वाला, सामान्य यात्रियों से कुछ भिन्न जैसा लगता दिखे, बस समझ जाइये यही हैं डॉक्टर रामदरश मिश्र।

ऐसा ही हुआ। गोरखपुर जाने वाली खड़ी ट्रेन के एक डिब्बे में उक्त हुलिया वाले, एक समाचार पत्र पढ़ते व्यक्ति के सामने मैं जाकर इस प्रकार करबद्ध खड़ा हो गया कि अखबार परे कर उन्हें मुखातिब होना पड़ा। इससे पूर्व कि वे इस अपरिचित आदमी से परिचय पूछें, मैंने चट कहा, ''मैं गाजीपुर से आया हूं, विवेकी राय।''

डॉ. मिश्र उस समय जिस दुर्लभ अकृत्रिम आत्मीयता से मिले वह अविस्मरणीय है। राजधानी के महिममंडित विश्वविद्यालय प्राध्यापक के रूप में नहीं, गोरखपुर के सहज स्नेह-शील कवि के रूप में वे देर तक बात करते रहे। समय हो जाने के बावजूद लेट होकर ट्रेन भी हम लोगों के लिए मददगार सिद्ध हुई। एक-दूसरे के लेखन से हम लोग परिचित थे। इस भेंट से वह पूर्ण हो गया। मुझे उन्होंने अपनी एक कविता पुस्तक भेंट की 'बैरंग-बेनाम चिट्ठियां'। यह उन दिनों बहुत अधिक चर्चा में थी। उस मुलाकात से मुझे लगा था, यह आदमी है जो पूरी तरह अपने जैसा है, अपना है। चेहरे पर कोई मुखौटा नहीं है, पूरी तरह खुला हुआ, विश्वसनीय और अव्यावसायिक।

गाजीपुर आकर अपने महाविद्यालय के पुस्तकालय में उन्हें ढूंढने में जुटा और देखा 'पथ के गीत' (पहला काव्य संग्रह : पहला प्रकाशन 1951) और 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' और 'साहित्य : संदर्भ और मूल्य' नामक पुस्तकें मिलीं। कविता, कहानी और उपन्यास के साथ-साथ डॉ. मिश्र समीक्षा क्षेत्र में भी गहरी पैठ के साथ प्रतिष्ठित हैं, मेरे लिए यह नयी जानकारी थी। बाद में उन्होंने अपने प्रकाशकों

द्वारा 'पक गयी है धूप', 'बीच का समय', 'खाली घर' और 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा' नामक कृतियों को भेजवाया था।

अब तक डॉ. मिश्र की लगभग पचपन रचनाएं प्रकाशन पटल पर उतर चुकी हैं। इनमें एक-एक दर्जन-उपन्यास, कहानी-संग्रह, काव्य-कृतियां और शोधसमीक्षा सम्बन्धी पुस्तकें हैं, दो-दो ललित निबंध और यात्रा-वर्णन और एक-एक आत्मकथा, संस्मरण और चुनी हुई रचनाओं का संकलन है। एक तो यह कि जो भी कृति है वह हलकी या मात्र गिनती बढ़ाने वाली नहीं है। दूसरे यह कि उनकी मौलिकता और गुणात्मक मूल्यवत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी है। तीसरे यह कि विविध विधाओं की गहराई में पैठ की क्षमता वाली ये कृतियां डॉ. मिश्र के सर्जक की बहुआयामी रचनात्मक प्रतिभा को उजागर करती हैं। एक नाटक की विधा को छोड़कर उन्होंने हर क्षेत्र में अपने कृतित्व की, विशिष्ट शैलीकार की पृथक और स्पष्ट छाप छोड़ी है।

> उस बार आठ-दस दिन तक उत्तम नगर में मिश्र जी के घर साथ रहना एक सुखद अनुभव रहा। उनके परिवार में साहित्य, कला रंगमंच और शिक्षा से जुड़ी बौद्धिक चर्चाओं का वातावरण भरपूर रूप से मुझे मिला। एक-दो दिन में ही लगने लगा कि अपने ही घर हूं। उन्होंने पत्राचार द्वार पूर्व सुपरिचित अनेक लेखकों और प्रकाशकों तक मुझे पहुंचाया। वह फरवरी का महीना था और दिल्ली का उसके पार्कों में खिला-खिला रूप वे अत्यन्त मुग्ध भाव से मुझे दिखाते थे।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ से 'साहित्य भूषण' (1997) और हिन्दी अकादमी दिल्ली से 'अकादमी सम्मान, (1984) के अतिरिक्त प्रगतिशील लेखन संघ आगरा, नागरी प्रचारिणी सभा देवरिया और आगरा, नक्षत्र अहमदाबाद तथा भारतीय लेखक संगठन दिल्ली आदि से सम्मानित डॉ. रामदरश मिश्र की साहित्यिक उपलब्धियां विशेषकर इस रूप में रेखांकित करने योग्य हैं कि उन्होंने रचनाओं के बल पर अपना एक विशाल पाठक वर्ग तैयार कर लिया है और यह वर्ग हर स्तर के प्रबुद्ध पाठकों का है। इसके साथ ही उनके साहित्य की लोकप्रियता का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि देश की प्रायः हर भाषा में उनकी रचनाओं का अनुवाद मिलता है। 'अपने लोग', 'जल टूटता हुआ' और 'रोशनी की पगडंडियां' आदि उनकी आधे दर्जन से ऊपर पुस्तकें हिन्दी अकादमी दिल्ली, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ और आथर्स गिल्ड आदि द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं।

डॉ. रामदरश मिश्र की साहित्यिक उपलब्धियां और उनसे जुड़े शैक्षिक और साहित्यिक पदों की विस्तृत तालिका उनके गंभीर साहित्यिक व्यक्तित्व और उत्तरदायी सभापुरुष होने को प्रमाणित करती हैं। वे भारतीय लेखक संगठन (दिल्ली) के 1984 से लेकर 1990 तक अध्यक्ष रहे। साहित्यिक संघ वाराणसी के 1952 से लेकर 1955 तक सचिव रहे। साहित्य अकादमी, हिन्दी अकादमी (दिल्ली) सहित विविध प्रतिष्ठानों की गोष्ठियों के अध्यक्ष, अनेक मंत्रालयों और उच्चस्तरीय शैक्षिक समितियों के सदस्य और अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं के सलाहार सम्पादक के रूप में उनकी सेवाएँ समाज को मिलती रहती हैं। वे दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद से सन् 1990 में सेवामुक्त हुए और इसके पूर्व गुजरात विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को अपनी सेवाओं से गौरवान्वित कर चुके थे। मगर कालान्तर में डॉ. रामदरश मिश्र का मूल्यांकन उत्तर प्रदेश, गुजरात और दिल्ली तक के विश्वविद्यालयों को प्राप्त उनके मूल्यवान शैक्षिक अवदान के आधार पर नहीं होगा और न ही उसमें यह कोई महत्वपूर्ण बात होगी कि उनकी रचनाएं अनेक विश्वविद्यालयों और विद्यालयों के पाठ्यक्रम में ससम्मान स्थान पाती हुई दीख रही हैं तथा उनकी रचनाओं पर पीएच.डी. करने वालों की कतारें लम्बी हैं आदि-आदि। वास्तव में उनका मूल्यांकन हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनके मानक, मौलिक और गंभीर सृजनात्मक अवदान के आधार पर होगा।

रामदरश जी कवि हैं, कहानीकार हैं, उपन्यास लेखक हैं, समीक्षक हैं और निबन्ध-लेखक आदि-आदि हैं परन्तु सबसे पहले वे उदात्त, उदार और स्नेह-शील स्वभाव वाले सहज, सुहृद व्यक्ति हैं। इसके साथ ही समय पड़ने पर उनका स्वाभिमानी, अक्खड़ और जुझारू स्वभाव भी सामने आ जाता है। वे विरोधियों से समझौता नहीं कर पाते परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि वे साहित्यकार मात्र के मित्र हैं। उनके मित्रों की संख्या मोटे रूप से 'असंख्य' कही जा सकती है और अपने मित्रों से वे सम्पूर्ण मुक्त मन से मिलते हैं। वे अपने मित्रों को सहेज-बटोर कर रहते हैं। मैत्री के बीच में पद और उनकी साहित्यिक गरिमा कहीं आड़े नहीं आती है। निकट के और दूर-दराज के नवोदित लेखकों को, यदि वे परिचय-क्षेत्र के हैं, सम्मान देने, भरपूर सहयोग प्रदान करने और उठाने-उकसाने में वे कोताही नहीं करते हैं। अधिक दिनों तक समाचार नहीं मिलने पर पत्र लिखकर मित्रों की खोज-खबर लेते रहने की उनकी अन्यतम विशेषता ध्यानाकर्षक है। ऐसा लगता है कि उनके पास सम्मान का अथाह भंडार है और साहित्य से जुड़े लोगों के लिए वे उसे मुक्त हस्त से लुटाते हैं। सृजनात्मक क्षेत्र में कदम रखने वाले दो-तीन युवक मेरे यहां से एक बार दिल्ली घूमने गये। घूमते-घूमते वे रामदरश जी के यहां पहुंच गये। लौटकर आये तो बोले, ''रामदरश मिश्र तो अद्भुत व्यक्ति हैं। हम लोगों के सम्मान में उन्होंने एक गोष्ठी ही आयोजित कर दी।''

किन्तु इन सब बातों का यह अर्थ भी नहीं कि उनका कोई दल,

शिविर और खेमा जैसा है। वास्तविकता यह है कि वे आधुनिक अर्थ में शिविर मुक्त या खेमा-बाहर स्वतंत्र साहित्यकार हैं। जो है वह एक मुक्त सुहृद मंडल है। राजनीति, साहित्य की राजनीति, स्वार्थ या किसी प्रतिबद्धता का सूत्र इसमें नहीं होता है। समान विचारधारा वाले सुहृद और श्रद्धेय सृजनधर्मी जनों का विशुद्ध साहित्यिक वातावरण बन जाता है। ऐसे एक प्रदूषण-मुक्त वातावरण का अनुभव मुझे दिल्ली के उत्तम नगर में जाकर हुआ था और उसके केन्द्र में थे रामदरश जी।

दिल्ली पहली बार गया था। स्टेशन से उत्तम नगर पहुंचने का पूरा प्रामाणिक और स्पष्ट नक्शा बन्धुवर डॉ. ललित शुक्त ने बनाकर भेज दिया था। वे और डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव उत्तम नगर में रामदरश जी के पड़ोसी हैं। इतने पर भी मुझ घोर यात्रा-भीरु व्यक्ति को कुछ अटपटा लग रहा था और भीतर से कुछ सहमा जैसा था। रामदरश जी को मेरा जाना मालूम तो था परन्तु मैंने यह नहीं लिखा था कि आप स्टेशन पर आइयेगा या मुझे कुछ भी असुविधा हो सकती है। लेकिन अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से स्टेशन से बाहर आते ही उन्हें खड़ा देखा तो मन चकितकारी आह्लाद से गद्गद् हो गया। 'मैं चला आया, आप कैसे जाते?' उनके शब्दों की निरालस-निरभिमान आत्मीयता ने मन मोह लिया।

उस बार आठ-दस दिन तक उत्तम नगर में मिश्र जी के घर साथ रहना एक सुखद अनुभव रहा। उनके परिवार में साहित्य, कला रंगमंच और शिक्षा से जुड़ी बौद्धिक चर्चाओं का वातावरण भरपूर रूप से मुझे मिला। एक-दो दिन में ही लगने लगा कि अपने ही घर हूं। उन्होंने पत्राचार द्वारा पूर्व सुपरिचित अनेक लेखकों और प्रकाशकों तक मुझे पहुंचाया। वह फरवरी का महीना था और दिल्ली का उसके पार्कों में खिला-खिला रूप वे अत्यन्त मुग्ध भाव से मुझे दिखाते थे। ऋतुओं की रंगीनी को पीकर उल्लसित होने का जो संस्कार उनके कछार-अंचल ने बचपन में ही भीतर जमा दिया वह दिल्ली में भी अपनी पूरी ताजगी के साथ प्रतिष्ठित मिला। सायंकाल वे उत्तम नगर में मित्रों के साथ भ्रमण के लिए निकलते थे तो अधिकांश समय काव्य विनोद में बीतता था। उत्तम नगर में उनका अत्यधिक सम्मान दिखाई पड़ा और मुहल्ले की व्यवस्था और सुधार-समस्याओं में भी उनकी पहल और अगुवाई देखने में आई। ऐसा लगा कि वे मस्त कवि और गंभीर चिन्तक के साथ व्यवहार-कुशल व्यक्ति हैं। समय-समय पर मुक्त हास और बेलौस परिहास के क्षण भी आया करते थे। परिवार के भीतर वे गृहपति की गंभीरता ओढ़े प्रायः नहीं दिखाई पड़ते। वास्तव में कृत्रिम गांभीर्य उनके स्वभाव से खारिज रहता है। उनके बड़े बेटे के विवाह का एक प्रसंग मुझे बराबर याद रहता है।

बारात 10 जुलाई, 1980 को गोरखपुर जिले के बड़हलगंज के पास महुलिया ग्राम में गयी थी। साधारण बारात नहीं थी, दिल्ली से डॉ. विनय, डॉ. महीप सिंह आदि तो आये ही थे, उत्तर प्रदेश के कवियों, साहित्यकारों का पूरा जमाव वहां था। डॉ. रामचन्द्र तिवारी, श्री जगदीश नारायण श्रीवास्तव, डॉ. रामदेव शुक्ल, डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव, श्री गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव आदि पहुंचे थे। कन्यापक्ष की ओर से अत्यन्त सुरुचिपूर्ण व्यवस्था थी। मुख्य जनवासे से कुछ हटकर साहित्यकार लोगों के लिए बैठने की विशेष व्यवस्था थी। सायंकाल 'आज्ञा' नामक रस्म के लिए जब कन्यापक्ष के लोग 'समधी' को खोजते हुए पहुंचे तो वहां उस समय काव्यपाठ चल रहा था। रामदरश जी ने उन्हें देखते ही अत्यन्त सहज असम्पृक्त भाव से हँसकर लौटा दिया। अरे-रे-रे यहां कहां आ गये आप लोग? उस जनवासे में मालिक लोगों के पास जाइये। बेटे के विवाह में समधी के भीतर तनिक भी 'समधीपन' का भाव नहीं झलकना प्रायः कठिन होता है। इसी मौके पर नहीं, उस बारात में पूरे समय वे अपने गांव-घर के लोगों को सम्मान देते रहे और स्वयं विशिष्ट बरातियों में से एक बने रहे। हास-विनोद और काव्य-रस में पूरा समय बीतता रहा।

इतने पर भी, उनके बिना जताये ही यह ज्ञात हो जाता था कि वे ही केन्द्रीय व्यक्ति हैं। उस बारात में ही क्यों, वे जहां भी होते हैं, केन्द्रीय व्यक्ति या केन्द्रीय व्यक्ति जैसा आकर्षण बनाये रखते हैं। काया काठी से लेकर वाग्मिता और व्यवहार की सहजता में सर्वत्र एक मुदितापूर्ण मैत्री का खिंचाव होता है। पहली बार 13 मार्च, 1992 को जब वे गाजीपुर में आये थे तो कहकर आये थे कि यह यात्रा सर्वथा अनौपचारिक और टहलने-घूमने वाली होगी। इतने पर भी तीसरे दिन स्थानीय कवितयों के बीच उन्हें घिर ही जाना पड़ा। थोड़ी देर में रंग चढ़ा तो कविता पर कविता सुनाते गये। गाजीपुर की हवा में उनकी सुनायी एक कविता अब भी गूंजती रहती है-

"मैं गमले का फूल तो नहीं
कि एक सुरक्षित कमरे से
दूसरे कमरे में रख दिया जाऊं
मैं तो पेड़ हूं एक खास जमीन में उगा हुआ
आंधियां आती हैं
लूएँ चलती हैं
ओले गिरते हैं।
पेड़ हरहराता है, कांपता है,
डालियां और फूल टूटते हैं
लेकिन वह हर बार अपने में लौट आता है।"

रामदरश जी के संघर्षरत अटूट जीवन की मजबूत जड़ें, उनके गांव डुमरी की रसवन्ती ज़मीन की गहराइयों में हैं। उन्हें उसका रस

सदा मिलता रहता है और स्थैर्य प्रदान करता है और वे नागरिक गमले का फूल नहीं, गांव की जमीन पर तनकर खड़े सक्षम-सदाबहार पेड़ बने रहते हैं। इसी रस की ताजगी उनके काव्य, कथा और निबंध साहित्य को प्राणवान बनाती है। उसकी ऊर्जा और उसकी रागात्मक सत्ता उनके सृजन को एक अनूठी, मौलिक और सर्वथा नूतन पहचान देती है। राजधानी में रहकर आधुनिक जीवन जीते हुए, नयेपन के आधुनिक आयामों को अपने साहित्य में उतारते हुए भी वे अपने भीतर कैसे अनाहत गांव को सुरक्षित रखते हैं, इसका अनुभव उनके सम्पर्क में आने वालों को आसानी से हो जाता है।

दिल्ली जाने पर उनका मकान देखकर मुझे बेहद आश्चर्य हुआ। अरे, इसकी बनावट तो मुझ अनुभवहीन द्वारा स्वयं ही बनाये गये नक्शे वाले गाजीपुर स्थित मकान जैसी है।अन्तर प्रवेश द्वार में है। मेरा तो अति सामान्य है पर यहां राजधानी स्तर का भव्य और किसी शीशमहल का आभास कराता, खरखर-खरखर कर खुलने वाला है। शेष स्थिति यह है कि आगे पूरी चौड़ाई में खुली-खुली जगह, फिर चौड़ा पूरा बरामदा, वैसे ही सीधे गलियारे के दोनों और कमरे, अन्त में फिर एक आंगन, सीधे-सीधे स्वयं ही लकीरों में खींचकर खड़ा कर दिया गया सहजभाव का पश्चिमाभिमुख मकान। किसी इंजीनियर से नक्शा बनवाया गया होता तो इतनी ज़मीन में कितना-कितना क्या-क्या आकर्षक तथा सुविधाजनक बन गया होता। लेकिन नहीं, इस मकान के प्राणों में नागर बुद्धि की जटिलता नहीं, गंवई चेतना की सहजता स्पन्दित रहती है। फिर इस मकान ही में क्यों, उनके जीवन और साहित्य में भी मैं स्वयं अपने को देखता हूं तो आश्चर्य होता है।

मेरा बीहड़ बाढ़ग्रस्त गांव सोनवानी (गाजीपुर) जैसे मंगई और झिरहिरिया जैसे भयानक नदी-नालों से तीन ओर से घिरा है, उसी प्रकार उनके गांव डुमरी को भी प्रकृति ने गौरा और राप्ती के गुंजलक में अभावग्रस्तता और बीहड़ता के पीड़ा-भोग के लिए डाल दिया है। ऐसे अपने तथा मामा के गांव की धूल-माटी में खेलकर, उसको कसकर जीते हुए, उसे समग्रता से आत्मसात करते हुए, विशेषकर उसके सांस्कृतिक रस-गंध घुले सौन्दर्यबोध को अपनी चेतना में प्रतिष्ठित करते हुए उभरे-उकसे मिश्र जी उसके विशिष्ट पक्ष-प्रतिपक्ष को बचपन से ही अपने जीवन-भोग और साक्ष्य में उतारते चलते हैं। कछार अंचल का वह प्रतिपक्ष है वहां की गरीबी, बेहाली, शोषण-उत्पीड़न भरी बदकिस्मती। उसके खेत-खलिहान, ऋतु-रंगीनी, त्योहारी उल्लास और जीवन की सहज मस्ती के पक्ष को उक्त महामारी जैसा प्रतिपक्ष पग-पग पर आहत करता है। इस पक्ष-प्रतिपक्ष के बीच संघर्षरत और अपनी राह स्वयं बनाता मिश्र जी का बाल कवि मिडिल स्कूल में पहुंच अपनी सृजन-क्षमता को प्रदर्शित करने लगता है। वह मिडिल पास कर उर्दू मिडिल पास करता है और घर-गृहस्थी के दबाव से पढ़ाई छूट जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फिर वह स्वाध्याय की राह पकड़ गांव में त्यागी-तपस्वी जैसे साहित्यिक गुरुओं के पुरुषार्थ से चलने वाले हिन्दी 'विशेष योग्यता', 'विशारद' आदि के स्वयंसेवी गुरुकुलों की शरण में जाता है तथा फिर एक चमत्कारिक उछाल आती है और हाई स्कूल के रास्ते शिक्षा परीक्षा के सोपानों को पार करता अध्यापक-जीवन के ऊँचे लक्ष्य तक पहुंचता है।

मिश्र जी की आत्मकथा को पढ़ता हूं तो लगता है, यह अपनी ही कहानी पढ़ रहा हूं क्या? यह कैसे हुआ कि उन्हीं की तरह मैं भी अपने लेखन को गांव की जमीन पर प्रतिष्ठिता करता किसी वाद के झंडे के नीचे नहीं पहुंच सका और दायित्व बोध, नैतिकता तथा मूल्यों के प्रति आस्था अटूट भाव से बनी रही। ध्यान इध र भी जाता है कि लगभग सभी विधाओं में अपने को अभिव्यक्त करने के बाद हम लोगों ने एक विधा नाटक को क्यों छोड़ दिया? मैंने भी कोई नाटक नहीं लिखा आर रामदरश जी ने भी। संभव है साहित्यकार अध्यापक होने के कारण ही उधर झुकाव नहीं हुआ। जीवन के विचित्र 'नाटक' की मुसीबत ही कम नहीं रही। इस आलेख का अन्त यहीं से करूं कि भाई रामदरश जी ने मेरे ही मन की बात छीन ली। 'अध्यापक तो इस माने में और भी बेचारा है। वह नैतिकता की मूर्ति के रूप में कल्पित कर लिया जाता है। सबसे बड़ी विडंबना तो यही है कि समाज उसे सहज मनुष्य छोड़कर और कुछ मान लेता है। अध्यापक को भी अपने ऊपर आरोपित देवत्व का बोध हमेशा कोंचता रहता है। अतः देवता को अर्पित जीवित निर्माल्य की तरह उसे भी अपने आचार-विचार, बातचीत, रहन-सहन को सदैव संयत और सीमित रखना पड़ता है। वह कक्षा में हो तो उसकी निगाहों से सैंकड़ों निगाहें बंधी होती हैं-उसकी हंसी पर, बातचीत पर सैंकड़ों दीठियों का पहरा होता है। जब वह घूमने निकलता है, तो भी उसे अपने आसपास सैंकड़ों आंखें घूरती मिलती हैं। अतएव अध्यापक को रामलीला के राम की तरह एक खास अंदाज़ में चलना होता है, एक खास अंदाज में हंसना होता है , एक पिटे-पिटाऐ लहजे में बोलना होता है, एक विचित्र पोज़ से उसे देखना होता है। वह अपने प्राइवेट जीवन में भी खुला नहीं रह पाता। वह कहां जा रहा है, किससे मिलता है, किस तरह के लोगों से उसके सम्बन्ध हैं-उन बातों की खबर हवा में फैलती हुई अधिकारियों के पास पहुंचती रहती है। अब कोई बताए कि अध्यापक साहित्यकार या इसी प्रकार की सीमाओं में घिरे अन्य साहित्यकार कैसे अपने आसपास के जीवन से तादात्म्य स्थापित कर लें,' 'बबूल और कैक्टस' पृष्ठ सं. 36—37

बारी बाग, गाजीपुर (उत्तर प्रदेश)

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

रचना-संसार से गुज़रते हुए

"मेरी कविता लोक की वस्तु, भाषा आदि से जुड़ी रही और समय के किसी चरण पर व्यक्तिवाद, रूपवाद या आधुनिकतावाद ने मुझे आकर्षित नहीं किया।"

"मेरी कोशिश रहती है कि एक सेतु बने-टूटी इंसानियत पर। मैं एक कवि के नाते अपने समाज के पाखंड पर चोट करता हूँ...।"

"उपन्यास का अर्थ है, कथा (सूक्ष्म या सघन) के माध्यम से व्यक्त होने वाला व्यक्ति-चित्र जो समाज से सम्बद्ध होकर सर्वदेशीय मानव-संवेदनाओं और मूल्यों की प्रतिष्ठा करे।"

"हम कबसे देख रहे हैं यह खेल
लेकिन कुछ कर नहीं सकते
केवल कविता लिख सकते हैं
कविता, जो आत्मा के शब्दों से लिखी जाती है।"

ये सभी अवतरण रचनाकार रामदरश मिश्र के सर्जनात्मक सरोकारों के सूचक हैं। लगभग साठ वर्ष लम्बी रचना-यात्रा में वे सदैव आत्मा के शब्दों से रचना के सर्जन, लोक जीवन के यथार्थ-निरूपण और मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट और सक्रिय रहे हैं। उनकी रचना-यात्रा का श्रीगणेश कविता से हुआ है। रामदरश मिश्र रचनावली प्रथम खंड की 'कुछ और' शीर्षक भूमिका में स्मिता मिश्र ने सूचना दी है कि मिश्र जी की प्रथम प्रकाशित कविता 'चाँद' है जो गोरखपुर से छपने वाले 'सरयूपारीण' के अंक 6 (जनवरी 1941 ई.) में छपी थी। मिश्र जी के अब तक एक दर्जन से अधिक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'पथ के गीत', 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ', 'पक गयी है धूप', 'कंधे पर सूरज', 'दिन एक नदी बन गया', 'बाजार को निकले हैं लोग', 'हँसी होंठ पर आँखें नम हैं', 'जुलूस कहाँ जा रहा है?', 'आग कुछ नहीं बोलती', 'बारिश में भीगते बच्चे', 'ऐसे में जब कभी'। इनमें 'हँसी होठ पर आँखें नम हैं' उनकी गजलों का संग्रह है और उनके गीतों को 'मेरे गीत' शीर्षक कृति में संकलित किया गया है। कहानी और उपन्यास विधाओं के माध्यम से भी उन्होंने अपनी प्रतिभा को प्रमाणित किया है। 'खाली घर', 'एक वह', 'दिनचर्या', 'एक कहानी लगातार', 'फिर कब आयेंगे', 'अकेला मकान' आदि कृतियों में उनकी शताधिक कहानियां संग्रहीत हैं। उनके प्रायः सभी उपन्यास चर्चित रहे हैं। 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ, 'बीच का समय', 'सूखता हुआ तालाब', 'अपने लोग', 'रात का सफर', 'आकाश की छत', 'बिना दरवाजे का मकान', 'दूसरा घर', 'थकी हुई सुबह', 'बीस बरस'- ये सभी उपन्यास परिवेश की प्रामाणिकता से दीप्त हैं। 'सहचर है समय' और 'फुरसत के दिन' में उनका आत्मवृत्त है। 'कितने बजे हैं', 'बबूल और कैक्टस' तथा 'घर-परिवेश' में उनके निबंधों, ललित निबंधों का वैभव बिखरा हुआ है। 'तना हुआ इंद्रधनुष', 'भोर का सपना', 'पड़ोस की खुशबू' उनके यात्रा-प्रसंगों पर आधारित कृतियाँ हैं। 'स्मृतियों के छंद' में उनके संस्मरण हैं। 'हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, 'हिन्दी आलोचना का विकास', 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' आदि दस पुस्तकें आलोचना विधा से संबंधित हैं। जाहिर है, रामदरश मिश्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी रचनाकार हैं और विविध विधाओं को समृद्ध करने में उनका योगदान असाधारण है। यदि डॉ. दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव उन्हें प्रयोगवादोत्तर हिन्दी साहित्य का जयशंकर 'प्रसाद' मानते हैं (अभिनव प्रसंगवश, अप्रैल-जून 2003 ई.) तो इसके पीछे उनकी यह समझ विद्यमान है कि जिस तरह 'प्रसाद' ने एक साथ कई विधाओं को सफलतापूर्वक साधा है, उसी तरह मिश्र जी भी अनेक विधाओं को सर्जनात्मक उत्कर्ष देने में सफल सिद्ध हुए हैं।

रामदरश मिश्र किसी खास विमर्श या वाद के रचनाकार नहीं हैं, हालांकि उनकी चर्चा यदा-कदा 'नवगीत', 'विचार कविता' और 'सचेतन कहानी' से जोड़कर हुई है, लेकिन वे इन सीमाओं में कभी नहीं बंधे। उनका अनुभव-क्षेत्र बहुत व्यापक है और दृष्टि प्रगतिशील और जन-पक्षधर है। प्रकृति-राग और प्रणयानुभूति ने उनकी रचनाशीलता को उकसाया है, लेकिन शीघ्र ही उनके रचना कर्म में आसपास की विसंगतियों-विडम्बनाओं को देखकर जन्मी बेचैनी और क्षुब्धता और मुखर होती गयी है और प्रतिरोध-प्रतिवाद के स्वर सुनाई देने लगते हैं। हालांकि हिन्दी साहित्य में देशव्यापी मोहभंग की गूंज साठोत्तर परिवेश में तीव्र हुई है, लेकिन रामदरश मिश्र सरीखे सर्जकों ने प्रारम्भ में ही आजादी के भ्रम को पढ़ने में भूल नहीं की। सन् पचास में रचित अपनी एक कविता में मिश्र जी ने साफ तौर पर रेखांकित किया कि आजादी गरीब और अधिसंख्यक तबके को नहीं मिली', 'नयी यह क्रूर आजादी तुम्हें तो दे गयी है /ताज डाकू का, इन्हें बरबाद कर डाला' (कविता - 'मनाएं क्या दीवाली हम')। यथार्थ की यह तल्ख पहचान 'पक गयी है धूप' और 'कंधे पर सूरज' की कविताओं में और गहन हो गयी है। कवि पाता है-

हवाएं ... हवाएं ...हवाएं
आंसू गैस सी, हवाएं भर गयी हैं
हर आंख में
और हर आदमी स्वतंत्र होकर भी स्वतंत्र होने को छटपटा रहा है।

'स्वतंत्रता', 'जनतंत्र', 'व्यवस्था' की वास्तविकता से रामदरश मिश्र बार-बार साक्षात् करते हैं और अंततः पाते हैं कि मुट्ठी भर लोगों ने सुख-सुविधाओं पर अधिकार कर लिया है। 'जूलूस कहां जा रहा है' संग्रह की 'बरसात गयी' कविता में इस वर्ग विशेष की शिनाख्त सीधे-सीधे हुई है-

मिहनत के संग गाते रोते
हम तो रहे नरक में सोते
काला सुख बटोरकर ऊपर
एक सफेद जमात गयी

लेकिन वे केवल व्यवस्था के दोष-दर्शन तक सीमित नहीं रहते। डॉ. महावीर सिंह चौहान के शब्दों में- "वे वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्विरोधों और असंगतियों को लेकर बेचैन दिखायी देते हैं। यही कारण है कि वे व्यवस्था का एकबारगी निषेध नहीं कर देते, केवल उसमें अन्तर्निहित मानव-विरोधी तत्वों का विरोध ही करते हैं। आज की व्यापक मूल्यगत अराजकता के बावजूद जीवन में निश्चित ही कुछ ऐसा बचा हुआ है, जो संरक्षणीय है, जो मानव-अस्तित्व को अर्थ प्रदान करता है।" डॉ. ब्रजनंदन किशोर ने 'दिन एक नदी बन गया' के संदर्भ में पाया कि उसकी मुख्य चिन्ता क्षय होते हुए सांस्कृतिक मूल्यों की है, जीवन मात्र में अवमूल्यन की है। यह चिन्ता सीधे कवि की संवेदनशीलता से जुड़ी है, यह कोई बौद्धिक विमर्श मात्र नहीं है। जिस कविता को लेकर संग्रह का नामकरण किया गया है, उसमें आज के कठोर यथार्थ के बीच 'संवेदना' के अक्षुण्ण रहने और उसके दूरगामी प्रभाव को सलीके के साथ व्यक्त किया गया है-

हवाएं चिल्लाती रहीं
सूरज अपने घोड़ों पर चाबुक बरसाता रहा।
कुत्ते भूंकते रहे
मशीनें रह-रहकर धक्का मारती रहीं
लेकिन नहीं हिला चट्टान-सा यह दिन
तभी एक फूल कहीं खिलकर मुस्करा पड़ा
और न जाने क्या हुआ कि
दिन थरथरा कर भीतर से पिघलने लगा
और धीरे-धीरे एक नदी बन गया

रामदरश मिश्र ने समकालीन कविता की 'लोकसंपृक्ति' की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह 'लोक' नई कविता के प्रेम और प्रकृति वाले लोक से अलग है। यह 'नयी' सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समझ तथा तेवर के साथ शोषण के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ लोक है। अतः इस लोक से जुड़ने वाली कविता में विद्रोह की चेतना है। समकालीन कविता की दोनों उल्लेखनीय विशेषताएं-लोकसंपृक्ति या जनधर्मिता तथा विसंगतियों और व्यवस्थागत अंतर्विरोध से असहमति और विद्रोह की चेतना, स्वयं मिश्र जी के परवर्ती कविता संग्रहों में विद्यमान हैं और समुचित भाषा विधान और बिम्ब-दृष्टि के सहयोग से व्यंजित हैं।

'कथ्य' और 'शिल्प' की संश्लिष्टता मिश्र जी की सम्पूर्ण कविता-यात्रा के दौरान लक्ष्य की जा सकती है। 'जुलूस कहां जा रहा है', 'आग कुछ नहीं बोलती' भी इसका अपवाद नहीं हैं। कविता-संग्रहों की अधिकतर कविताओं की संरचना सपाट और एकरस न होकर वर्तुल और सुगठित है। नाटकीय शिल्पविधि और चित्रात्मक शिल्पविधि का समुचित सामंजस्य करते हुए कवि ने अर्थग्रहण और बिंबग्रहण कराने में सफलता पाई है। अभिव्यंजना को प्रखर और नव्य बनाने के लिए कई तरह की कथनमुद्राएं अपनाई गयी हैं। 'क्या मेरे भीतर किसी कविता का जन्म हो रहा है' के बिन्दु पर समाप्त हुई 'कविता का जन्म' तथा 'फरवरी' आदि कविताओं में 'आत्मालाप' की मुद्रा है जबकि 'काफिला', 'फिर भी' आदि कविताओं में 'संबोधन' और 'संवाद' की भंगिमाएं हैं। 'काली आंधियां', 'हमारी गली में' में मुद्रा निर्णयात्मक है और 'कब तक', 'गौरैये का जोड़ा' का तेवर प्रश्नवाचक है। 'गीत दो परिदृश्य में' मिश्र जी ने 'गीत' को लेकर प्रचलित दो अतिवादी छोरों का बयान किया है। एक रचनाकार 'गीत' की अवहेलना करते हुए मकड़ी के जाले जैसी कविताएं रचता है तो दूसरा अतिवादी 'गीत' को 'बाजारू' बना देता है। मिश्र जी के 'दिन डूबा', 'बरसात गई', 'खाली हूँ मन भरा-भरा सा' आदि गीत इन अतिरंजनाओं से बचे हुए हैं और युगधर्म की पहचान तथा गहरी आत्मीयता का संश्लिष्ट रूप इनमें विद्यमान है। जिन बिंबों-प्रतीकों-अप्रस्तुतों को मिश्र जी ने अपनाया है, वे समकालीन यथार्थ के मेल में हैं। वर्तमान अव्यवस्था, आतंक और त्रासदी को मूर्त करने के लिए 'आग की लंबी लपटों की आंधियां' और 'चीख-पुकारों का एक विराट जंगल' का प्रयोग सर्वथा सटीक है। इसी तरह 'समय का समुद्र', 'मुट्ठियों में ज्वालामुखी', 'ठंडे अंधेरे में सूर्यमुखी के फूल', 'फूलों का खिलखिलाता झरना' आदि पद भी प्रसंगानुरूप और सार्थक हैं। लेकिन मिश्र जी की कविता चौंकाने वाले और विचित्र अप्रस्तुतों पर निर्भर नहीं है। ये वैचारिकता और संवेदना की सम्यक् अभिव्यक्ति के प्रभावपूर्ण उपकरण के रूप में ही कविता के अंग बन सके हैं। 'बारिश में भीगते बच्चे' संग्रह की कविताओं से भी इस मंतव्य की पुष्टि होती है।

रामदरश जी के गीतों के विषय में यह ध्यातव्य है कि 'भाव' या 'विचार' वहाँ संवेदनात्मक धरातल पर ही उभरते हैं। प्रणयगीतों में भी भावुकता हावी नहीं होती। उनका एक प्रसिद्ध गीत 'एक नीम मंजरी' उदाहरण के तौर पर देख सकते हैं। इसमें आए पद-'आँगन', 'लोहे के द्वार', 'गगन', 'मेघ', 'थरथरी'-सब समग्र रूप में असाधारण लगाव को बहुत सलीके से संप्रेषित कर गए हैं-

एक नीम मंजरी
काँप रहे लोहे के द्वार
आज मगन मेरे घर झुक गया
भटका सा मेघ यहां रुक गया
रग-रग में थरथरी....

'हँसी होठ पर आँखें नम हैं' में संकलित ग़ज़लों में भी संवेदनात्मक स्तर पर जीवन के प्रति आस्था को जगाए रखने और गलत-गलित का प्रतिवाद करने की सफल कोशिश मिलती है।

मिश्र जी के रचना-संसार में केन्द्रस्थ व्यवस्था-विरोध बहुत व्यापक है। इसमें जहाँ वर्ग-भेद का विरोध है, वहीं नारी की दासता और पराधीनता को लेकर गहरी चिंता है। दलित-चेतना मिश्र जी के कई उपन्यासों-कहानियों में बहुत जगह घेरती है। नारी-मुक्ति की छटपटाहट मिश्र जी के 'बिना दरवाजे का मकान', 'जल टूटता हुआ', 'रात का सफर' आदि उपन्यासों तथा 'एक अधूरी कहानी', 'बेला मर गयी', 'लड़की' आदि कहानियों में द्रष्टव्य है।

'बिना दरवाजे का मकान' की दीपा पेट की भूख, संतान की भूख, औरत की अपनी भूख के साथ-साथ सुरक्षा की भूख से एक साथ लड़ रही है। मल्लाह जाति की यह युवती महानगर में मेहनत-मजूरी करके जी रही है और अपने अपाहिज पति का भी पालन कर रही है। गांव में रूपन सिंह का हाथ दांतों से काटकर वह जिस 'यौन शुचिता' की रक्षा करती है, वह उसके महानगरीय जीवन में भी अक्षुण्ण रहती है। ऐसा नहीं कि देह की भूख उसे पीड़ित नहीं करती, लेकिन वह उससे जूझ पाने में सफल होती है। बसंत को वह समर्पित हो जाती है। लेकिन यहां 'यौन शुचिता' की रक्षा करने में पहल बसंत करता है। 'स्वाभिमान' और 'स्वावलंबन'- दीपा के व्यक्तित्व के दो आकर्षक पक्ष हैं और दोनों मिले हुए हैं। इनके बूते पर वह किसी भी असंगति और अन्याय का प्रतिवाद कर पाती है। एक जगह उसका कथन है- "हाथ-पाँव सलामत होने पर अपने मरद की भी धौंस नहीं सहते बीबीजी! हम लोग खुद अपने बल पर जी सकती हैं। एक मरद बिगड़ैल निकलेगा, उस ससुरे को छोड़कर दूसरा कर लेंगे। लेकिन आप लोग तो वहीं सड़ती रहेंगी, घर के अंदर सारा नरक भोगती रहेंगी और इज्जत का परदा टँगे रहेंगी।" इस अवतरण में मध्यवर्गीय नारी और मेहनतकश नारी के सोच और कर्म के अन्तर को समझा जा सकता है। मेहनतकश नारी को 'पातिव्रत', 'सतीत्व' से ज्यादा 'श्रम की शक्ति' में विश्वास है। यह कथन कथित नारी-मुक्ति की दिशा नारी के आर्थिक स्वावलम्बन में निहित होने का संकेत भी देता है।

'थकी हुई सुबह' की लक्ष्मी कई अवसरों पर नारी के लिए निर्दिष्ट 'अवमूल्यों' के प्रति विद्रोह करती है। समाज में पुरुष को श्रेष्ठ और नारी को अधम मानने वाली विचारधारा को खारिज करते वह कहती है-"बेटी-बेटे का भेदभाव माँ-बाप के प्रति संतान के कर्तव्य को भी बांट देता है। पता नहीं किसने यह नियम बना दिया कि बेटी की हर चीज माँ-बाप के लिए अछूत है। तो सुन लीजिये, मैं भी कोई निर्जीव चीज नहीं हूं कि जहां जैसे डाल दी जाऊँ, पड़ी रहूंगी।" लक्ष्मी का विद्रोह भाव उसके अपने कटु अनुभवों के भीतर से उपजा है और वह सोचती रही है- क्या स्त्रियों को दूसरा ईश्वर पैदा करता है या उसके यहां नारी-पुरुष के लिए दो नियम हैं?" पति के पलायन कर जाने के बाद वह अपनी शिक्षा पूरी करती है और स्वावलम्बन की शक्ति से सम्पन्न हो जाती है। हालांकि रामधन मिश्र के प्रति समर्पित होना उसके तेज को कम करता है। वह पुरुषों की लोलुपता को देखते हुए एक ताकतवर पुरुष के साथ खुद को जोड़ लेना 'सुरक्षा' की दृष्टि से ठीक समझती है। यह निर्णय किसी नये 'मूल्य' के उदय का द्योतक नहीं है, बल्कि विकल्पहीनता की विवशता मात्र है।

नारियों की तरह ही रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आये दलित चरित्र भी मानवीय और जनतांत्रिक मूल्यों के लिए जूझ रहे हैं। उपन्यासकार ने अपनी उपन्यास-यात्रा के प्रथम चरण से लेकर आज तक दलितों के उत्पीड़न का न केवल खुला विरोध किया है, अपितु समता, समानता, न्याय आदि मूल्यों का जबर्दस्त समर्थन भी किया है। 'जल टूटता हुआ' में हरिजनों या दलितों में अपने प्रति होने वाले अन्याय की चेतना जड़ पकड़ चुकी है। वे सामंती शक्तियों से जूझने भी लगे हैं। जगपतिया का खेत महीप सिंह नहीं कटवा पाते क्योंकि वह गरीब, अछूत और पिछड़े वर्ग के वंचितों को एक-जुट और संघर्ष-सक्षम बनाने में सफल होता है। उपन्यासकार की यह चिंता उपन्यासों में कई जगह सिर उठाती है कि लोग अकेले-अकेले क्यों प्रतिवाद करते हैं। यह निर्भ्रान्त है कि बिना सामूहिक संघर्ष के कुछ भी हासिल नहीं होगा। "बिना दरवाजे का मकान' में कहा गया है : "डी.टी. सी. हो या और कोई व्यवस्था, जब तक उसे एक बड़े समूह से टकराने का भय नहीं होता, कुछ नहीं करती।" 'आकाश को छत' में दलित जन कामरेड जगत के नेतृत्व में एकजुट हो रहे हैं। कामरेड जगत अकेली लड़ाई और किसी एक के प्रति केन्द्रित लड़ाई के अन्तर्विरोधों से अवगत हैं। वे अन्तिम विकल्प के तौर पर हिंसा को त्याज्य नहीं मानते-"हमें तो उस व्यवस्था को खत्म करना होगा, जिसमें सेठ पैदा होते रहते हैं, लेकिन यह भी तुम ठीक ही कहते हो कि हमें कभी-कभी सेठ को भी मारना होता है।"

शिक्षा और संगठन ने दलित वर्ग को जो मजबूती दी है, इसका प्रमाण 'बीस बरस' उपन्यास में भी है। इस उपन्यास में हरिजन युवती पढ़-लिखकर अध्यापिका बन गयी है और सवर्ण लफंगों से डरती नहीं है-"अब वे दिन गये जब ऊँची जाति के लफंगे हमें इस्तेमाल की चीज समझते रहे हैं।" आर्थिक स्वावलंबन ने दलितों को शक्ति प्रदान की है। 'बीस बरस' में दलितों के टोलों की आर्थिक स्थिति सुधर रही है और सुखदेव जैसे लोग उन्हें समता-समानता का पाठ पढ़ाकर अधिकारों के लिए लड़ना सिखा रहे हैं।

"मैं अपने लोगों को सिखाता हूं कि तुम किसी से छोटे नहीं हो। तुम लोग अपनी मेहनत की कमाई खाते हो, फिर किसी के आगे झुकने का क्या मतलब? वे भी इंसान हैं, तुम भी इंसान हो। तुम्हें सारे इंसानी हक मिलने ही चाहिए।"

व्यवस्था-विरोधी चिंतन की चमक मिश्र जी की 'सड़क', 'एक वह', 'कर्ज चक्र', 'मुर्दा मैदान', 'सर्पदंश' आदि की परवर्ती कहानियों में द्रष्टव्य है। यथास्थिति से अहसमति और परिवर्तनकामी मानसिकता के साथ उपयोगी और प्रासंगिक पुराने मूल्यों को मिश्र जी ने तिरस्कृत नहीं किया है। सम्भवतः दृष्टि के फैलाव का ही सुफल है कि मिश्र जी की अधिकतर कहानियाँ एकायामी नहीं हैं। उनमें 'संश्लिष्ट यथार्थ' की अभिव्यक्ति हुई है, जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विभिन्न संदर्भों को स्वयं में आत्मसात् किये हुए है। उदाहरण के लिए 'एक अधूरी कहानी', 'लड़की' आदि कहानियों में केवल चरित्र विशेष की पीड़ा मुखर नहीं है, पूरी व्यवस्था को इनमें कटघरे में खड़ा कर दिया गया है। अपने साथ रहे दुर्व्यवहार के उत्तर में सावित्री का 'लड़की हूं न' कहना हमारी सामाजिक व्यवस्था की कुरूपता का आईना बन गया है। 'एक अधूरी कहानी' में पुरुष-नारी के लिए अलग-अलग नैतिकता, गंदी बस्तियों का जीवन, न्याय-व्यवस्था की खामियां आदि बहुत-से सवाल परस्पर

घुले-मिले हैं। इस तरह 'मिसफिट' केवल एक विद्रोही बच्चे की कहानी नहीं है, इसमें समूची शिक्षा पद्धति के अन्तर्विरोध उभरे हैं। भारतीय संस्कृति के झण्डाबरदार भी अंग्रेजी मीडियम के स्कूलों को वरीयता देते देखे जा सकते हैं। यही नहीं, "जो बड़े पब्लिक स्कूल हैं, वहां तो प्रिन्सिपल खुलेआम इंग्लिश के रस में भीगा हुआ जूता लगाते हैं और जूता खाने के लिए बड़े-बड़े नेताओं, अफसरों और व्यापारियों की भीड़ खड़ी रहती है।"

'एक वह', 'मुर्दा मैदान', 'सड़क' आदि कहानियों में वर्तमान व्यवस्था का मानव-विरोधी चेहरा मूल्यों के अवमूल्यन से जुड़कर और वीभत्स हो गया है। 'सड़क' में पांडे जी का खादी छोड़ने का निर्णय अर्थगर्भित और व्यंजनापूर्ण है। जब खादी अवसरवाद, स्वार्थ और बेईमानी का आवरण बन जाये तो उसे छोड़ना ही ठीक है। 'एक वह' में जनसाधारण तक यह समझ गया है कि समाजवाद, गरीबी हटाओ जैसे नारों की वास्तविकता क्या है? ताऊ ने सही समझा है कि समाजवाद सेठों, अफसरों और नेताओं के लाभ की चीज है। गहरी आर्थिक असमानता के लिए जिम्मेदार तत्वों की शिनाख्त करते हुए मिश्र जी ने इसके निवारण हेतु एकजुट और संगठित संघर्ष की आवश्यकता अनुभव की है। 'मुर्दा मैदान' में मलखा का यह कथन गौरतलब है, 'संगठन करके तो देखो, कैसी आग फूटती है, तुम लोगों के भीतर से।' 'सर्पदंश' में गोकुल के लड़के का अपने जातिभाइयों को सूचित करना भी मिल-जुलकर संघर्ष करने की प्रासंगिकता का व्यंजक है। बाद की कहानियों में उभरी 'निर्णयशीलता' मिश्र जी की वैचारिक परिपक्वता और स्पष्टता का प्रमाण है। बोध को इतना साफ और प्रासंगिक बनाने में उन अनुभवों का योगदान नगण्य नहीं है, जिन्हें दो नदियों के बीच घिरे कछार अंचल के परिवेश को खुद जीते हुए मिश्र जी ने अनुभव किया है।

मिश्र जी के प्रेरणास्रोत कछार अंचल को उसकी समग्रता में आत्मवृत्त 'सहचर है समय' में देखा-पढ़ा जा सकता है। मिश्र जी का 'समय' को सहचर मानना उनकी गहरी परिवेश संपृक्ति का द्योतक है। मिश्र जी का बचपन राप्ती-गोर्रा नदियों के बीहड़ कछार में बाढ़ की मार से लेकर अभाव और उपवास के दंश भी झेलता है। प्रारम्भिक शिक्षा भी इसी क्षेत्र में सम्पन्न होती है। हालांकि मिश्र जी के जीवन का बड़ा हिस्सा, बनारस, गुजरात और दिल्ली में बीता है, लेकिन कछार अंचल उनमें भीतर तक धंसा हुआ है। यही उनकी वास्तविक जमीन है-"इस जमीन से ही मेरे अनुभव बने हैं, मेरी दृष्टि बनी है ओर बना है वह देसीपन जो मुझे चमकीले से चमकीले विदेशी आकर्षण के प्रति आतुर नहीं होने देता।" मिश्र जी की आत्मकथा आत्ममुग्धता और बड़बोलेपन से मुक्त है। इससे उनकी रचना-प्रक्रिया, जीवन-संघर्ष और मूल्य-दृष्टि का प्रत्यक्ष बोध होता है। इसे पढ़कर मिश्र जी की सर्जना के सत्य को चीन्हने में सुविधा होती है। उनकी एक गज़ल की ये पंक्तियां सम्पूर्ण आत्मवृत्त पर सटीक हैं-

किसी को गिराया न खुद को उछाला
कटा जिन्दगी का सफर धीरे-धीरे

'सहचर है समय' में उपन्यास का सा रस है, लेकिन है यह आत्मकथा ही। सनसनी खोजने वालों को यह आत्मकथा निराश करेगी, लेकिन मिश्र जी के बहुआयामी लेखन और कद्दावर व्यक्तित्व को समझने में इसकी उपयोगिता भरपूर है। 'स्मृतियों के छंद' में संकलित उनके संस्मरण भी उनके 'देसीपन' की प्रेरणाओं और प्रभावों की पहचान में सहायक हैं। विशेषतः साहित्यिक विभूतियों-आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, उमाशंकर जोशी, भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजा कुमार माथुर आदि- पर आधारित संस्मरण विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके संबंध में मिश्र जी की स्वीकारोक्ति है कि "कुछ ऐसे होते हैं जो अपनी जीवन्तता, सहृदयता और प्रतिभा के कारण महक-महक उठते हैं।" 'घर-परिवेश' की कई रचनाओं में भी मिश्र जी स्मृतियों में डूबते-उतराते अतीत की दुर्लभ महक को महसूसते हैं। उनके ललित निबंधों में ललित निबंध के परम्परागत मुहावरे से हट कर सामाजिक-आर्थिक विडम्बनाओं पर विचार किया गया है। परिवेश-सम्पृक्ति इन निबंधों की अनिवार्य विशेषता है।

मिश्र जी के तीनों यात्रावृत्त सूचनाधर्मी होने के साथ-साथ मार्मिक और विचारोत्तेजक प्रसंगों से भी समृद्ध हैं। 'तना हुआ इंद्रधनुष' में उत्तर कोरिया की यात्रा है, जबकि 'भोर का सपना' में दक्षिण कोरिया का यात्रा-विवरण है। 'पड़ोस की खुशबू' में इंग्लैंड-प्रवास और नेपाल-यात्रा के प्रसंग अधिक स्थान घेरते हैं। दक्षिण कोरिया और उत्तर कोरिया को विभाजित करने का साम्राज्यवादी उपक्रम देखकर न केवल रचनाकार उदास होता है, अपितु अपने देश-विभाजन की पीड़ा को भी महसूस करने लगता है-"यह समान्तर रेखा मुझे उदास कर गयी। उत्तर कोरिया की यात्रा में भी कर गयी थी। घर बंटने का दर्द हम हिन्दुस्तानी लोग भी जानते हैं।" (भोर का सपना)। जाहिर है इन यात्रा-विवरणों में भी 'समय' अधिक मुखर है, रचनाकार का 'स्व' उस पर हावी नहीं हुआ है।

मिश्र जी उन गिने-चुने रचनाकारों में एक हैं जो कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा के भी धनी हैं। 'हिन्दी आलोचना का इतिहास', 'आधुनिक हिन्दी कविताः सर्जनात्मक संदर्भ', 'हिन्दी कहानी : अंतरंग पहचान' आदि कृतियों में उनके काव्यालोचन और कथालोचन की शक्ति को देख सकते हैं। 'लोकोन्मुखता' मिश्र जी को विशेषतः काम्य है। इस कसौटी पर 'मानस' उन्हें आश्वस्त करता है और अज्ञेय की कविताएं निराश करती हैं। मिश्र जी प्रगतिशील प्रतिमानों से साहित्य की परख करते हैं, लेकिन किसी विचारधारा या वाद को साहित्य पर हावी होने देने के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार- "पहचान कविता की दृष्टि से की जाये तो बहुत-सा अनावश्यक वितंडावाद शांत हो जाये और तब शायद 'राम की शक्ति पूजा' की अपेक्षा 'कुकुरमुत्ता' को और केदारनाथ अग्रवाल

आदि परवर्ती प्रगतिवादी कवियों की अच्छी सौन्दर्य संदर्भित कविताओं की अपेक्षा उनकी हल्की प्रचारवादी कविताओं को महत्व देने की सनक बन्द हो जाए...।"

किसी कृति से मिश्र जी की यह अपेक्षा अनुचित और अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती कि उसमें मानवीय दृष्टिकोण से गहरे और व्यापक यथार्थ का चित्रण हो। बहुत सपाट तरीके से निष्कर्षों की ओर ले जाने वाली किताब 'कृति' नहीं हो सकती। इसीलिए श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'घर' के संदर्भ में निचोड़वादी कहानियों और समीक्षाओं की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। हालांकि पूर्व निश्चित निष्कर्षों और फतवों की वैशाखियों पर चलने वाली 'समीक्षा' के अन्तर्विरोध शीघ्र ही उजागर हो जाते हैं, फिर भी इसका एक दुष्परिणाम यह होता है कि रचनाधर्मिता अपने बल पर जो रास्ता बनाती है, उसकी सही परख नहीं हो पाती। यदि आलोचक कृत्रिम कटघरे में खड़े होकर साहित्य के सही आकलन में बाधक बन जाता है और कुछ ऐसे निर्णय दे जाता है, जिसकी सही-गलत अनुगूँज इतिहास की लम्बी दूरी तक व्यापती रहती है तो उसे काटने के लिए बाद के लोगों को श्रम करना पड़ता है। नामवर सिंह की अनेक स्थापनाओं को खारिज करने के पीछे समीक्षक की सही समझ सक्रिय है। अतिरंजना मिश्र जी को पसंद नहीं। वे कभी अनुभव और विचार के संतुलन पर जोर देते हैं तो कभी दृष्टि और यथार्थ के सामंजस्य की चर्चा करते हैं। उनकी कथा-समीक्षा में संतुलन को एक प्रमुख औजार के रूप में देखा जा सकता है। नागार्जुन के उपन्यासों की सराहना इसी आधार पर हुई है कि वे जन-सामान्य के जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से उभारते हैं और कहीं भी लाउड या असंयमित नहीं होते। इसके विपरीत 'कटरा बी आर्जू' में व्यक्तिगत दृष्टि अधिक मुखर हो उठती है, अतः संतुलन गड़बड़ा जाता है। जाहिर है कि समीक्षा करते समय आग्रहमुक्त होकर बेबाक, दो टूक और निर्भ्रान्त मत व्यक्त करने की क्षमता मिश्र जी में भरपूर है। वे किसी व्यक्तित्व से आक्रांत नहीं होते, उनके सामने सिर्फ कृति या कृतियां होती हैं।

मिश्र जी ने अपनी एक कविता में लिखा है- "मेरे हाथ में सोने की नहीं / सरकंडे की कलम है / सरकंडे की कलम / खूबसूरत नहीं सही / लिखती है / वह विरोध के मंत्र लिखती है।" उनकी समग्र रचना-यात्रा 'सही' लिखने और गलत का विरोध करने के साहस से प्रेरित और पुष्ट है। यह बात और है कि उन्होंने जो लिखा है, 'खूबसूरत' भी है। मिश्र जी की कृतियों का जो भी मूल्यांकन या आलोचना हुई है, प्रायः कथ्य की मीमांसा तक सीमित है। उनके भाषा-सौन्दर्य, विशेषतः क्रियापदों के विविध और अर्थ-व्यंजक प्रयोग, उनकी बिम्ब-सृष्टि, अनुभवों-विचारों को कथात्मक रचाव देने के कौशल की परीक्षा अभी शेष है। समग्रतः मिश्र जी की रचना-यात्रा अपने विविध पड़ावों और उपलब्धियों के फलस्वरूप न केवल चकित करती है अपितु मौजूदा हिंसक और अराजक समय में साहित्य के हस्तक्षेप और जरूरत भी रेखांकित करती है।

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़

गुरु बचन सिंह

यह राइटर क्या होता है?

इस घटना को कई वर्ष बीत चुके हैं, जिसकी मैं आज चर्चा कर रहा हूँ। यह घटना थी या नहीं, कि महज एक संयोग है, फैसला करना भी मुश्किल है। कौशल मातो एक भविष्यवक्ता था, जिसकी सच्चाई को मैंने बहुत अर्से के बाद जाना-समझा।

कौशल किशोर मेरा सहपाठी था, और स्कूल में हम एक ही बेंच पर बैठा करते थे। एक दिन वह बोला- तुम क्या कोई राइटर हो जो यह पैन हमेशा अपनी उंगलियों में फंसाए रहते हो?

मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था।

कौशल किशोर माथुर बड़ी तीव्र बुद्धि का लड़का था। रंग गोरा साफ, मुस्कुराता हुआ चेहरा। वह टाटा स्टील के एजूकेशन डिपार्टमेन्ट के एजूकेशन ऑफिसर का लड़का था।

वह लगभग मेरा दोस्त ही था। मेरा मैथमेटिक्स अच्छा था। पर उसकी इंगलिश सुंदर थी। ये दोनों विषय हमें एक-दूसरे के करीब ले आए थे।

मेरी बड़ी इच्छा होती कि मैं उससे पूछूं, कौशल यह 'राइटर' क्या होता है। पर मैं यह समझकर उससे यह प्रश्न नहीं करता था कि वह मेरे इस प्रश्न पर मुझे अनाड़ी और मूर्ख न समझ बैठे। राइटर जैसे साधारण शब्द के मुझे अर्थ नहीं आते। कोश में बड़ी मुश्किल से जब इस शब्द के अर्थ देखने की कोशिश की तो दिमाग और चकरा गया। इस शब्द का हल्का-फुल्का अर्थ मैंने तब पाया जब स्कूल की लाइब्रेरी से कथा-कहानियों की पुस्तकें लेकर पढ़नी शुरू कीं।

सप्ताह में एक दिन एक पीरियड ऐसा भी होता जिस दिन क्लास में लाइब्रेरी से पढ़ने के लिए पुस्तकें बाँटी जाती थीं, जो आठ-दस दिन बाद क्लास टीचर को लौटानी पड़ती थीं। ऐसा इसलिए होता था कि स्कूल के विद्यार्थियों में कोर्स की पुस्तकों के अतिरिक्त, विभिन्न विषयों पर लिखी गई अन्य पुस्तकों को पढ़ने का भी शौक पैदा हो।

कौशल के साथ मेरा अधिक दिनों तक साथ नहीं रह सका था। वह किन्हीं कारणोंवश, शायद अपने पिता के रिटायरमेंट के बाद जमशेदपुर से लखनऊ या आगरा चला गया था। उसकी स्मृति रह गई थी। अफसोस इस बात का था कि मैं उसके मुंह से 'राइटर' शब्द का अर्थ नहीं जान पाया था।

मेरा जन्म एक मजदूर परिवार में हुआ था। उस मजदूर ने जब नौकरी से अवकाश ग्रहण किया, एक मिल का लोको इंचार्ज था और लोग उसे सलाम करते थे।

मैं मजदूर परिवेश में पला, बड़ा हुआ। बरसों क्वार्टरों में जीवन बिताया। ऐसे क्वार्टरों में, जहां न कभी बिजली होती थी न पीने का पानी। पीने के लिए पानी कम्पनी के पब्लिक नल से बाहर से लाना पड़ता था। घर में किरासन तेल की लालटेन जलती थी। पाखाने के लिए आम शौचालय में जाना पड़ता था।

जब मैं ढेर सारी पुस्तकें पढ़ने और कुछ कवि सम्मेलनों में जाने के बाद राइटर, लेखक या कवि होने का कुछ-कुछ अर्थ जान चुका था तो मेरी इच्छा हुई, क्यों न मैं भी अपने विचारों को कागज पर अंकित करूं। और यह काम मैंने गुप्त रूप से प्रारम्भ कर दिया। मैं स्वभाव से काफी भावुक हूं। जो काम मैं गुप्त रूप से करता उस से मेरे मन का बोझ काफी हल्का हो जाता। परन्तु मुझे अपने लेखन से संतुष्टि नहीं होती थी क्योंकि उसमें भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की कमी होती थी। मुझे लगता मैं वह कुछ उचित ढंग से नहीं कर पा रहा हूं जो करना चाहता हूं क्योंकि इसमें मैं मन को छू लेने वाला प्रभाव पैदा नहीं कर पाया हूं जैसाकि होना चाहिए था। बड़ी निराशा होती मुझे।

मेरे लेखन का संसार था कामगारों की दुनिया, स्त्रियां, मजदूरों के मुहल्ले, गलियां, जंगल, वनवासी, आदिवासी तथा वे ग्रामीण खेत जो खाड़काई और स्वर्णरिखा के उस पार थे। नगर से सटे-सटे, सिर्फ बीच में नदी पड़ती थी। नगर के बीचोबीच कारखाना। उसकी ऊँची-ऊँची धुआँ और कहीं आग उगलती हुई चिमनियां। कितना अजीब दृश्य था। एक ओर प्रकृति का उन्मुक्त वातावरण, दूसरी ओर मशीनी या औद्योगिक दौर की दमघोंटू फिजा। मेरी कहानियों, लेखों, कविताओं के यही विषय हैं जिसके चलते मैं कुछ पहचान में आया। फिर मैं उन आम लोगों से जुड़ गया, जो कहीं भी देखे-समझे जा सकते हैं।

जब मैं बारह-तेरह साल का था, और हाई स्कूल का छात्र था तो मेरे पिता को रिहायश के लिए बड़ा क्वार्टर मिला था, तब पहली बार घर में बिजली की रोशनी देखने को मिली थी। इस रोशनी में पढ़ने-लिखने की सुविधा महसूस की। मेरा एक दोस्त था, पंजाबी, मुसलमान लड़का। वह उम्र में मुझसे तीन-चार साल बड़ा था। देखने में तन्दुरुस्त। उसे पुस्तकें पढ़ने का बड़ा शौक था। मेरे पढ़ने के शौक की पूर्ति उसके द्वारा होती थी। आज उसे मरे लगभग साठ वर्ष बीत चुके हैं। पर अब भी मैं उसे अपने पास ही पाता हूं।

कुछ संयोग और कुछ घटनाएं इस प्रकार घटीं कि मैं धक्के खा-खाकर शिक्षा पूरी कर पाया। पिता मुझे इंजीनियर के रूप में देखना चाहते थे, जो कि दूर का सपना था। मजदूर; क्लर्क और फिर ऑडिटर बन गया। वाणिज्य या एकाउंट्स से जुड़ा रहा। लम्बी कहानी है। मुहल्ले के लोग 'कवि चाचा' के रूप में जानते-पहचाने हैं। लेखक के रूप में भी जाना जाता हूं।

यह भी एक दुःखद घटना थी कि मेरे आस-पड़ोस गली का कोई

लड़का पांच-सात क्लास से आगे नहीं पढ़ा था। यह था वह प्रवेश, जहां से मेरा लेखन आरम्भ हुआ। मन में बड़ी इच्छा थी कि मैं यह लिखूं, वह लिखूं। लेकिन कहां से आरम्भ करूं, कहां अन्त करूं, इस पर काफी सोचना पड़ता था। इस संबंध में मैंने कभी किसी से कुछ पूछने, जानने और समझने की कोशिश नहीं की। अपना गुरु आप था।

मैं जो पहली कहानी स्वयं रचित कविता की पंक्तियों के साथ लिख पाने में सफल हुआ था वह थी नदी की बाढ़ में बहते हुए एक गिद्ध की छटपटाहट पर जो जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष कर रहा था। इसे कुछ विस्तार से मैं 'कहानीकार' के स्तम्भ 'मेरी रचना प्रक्रिया' के अन्तर्गत कह चुका हूं। उस कहानी को पढ़कर मैं खुद ही रोया था।

पशु-पक्षी और जानवरों से लगाव शुरू ही से रहा है।

एक बार ऐसा हुआ कि समाजवादी पार्टी की ओर से, शायद अखिल भारतीय स्तर का सम्मेलन झरिया में हुआ था। उसमें आचार्य नरेंद्र देव पधारे थे। मेरा छोटा भाई जो समाजवादी पार्टी का सक्रिय कार्यकर्ता था और जयप्रकाश जी का अनन्य भक्त था, की अगुवाई में हम कुछ नौजवान कोयले की दुनिया में पहुंच गए। वहां तीन-चार दिन रहना पड़ा। वहां के मजदूर, उनके काम करने का ढंग, वहां के लोग। यह पचास-साठ साल पहले की घटना थी। आज जो आग झरिया की कोयले की खदानों में फैली हुई है वह आग उस समय भी धरती की छाती में सुलग रही थी।

उस वातावरण में काम करनेवाली स्त्रियों को ध्यान में रखते हुए मैंने जो भावपूर्ण कहानी 'न जाने कब' लिखी थी वह मेरी पहली प्रकाशित कहानी थी जो हिंदी की अपेक्षा उर्दू की एक श्रेष्ठ पत्रिका 'साकी' के कहानी विशेषांक में टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुई थी। मैं उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं में लिख लेता था। हिन्दी की एक पत्रिका में मैंने यह कहानी भेजी थी। न जाने कहानी का क्या हुआ। मुझे तो पत्रिका का नाम भी याद नहीं रहा। ऑडिटिंग के सिलसिले में मुझे लोहे, कोयले आदि की खदानों में महीनों रहना पड़ा था।

कोलकाता से हिन्दी की एक पत्रिका प्रकाशित होती थी 'नया समाज'। साहित्यिक पत्रिका थी। कहानियां उसमें एक-दो ही रहती थी। शेष विभिन्न विषयों पर लेख आदि। श्री विष्णु प्रभाकर के नाटक नियमित रूप से उसमें प्रकाशित होते थे। सम्पादक थे मोहन सिंह सेंगर। नए लेखकों को प्रोत्साहित करते थे। रांगेय राघव जैसे लेखक का परिचय 'नया समाज' में छपा था। सेंगर साहब ने मुझे नियमित रूप से हिन्दी पत्रिकाओं में लिखने को प्रेरित किया। देश का बंटवारा हो चुका था। लेखन जगत की परिस्थितियों में फर्क आ गया था। विस्तार में जाना उचित नहीं।

मैंने 'देवता' नाम की कहानी सेंगर जी को भेजी। कहानी उन्हें बहुत पसन्द आयी' पाठकों को भी। मुझे तब आश्चर्य हुआ जब, सेंगर जी ने मुझे लिखा- आचार्य गुरु देव मलिक इस कहानी का अनुवाद 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' के पूजा विशेषांक के लिए अंग्रेजी में करना चाहते हैं। अनुमति मांगी थी। सो 'देवता' शीर्षक मेरी वह पहली कहानी थी जो पहले हिन्दी में छपी, फिर अन्य भाषाओं में। यह कहानी मेरे कहानी संग्रह 'युग और देवता' में शामिल है।

यह भी विचित्र लगता था कि मैं जो कहानियां लिखता था, उन पर प्रगतिशीलता हावी थी। जो कविताएं लिखता था वे छायावाद की परिधि में आती थीं। धीरे-धीरे मैंने कविताएं लिखनी बंद कर दीं। कवि सम्मेलनों में जाना भी बंद कर दिया। मुझे याद है कि श्री हंस कुमार तिवारी गया से एक पाक्षिक या साप्ताहिक पत्रिका, शायद 'आरसी' निकाला करते थे। मैंने एक बार उन्हें अपनी ओर से एक कविता छापने के लिए भेजी। वह कविता इस टिप्पणी के साथ लौटा दी गयी, कृपया कविता भेजने से पहले आप इसे किसी को दिखा लिया कीजिए।

बड़ी ठेस लगी थी। परन्तु तिवारी जी का सुझाव ठीक था।

मैं हिन्दी में निरंतर लिखने लगा। आज लगभग पचास वर्षों से लिखता आ रहा हूं। इस अर्से में मैंने हिन्दी की सभी अच्छी पत्रिकाओं में लिखा। उस समय तो नया साहित्य हंस, प्रवाह आदि प्रगतिशील पत्रिकाएं कहलाती थीं। इसके अतिरिक्त अन्य कई साहित्यिक पत्रिकाएं थीं जिनमें मैंने लिखा, जैसे कल्पना, लहर, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कहानी, कहानीकार, उपन्यास, माध्यम, संचेतना, रविवार, सम्बोधन, भारतीय साहित्य, अनेक नाम हैं जिनकी सूची लम्बी है। और यादें धुंधली पड़ रही हैं।

प्रकाशित कहानी संग्रहों की संख्या सात है। आठवां संग्रह, आशा है, इस वर्ष प्रकाशित हो जाएगा।

प्रकाशित उपन्यासों की संख्या छह है। एक उपन्यास प्रकाशित होने से पहले, फिल्म प्रोड्यूसर तथा नायक मनोज कुमार ले चुके हैं। प्रकाशन के अधिकार मेरे पास हैं। मौके का इन्तजार है।

इसके अतिरिक्त चार कहानी संग्रह और दो उपन्यासों के लिए चिंतित हूं। तीसरा लिख रहा हूं, जो लगभग एक हजार पृष्ठों का होगा जो साहित्य, इतिहास, धर्म, दर्शन से संबंध रखता है। काल-अफगानियों का पतन और मुगलों की आमद।

रचनाओं के लिए छः-सात संस्थानों की ओर से सम्मानित और पुरस्कृत हुआ जिनमें राधाकृष्ण पुरस्कार और राष्ट्रभाषा परिषद् की ओर से प्रदान सम्मान आदि भी शामिल हैं। रचनाओं पर शोधकार्य हुआ। मुझे अपना कथा संग्रह 'अरण्य कुछ कहो' काफी अच्छा लगता है क्योंकि इसमें केवल झारखण्ड क्षेत्र की और वनवासी माहौल ही की कहानियां हैं।

मेरी रचनाओं के लगभग सभी पात्र, पात्राएं मेरे देखे-सुने और दूर

या निकट से सम्पर्क में आए लगते हैं। भले ही वे लोहे और कोयले की दुनियां के न हों। भले ही उनका संबंध, कारखाने, दफ्तर या जंगल-पहाड़ से न हो। भले ही वे शाल पुष्प और महुआ की गंध से भरी हवा में सांस न लिए हों, परन्तु उनका चित्रण करने वाला तो इसी माहौल की उपज है।

लगभग इकतालीस वर्ष दफ्तर की नौकरी में बिताए। चालीस-पचास-साठ पार कर गया। इस दौरान काफी कुछ घटा। इन इकतालीस वर्षों का इतिहास लम्बा है। मैंने कब किन परिस्थितियों में कौन-सी कहानी लिखी, किस घटना को किस कहानी से जोड़ा- कहना कुछ मुश्किल है। दफ्तरों के अफसरों से मेरी कभी नहीं बनी। शिकायतें, रिपोर्ट, धमकियां, पर न मुझे कोई नौकरी से निकाल सका, न मैं छोड़ने का साहस कर सका। दफ्तर की नौकरी के कारण मैं उतना नहीं लिख पाया, जितना लिख सकता था। उन चालीस वर्षों में शनिवार और इतिवार मेरे लिखने का दिन होता था। क्योंकि शनि के दिन आधे दिन की और इतवार को पूरी छुट्टी होती थी। कुछ बड़ी या लम्बी रचनाओं का सृजन छुट्टियां लेकर, कृत्रिम रूप से बीमार पड़कर मेडिकल लीव लेकर कर किया था। सन बावन में टिस्को में जो हड़ताल हुई थी, इससे जमशेदपुर के औद्योगिक क्षेत्र में एक तहलका-सा मच गया था। उस हड़ताल में एक टिस्को वर्कर के नाते मैं भी शामिल था। परिस्थिति का प्रहार झेलते हुए मैंने एक लघु उपन्यास लिखा था 'लोहे के देवता'। यह 'चित्रगुप्त', मेरे कृत्रिम नाम, से छपा था। श्रीपत राय तथा श्याम संन्यासी से मेरा अनुरोध था वे मेरा नाम और पता किसी को न बताएं। यह उपन्यास 'उपन्यास' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। एक लम्बे समय तक यह रहस्य बना रहा कि यह उपन्यास किसने लिखा है।

'सारिका' में कभी लिखा था-'गर्दिश के दिन', कहानीकार में 'मेरी लेखन प्रक्रिया' और अब यह 'यह राइटर...?'। मात्र एक लघु परिचय, लेखन संबंधी। समय के साथ विषय और लेखन में परिवर्तन आता गया। मेरी कहानियां उन सब पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई, जो सिर्फ कहानियां छापती थीं, जो प्रगतिशील विचारों की, जनवादी विचारों की, जो नई कहानी, सचेतन कहानियाँ, आम आदमी की कहानी, दलित पृष्ठभूमि की रचनाएं छापती थीं। मैंने यह सोचकर लिखा कि रचनाकार को अपनी पृष्ठभूमि, अपनी जमीन पर ही ऐसी तलाश होनी चाहिए जो समय की मांग की पूर्ति कर सके।

हिन्दी को चाहे राष्ट्रभाषा कहा जाए, या राजभाषा, इसका दामन इतना विशाल होना चाहिए कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सब दिशाएं इसमे समा जाएं। लेखक अपने आपको उपेक्षित न समझे। उसे उसकी रचना के अनुसार साहित्य में उचित स्थान मिले।

बिहार के लेखक, इसमें झारखण्ड के लेखक भी शामिल हैं, प्रकाशन के मामले में प्रकाशकों द्वारा नकारे जाते हैं। मैं इसके विस्तार में नहीं जाना चाहता। उचित है इस संबंध में 'कथाबिंब' के जुलाई-दिसम्बर, 2001 के संयुक्तांक में डॉ. रामधारी सिंह 'दिवाकर' के 'सागर-सीपी' शीर्षक इन्टरव्यू को जरूर पढ़ लिया जाए। यह बड़ी ईमानदारी से दिया गया है और पढ़ने योग्य है।

कहानी लिखना एक कठिन काम है। कथानक, शैली, अभिव्यक्ति सामंजस्य चाहता है। संतुलन चाहता है। इसका निर्वाह कौन और कितने कहानीकार करते हैं, इसे कहानी का पाठक स्वयं समझ सकता है। आश्चर्य तो यह है कि जो कहानी या कहानी विधा के विधाता हैं, लिखने का शौक भी पालते हैं परन्तु स्वयं ऐसा कुछ नहीं दे पाये जो कहानी समझ कर पढ़ा जा सके। यह मेरा व्यक्तिगत विचार हो सकता है। किसी व्यक्ति विशेष पर प्रहार नहीं। क्योंकि मेरे बारे में भी ऐसा ही सोचा जा सकता है।

अपने आपको एक सफल लेखक (कहानीकार) मनवाने के लिए कई तरह के पैंतरे खेले जाते हैं। स्थापित होने के लिए पापड़ बेले जाते हैं। ऐसे लोगों पर दया आती है। वे यह भूल जाते हैं कि लेखक एक दिन मर जाता है पर कृति जीवित रहती है। वही उसे जीवित रखती है।

यह प्रत्येक लेखक के लिए संभव नहीं है कि वह किसी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ कर दे, या साहित्य या रंगमंच से जुड़ी कोई संस्था कायम कर ले। अपनी पुस्तक के विमोचन में ढेर सारा खर्च करे, ताकि साहित्यप्रेमी उसे लेखक, कवि या कहानीकार के रूप में स्वीकार कर लें।

पांच वर्ष पहले एक सज्जन एक संस्था की ओर से मेरे पास आए। निमंत्रण पत्र दिया। लेखक का नाम लिया, कहने लगे, उनकी फलां पुस्तक का विमोचन होगा।

पुस्तक का नाम सुनकर मैंने कहा, इसका विमोचन तो पिछले वर्ष हो चुका है और यह दोबारा?

सज्जन बोले, वास्तव में बात यह है कि लेखक महाशय अब पचपन वर्ष के हो गए हैं। उनकी वर्षगांठ भी मनाई जाएगी।

और मैं सोचता रह गया, मैं तो पचास-पचपन, साठ-पैंसठ और अब सत्तर भी पार कर गया और किसी ने नजर उठाकर नहीं देखा। अपने आप पर हँसी आई।

कोई मुझसे पूछे, आपकी दृष्टि में आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन-सी है, तो मेरे लिए उत्तर देना कठिन होता है। कोई यह कह दे कि आपको बोलना है, तो यह और भी कठिन। कोई यह अनुरोध करे कि इस पुस्तक के बारे में आपके विचार चाहिए तो यह मौत से कम नहीं।

अनुभव किया है लिखना एक आदत है। मजबूरी है। कभी अपने पात्रों को गढ़कर स्वयं उनकी नियति पर रोया हूँ। कभी हँसता भी हूँ। ले-देकर अनुभव किया है मैंने आज तक अपने आपसे खिलवाड़ किया है। कौशल होता तो उससे पूछता- अरे भाई, यह 'राइटर' क्या होता है?

9/ए, पंजाबी लेन, रामदास भट्ठा, जमशेदपुर- 831001

डॉ. वामन वी. अहिरे

मराठी और गुजराती काव्य में नकार के स्वर

मराठी और गुजराती काव्य में उभरता नकारवाद दलितों के वास्तविक जीवन के दर्द से भरा प्रामाणिक दस्तावेज है। यह समग्रतः दलितों की सांस्कृतिक विकास के लिए की गई प्राणवान पहल कही जा सकती है। स्वतन्त्रता के पश्चात दलितों के इस नकार में वर्तमान सामाजिक अन्तःक्रिया के अन्तर्गत उभरे सामान्य स्तरीय तथ्यांश नहीं हैं बल्कि मनुष्यता के सिद्धान्तों की युगानुकूल माँग है। निस्संदेह कहना न होगा कि दलितों के जीवन से सम्बद्ध साहित्य हजारों वर्षों से सवर्ण समाज द्वारा प्रताड़ित हृदय से निकली आह का शब्दरूप संचय है।

गुजरात की प्रसिद्ध पत्रिका 'गरूड' के संपादक डॉ. दलपतभाई श्रीमालीजी कहते हैं कि समाज के अन्तःगर्भ में जाकर राजनेताओं को चाहिए कि वे सब एकत्र होकर पद-दलित जीवन बसर करने वाली जनता के समीप जाएँ और सही तकलीफों का सही मायने में जायजा लें और उनके असली दर्दों एवं समस्याओं को समझकर जीवन में एकाएक परिवर्तन लानेवाली नई लोक-क्रान्ति का सृजन करें तो शायद बहुत हद तक मदद हो सकती है। सन् 1655 के पश्चात् 'दलित - क्रान्ति' के प्रभावी प्रणेता श्री रेवा भाई जीवणदास नायक जी का इस संदर्भ में कहना है कि गुजराती दलित साहित्य में अभिव्यक्त नकारवाद सामाजिक अन्तःक्रिया के अन्तर्गत परिवर्तित मानवीय दृष्टि से उचित स्पंदन है। इस नकारवाद में मनुष्यों द्वारा निर्मित शैतानी ताकतों के नृंशस पंजों में फँसे राजतन्त्र का मैला चेहरा सामने आ रहा है। डॉ. के.के. विश्वनाथन कहते हैं कि दलितों में उभरता नकारवाद सामाजिक व्यवस्था का असन्तुलन दर्शाता है। इसे समय पर सरकार ने न समझा तो समाज में हम सब भविष्य में अवांछित परिणाम देख सकते हैं। दलितों के दमन की जड़ सदियों पुरानी है। मुम्बई के डिप्टी कमिश्नर जीवनराम साधुजी का मानना है कि दलितों का नकारवाद वास्तव में आदमी-आदमी के बीच की अमानुषिक असमानता के विरुद्ध संघर्ष है।

मराठी दलित साहित्य का सृजन एक अचरज से भरी घटना है। इसने भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी विविध समाजशास्त्रीय आयामों में प्रभावित किया है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो यह घटना सामाजिक अन्तः क्रिया के विविध मूलभूत अगोचर आयामों को भी स्पष्ट करती है। यह घटना व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्धों से होते हुए राष्ट्रीय अस्मिता के अनेक-विध प्रश्नों को भी रेखांकित करती है। इससे यह पता चल जाता है कि मराठी समाज की विकास दिशा क्या है?

उक्त समाज-शास्त्रीय तथ्य के अन्तर्गत यह भी देखा जाता है कि राजतन्त्र, राजनेताओं का चरित्र और सरकारी तन्त्र की मशीनरी सामाजिक ढाँचे के साथ एकमेक हो पायी है अथवा नहीं। यदि दोनों में एकात्मकता नहीं हो पायी है तो समझना होता है कि समाज-विकास की गतिविधियों में रुकावटें अवश्य हैं। व्यक्ति और समाज के बीच दरारें अवश्य विद्यमान हैं। ऐसे ही सामाजिक अवरोधों की गुत्थियों के समय लेखक की जिम्मेदारी बढ़ जाती है।

उक्त तथ्यपरक परिप्रेक्ष्य में मराठी और गुजराती लेखक बड़ा ही सजग दिखाई देता है। वह अपने सामाजिक वैयक्तिक अस्तित्व के प्रति संवदनशील है। प्रबुद्ध होने के कारण उसे समाजशास्त्रीय रचनात्मक 'सत्य' का ज्ञान प्राप्त हो चुका है। सन् 1860 से लेकर 1950 तक की विविध राजनीतिक परिस्थितियों का जायजा लें तो कहा जा सकता है कि उसे दलित जीवन से सम्बद्ध सामाजिक अभीष्ट के रचनात्मक किस्म के आशय की पहचान हो चुकी है।

सन् 1860 के पश्चात् लिखित मराठी साहित्य में बृहद पैमाने पर दलित जनता का चित्रण दृष्टिगत नहीं होता है। ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इस समय के साहित्य और समाज व्यवस्था में दलितों का कहीं पर भी कुछ अस्तित्व है। दलित जीवन से सम्बद्ध मराठी साहित्य में अब तक जो भी साहित्य उपलब्ध है, उसमें कुछेक इने-गिने ख्यातनाम दलित नकार से भरे शब्द-चित्र उपलब्ध हैं। इस समय के कुछ दलित शब्दचित्रों से स्पष्ट हो जाता है कि दलित जनता के पास तब भी और आज भी कुछ भी खोने के लिए या पाने के लिए रह नहीं गया है। आज भी उनके पास हिन्दू चातुर्वर्ण्यव्यवस्था से संत्रस्त जातिनिष्ठ समाज व्यवस्था पर तीखे प्रहार करने के सिवा कोई चारा नहीं है। अतएव इस संघर्ष की समूची अभिव्यक्ति यथार्थ ढंग से सन् 1955 के पश्चात्वर्ती दलित साहित्य में देखी जा सकती है जिस पर डॉ. अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव है। इस परिप्रेक्ष्य में मराठी दलित काव्य-विधा में 'मुन्नी' (श्री दया पवार), 'यह भाग्य सिर्फ आपको मिलनेवाला है' (त्र्यम्बक सकपाले), 'निःशब्द', 'बाप किसका नहीं मरता' (नामदेव ढसाल), 'यहां का हर मौसम', 'स्वाधीनते' (अर्जुन डांगले), 'आज भी मैं खड़ा हूँ' (ज.वी. पवार), 'उफन रहा हूँ' (यशवन्त पवार), 'नकारने होंगे' (नारायण सुर्वे), 'एक नये संघर्ष में' (राजेन्द्र सोनवणे), 'तब वे' (श्री रंगनाथ), 'एक स्मृति' (श्री राम शीतोडे), 'सार' (अरुण कांबले), 'कल का सूर्य' (वामन निम्बालकर) जैसी रचनाएँ समाज और व्यक्ति के आक्रोश को लेकर समाज व्यवस्था के प्रति गहरे नकार को यथार्थवादी आशय के साथ व्यक्त करती है। ये सारे रचनाकार पुरानी सड़ी-गली समाज व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन चाहते हैं और नये सिरे से परिवर्तन का पंथ अपनाकर नई मानवीय समाज व्यवस्था की रचना पर विशेष बल देते है। 'कल का सूर्य'

नामक रचना में कवि निम्बालकर नई आशा लेकर ही लिखते हैं कि मैं तो भोर में ही सपना देख रहा हूं कि हम सब भारतीय अंधेरे को मिटाने के लिए एकत्र होकर आगे बढ़े हैं और नये प्रकाशोन्मुख सवेरे को धरा पर लाकर स्वर्ग की भांति बिठा दिया है :-

"आओ सब एकत्र
गाओ प्रकाश का गीत लेकर हाथ में हाथ
वह दूर से दिखने वाली प्रकाश किरण ही....
होगी कल का सूर्य
इसलिए आओ एकत्र सब, तुम्हारे गुंथे हुए एकत्र हाथ
फेंक सकेंगे अंधेरे के इस पर्वत को
मैं भोर में सपना देख रहा हूँ"

दलित रचनाकारों की विशषता यह है कि वे 'पुराने' को दफना देना चाहते हैं और 'नवीन' का नये सिरे से निर्माण चाहते हैं। पुराने सामाजिक उसूलों से वे परेशान हो चुके हैं। वे पुराने समय में अन्याय रूपी हथौड़ों की चोटे सहन करने के बावजूद नई राष्ट्रीय अस्मिता का उद्घोष करना चाहते हैं। सच्चे मानव की प्रतिष्ठा उनका ध्येय है। अतएव त्र्यम्बक सकपाले की से पंक्तियाँ देखिए :-

"यह ज्वालामुखी अब जागृत होगा। धधकते, उफनते लावे का महाप्लावन बहेगा जो रास्ते में आएगा; स्वाहा होगा। यह तूफान शुरू हो रहा है; पूर्व में उगता सूर्य साक्षी है। साक्षी हैं हम..

क्रान्ति को खून का ईंधन देने वाले!
क्रान्ति अपने बच्चों की बलि देती है।"

दलित समाज की हालत को देखकर 'निःशब्द' रचना में कवि केशव मेश्राम को रचनात्मक सामाजिक सत्य का ज्ञान हो चुका है। अतएव वे समानता के उद्देश्य से कहते हैं कि अब पुराने धर्म के चीथड़े जला देने होंगे; संकर दुःखों के आदमखोर बाघ का बिना अंगूठे के ही सीधे ढंग से अचूक शरसंधान करना होगा।

नई समाज-व्यवस्था के प्रति मराठी दलित कवि आस्थावान है। उसे आशा है कि यद्यपि पहाड़ों ने हमारा रास्ता रौंद डाला है; हमारे वैयक्तिक आत्म-विश्वास को चोट पहुंचाई है फिर भी 'नवीन' का सृजन करने के लिए अर्थात् नई मंजिल पाने के लिए पहाड़ों के अनगढ़ रास्ते से उतरने के लिए एकाध पगडंडी पहाड़ से अवश्य ही तोड़नी होगी।

पश्चिमी समाजशास्त्री डॉ. रिनले वी. डले यूरोपियन सामाजिक-परिवर्तनों की आहट लेते हुए लिखते हैं कि नकारवाद की वैयक्तिक मानसिकता का सामाजिक अन्तःक्रिया के अन्तर्गत रचनात्मक दृष्टि से सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि उससे समाज में रहने वाले लोगों के दैनिक विकास का दर्जा जाना जाता है और उनके उत्प्रेरक विकासोन्मुख विचारों की दिशा को भी समझा जा सकता है। इस दृष्टि से दलित कवियों में यशवन्त मनोहर का विचार नकारवादी द्वन्द्वात्मक सामाजिक मनोमंथन से पूर्ण है। वे ठीक ही कहते हैं कि यदि भारत देश को हमें तरक्की प्रधान बनाना है तो पुराने दुविधात्मक, अब तक के वन्दनीय, गणित को सदा के लिए नकारना होगा और भारतीय ईश्वर द्वारा घोषित गुलाम जीवन के नपुंसक दर्शनों को भी सदा के लिए मिटा देना होगा।

उक्त परिप्रेक्ष्य में कवि का मानना है कि देश की उन्नति तभी हो सकती है जब देश का प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक गलतियों का बारीकी से निरीक्षण करे और विवेक से गलतियों को ढूँढ कर समस्याओं का हल निकालने की चेष्टा करें। देश का हर एक व्यक्ति एक-दूसरे के साथ प्रेम से पेश आए, गुस्से से नहीं। समाज में रहते हुए व्यक्ति का बात-बात में गुस्सा करना सामाजिक समस्याओं का हल नहीं है। व्यक्ति को अपने निजी जीवन के रोग नकारने होंगे और संसार के सभी जीवितों को अपने पास रहने वाले मरे हुए पड़ोस नकारने होंगे ('नकारने होंगे'-उत्थान गुफा से)। इस रचना का बाह्य-परिधान नकारवादी प्रतीत होता है परन्तु भीतर से कवि की मानसिकता का परिचय भी सहज ढंग से प्राप्त होता है।

इस दृष्टि से 'ओलख' (प्रा. यशवन्त वाघेला), 'मातृ-वन्दना' (रिवेजी रूखड़ा 'दर्द'), 'हुं माणस छुं तारी जेम' (जयन्त परमार), 'समानता नी कथाओं' (उषा मकवाणा), 'त्राजवों बूमेपाडे छे' (बबलदास बी. चावडा), 'दीवा-दोंडी' (मोहन मणेकर), 'आहुति' (रमण वाघेला), 'दलित साहित्य ना इजारेदारों' (शंकर पेन्टर), 'रघ्ल नी एकोक्ति' (साहिल परमार), 'दुर्देव' (भी.न. वणकर), 'वणकर नु गीत' (शंकर भाई पाटील), 'अछूत कन्या' (शामत परमार), 'गालगा-गालगा' (हिम्मत खाटसूरिया), 'आजीविका' (मौन बलेली), 'पहाडीओं मां' (किसन सोसा), 'नारायण धूलेने' (परबत परमार), 'स्वमान' (धर्मबन्धु पागल), 'मारी पीठ नामनो पुल' (डोना केइट राशेना), 'दमन चक्र' (सिलास पटेलिया), 'बहिष्कृत फूलों' (नीरव पटेल), 'पणछ जेम तंग' (दलपत चौहाण), 'सौगंध' (नीलेश काथड़) आदि गुजराती रचनाओं में नकारवाद का स्वर सशक्त ढंग से प्रतिपादित हुआ है।

गुजरात का दलित काव्य सम्पूर्णतः नकार का है। अतः इस प्रान्त का कवि भी पुराने सिद्धान्तों को स्वीकृत नहीं करता है तथा उसकी समसामयिक आलोचना करता हुआ दिखाई देता है। वह पूर्व जन्म के पाप-पुण्यों पर विश्वास नहीं करता है और यह कतई स्वीकार नहीं करता कि अस्पृश्यों ने बीते जनम में घोर पाप किये हैं और परिणामस्वरूप उनको हीन अवस्था में जीना पड़ रहा है।

गुजरात के प्रतिष्ठित दलित कवियों में प्रा. यशवन्त वाघेला का

नाम उल्लेखनीय है, उनकी 'ओलख' नामक रचना में उनका अपना निजी आक्रोश व्यक्त है। प्रस्तुत रचना में उनका विचार है कि मनुष्यता के मूल्यों का समाज में हर जगह आदर होना चाहिए। वर्तमान समाज में सब नागरिकों का दर्जा समानता का है, यहाँ न कोई छोटा है न कोई बड़ा, सच तो यही मानव-धर्म की पहचान है। इसलिए प्रा. वाघेला जी का मानना है कि समाज में हमें ही क्यों बार-बार शूद्र कह कर कोसा जा रहा है और अंत में हम भी मनुष्य हैं क्या इतनी पहचान अर्थात् 'ओलख' सबके लिए काफी नहीं है:-

'तुम कौन हो मैं कह रहा हूँ :
यह मस्तक शंबूक है,
यह हाथ एकलव्य है, यह हृदय कबीर है
मैं सत्यकाम जाबालि हूँ, फिर भी ये पैर अब भी शूद्र ही हैं
पर, आज मैं एक आदमी हूं
क्या इतना कम है'

जीवन टाकोर अपने नकारवादी लहजे में अपने विचार व्यक्त करते हैं कि गुजराती समाज में मनुष्यता का प्रदर्शन एक छलावा भर है। मनुष्यता के नाम पर पर्दे के पीछे कितने छल होते जा रहे हैं, इसका अंदाजा लगाना सामान्य व्यक्ति के बस की बात नहीं है। अतएव 'छल' कविता में कवि दलित पीड़ित व्यक्ति की व्यथा को गम्भीरता से समझ पाया है। वह कहता है कि 'जातिवाद' के 'छल' से महज़ मैं ही छला नहीं गया हूं बल्कि पूरा दलित समाज परेशान है। आगे चलकर यही कवि कहता है कि दुनिया में मेरे हिस्से का यह 'छल' किसके पाप का फल है यह मैं नहीं जानता पर इतना तो जरूर जानता हूं कि यह निम्न-स्तरीय जाति में जन्म लेने की सजा है। इस कविता के अंत में कवि कहता है कि तुम समाज के राजनेता लोग सब मिल कर मेरे पर से ट्रैक्टर चला दो तो मेरी जीवन जीने की विवशता समाप्त होगी और इसी में से दलित समस्या का हल भी अनायास ही निकल आयेगा। यही संवेद्य नकार कवि के शब्दों में देखिए:-

'मुझे यह प्रतिपल स्पष्ट हो रहा है।
कि मेरी आत्मा सदा ही विवश है
सच तो यह मेरे जीवन की विवशता ही सही प्रतिपल;
पर क्या करूं कि जीवन अब जीने के लिए नहीं,
जहर पीने के लिए है'

सिलास पटेलिया 'दमन-चक्र' कविता में अपनी शिकायत दर्ज कर रहे हैं कि दलितों पर हो रहे अत्याचार आज भी थमे नहीं हैं। आज भी, दलितों को सवर्ण हिन्दू कौओं की भांति तीक्ष्ण चोंच ही मार रहे हैं। दमन-चक्र रुका नहीं है। वह तो मानवता की सीमाएँ लाँघ कर भी आगे बढ़ता ही जा रहा है। अतएव कवि धर्मबन्धु का कहना सच्चाई से पूर्ण प्रतीत होता है कि समाज में समता प्रस्थापित करने के लिए हर व्यक्ति को क्रान्ति का सामान लेकर खड़े होना पड़ेगा :-

'मानवता का मर्म भूल कर मनुष्य बना है शैतान पर...
अन्त में समता के साम्राज्य के लिए तो क्रान्ति करनी पड़ेगी'.

मराठी और गुजराती दलित कवि निर्भीक हैं। सामाजिक विरोधों की अनेक यातनाओं को झेलने के बावजूद वे अपने अनुभव को यथातथ्य समाज के समक्ष तटस्थ ढंग से प्रतिपादित करते हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य उपलब्धियाँ निम्नलिखित रूप से रेखांकित की जा सकती हैं :-

1. मराठी और गुजराती काव्य में दृष्टिगत नकार में पुरानी समाजव्यवस्था द्वारा प्रचलित किये गए सिद्धान्तों को दलित कवि स्वीकार नहीं करता है जबकि नकार को परिपुष्ट करने वाली भावना दोनों भाषाओं के काव्य में समान स्तर पर देखी जा सकती है। नकार के क्रोड़ में आक्रोश एवं विद्रोह की बलवती भावना प्रस्तुत दलित काव्य की विशेषता कही जा सकती है।

2. हिन्दू धर्म के पुर्नजन्म के पाप-पुण्य वाले सिद्धान्त में दोनों भाषाओं के दलित कवि विश्वास नहीं करते हैं।

3. उक्त दोनों भाषाओं के कवि विद्रोह, और परिवर्तन की माँग के समर्थक हैं। अतएव कहा जा सकता है कि गुजराती और मराठी काव्य में उभरे नकार का स्वरूप अन्तःसामाजिक रचनात्मक अधिक है।

4. उक्त दोनों भाषाओं के दलित कवि उच्च-वर्गीय घृणाभाव से पेश आनेवाले व्यक्तियों की संकुचित मनोवृत्ति को दृढ़तापूर्वक अस्वीकृत करते हैं।

5. उक्त दोनों भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यह काव्य एक नई सामाजिक अन्तःक्रिया का द्योतक है जो स्वतन्त्र मानवीय जीवन की आकांक्षा को व्यक्त करता है।

6. उक्त दोनों भाषाओं के कवियों की सोच है कि दलित काव्य सामाजिक विषमता का ठीक से जायज़ा लेकर अपने समपीड़ित जाति बन्धुओं की व्यथा, वेदना और उनकी अनेक प्रकार की मानसिक यातनाओं को बाँट सकता है।

7. उक्त दोनों भाषाओं के दलित कवि रूढ़ समाज-व्यवस्था की तीखी आलोचना करते हैं और अपने नए मानवीय अस्तित्व की भूमिका को अपरिहार्य मानते हैं।

8. तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो उक्त दोनों भाषाओं के कवि वस्तुतः मानवीय प्रतिष्ठा से प्राप्त जीवन के आकांक्षी हैं। वे कुचले हुए सभी वर्गों को मानवता के नाते ऊपर उठाना चाहते हैं।

एम.के. अमीन आर्ट्स एण्ड साइंस कॉलेज एण्ड कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पादरा,
म.स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा (गुजरात)

रामनाथ चव्हाण

उष:काल

संचेतना के इस अंक से हम सुप्रसिद्ध मराठी दलित लेखक रामनाथ चव्हाण का उपन्यास 'उषः काल' धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। यह उपन्यास मराठी में बहुचर्चित हो चुका है। कुछ वर्ष पूर्व संचेतना में मराठी दलित लेखक शरणकुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' का धारावाहिक प्रकाशन किया गया था जिसे संचेतना के पाठकों ने तो पसन्द किया ही था, बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर यह आत्मकथा अत्यन्त चर्चित हुई तथा अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद भी प्रकाशित हुए। -संपादक

बैलगाड़ी के स्टेशन छोड़ते ही सावला ने बैलों की पीठ पर कोड़े के दो-तीन झपट्टे मारकर नकेल की रस्सी ढीली छोड़ दी तो बैल विश्रामपुर की ओर तेजी से चलने लगे।

विश्रामपुर की ओर जाने वाला गाड़ी का रास्ता धूल से सना हुआ था। बैलगाड़ी के हर रोज आने-जाने से रास्ते पर रेल की पटरी जैसी लकीर पड़ी हुई थी। और उस लकीर की मर्यादा पहचानकर बैलगाड़ी के दोनों पहिए गिरगिरी जैसे घूम रहे थे।

गड्ढे में भी गाड़ी की गति कम नहीं हो रही थी। इसलिए गाड़ी में बैठे हुए अशोक पाटिल बहुत परेशान हो गया था। गाड़ी के पटकने से उसका अंग-अंग ढीला पड़ा हआ था। वह पूना से विश्रामपुर रेलवे स्टेशन पर पहुँच तब उसके पेट में पानी भी नहीं हिला था। वह आराम से खिड़की के पास बैठकर आया था। परन्तु बैलगाड़ी से यात्रा करते समय उसके पेट का पानी मुंह में से बाहर आने के आसार बन गए थे। दोनों हाथों से गाड़ी के दोनों खूंटे कसकर पकड़े वह किसी तरह बैठा रहा। स्टेशन छोड़े एक घंटा हो गया था, तो भी गाँव का अता-पता नहीं था। सूर्य माथे पर आ गया था। चलते-चलते बैलों के मुंह झाग से भर गए थे। ऊपर से सूर्य की आग और नीचे से जमीन की आँच-इन दोनों से वे व्याकुल हो रहे थे। हाँफते हुए वे किसी तरह गाड़ी खींच रहे थे। उनके चलने की गति मंद हो गई, यह बात ध्यान मे आते ही सावला ने पूँछें मरोड़कर बैलों को जोर से हाँक दिया। बैलों ने अपनी चलने की गति बढ़ायी।

गाड़ी के झटकों और धूप की आँच से अशोक पूरी तरह से हिल गया था। विश्रामपुर कब आएगा, वह सोच रहा था। दूर देखते हुए वह गांव को ढूंढ रहा था और निराश होकर बीच-बीच में सावला से पूछ रहा था-

"कब आयेगा विश्रामपुर?"

"बस आया ही...!" सावला उत्तर देता था। उसके उत्तर से उसे धैर्य आता था लेकिन गाँव नहीं आता था। किसी तरह रास्ता समाप्त नहीं हो रहा था। बंदर की पूंछ-सा वह अधिक ही लम्बा हो रहा था। अशोक बहुत ही बेचैन हो रहा था। उसने परेशान होकर सावला से पूछा,

"यह विश्रामपुर अभी है कितना दूर?"

अशोक की ओर न देखते हुए सावला ने यूं ही कहा, "बहुत दूर नहीं है, सिर्फ पाँच कोस!"

"पांच कोस? अरे! तब तक तो अपनी हड्डियों की बुकनी हो जाएगी।" उसने अपने मन में कहा।

धूलभरा रास्ता समाप्त हुआ और सख्त रास्ता शुरू हुआ तो सावला को जोश आया। उसने जोर से बैल हाँकना शुरू किया। धीरे-धीरे चलने वाले बैल भागने लगे। खूंटे को मजबती से पकड़कर अशोक ने कहा,

"अरे! ज़रा धीरे से जाने दो।"

"नहीं! सूर्यास्त होने से पहले नाले के उस पार जाना चाहिए। आज तुम्हारी जिम्मेदारी मुझ पर है न...।" सावला ने कहा।

"जिम्मेदारी!" सशंक होकर अशोक ने पूछा।

"वैसे घबराने की बात नहीं है साहेब। लेकिन नायक के कुछ लोग नये आदमी को देखकर थोड़ी-सी हँसी-मजाक उड़ाते हैं। नाले के उस पार हुए कि किसी का साहस नहीं है गाड़ी के सामने आने का।' कहकर सावला ने फिर से बैल हाँक दिये।

सावला के कहने से अशोक का मन थोड़ा-सा भयभीत हुआ। पूना छोड़कर मैंने कहीं बहुत बड़ी भूल तो नहीं की है, उसे रह-रहकर लग रहा था।

सावला ने पीछे मुड़कर अशोक की ओर देखा था और उसे धीरज देने के लिए वह कह रहा था,

"साहेब, जब तक आबा साहेब देशमुख हैं तब तक गांव में तुम्हारा बाल बाँका करने की हिम्मत नहीं होगी किसी की। नायक के आदमी भी डरते हैं आबा साहेब से। गाँव के सरपंच हैं न वे। पिछले बीस वर्षों से विरोध के बगैर चुनकर आते हैं वे। अब यहां से आगे तुम्हारा मुकाम उनकी कोठी में होगा। इसलिए कह दिया।"

सावला ने देशमुख के विषय में विशेष जानकारी दी तो अशोक ने समझ लिया विश्रामपुर सीधा-सादा गाँव नहीं है। देशगुख के विषय में और जानकारी लेने के लिए उसने उत्सुकता से सावला से पूछा,

"गाँव में देशमुख के और दलितों के संबंध कैसे हैं?" इस पर अशोक की ओर देखे बिना सावला ने यूं ही कहा, "गाँव में जैसे होते हैं वैसे।"

सावला के उत्तर से अशोक का समाधान नहीं हुआ। सावला से ऐसा क्या पूछूं कि वह देशमुख की सभी जानकारी दे, यह सोच रहा था अशोक। सावला ने बीच में ही अशोक से पूछा,

"साहेब, शादी हुई है न?" अशोक के हाँ-ना करने से पहले ही वह आगे बोलने लगा।

"उसका क्या है साहेब, अपनी पत्नी अपने साथ होनी चाहिए। यानी खाने-पीने का कष्ट नहीं होता। फिर कोठी में तुम्हें कुछ कमी नहीं पड़ेगी। आबा साहेब का एक बार किसी से दिल मिल गया, तो वे उस आदमी को बहुत प्यार से संभालते हैं।"

सावला के बोलने से अशोक को संतोष हो रहा था। नये गाँव में, नये आदमियों में रहना है तो थोड़ी-बहुत ऐसी जानकारी मिलना ठीक होता है। किससे कैसा बर्ताव करना चाहिए इसका अंदाज पहले से ही किया जा सकता है। लेकिन सावला उतना ही कहकर चुपचाप गाड़ी हाँकने लगा। तब उसे बोलते रखने के लिए अशोक ने प्रश्न किया,

"तुम्हारे इन आबा साहेब के कितने बाल-बच्चे हैं?"

सावला ने इनकार करते हुए, गर्दन हिलाकर उत्तर दिया,

"नहीं, एक भी नहीं।"

"यानी कि? आबा साहेब अविवाहित हैं?"

"ना-ना, शादी को अच्छे-खासे दो वर्ष हो गए।"

"तो यानी कि तुम्हारे देशमुख तरुण हैं।"

अशोक के बोलने से सावला गाल में हँसा और उसने कहा,

"तरुण कैसे? पचास वर्ष के हैं। पिछले दो वर्षों में तीसरी शादी की उन्होंने।"

"पचास वर्षों में तीसरी शादी?" अशोक ने आश्चर्य से पूछा।

"क्यों? आश्चर्य लगा तुम्हें? धनी पुरुषों को गांव में कमी नहीं होती। मन में पैठ गयी कि वह उसकी पत्नी। जब तक पसंद है तब तक रख लेना और खटक गयी कि उसे फेंक देना जैसे बीड़ा खाकर तलछट फेंक दी जाती है।"

अशोक को सावला से हर प्रकार की अप्रत्याशित जानकारी मिल रही थी। धीरे-धीरे उसने पूछा,

"क्या देशमुख की तीनों पत्नियाँ उनके पास हैं?" अशोक ने प्रश्नार्थक चेहरे से सावला की ओर देखा।

"तुम्हें ही बता देता हूं। किसी से न कहना..।" और अगली जानकारी सुनने के लिए अशोक ने कान खड़े कर दिये। सावला ने कहना शुरू किया,

"देशमुख की पहली पत्नी कुएँ में गिरकर मरी, ऐसा सिर्फ देशमुख ही कहते हैं। गाँव में लोग कुछ और ही बोलते हैं। दूसरी कहाँ गुम हुई उसका अब तक पता नहीं। अब तीसरी उनके पास है। वह कितने दिन रहती है और कितने दिन नहीं रहती यह अभी कहा नहीं जा सकता। " इतना कहकर वह बैलों को हाँकने लगा।

गाड़ी नाले के उतार पर चलने लगी तब गाड़ी में गति आयी। सावला ने रस्सी खींची और गाड़ी धीरे-धीरे नाले के गर्भ में उतरने लगी। नाले में पानी की बूंद भी नहीं थी। तीर पर की घास झुलस गयी थी। गर्भ में पत्थर पानी की प्रतीक्षा करते हुए और धूप की मार सहन करते हुए चुपचाप पड़े थे। नाले का गर्भ उदास और सुनसान दिख रहा था। यह सारा चित्र देखकर अशोक का मन यूं ही उदास हो गया था।

गाड़ी नाले में चढ़ाव पर आयी। तब शराब की उग्र गंध अशोक की नाक में घुस गयी। उसने गर्दन ऊंची कर के आसपास देखा और अगला दृश्य देखकर उसे आश्चर्य का धक्का लगा। एक तरवट की ओट में आबकारी लगाकर एक तरुण स्त्री बैठी थी। माथे पर की पसीने की धाराएं पोंछते हुए वह बेझिझक आबकारी जला रही थी।

अशोक ने सावला से कहा, "तुम्हारे गाँव में आबकारी की शराब मिलती है।" इस पर सावला हँसा और कहने लगा, "चलता है, जहाँ गाँव होगा वहाँ म्हारूड़ा (हरिजन ढेढ़) होगा ही साहेब।"

सावला के उत्तर से अशोक थोड़ा-सा चौंक पड़ा। 'महार' (हरिजन) शब्द का सावला द्वारा किया गया उच्चारण उसे खटक गया। सावला निश्चय ही 'महार' (हरिजन) न होगा ऐसा उसे लगा। उसे सावला पर चिढ़ आयी थी। लेकिन जातिगत मनमुटाव गाँव में न हो, इसलिए वह कुछ नहीं बोला। पीछे मुड़कर वह नाले का गर्भ निहारता रहा। इतने में एकाएक बैलगाड़ी रुक गयी। कारण जानने के लिए उसने सामने देखा और वह डर गया। बैलगाड़ी के सामने लम्बा-तंड़गा, पत्थर सा काला, मोटे-ताजे शरीर का परसू नाइक हाथ में लम्बी धारदार फरशी कुल्हाड़ी लेकर खड़ा था। अपनी लाडली मूँछों को सहलाते हुए लाल हुई आँखों से वह अशोक को निहार रहा था। अशोक की उसकी ओर देखने की हिम्मत नहीं हुई थी। परसू ने सावला से पूछा-

"कौन से गांव का है यह बकरा, सावला?"

परसू के मस्तीभरे प्रश्न से सावला कुछ गड़बड़ाया। परसू को सच-सच नहीं बताया तो वह छोड़ेगा नहीं, यह सावला पूरी तरह से जानता था। जिसके डर से विश्रामपुर पहुंचने की जल्दी की, वही संकट सामने खड़ा था। परसू को देखकर अशोक पसीने से तरबतर हो गया। वह उससे नज़र चुराने का प्रयत्न कर रहा था। यह कोई डाकाज़नी करने वाला आदमी होगा। अब हमें छोड़ेगा नहीं। अशोक पूरी तरह से घबरा गया था। उसकी अवस्था सावला समझ रहा था। लेकिन उसकी भी मजबूरी थी। क्या बोलूं यह उसे सूझ नहीं रहा था। वह वैसे ही दयनीय नज़र से परसू की ओर देख रहा था। तभी परसू गरज उठा, "अरे, क्या देखता है चंट की तरह। किस गाँव का बकरा है यह, मैं पूछता हूं...।"

"परसू दादा, पूना के मेहमान हैं। अपने गाँव में बदली होकर नये डागदर आये हैं।" सावला ने धीरे से कहा।

"ऐसा? यानी कि तुम्हारे देशमुख की पत्नी को बाल-बच्चे

होंगे।" ऐसे कहकर परसू जोर से हँस पड़ा और अशोक के पास आकर खड़ा हो गया। अशोक ने डरते-डरते उसे नमस्कार किया। उसके कंधे पर हाथ रखकर परसू ने कहा-

"दागदार साहेब, देशमुख का किस्सा तुम्हे मालूम नहीं होगा। उसने दो पत्नियों को कैसे निपटाया-यह किसी दिन सावला से पूछो। अब तीसरी पत्नी की है। इसलिए दवा जरा संभालकर देना। एक वर्ष में पालना हिलना चाहिए कोठी में।" कहकर परसू जोर से हँस पड़ा। उस सुनसान नाले में उसकी हँसी भीषण लगी। हँसते-हँसते उसने आबकारी की ओर देखा और पुकारा,

"ऐ तुलसा...।"

"आयी।" ज़ोरदार आवाज आयी।

" पहले धार की एक बोतल ले आ।"

जैसे बाँबी में से सरसराते हुए नागिन बाहर आती है वैसे तुलसा परसू की आज्ञा से उस झंखाड़ में से हाथ में शराब की बोतल लेकर बैलगाड़ी के पास आयी। पंद्रह-सोलह वर्ष की उम्र, पोत के बिना सूना गला, माथे पर लाल रंग की बिंदिया, ठोडी पर तीन बिंदियों का गोदना, गाल पर सरसराने वाली मुलायम बालों की लट उसके सांवले तरोताजा सुंदर चेहरे को, उस रूखी और गर्म धूप में अधिक ही निखार रही थी। अशोक एकटक उसकी ओर देखता रहा। परसू ने तुलसा के हाथ से बोतल ली और अशोक के सामने धर दी।

"लो, पहले धार की है। थोड़ी सी पीकर कोठी में जाओ। यानी कि देशमुख की पत्नी को दवा देने के लिए हिम्मत आयेगी।"

परसू के बोलने से अशोक गड़बड़ा गया। हकबकाकर वह इधर-उधर देखता रहा। तब सावला ने हाथ जोड़कर कहा, "परसू दादा, डागदर को पीने-खाने की आदत नहीं है।"

"ऐसे, नाम क्या कहा तुम्हारे डागदर का?"

"म-मेरा नाम अशोक, अशोक पाटिल।" सावला के कहने से पहले ही अशोक ने अपना नाम बता दिया। परसू ने हँसते-हँसते कहा, "यानी कि आप देशमुख के रिश्तेदार हैं।"

परसू के बोलने से अशोक डर गया। यूं ही उसकी नज़र तुलसा की ओर चली गयी। उसके गाल पर पड़ी हुई गुल उसे मोहक लगी। परसू ने तुलसा की ओर देखा तो उसने अपनी गर्दन झुका ली। परसू ने अशोक की ओर देखकर पूछा,

"शादी हुई न?" अशोक ने गर्दन हिलाकर 'ना' कह दिया।

परसू के बोलने में जो रहस्य था, वह सावला समझ गया था। उसके चंगुल से कब छुटकारा हो, ऐसा उसे लग रहा था। परसू ने सावला की ओर देखा और हाथ की बोतल मुंह से लगा ली। एक क्षण में बोतल खाली कर के बाजू के पत्थर पर पटक दी। बोतल फूटने से काँच के टुकड़े पत्थर पर फैल गए। तुलसा के लिए उसका बर्ताव नया नहीं था। हाथ से शिकार चला जाने पर वह ऐसे ही उत्तेजित होकर शराब पीता था। उसका हाथ पकड़कर तुलसा ने कहा, "चलो बाबा, आबकारी को उफान आया है।"

सावला की ओर देखकर परसू ने तिरस्कार से थूका और कहं, "अपने देशमुख से कह दो कि मुझसे गाँठ पड़ी है।"

कुछ बोले बिना सावला ने बैलों को हाँक दिया। एक क्षण में गाड़ी चढ़ाई चढ़कर समतल पर आ गई। अशोक ने पीछे मुड़कर परसू की ओर देखा। परसू कुल्हाड़ी ऊँची कर देशमुख का नाम लेकर गालियाँ दे रहा था। सावला हवा में कोड़ा घुमाकर बैलों को हाँक रहा था। बैल दौड़ रहे थे।

अब विश्रामपुर का सिवान शुरू हुआ था। खेत में गन्ने के पौधे विश्रामपुर का वैभव दिखाते हुए सिर पर तुर्रे लेकर शान से खड़े थे। कुछ खेत जोते गए थे। दो-चार घरों की बस्तियाँ खेत में थीं। अशोक का मन स्थिर नहीं था। वह फिर-फिर पीछे मुड़कर परसू की ओर देख रहा था।

अशोक ने सावला से पूछा, "अब विश्रामपुर कितनी दूर है?"

सावला ने हाथ का कोड़े सामने धर दिया और कहा, "यह झंखाड़ में छुपा है न, वह विश्रामपुर ही।"

गाँव नज़दीक आते ही अशोक की जान में जान आयी। उसने गाँव की ओर देखा। घने झंखाड़ के जमघट में से आकाश की ओर ऊँचे उठते हुए मंदिर के पीतल के कँगूरे धूप से चमक रहे थे। घने झंखाड़ के कारण घरों का अस्तित्व अभी भी स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। गाँव तक पहुंचने में आधा घंटा तो लगेगा।

सावला ने एकाएक बैलों की रस्सी खींच कर गाड़ी रुकवा दी। रास्ते के किनारे पड़े सिंदूर से रंगे लाल पत्थर को उसने नमस्कार किया और अपने मुँह में बड़बड़ाया, "तुम्हारे कारण हम बच गए। अगले इतवार को तुम्हारे सामने मुर्गे की बलि देंगे।" और बिना पूछे ही सावला ने अशोक से कहा, "यह विश्रामपुर के प्रवेशद्वार का रखवाला है, 'महसोबा' है। इसकी कृपा से हमारा छुटकारा हुआ। नहीं तो परसू हमें जिंदा नहीं छोड़ता।" वह फिर बैलों को हाँकने लगा।

परसू की याद से अशोक फिर से विचलित हुआ। वह सावला से परसू के विषय में और पूछना चाहता था। 'देशमुख की और उसकी दुश्मनी क्यों?' यही प्रश्न उसके मन में घूम रहा था। लेकिन उसने कुछ नहीं पूछा।

गाँव नजदीक आ गया था। झंखाड़ के जमघट में कच्चे-पक्के घर दिखाई दे रहे थे। रास्ते के एक किनारे थोड़े अंतर पर विश्रामपुर की शाला सुनसान पड़ी थी। शाला के मैदान में छोटे से चबूतरे पर खड़ा किया गया झंडे का लोहे का खम्भा मानो 15 अगस्त और 26 जनवरी की प्रतीक्षा कर रहा था।

बैलगाड़ी छोटा-सा मोड़ लेकर गाँव में घुस गयी। रास्ते के किनारे

टूटी हुई लकड़ी पर लटकती एक तख़्ती अशोक को दिखाई दी। तख़्ती पर लिखा था- 'भीमनगर'

गाँव में प्रवेश करते ही अशोक का पहला स्वागत भीमनगर ने किया था। भीमनगर की बस्ती वैसे अच्छी थी। पचास के घरों की इस बस्ती में रहने वाले बौद्ध लोगों के अधिकतर घर बेंगलूरी खपड़ों से छाये थे। बस्ती के नजदीक ही बौद्धों की प्रशस्त चौपाल थी। चौपाल के सामने बड़े पाकड़ के पेड़ की छाया में बूढ़े आदमी गपशप करते हुए बैठे थे। कुछ लोग ठंडी छाँह में सोये थे। एक तरफ छोटे बच्चे पत्थरों का दाँव खेल रहे थे, तो बड़े आदमियों ने चौपाल में ताश खेलना शुरू किया था।

बैलगाड़ी चौपाल के सामने से चली जा रही थी। इसलिए चौपाल में बैठे हुए आदमी उत्सुकता से गाड़ी की ओर देख रहे थे। गाड़ी में बैठे हुए अशोक का चेहरा अजनबी लगने के कारण पाकड़ के नीचे बीड़ी पीते बैठे हुए एक बूढ़े ने सावला से पूछा, "सावला, किस गाँव के मेहमान हैं?"

सावला ने रस्सी खींचकर गाड़ी रोकी और कहा, "अपने गाँव में नये डागदर आये हैं पूना से।"

बैलगाड़ी रुकते ही गाड़ी के आसपास लड़कों ने घेरा डाल दिया और अशोक की ओर देखकर खिलाखिलाकर हँसने लगे। वह बूढ़ा उन पर चिल्ला उठा।

"अरे ए मूर्खो! क्यों हँसते हो? क्या हुआ है? कौन नंगा नाचता है?"

वे लड़के फिर से गोटियों का दाँव खेलने भाग गए।

सावला ने रस्सी ढीली छोड़ी दी और बैल हाँकने लगा। चौपाल से थोड़े से अंतर पर तिनकों से फेरवट की हुई पांच-दस घरों की बस्ती घिचपिच खड़ी थी। एक घर के कोने में एक छोटा-सा बोर्ड लटक रहा था। उस पर लिखा था-'लोकशाहीर आण्णभाऊ साठे नगर'। सावला ने तख़्ती की ओर इशारा करते हुए कहा।

"यह विश्रामपुर की मातंग बस्ती।"

मातंग बस्ती में नीम के पेड़ के नीचे रस्सी को पटुए की वट लगाते हुए कुछ पुरुष बैठे थे और उनकी स्त्रियां फिरकियां घुमाते हुए सिर पर से ढलता आँचल सँवारते हुए धीरे-धीरे पीछे हट रही थीं।

बौद्ध बस्ती के बाद मातंग बस्ती और उसके बाद राह के उस पार पाँच-दस घरों की यह बस्ती चमारों की होगी, अशोक ने अपने मन में अनुमान लगाया। लेकिन उस बस्ती पर नाम की तख़्ती नहीं थी। बौद्ध और मातंग बस्ती से चमारों के घर थोड़े अंतर पर अलग थे। बीच के रास्ते से दोनों बस्तियाँ अलग होती थीं। घरों से अशोक को लगा था चमार लोगों की स्थिति अच्छी होगी और वह सच भी था। चमरौटी (चमारों की बस्ती) में हर घर के एक-दो आदमी मुंबई की मिल में नौकरी करते थे। मराठा-माली बस्ती के पास ही उनके घर थे। बौद्ध-मातंग की तुलना में उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। चमारी का और खेती का व्यवसाय करके वे परंपरा की लीक में कुनबियों के तौर पर जीवन जी रहे थे।

चमरौटी पार करके बैलगाड़ी रस्सी भर आगे गयी तो रास्ते के एक तरफ काटे-तराशे गए पत्थरों से बनी कोठी की ओर अशोक का ध्यान गया। यही देशमुख की कोठी होगी, उसके मन में विचार आया। इतने में हाथ के कोड़े को कोठी की ओर दिखाते हुए सावला ने कहा, 'यह नीचे की कोठी है-आप्पा साहेब इनामदार की। गरीबों के लिए अच्छा देव मनुष्य है....लेकिन क्या फायदा, आबा साहेब और उनके बीच साँप-नेवले जैसी दुश्मनी है- दो पुश्तों से दोनों से जलन दूर नहीं होती...उसने बैलों को पुचकारा तो बैल ऊपर की कोठी की ओर तेज़ गति से चलने लगे और भैरवनाथ के मंदिर का चक्कर लगाकर चारों तरफ से बनाई गई कोठी के सामने जाकर खड़े हो गए। सावला ने हाथ का कोड़ा चबूतरे पर फेंक दिया और गाड़ी से नीचे उतरा।

"साहेब! यही है आबा साहेब की ऊपर की कोठी। उतरो नीचे।"

गाड़ी में से सूटकेस खींचकर सावला ने सिर पर रखा और बड़े दरवाजे में से अंदर घुस गया। फिर अशोक भी उसके पीछे-पीछे चल दिया। तभी ड्योढ़ी में हाँफते हुए बैठा काला कुत्ता उसकी ओर देखकर वहीं से गुर्राने लगा। अशोक दो पैर पीछे हटा। इधर ध्यान जाते ही सावला ने कुत्ते को टोक दिया। कुत्ते की ओर देखते और दुबकते हुए अशोक कोठी के मुख्य चौक में तुलसी के चबूतरे के पास आकर खड़ा रहा। तभी वह काला कुत्ता फिर से उसकी ओर लपका। सावला आगे आया और उसने कुत्ते को बाहर निकाल दिया। अशोक पीछे मुड़कर कुत्ते की ओर देखते हुए वैसे ही खड़ा था। इतने में सामने वाले बरामदे से एक तगड़ी आवाज उसके कानों से आकर टकरायी।'

"आओ साहेब, तुम्हारी ही राह देख रहा हूं।"

अशोक ने आवाज की दिशा में देखा। बरामदे में बैठक पर तकिया टेककर सुपारी कतरते हुए आबा साहेब देशमुख बैठे थे। उनका गोरा शरीर मोटा था। उन्होंने चेहरे पर की झब्बेदार मूँछें सहलाते हुए अशोक को पास बैठने का इशारा किया। नमस्कार करके अशोक उनसे थोड़े अंतर पर बैठ गया। सावला ने पानी का लोटा अशोक के सामने लाकर रख दिया।

"लो, पानी लो," सुपारी कतरते हुए आबा साहेब ने अशोक से कहा।

पानी पीने के बाद अशोक को अच्छा लगा। सुपारी मुंह में रखते हुए देशमुख ने कहा,

"यात्रा में बहुत तकलीफ हुई होगी।"

"नहीं, तकलीफ कुछ नहीं। सावला हमें व्यवस्थित ले आया।" चेहरे पर नकली हँसी लाकर अशोक ने कहा।

"आते समय पत्नी को साथ ले आते तो ठीक हो जाता।" कतरी

हुई सुपारी अशोक को देते हुए देशमुख ने कहा।

अशोक कुछ बोले बिना वैसे ही चुपचाप बैठा रहा। उसकी ओर देखते हुए देशमुख ने कहा-

"दो-चार दिन हमारे यहां ही भोजन करो। फिर फुरसत मिलने पर ले आओ।'

अशोक ने सिर्फ गर्दन हिलाई।

"वैसे तुम पाटिल यानी कि हमारे रिश्तेदार हो न।" ऐसे कहकर देशमुख दिल खोलकर जोर से हँसे। उनकी हँसी की आवाज से उनकी पत्नी राधा भीतर के कमरे में से बाहर आकर दरवाजे में खड़ी हो गई। अशोक ने उसकी ओर देखा। राधा मानो आबा सहेब की लड़की लगती थी। मध्यम ऊँचाई, भरा हुआ सुखसंपन्न शरीर, गोरा चेहरा, गुलगुले गाल और बोझिल नथनी से पूरी तरह से ढँकी नाक। माथे पर रुपया-सा लाल कुंकुम, कानों में सोने के फूल, गले में पुतली की माला, आभूषण और पीला मंगल सूत्र, गोटे-आँचल की नौ गज़ साड़ी से सजी हुई गौरा सी दिखने वाली राधा अशोक की ओर कुतूहल से देख रही थी।

देशमुख ने जब उसकी ओर तिरछी नज़र से देखा तो वह घबड़ा गयी। गर्दन नीचे करके वह वैसे ही खड़ी रही और अपने आँचल को यू ही सँवारा।

"खूँटे की तरह मत खड़ी रहो। भीतर जाकर चाय बनाओ। पूना से पाटिल डागदर आये हैं।" हुक्म सुनते ही वह भीतर के कमरे में चली गयी।

चुपचाप बैठे अशोक की ओर देखकर देशमुख ने कहा, "यूँ ही सोच-विचार मत करो डागदर। अब तुम हमारे गाँव में आये हो। गाँव ज़रा चालाक है। संभल कर रहो।"

देशमुख के बोलने का मकसद अशोक के ध्यान में आया। उसे ग्लानि सी हुई। मुझे राधा की ओर देखना नहीं चाहिए था, उसे लगा। उसकी उदासीनता पर देशमुख का ध्यान गया था। फिर भी वे बोलते रहे।

"वो क्या है डागदर, तुमसे पहले कांबले नामक एक हरिजन डागदर की यहां नियुक्ति हुई थी। हमने प्रांत से कहकर उसका ऑर्डर कैन्सल करवा दिया। यानी कि गाँव में यूं ही जातीय अनबन न हो। सरकारी काम छोड़ देना और गाँव में बखेड़े करना।" वे फिर से हँसे। चाय-पानी होने के बाद देशमुख ने सावला को डॉक्टर का कमरा दिखाने के लिए कहा।

सावला सूटकेस उठाकर कोने वाले कमरे की ओर चल दिया। अशोक भी उसके पीछे-पीछे जाने लगा। पीछे से देशमुख की आवाज आयी,

"देखो साहेब, शाम में हमारे साथ भोजन करने के लिए आओ और जल्दी से अपनी पत्नी को ले आओ। जाओ।"

अशोक कमरे के पास आया। सावला ने कमरे का दरवाजा खोल दिया। कमरा छोटा था। झाडू लगाकर उसे स्वच्छ किया गया था। एक कोने में एक छोटा-सा गुसलखाना था। गुसलखाने के चबूतरे पर पानी से भरा हुआ मटका था। कोने में गद्दी का बिछौना रखा था। अशोक ने सावला से पूछा,

"यह गद्दी किसकी है?"

दीवार पर लटके हुए विवाहित दम्पति के फ़ोटो की ओर इशारा करते हुए सावला ने कहा,

"इनकी है।"

दीवार पर लटकी तसवीर अशोक ने निहारकर देखी। तसवीर में स्त्री बहुत सुंदर दिख रही थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आकर्षक लग रही थीं। देशमुख के रिश्ते में किसी का फोटो होगा, अशोक को लगा। पूछताछ करने के लिए पीछे मुड़कर देखा तो सूटकेस रखकर सावला जाने कब निकल गया था।

सूर्यास्त हो गया था। कमरे में अँधेरा फैला था। अशोक ने बिजली का बटन दबा दिया। प्रकाश होते ही गद्दी बिछौना जमीन पर फैला दिया और उस पर लेट गया। गद्दी पर लेटकर वह दीवार पर लटकी लसबीर देखने लगा। तसवीर की ओर देखते-देखते कब उसकी आँख लगी, उसे पता नहीं चला।

भोजन का समय होने पर सावला अशोक को बुलाने के लिए आया। उसने कमरे में झाँक कर देखा तो अशोक सो गया था। उसने पुकार कर उसे जगाया।

"चलो, आबा साहेब ने भोजन के लिए बुलाया, उठो।"

"चलो आगे, आता ही हूँ।" कहकर अशोक जल्दी से उठा। बाल्टी में से पानी लेकर हाथ-पैर धोये। रूमाल से मुँह पोंछते हुए वह बरामदे में आया। तब देशमुख ने कहा, "क्या भूख नहीं है? या भूखे ही सोने का विचार है? चलो, भोजन कर लो।"

देशमुख के पीछे-पीछे अशोक रसोईघर में चला गया। राधा ने उसके सामने भोजन की थाली रख दी। भोजन करते-करते देशमुख ने कहा।'

"डागदर साहेब, शरमाना नहीं, भरपेट खाओ। तुम पाटिल और हम देशमुख- कुछ अलग नहीं है।" राधा की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारी बहन के पीहर का उपनाम पाटिल है।"

अशोक ने उसकी ओर देखा तो वह शरमा गयी। भोजन करते समय देशमुख अशोक को आग्रह करके परोस रहे थे। अशोक ना-ना कह रहा था तो भी उसके बोलने की ओर वे ध्यान नहीं दे रहे थे।

भोजन करके अशोक कमरे में आया। दिनभर की यात्रा की थकान अभी तक नहीं गयी थी। भोजन भरपेट हुआ था। आते ही वह गद्दी पर पड़ा और दीवार पर लटके फोटो की ओर देखते-देखते कब सो गया, यह पता नहीं चला। (क्रमशः)

रंजन ज़ैदी

सन्नाटे के कैनवास पर

उस वक्त सूरज डूब रहा था और सुरमई अंधेरों के साये सब तरफ फैलते जा रहे थे। गलियारों में होकर यक्का बड़े कुएं के पीछे आकर रुक गया। मैं यक्के की आखिरी सवारी था, उतरकर नीचे आ गया। देखा, फाटक से एक लड़का निकलते ही फिर लौट गया और मैं यक्के वाले को पैसे देने लगा। पैसे लेकर वह बोला, "पहले गांव-देहात में जमाई लोगों से हम लोग पैसा नहीं लेते थे, पर बाबू जी, अब लेना मजबूरी है। नहीं लेंगे तो घोड़े को दाना कहां से देंगे? बुरा नहीं मानना जमाई जी...।"

सामने सीढ़ियों से छड़ी लिए एक बुजुर्ग आते दिखाई दिए, पीछे एक लड़का और फाटक के पीछे कई चेहरे। दिल जोर-जोर से धड़कने लगा। बुजुर्ग शहला के वालिद यानी मेरे ससुर मीर इमदाद अली थे और लड़का शहला का भाई जावेद था। दोनों के चेहरों पर बेपनाह खुशी के चांद-सितारे दमक उठे थे।

"आ गये बेटा...खबर भी नहीं भिजवाई?" मीर साहब ने पास आते ही मुझे सीने से लगा लिया। जावेद ने आते ही "आदाब नौशा भाई" कहा। मैंने झुक कर उसे चूम लिया, "जीते रहो, खुश रहो बर्खुरदार।" बुजुर्गों जैसी दुआएं देकर मैंने उसे चिपटा लिया। मैंने देखा, तहसीन दनदनाती हुई सीढ़ियां उतरकर मेरे पास आ गई, "तस्लीम नौशा भाई।"

"जीती रहो!"

"सामान उठाकर ले चलो बच्चो।" मीर साहब ने हुक्म दिया और फिर मुझसे कहा, "आइये बर्खुरदार...!" वह मेरे साथ सीढ़ियां चढ़ते हुए कह रहे थे, "बड़ी फिक्र थी आपको लेकर। कल रात ही घर में ज़िक्र हो रहा था कि पता नहीं दिल्ली जैसे शहर में आपको मकान मिला कि नहीं। आज हमारा दिल सुबह नमाज़ के बाद से ही कुछ यकीन सा दिला रहा था कि आप तशरीफ ला रहे हैं, और देखिये-आप आ गये।"

फाटक के अंदर घर की औरतें मिल गईं। इनमें सबसे पहले शहला की अम्मी ने गले से लगाकर माथा चूमा और बलाएं लीं, फिर शहला की फुफी ने, फिर आगे बढ़कर सालियों ने मुस्करा कर सलाम किया ओर फिर वे ही लोग मुझे अंदर ज़नानखाने में खींच कर ले उड़ीं। मैंने महसूस किया कि अचानक मेरे आने से सारा घर खुशियों से भर उठा है। सब तरफ भाग-दौड़ सी शुरू हो गई है। जहां मुझे लाकर बिठाया गया था, वह एक छोटा-सा सजा-सजाया कमरा था। पलंग की चादर शायद कुछ देर पहले ही बदली गई थी। नये गिलाफ़ वाला तकिया, पांयती एक चादर। सामने दीवार से लगी मेज-कुर्सी। मेज पर फूलदान, जिसमें शायद कुछ देर पहले फूल लाकर सजाये गये थे।

तहसीन तश्तरी पर ग़िलाफ़ ढके पानी का गिलास लेकर कमरे में दाखिल हुई, खुशी से उसका चेहरा दमक रहा था। शहला से छोटी बहन आफरीन लालटेन जलाकर ले आई थी। जावेद ने आकर बताया, "मुंह-हाथ धो लीजिए नौशा भाई, बाथ-रूम में मैं तौलिया रख आया हूं।"

"भाई बड़े काम के हो गये हैं आप!" मैंने जावेद का हाथ पकड़ कर अपने पास बिठाते हुए कहा, "पढ़ाई कैसी चल रही है?"

"ठीक है।" गर्दन झुकाकर जावेद ने शरमाते हुए कहा।

"झूठ!" तहसीन ने टुकड़ा लगाया, "बिल्कुल नहीं पढ़ते हैं यह! जब देखिये, तब क्रिकेट खेलते हैं जनाब!"

"तुम तो जैसे हर वक्त पढ़ती ही रहती हो?"

"अच्छा बाबा, लड़ाई बाद में!"

भीतर से शहला की अम्मी आवाज़ देती हैं तो सभी कमरे से भाग जाते हैं। मेरी आंखें शहला को ढूंढ रही थीं, मगर वही नज़र



नहीं आ रही थी। मैंने कपड़े बदलकर मुंह-हाथ धोया। ब्रीफ़केस से सबकी सौग़ातें निकालीं और फिर कुर्सी में आकर धंस गया, अजीब लड़की है यह शहला भी। सोचने लगा-कितनी दूर से थका-हारा आ रहा हूं, कितने अरमान आंखों में छुपाये यहां तक पहुंचा हूं और मिसेज़ शहला अब्बास हैं कि ग़ायब हैं। पूछूं भी तो किससे?

परदा उठाकर मीर साहब अंदर दाखिल होते हुए बोले, ''भाई, चाय-वग़ैरह पी लेते। गुस्ल करने की ख्वाहिश हो तो पानी गर्म करवाया जाए।''

''नहीं बेटा!'' शहला की अम्मी भी कमरे में आ गई थीं, ''ईबेरे नहान ते ज्वार बुड़ाई जई है। रात हुई गई...भोर भा होत नहान ते थकान भाग जाई।'' मीर सहब ऐनक के शीशे साफ करने लगे, ''बात तो अशर्फी जैसी खरी है। फ़िलहाल तो बेगम, अब्बास साहब के लिए चाय-वाय लाइये।''

'ई लरकिना लोग का करत बा...?'' कहती हुई शहला की अम्मी खड़े पाजामे का पांयचा उठाकर फिर भीतर चली गईं।

''और फ़रमाइये साहबज़ादे!'' मीर साहब ने पान की डिबिया से पान का कत्तल निकाल दाढ़ में दबाकर कहा, ''क्या हाल हैं दिल्ली के? सुना है, वहां अब मुम्बई जैसे हालात पैदा होते जा रहे हैं, यानी कि कोई किसी को पहचानता ही नहीं? ऊपर का फ्लैट वाला, नीचे वाले को नहीं। नीचे वाला, बग़ल वाले को नहीं...।''

''दरअस्ल वहां की लाइफ़ काफी फास्ट हो रही है।'' मैं उन्हें बताने की कोशिश करता हूं, ''हर कोई बिज़ी है, भाग रहा है, दौड़ रहा है, किसी को फुरसत नहीं है क्योंकि फुरसत उसे दिल्ली में टिकने नहीं देगी। वह ऐसे लम्हे टी.वी. के सामने बच्चों के बीच बिताना चाहता है। ये लम्हे दिल्ली का शहरी, दूसरों से शेयर नहीं करना चाहता, मगर ये हालत मिडिल क्लास की है, जो पॉश कालोनियों में रहते हैं या जे.जे कॉलोनीज़ में हैं-उनकी जिंदगियां मुख्तलिफ रंगों से रंगी हुई हैं और हर रंग की अपनी एक पहचान है, बोली है, मुम्बई में ऐसा नहीं है। इसलिए दिल्ली अभी मुम्बई नहीं बनी है। वह एक डी-सेंट्रलाइज्ड सिटी बन चुकी है, दिल्ली बनने की तरफ गामज़न है।''

''भई कमाल है...'' मीर साहब तमक कर बोले, ''इतनी कम मुद्दत में आपने दिल्ली को इतनी गहराई से जान लिया...ऐं? भई सुब्हान अल्लाह...!'' वह शायद बोलने का सिलसिला जारी रखते कि शहला की अम्मी दोबारा आ गईं और आते ही मियां को जैसे याद दिलाने लगीं, ''अई, का नमाज रोज़ा तक भुलाय दिहिन दामाद जी? आप हूं दिल्ली चले जाइये दामाद जी के साथ। उंहि बातें कीजियेगा...।''

''अरे, लाहौल विला कूव्वत...'' मीर साहब छड़ी उठाकर खड़े हो गये, बोले, ''ख्याल ही नहीं रहा नमाज़ का...अच्छा बरखुरदार!

> वह हँस कर चली गई, लेकिन जाने से पहले मेरा माथा चूमने से बाज़ नहीं आई। मैं उसके होंठों की छुअन से पैदा तरंगों में बहता चला गया। अजीब सा नशा होता है ऐसे रिश्तों का जिन्हें हम नाम देकर भी नाम नहीं दे पाते। अभी कुछ महीनों पहले तक हम शहला को जानते तक नहीं थे, फिर वह मेरी बीवी बनी। एक अजनबी लड़की, अजनबी लड़के के साथ एक बिस्तर पर लेट गई और फिर...! लड़का सुबह होते ही उसका मजाज़ी खुदा बन जाता है। वह उसके लिए खुद तक को कुर्बान कर देने में संकोच नहीं बरतती? ऐसा क्यों होता है?

आप आराम फरमाएं। मैं नमाज़ पढ़कर आता हूं...।''

सास साहिबा भी उनके साथ ही चली गईं, तब कहीं मैंने सुकून की गहरी सांस छोड़ी लेकिन तभी तहसीन और आफरीन मेरे लिए चाय-पानी का सामान लेकर कमरे में दाखिल हो चुकी थीं, कम्बख्त शहला अब भी नदारद थी। रह-रहकर उस पर गुस्सा आ रहा था। आफरीन ने शायद मेरे माथे की सिलवटों को पढ़ लिया था, इसलिए वह दबे होंठों से मुस्कुराये जा रही थी। मेज़ पर चाय के कप सजाते हुए उसने मुझे कनखियों से देखकर मुझसे पूछा, ''बाजी नहीं दिखाई दे रही हैं?'' तड़ से तहसीन का जुमला उछलता है, ''कोई बात नहीं, हम लोग तो हैं ना नौशा भाई? घबराइये बिल्कुल नहीं...हां।''

''भला मैं क्यों घबराने लगा...'' मैंने भी लुत्फ लेने के अंदाज़ में कहा, ''बस, आप दोनों के बीच यह तय हो जाये कि आज रात पहले मेरे साथ कौन सोयेगा?''

''हाय हल्ला नौशा भाई...।'' आफरीन कहती हुई ऐसे भागी जैसे मैं बढ़कर उसे रोक ही लूंगा। लेकिन तहसीन सीने पर दुपट्टा डालकर मेरे पास आ गई, बोली, ''मैं सो जाऊंगी। मुझे कोई एतराज नहीं होगा। मगर पहले बाजी से इजाज़त ले लीजियेगा।'' कहकर वह ठठाकर हँस पड़ी थी। मैंने पूछा, ''मगर आपकी बाजी हैं कहां?''

''कपड़े बदल रही हैं।''

तहसीन भी हँसती हुई चली गई और मैं अकेला चाय की चुस्कियां लेने लगा, तभी पर्दे की ओट से खुशबुओं का एक झोंका आया और कमरे भर में फैल गया।

''आदाब!''

शहला मेरे सामने खड़ी थी, किसी नई-नवेली दुल्हन की तरह। मेज पर चाय का कप रख कर मैंने उसे सीने से लगा लिया, फिर

उसे बेअख्तियार चूमने लगा। इसी दौरान मुझे लगा, पर्दे की ओट में कोई छुपा हुआ है। उधर आफरीन थी, "बर्तन उठा लूं बाजी...?"

आफरीन के जाने के बाद शहला मेरे पास आकर बैठ गई, उसकी आंखों में आंसू थे। उसकी शिकायत थी कि मैं इतने अर्से बाद आया हूं तो मेरे प्यार में कमी आ गई है। भला ऐसा कैसे हो सकता है? शहला ही तो मेरी जिंदगी है। इसी के लिए मुझे मकान ढूंढना पड़ा, मकान से पहले पेइंग गेस्ट बनाना पड़ा, और...।

"दिल्ली में आपको मेरी याद आती थी?"

"यह भी कोई पूछने की बात है।"

"जब मुझे हिचकियां आती थीं, तो मैं समझ जाती थी कि आप...।"

"मिल गया न तुम्हें तुम्हारे सवाल का जवाब।"

वह हँस कर चली गई, लेकिन जाने से पहले मेरा माथा चूमने से बाज़ नहीं आई। मैं उसके होठों की छुअन से पैदा तरंगों में बहता चला गया। अजीब सा नशा होता है ऐसे रिश्तों का जिन्हें हम नाम देकर भी नाम नहीं दे पाते। अभी कुछ महीनों पहले तक हम शहला को जानते तक नहीं थे, फिर वह मेरी बीवी बनी। एक अजनबी लड़की, अजनबी लड़के के साथ एक बिस्तर पर लेट गई और फिर...! लड़का सुबह होते ही उसका मजाज़ी खुदा बन जाता है। वह उसके लिए खुद तक को कुर्बान कर देने में संकोच नहीं बरतती? ऐसा क्यों होता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरी अभी नई-नई शादी हुई है, इसलिए मैं इस मसले पर बेअख्तियार इमोशनल हो कर सोचने लगा हूं। लेकिन ऐसा है। अब्बा के पलंग से अम्मा का पलंग कभी अलग नहीं रहा, दोनों को कभी किसी ने झगड़ते हुए भी नहीं देखा होगा। अम्मा कभी अब्बा के बगैर नहीं रहीं। यहां तक कि जब उनका इंतकाल हुआ तो अम्मा भी खबर सुनकर चल बसीं। मगर ऐसा मुश्किल से होता है, मुश्किल से ऐसे जोड़े बनते हैं। काश, शहला भी मुझे बेपनाह प्यार दे सके।

और उस रात वह मेरे सीने पर सिर रख कर मेरे दिल की हर धड़कन का नग़मा सुनती रही, सांस के हर तार को छेड़ती रही, मुहब्बत की हर बूंद को होंठों की सीप में समेटती रही। शायद यहीं से नींद और सुकून का सफर शुरू होता है, जिसमें हम दोनों साथ-साथ चल पड़े थे।

मैंने उसके चांद से दमकते चेहरे को हथेलियों के हाले में भर कर देखा, पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूंदों से भीगा हुआ, सुकून से लबरेज़, शर्मोहया से बेनयाज़। मैंने धीरे से उसके कान की लौ को चूमकर कहा, "मैं तुम्हें लेने आया हूं, चलोगी मेरे साथ?"

"मैं तो कब से ये अल्फ़ाज सुनने का इंतज़ार कर रही थी।" शहला ने कहा और पलकें उठाकर मुझे देखने लगी, फिर मुस्कुरा दी। पूछा, "कैसा है फ्लैट?"

"अच्छा है।" मैंने उसे बताया कि मेरे फ्लैट के सामने बंदे हसन का फ्लैट है, बगल में किसी शर्मा जी का। उनके सामने किसी गोविंद का फ्लैट है। अभी बंदे हसन के अलावा मेरी किसी और से मुलाकात नहीं हुई है। रहेंगे तो और लोगों से भी मुलाकातें हो जाएंगी। एक तरह से मुझे इस बात का बेहद सुकून हो चला था कि बंदे हसन के घर की कुरबत शहला को बेपनाह खुशियां देगी। क्योंकि शहला नमाज़ रोज़े की पाबंद लड़की है ओर बंदे-हसन के घरवाले भी नज़्र-नियाज़ के पाबंद! मजलिस-मातम के शौकीन।

"परसों से रोज़े शुरू हो रहे हैं, आप रखेंगे?"

"यार, पिछले एक महीने से होटल में खा-खाकर हाज्मा खराब कर चुका हूं। अब तो घर का खाना खा लेने दो। क्यों यह मौका छीन लेना चाहती हो?"

"अल्ला तौबा! मैंने तो एक छोटा-सा सवाल किया था, और आपने...। बाप रे बाप! मत रखिये रोज़ा बाबा, खूब सबको दिखा-दिखाकर मुर्गे की टांग उधेड़िये। कोई कुछ नहीं कहेगा, दामाद हैं भई...क्यों?"

"वो तो हूं ही! मेरी तरफ से तुम रख लो। मेरा सवाब भी तुम्हारा, ओ.के.।"

"हाय अल्ला, कैसी कुफ्र की बातें करते हैं आप भी।"

अगले दिन सुबह जावेद को लेकर मैं सैर को निकला तो सब तरफ कोहरा छाया हुआ था। बड़े तालाब पर तो जैसे किसी ने सफेद चादर सी बिछा दी हो लेकिन मैं डबल मार्च की पोज़ीशन में जावेद के साथ लगातार गलियारे में दौड़ता जा रहा था। ऐसी ताज़ा आक्सीजन भला महानगरों में कहां? पता नहीं, हम गांवों और कस्बों को उनकी असली सूरत में क्यों जिन्दा नहीं रहने देते? क्यों रफ्ता-रफ्ता उनसे उनकी आक्सीजन छीनते जा रहे हैं? काश, भारत सरकार मुझे इस कस्बे में नौकरी दे दे तो मैं यहां से दिल्ली या किसी और बड़े शहर में कभी नहीं जाऊं।

"नौशा भाई!" जावेद मुझे टोकता है, "और आगे कितनी दूर जाना है? आगे नदी है, उसके पार बगुला पारा का जंगल...।"

"लौटो भई, लौटो!"

"आज आपने थका मारा। आप नहीं आते तो मैं इस वक्त गहरी नींद में सो रहा होता।" अचानक जॉगिंग करते हुए एक लड़के को देखकर जावेद ने कहा, "नौशा भाई, वह जो सामने से लड़का आ रहा है, वह सलाम करे तो जवाब मत दीजिएगा।"

"अरे, क्यों भई? कौन है वह?"

"वह हशमत है...गुंडा...लफंगा।"

"कमाल है, मगर इस नफरत की वजह?"

"आफरीन आपा! आप नहीं जानते आफरीन आपा अब सिधौली के सकूल में नहीं जातीं। अब्बू ने उन्हें घर बिठा लिया है। इसकी वजह है यही आवारा शख्स। यह हज़रत मेरी आपा से इश्क फरमाने लगे थे, लव-लेटर लिखा करते थे। एक दिन एक लेटर अब्बा के हाथ लग गया, बस! स्कूल का दरवाजा बंद, पढ़ो घर में...।"

"हैलो जावेद!" पास आकर हशमत बोला, "हैलो सर....मैं हशमत सेकेंडियर का स्टुडेंट हूं। आप शायद ब्रदर इन लॉ हैं, एम आई राइट?"

मुझे हशमत खुशमिज़ाज, कल्चर्ड और काफी सिंसियर-सा लगा। मैंने कहा, "तुम्हारा अंदाजा सही निकला।" वह मेरे साथ ही जॉगिंग करते हुए चलने लगा था। मैंने देखा कि जावेद का मूड कुछ उखड़ता जा रहा है। मैंने हशमत से पूछ लिया, "भई हमारे साहब का मूड कुछ ठीक नहीं है, आपको इसकी वजह मालूम है?"

"येस!" बंदर की तरह उछलते हुए वह जवाब दे रहा था, "जावेद को गलतफ़हमी है कि मैं एक गलत किस्म का लड़का हूं। गलत इसलिए हूं सर कि मैं जावेद की बहन आफरीन से प्यार करता हूं। क्या प्यार लोग नफरत पैदा करने के लिए करते हैं सर? यह कहां का लॉजिक है कि एक पठान लड़का सैयद लड़की से आज की इलेक्ट्रानिक एज में...? गिव मी आंसर सर!"

हशमत की साफ़गोई ने मुझे हैरत में डाल दिया था। हम लोग एक खेत की मुंडेर से टिककर बैठ गये थे।

"मैं झूठ नहीं बोल सकता सर!" हशमत कह रहा था, "नानी मां ने मुझे यही सिखाया है। वह एक इंग्लिश स्कूल में प्रिंसिपल हैं। उन्होंने ही मुझे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है। मम्मी-पापा को मैंने नहीं देखा, वे रेल के एक हादसे में मारे गये थे। मुझे प्यार की जरूरत है, आफरीन मुझे प्यार करती है। वह मेरी अच्छी दोस्त है। हमारे व्यूज़ मिलते हैं और मैं उससे शादी करूंगा, उसके लिए मुझे कोई रोक नहीं सकता। मगर अभी मुझे सिविल सर्विसेज़ के इक्जाम्स में बैठना है, अपने पैरों पर खड़ा होना है, इसलिए...।"

मुझे हशमत बहुत अच्छा और समझदार लड़का लगा।

"अब देखिये सर!" वह फिर बोला, "जावेद के फादर ने आफरीन से स्कूल छुड़ा दिया। वह तो असेसिनेशन ऑफ करियर है, है कि नहीं? आप मुझसे कसम ले सकते हैं, मैंने आज तक आफरीन की कलाई तक नहीं पकड़ी है। नानी मां जानती हैं कि मैं कभी कोई गलत कदम नहीं उठाऊंगा। वह आफरीन को पसंद करती हैं, मगर उसके घरवाले....।"

"तुम आपा को खत क्यों लिखते हो?" जावेद को गुस्सा आ गया था।

"खत में क्या होता है?" हशमत बता रहा था, "आप पढ़ियेगा। समझ जाएंगे आप भी। उसकी उलझनों को रास्ता दिखता हूं मैं। यह मेरा फ़र्ज़ है। मैं उसे आला तालीम हासिल करते देखना चाहता हूं। यह मेरी दिली ख्वाहिश है सर! मैं उसे सेल्फ-सफिशेण्ट बनाकर ही रहूंगा। जावेद, देखो! यह तालीम ही आपको पैसा और इज्जत और मरतबा दिला सकती है। आपके गंदे ज़ेहन को पाक-साफ कर सकती है। नहीं पढ़ें या पढ़ाएंगे तो पिछड़ जाएंगे, गुलाम बन जाएंगे हम लोग। मैं गुलामी से नफ़रत करता हूं सर!"

मैं हशमत को बाड़ी जैसे कस्बे में पाकर हैरतज़दा था। वह तो हर एतबार से मुझे मैच्योर लग रहा था। मुझे लगा कि मीर साहब के ज़ेहन में दीमक लग चुकी है। मुझे यह दीमक साफ करनी होगी और आफरीन को स्कूल भिजवाना होगा। हशमत ने आज की सुबह को अपनी महकदार बातों से सरशार कर दिया था।

घर आकर मैंने शहला को बता दिया कि मुझे हशमत मिला था। वह कुछ परेशान सी हो गई। जब उसे मैंने हशमत की सारी बातें बताईं तो वह भी हैरतज़दा हो गई और फिर हम दोनों ने मिलकर यह तय किया कि आफरीन को स्कूल जरूर जाना चाहिए।

"यह मुमकिन नहीं है..." खाने के दस्तरख्वान पर सारी बातें सुनकर मीर साहब भड़क उठे, "यह हड्डी-बोटी का मामला है। हमारे खानदान में ऐसा कभी नहीं हुआ...।"

"मैं आपके इन ख्यालों से सैटिस्फाई नहीं हूं।" पहली बार मैंने शहला को बहस के मूड में देखा, "अब्बू, ज़माना बदल गया है। एजुकेशन की इंपार्टेंस को आप समझिये। हशमत बुरा लड़का नहीं है, कल्चर्ड है। उसे लेकर आप आफरीन की जिंदगी क्यों तबाह करने पर तुल गए हैं? वह अच्छी स्टुडेंट है, उसका फ्यूचर ब्राइट है...।"

"और अगर वह....क्या नाम है उसका, हशमत! वह बदमाश फिर आफरीन के रास्ते आ गया तो...?"

"वह बदमाश नहीं है अब्बू!" इस बार जावेद ने कहा, "पहले मैं भी उसे लेकर गलत सोचता रहता था, मगर आज उसकी बातों ने तो मेरी जिंदगी का नज़रिया ही बदल दिया। मैं भी उसकी तरह आई.ए.एस. या आई.पी.एस. बनूंगा। आपा को स्कूल जाने से मत रोकिये, प्लीज़।"

"कमाल है! कल तक माहौल कुछ और था, आज वो सब बदल गया। तुम लोग जानो। जहां तक मेरी बात है तो मैं अब्बास साहब की ज़मानत पर उसे स्कूल भेज सकता हूं, वरना नहीं!"

एकदम सन्नाटा फैल गया। मैंने देखा, सबकी निगाहें मेरे चेहरे पर टिक गई थीं। मेरा फैसला आईने की तरह साफ था। पर्दे की ओट में छुपी आफरीन की आंखों में खुशी के आंसू थे। वह मेरा फैसला समझ चुकी थी।

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड
बी-12, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110016

रेखा व्यास

पवन पुत्र

दिल्ली में 15 अगस्त के दिन पतंगें उड़ती हैं। इसका कारण और औचित्य मालूम नहीं है। बस यही ख्याल मन में आता है कि पतंग स्वाधीन दिखती हुई भी स्वाधीन नहीं होती। उसकी डोर किसी के हाथ में होती है। भिड़ंत होती है। कट-फट जाती है या लुटकर किसी और के हाथ पड़ सकती है। पड़ जाती है। यही सन्देश देने-दिलाने के लिए उड़ाई जाती है।

कभी लगता है पतंग की तरह ही नाजुक होती है स्वतन्त्रता। बहुत प्राणपण से उसकी हिफ़ाज़त करनी पड़ती है। कभी भी कोई भी...

घर के पिछवाड़े थोड़ी कच्ची जगह है। थोड़े-बहुत पेड़-पौधे हैं। उनका साम्राज्य घर को आगे से अलग बनाये रखता है। ठण्ड-भरा हवादार। लोगों ने पिछवाड़े को सीमेण्ट से पटवा दिया है। उन्हें झंझट लगता है। गाय-भैंस, रद्दी चुनने वाले और तमाम लोगों को आमन्त्रण देता है पिछवाड़ा। घेर-घारकर वे इन समस्याओं से मुक्त हो गये हैं।

कुछ खड़खुड़ हुई पिछवाड़े। देखा तो बेरहमी से रातरानी के पौधे में फंसी पतंग निकाल रहा था कोई बच्चा। मांझे के एक घेरे को निकालने में फूलों के कई घेरे झड़ जाते थे। करेले और तोरी की बेलों ने तो जड़ ही छोड़ दी।

नाजों से जिन्हें पाला उनकी दुर्गति कैसे सहन होती। बरसात के कारण किवाड़ खूब कट्ठा हो गया था। उसे खोलने के कष्टमिश्रित प्रयास का आक्रोश भी उस क्रोध में शामिल हो रहा था।

छोटी-सी हथेली में आड़ा-टेढ़ा मांझा लपेटते हुए वह 10–12 साल का लड़का लपेटने की गति तेज करते हुए कहता जा रहा था- लेने दो आंटी, दूर से इसे लेने आया हूं।

चोरों की तरह घर में घुस-घुसकर...आगे से आकर पूछकर नहीं ले सकता था...?

वह सुने बगैर अपने काम में तल्लीन था। मैं भी उसकी इस उपेक्षा से झल्लाई - सुनता है कि नहीं, चल आगे आकर ले...गली से दायें घूमकर...।

मैंने पतंग निकाली। खूब अच्छी बड़ी पतंग। पीली। उसे पतंग की बजाय ढाल कहना अधिक समीचीन होगा। इधर वह प्रसन्न हुआ भागकर आ रहा था। कायदे से उसकी पतंग निकल गयी। वह श्रम से भी बचा और गुस्सायी मालकिन उसे इतनी आसानी से लौटा भी रही थी।

उसकी छौने-सी टांगें सीधी गली में दौड़ीं। मेरी उस ओर से। मैं भी उसकी गति से ही आगे पहुंच जाना चाहती थी। बिना सोचे ही यह स्फूर्ति मेरे भीतर आ गयी थी।

अभी मैं आगे पहुंचूं, उससे पहले ही धाली और चीकू को पता नहीं कैसे पता चल गया। दोनों बेइन्तहा उसको पीछे भागे। गली के मुहाने तक पहुंचा वह बच्चा भी चिल्लाकर भागा। मैं इन दोनों को वरजती-वारती, डांटती-डपटती रोकती-रुकाती पहुंची। वह कहीं नहीं था। पता नहीं...कोई नहीं बता पाया। बस यही शब्द गूंजते रहे- कुत्ते छू करने को बुलाया था...दौड़-हाँफ में हँफते हुए शब्द...कंपकंपायमान शब्द... दोनों कुत्तों पर गुस्सा भी आया। धौंकनी की तरह उनकी पसलियां आगे-पीछे हो रही थीं। आड़े फेफड़े पूरे दिख रहे थे। पूंछ के नीचे गड्ढे की चमड़ी एक-एक इंच पीछे खिंच-खिंचकर तन रही थी।

मन से पतंग देने गयी थी, न दे पायी। घर में लाकर वह ढाल टांग दी।

बात आयी-गयी हो गयी। फिर अभी दो-तीन दिन बाद उसी भूरे निक्कर-बनियान में लड़का छिप-छिप पीछे झांकता दिखा। मेरी सांस में सांस आयी। ईश्वर ने मेरे मन की व्याकुलता का सन्देश उस तक पहुंचा दिया था। मैं शुक्रगुज़ार थी...अरे ले ले...ला रही हूं मैं... दौड़ी...ढाल सहित...दूर तक... फिर लड़का कहीं नहीं था दूर-दूर तक....फिर निराश होकर आयी।

फिर एक दिन वही झलक... फिर मेरे प्रयास निरर्थक...।



पतंग आज भी टंगी है घर में। एक बोझ लगती है। पिंजरे में बंद परकटे पंछी-सी। अपने आप पर आक्रोश रहता है। मैं अपना विश्वास ही नहीं जमा पायी, जता पायी। उसके चित्त से अपने प्रति धोखे और अविश्वास का भाव निकाल ही नहीं पायी। क्या वह मेरा अविश्वास करके मुझे मेरे व्यवहार की सज़ा दे रहा था? सबक सिखा रहा था। विश्वास खोकर जीना, उफ़ कितना यंत्रणामय...वह भागकर मेरा विश्वास उससे ज्यादा वेग से भगाकर ले जाता था।

मेरे मन में बार-बार अपनी वस्तु पाने की उसकी ललक तिर आती है। इसीलिए मैं उसकी वस्तु पीछे खुली नहीं छोड़ पायी ताकि कोई और उसे ले न जाए। कितनी दूर से आया हूं...वाकई में इतने ऊंचे घरों में कहां-कहां से कैसे-कैसे उसने वह पतंग खोजी होगी।

भयभीत होकर भी उसकी खोज की इच्छा मरी नहीं। कुत्तों से जान की परवाह किये बिना वह अपनी पैर दबाकर आने की कला क्षमता से आया था। उनके आक्रोश से बचा भी और अपना लक्ष्य न पा सका। तीन बार तो मैंने उसे देख ही लिया। पता नहीं कितनी बार वह आया होगा। उसके इस श्रम तथा प्रयास की वेदना मुझे दग्ध कर देती है।

एक-दो दिन पतंग न चाहकर भी बाहर छोड़ी थी पर उसका कहीं पता न था। फिर सहेजकर रख दी। अब वह नन्हा वास्कोडिगामा अपनी पतंग की खोज में आएगा भी या नहीं। डिग गया होगा। उसकी खोज की इच्छा भी डूब गयी होगी। काश वह न मरी हो...।

उसके श्रम की महत्ता पर दंग थी, प्रयासों पर चकित। इच्छाओं की लहकन पर मुग्ध। अपने आप पर क्रोधित। अपने मन को जता न पायी। उसका जान न पायी। ऐसी सदिच्छा (गुडविल) का क्या... कैसे जताये जाएं मन के भाव...?

कभी किसी का आक्रोश देखती हूं तो थम जाती हूं...क्रोध को लगाम लगाती हूं। प्रतिक्रिया को विरत करती हूं। एकदम शांत निर्विकार भाव से। गुडविल मेरी प्रतीक्षा कर रही हो...मुझे समझाने की, सिखाने की।...लड़ाई-झगड़ों के आक्रोश भी कुछ सकारात्मक सिखाने लगे हैं। एक पतंग जो अभी तक रखी है घर में, वह पीली पतंग उस नन्हें पवन-पुत्र की याद से मन को पीला-पीला कर देती है। बस यही उसांस निकलती है-कब ले जाएंगे पवनपुत्र यह संजीवनी बूटी...कब ....कब...कब???

797-तिमारपुर, दिल्ली-110034

संध्या छाया

अगले अंक में डॉ. कन्हैया लाल नंदन

मंजु गुप्ता की दस कविताएं

सागर-1

सागर!
तुम्हारा हाहाकार
गर्जन-तर्जन
कभी थमता नहीं
इतना अगाध,
विशाल जल-भंडार है तुम्हारे पास
पर तुम्हारी पिपासा
क्यों नहीं होती शांत...?
धरती का परस
तुम्हें करता है और और उद्वेलित
तुम कभी थकते नहीं...?
और यह वसुन्धरा
अपनी सबसे मीठी, पावन रसधाराएं
सौंप देती है तुम्हें
बिना किसी आश्वासन के
हँसते, मुस्कुराते
तुम पी लेते हो मीठा शीतल जल तत्काल
और फिर लगाते हो
और और की आदिम गुहार
धरती के साथ रहकर भी
तुमने जाना नहीं तृप्ति का स्वाद
पढ़ा नहीं संतोष, धैर्य, सहिष्णुता का पाठ?

सागर-2

नीला आसमान
उज्ज्वल, विस्तृत, असीम
विराट प्रदीप्त नीलम-सा
नीला ही सागर जल
हरित-नील नगीने-सा
पारदर्शी, अगाध
दोनों के बीच
बूंद-बूंद नीलपन पीती
आंखें
असीम अनन्त में
किल्लोल करती चटुल मछलियां

सागर-3

कितना सुंदर है
हरित नील सागर
रुपहली श्वेत लहरों की
फेनिल झालर में लिपटा
विराट दर्पण
दर्पण में प्रतिबिम्बित
तारों जड़ा
विशाल नीलाकाश
अंतस् में आकाश छिपाए
हिल्लोरित, आलोड़ित
आवेगभरा उद्वेलित सागर

सागर-4

सागर तट का रुपहला बालुका विस्तार
अपनी नीरव असीमता से
करता है आमंत्रित
हर बौनी पगचाप
बालुका-तट पर
जितनी द्रुत गति से
बनते हैं पदचिह्न
उतनी ही त्वरित गति से
हो जाते हैं तिरोहित
इस तरह किया जाता है उत्कीर्ण
बालुका पट पर
काल गति का निरंकुश आलेख

सागर-5

देखा है सागर?
ठाठें मार लहराता
लहर-लहर उठता
बूंद-बूंद बिखरता
उफनता, गरजता, कसमसाता सागर।
मन में, भावना लहरियों का हिल्लोरित सागर
आँखों में
लालसा तरंगों का उद्वेलित सागर
इंसानों में,
दर्द, पीड़ा, तनाव, चिंता
क्रोध, आक्रोश, मोह, ममता का उफनाता
सागर!
तट पर खड़े हो
देखा है कभी
अनादि काल से हहराता
फुंकारता, सिहरता सागर
अंतस में उमड़ता-घुमड़ता
शंख, सीपी, घोंघों
मोतियों में बिखरता
रेतीले तटों पर,
सहस्रफण पटकता
लहूलुहान सागर

सागर-6

सागर तट पर
चल रही थी लहरों की रासलीला
मदहोश, उन्मादिनी नवयुवती लहरें
सखियों-सी हिलमिल
आती थीं हाथ पकड़ दूर से
दौड़ती, भागती, किलकती
और तट छू लौट जाती थीं तत्काल
नाचती, गाती, खिलखिलाती
जल लहरियों का यह गरबा महारास
चल रहा था अनवरत
पूरे उन्माद के साथ
नवल नूतन उल्लास से भर आवर्तन-प्रत्यार्वन
किशोरी लहरें निमग्न थीं नर्तन में
विलक्षण चपलता और निपुण कुशलता से
कर रही थीं सम्मोहित जल लहरियां, तालबद्ध
ये लहरें नहीं, मानों थीं रजत-नील जलपरियाँ
जो अपने रुपहले पंख खोल
तट तक आकर, रिझाकर
लौट जाती थीं असंख्य मोती छितराकर
ये लहरें नहीं, मानो थीं खेलती-कूदती लड़कियां
जो खेल रही थीं हाथों में हाथ डाले
'हरा समुन्दर गोपी चन्दर' मंडलाकार
और सबके बीच नाच रहा था विद्युत वेग से
नील मेघ-सा सलोना
कृष्णवर्ण सागर

सागर-7

आज फुर्सत से
मैंने जी भर कर पिया सागर
होंठों से, आँखों से, साँसों से
सहस्राक्ष बन
हजार-हजार रोमों से
तट पर बैठ
चुपचाप
मैं पीती रही सागर
कभी अमृत बूंद-सा छककर
बड़ी तृप्ति के साथ
कभी गर्म चाय की चुस्की-सा धीरे-धीरे
कभी पान-सा चबाती रही हौले-हौले
महर्षि अगस्त्य बन, आज मैंने भी
खूब पिया सागर
अब मैं, चली आई हूं उससे बहुत दूर
पर वह लहरा रहा है
धड़क रहा है, मेरे भीतर
मस्ती में भर, नाच रहा है बदहवास
लहरों की ताल पर थिरकता, उमगता
गुनगुना रहा है अनहद-नाद
मेरे भीतर मजे से बैठा
अपने अनंत रंगों और रूपों से
भरमा रहा है मुझे
सागर।

सागर-8

आज की मैंने
सागर से मुलाकात
औपचारिक दुआ-सलाम के बाद
मैं बैठ गई तट पर
चप्पल उतार, नंगे पैर
वह आया अनायास
और पखार गया पाँव चुपचाप
फिर न जाने कब
भिगो गया भीतर-बाहर
पहले तन फिर मन
लहरें आती रहीं, बुदबुदाती रहीं कानों में,
खुसर-पुसर
आँखें मन के कम्प्यूटर पर उकेरती रहीं
उनके चित्र
गूंज, अनुगूंज, भाव-भंगिमाएं
और फिर न जाने कैसे और कब
हम बन गए अंतरंग मित्र
मैं घंटों बैठी बतियाती रही
दुनिया-जहां की बातें
उलीचती रही मन की गहराइयां
और वह सुनता रहा, धैर्य के साथ, सब कुछ
बीच-बीच में हाथ बढ़ा, सहलाता रहा
उसका तरल स्पर्श, जगाता रहा पुलक
रोमांचित करता रहा मन
उसका ऐश्वर्य, उसकी विराटता, उसकी
अगाधता करती रही सम्मोहित
और अब यह हाल है-
कि मैं लौट आई हूं आधी-अधूरी
मन छोड़ आई हूं, सागर के पास
आँखें लहरों के नर्तन में तल्लीन हैं
पाँव तट के बालू में लिपटे हैं
लेकिन मैं, अधूरी होकर भी
अधूरापन महसूस नहीं कर रही
क्योंकि मुझे मिल गया है
मेरी कल्पना का मीत 'सागर'
इस वक़्त
मेरी तमाम अंतर्बाह्य चेतना
समाई है सागर में
मैं खुद छूट भी गई तो क्या
सागर को अपने साथ ले आई हूं
भरपूर....

सागर-9

गोवा के सुंदरतम सागर-तट पर बैठ
बड़ी कशिश से भर
धीरे से कहा मैंने-
मेरे दोस्त बनो, सागर
और दोस्ती का हाथ आगे बढ़ाया
लेकिन वह गरजा, उफना
कुछ इस तरह झपटा, गुर्राता हुआ
मानो उसे दोस्ती मंजूर ही न हो
चार कदम पीछे हट, तत्काल
मैं लौट चली मुड़कर
तभी देखा
वह मुस्करा रहा था
रुपहले मोतियों की झालर वाली
फेनिल दूधिया हँसी
और वह मेरा दोस्त या दुश्मन नहीं
महबूब बना
बैठा था, मेरे दिल में पसरकर

सागर-10

जिस दुःख को सहकर
पाषाण हुई धरती
उसी को देख, सुन
पगलाया सागर
बौखलाया धुन रहा
लहर-दर-लहर
मस्तक।

जे-36, साकेत, नई दिल्ली-110017

शशि भूषण बडोनी

बर्फ

यहां पहाड़ों की शांत वादियों में भी
जब कभी हो जाता हूं मैं
उदास व्यथित परेशान
मिलता है मुझे सुकून निहारकर
हिमालय की गंभीर शांत
ऊंची पर्वतमालाएं

उबर आता हूं अवसाद से
हिमालय की गंभीर शांति देखकर
पर अभी यह समाचार पढ़ हूं हैरान
कि हिमालय में मिले पर्वतारोहियों के
पचासों वर्ष पूर्व के मृत शरीर
थे वहां सुरक्षित जस के तस।

बर्फ की यह है एक विडम्बना ही
कि वहां कुछ भी जीवित नहीं रहता
वहां फूल नहीं उगते हैं
बीज नहीं अंकुवाते हैं
कोंपलें नहीं फूटती हैं
और मृत शरीर रहता है
वहां सुरक्षित

राज. सेंट मेरीज चिकित्सालय, मसूरी (उत्तरांचल)-248179

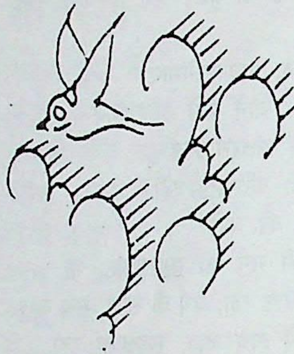
हरजिंदर सिंह सेठी

तुम देखना मेरे दोस्त

मेरे दोस्त!
तुम जा रहे हो
उत्तराखंड की यात्रा पर
वहां तुम देखोगे
कुदरत का बेजोड़ नजारा
आसमान में सिर डाले खड़े
सीधे पहाड़
और पाताल से बातें करतीं
गहरी खाइयां,
नदियों का उद्‌गम,
ठंडे और गर्म पानी के चश्मे,
आश्चर्यजनक फूलों की घाटी,
बर्फ-ढके सप्त श्रृंगों के बीच स्थित
गुरु गोबिंद सिंह की तपस्थली
हेमकुंड।
तुम देखोगे वहां
पिघलती हुई बर्फ,
पर्वत शिखरों पर
डूबते उतरते सूर्य का अनंत सौंदर्य
और सुनोगे
अलकनंदा का संगीत।

मेरे दोस्त!
मैं चाहता हूं
तुमसे यह कहना
कि इन सबके अलावा भी
तुम देखना कुछ और
कि वहीं,
तुम्हारी यात्रा के
अंतिम पड़ाव के पास
दोनों तरफ सीधे खड़े
सलेटी पहाड़ों के बीच
उन झोपड़ियों को भी देखना।

तुम देखना
कि कैसे रहते हैं लोग वहां
कि कैसे जीते हैं लोग वहां



कि क्या खाते हैं लोग
कि कैसे करते हैं मुकाबला
गरीबी से,
जंगलों में।

मेरे दोस्त!
तुम पूछना
उस घर की बूढ़ी औरत से
कि कैसे बीतती है
उसकी जिंदगी
सरदी और बरसात के मौसम में?
कि बीमारी की हालत में
कौन देता है दवा?
प्राकृतिक विपदाओं के समय
कौन पूछता है दुःख दर्द?
क्या कभी आते हैं घर, सम्बन्धी?
क्या कभी डाकिया लाता है चिट्ठी?

तुम पूछना
उनके बच्चों के बारे में
कैसे पढ़ते हैं बच्चे?
कहां है स्कूल?
क्या उन्होंने देखा है टेलिविजन?

तुम पूछना
उनके काम-धंधे के बारे में
कि पहाड़ों की तलहटी में
कैसे मिलता है रोजगार?
क्या है साधन कमाई का?
कैसे होती है गुजर-बसर?

मेरे दोस्त
तुम पूछना
तुम देखना
और महसूस करना
कि कैसे खड़े रहते हैं पेड़
अकेले
वीरान पहाड़ पर।

75/3, मुलुण्ड कालोनी, मुम्बई-400082

बृजनाथ श्रीवास्तव

तो क्या करे

जाल फैले
हर तरफ हैं
यदि कबूतर
ना फंसे
तो क्या करे
जाल के नीचे
दाने पड़े हैं
डोर वे साधे
चुपके खड़े हैं
चित्त मैले
हर तरफ हैं
यदि कबूतर
ना लसे
तो क्या करे
भूख को कंकड़
कब तक हरेंगे
प्राण बाजों से
कब तक बचेंगे
फल कसैले
हर तरफ हैं
यदि कबूतर
भखे ना
तो क्या करे

21 चाणक्यपुरी, ई-श्याम नगर, न्यू पी.ए.सी.
लाइन, कानपुर-208015

डॉ. प्रभात शर्मा

अन्वेषक : वर्तमान की शिराओं में उतरता इतिहास

'साहित्य कला परिषद्' के रंगमंडल द्वारा कमानी के मुख्य प्रेक्षागृह में खेला गया श्री प्रताप सहगल का नाटक 'अन्वेषक' शब्द और रंग के सम्मिलित प्रभाव की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। यद्यपि इससे पूर्व भी इस नाटक का मंचन प्रसिद्ध रंग संस्थाओं और निर्देशकों द्वारा दिल्ली और दिल्ली से बाहर हो चुका है लेकिन जिस रंग कौशल से 'साहित्य कला परिषद्' ने इसकी प्रस्तुति 6 और 7 जुलाई को की, वह एक याद रखने लायक अनुभव बन गया है।

'अन्वेषक' प्राचीन भरतीय मेधा के कीर्ति-पुरुष महान गणितज्ञ आर्यभट्ट 'प्रथम' के जीवन से सम्बन्धित नाटक है, जिसमें पांचवीं सदी के प्राचीन इतिहास को वर्तमान में प्रक्षेपित करते हुए समकालीन समय के ज्वलंत प्रश्नों को उकेरा गया है। यह नाटक वर्तमान समस्याओं को इतिहास के भीतर से देखने-समझने की एक नवीन दृष्टि देता है। आर्यभट्ट का सम्पूर्ण जीवन एक ऐसे सच्चे सर्जक-अन्वेषक का प्रतीकत्व धारण कर लेता है, जो निरंतर जर्जर परम्पराओं, रूढ़िग्रस्त मान्यताओं और खण्डित अंधविश्वासों का खुलकर विरोध करता है और जिसे अपनी प्रत्येक मान्यता और अन्वेषण की स्थापना के लिए विरोध और संघर्ष का सामना करना पड़ता है। आर्यभट्ट द्वारा की गई शून्य और दशमलव की खोज, पृथ्वी का अपने अक्ष और सूर्य के चारों ओर घूमना, चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण की तार्किक अवधारणा आदि अन्वेषणों को प्रतिगामी ब्राह्मणवादी ताकतें स्वीकार नहीं करतीं, उन्हें यह अपने हितों पर चोट की तरह प्रतीत होता है। इसी कारण आर्यभट्ट को ब्राह्मणवादी ताकतों का कोपभाजन बनना पड़ता है। इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों की रेखाओं पर चलता हुआ यह नाटक वर्तमान समाज की विसंगतियों और सीमाओं को स्पर्श करने लगता है। आज भी हमारे समाज में ऐसी ताकतें मौजूद हैं जो एक सच्चे अन्वेषक को आगे बढ़ने से रोकती हैं, अपने हितों की रक्षा के लिए मृत परम्पराओं को जीवित रखने का ढोंग करती हैं। चिंतामणि और चूड़ामणि के चरित्र ऐसे ही रूढ़िवादी प्रतिगामी बौद्धिक मान्यताओं के प्रतिनिधि प्रतीक हैं जो प्रत्येक नई सोच और अन्वेषण के विरोध में खड़े दिखाई देते हैं। इस रूप में यह नाटक समकालीनता के नए विमर्शों को खोलता हुआ समाज में स्थित प्रतिगामी और प्रगतिकामी शक्तियों के संघर्ष का नाटक बन जाता है, पर यह संघर्ष किसी विशेष युग या देशकाल की सीमाओं में बंधकर चलने वाला संघर्ष नहीं है। यह प्रत्येक युग में और प्रत्येक समाज में चलने वाला द्वंद्व है, जिसका सामना प्रत्येक उस व्यक्ति को करना पड़ता है जो रूढ़िवादी और परम्परानुगामियों की मान्यताओं को खंडित करना चाहता है और नए विचार को समाज में उपस्थित करना चाहता है। यह संघर्ष सिर्फ आर्यभट्ट का ही नहीं है, यही सब आर्यभट्ट से बहुत पहले महात्मा बुद्ध को सहना पड़ा था और यही आर्यभट्ट के बहुत बाद कबीर को सहना पड़ा।

परम्परा बनाम अन्वेषण के द्वंद्व को भी यह नाटक विशदता से उठाता है। आर्यभट्ट का यह कहना कि 'अन्वेषण परम्परा का निषेध नहीं, उसका विकास है। कोई भी अन्वेषक तब तक अन्वेषण कर ही नहीं सकता जब तक वह परम्परागत मूल्यों, मानों और निष्कर्षों पर प्रश्नचिह्न न लगाए' इस बात की पुष्टि कर देता है कि प्रत्येक नया विचार या परिकल्पना परम्परा की बाधक नहीं होती, मृत परम्पराओं और मान्यताओं के कंकालों पर ही नए अन्वेषण जन्म लेते हैं और अपनी जगह बनाते हैं। इसी प्रकार नालंदा विश्वविद्यालय की विद्वत परिषद् का दृश्य आज के विश्वविद्यालयों की शिक्षा व्यवस्था और अध्यापकों की भूमिका पर तीखी टीका-टिप्पणी करता है।

केतकी का चरित्र जहां नाटकीय तनाव की गांठों को बीच-बीच में ढीला करने और शीतल स्पर्श पहुंचाने का काम करता है वहीं आर्यभट्ट के अन्तर्मन के द्वंद्व को भी एक नया आयाम देता है। आर्यभट्ट के साथ उसका सम्बन्ध प्रेम को शारीरिक धरातल से ऊँचा उठाकर उच्च अशरीरी धरातल पर प्रतिस्थापित कर देता है। आर्यभट्ट की अपने अन्वेषणों के प्रति प्रतिबद्धता तथा केतकी को छोड़कर नए अन्वेषणों की खोज में निकल पड़ने से उसका चरित्र आदर्शवादी बन गया है।

वास्तव में यह नाटक व्यक्ति और समाज, सत्ता और धर्म तथा परम्परा और विकास से जुड़े प्रश्नों का इतिहास के माध्यम से अन्वेषण करता है। इस रूप में यह नाटक वर्तमान की शिराओं में बहते इतिहास को समकालीनता में ढालता है। संगम पाण्डेय इसे शुद्ध इतिहास की कथा में वर्तमान का बिम्ब मानते हैं तो डॉ. नामवर सिंह इसे 'कलाकार द्वारा प्रतिगामी ताकतों को दिए गए प्रति उत्तर' की संज्ञा देते हैं।

'साहित्य कला परिषद्' रंगमंडल के लिए तैयार प्रस्तुति में निर्देशक सतीश आनंद ने नाटक के दृश्यविधान को कल्पनाशील बना दिया है। नाटक में प्रारम्भ से लेकर अंत तक निर्देशन कसा हुआ रहा, कहीं भी दृश्य अंतरालों में नाटकीय सम्प्रेषणीयता बाधित नहीं दिखी। वेशभूषा और मंच सज्जा की परिकल्पना में ऐतिहासिक पक्ष की ओर सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया था। अब्दुल मलिक रजा के संगीत ने नाटकीय कथ्य और अभिव्यंजना पक्ष को अधिक मुखर बना दिया। युद्ध, भीड़ या शोर के दृश्यों में भी अपूर्व संतुलन बना रहा। सूर्योदय और सूर्यास्त, दिन और रात तथा सूर्य की बदलती अवस्थाओं आदि के लिए रंग-संकेतों तथा प्रकाश-व्यवस्था का अभिनव प्रयोग कर निर्देशक ने नाटकीय स्वाभाविकता को बनाए रखने की सफल कोशिश की। पात्रों का अभिनय सजीव था। मुख्य भूमिका में मनोज राजपूत, केतकी की भूमिका में जस्सी तथा बुद्धगुप्त की भूमिका में मदन डोगरा ने अभिनय कौशल एवं भाव-भंगिमाओं द्वारा दर्शकों को प्रभावित किया। संस्कृतनिष्ठ भाषा और कठिन श्लोकों को भी पात्रों ने सहजता से अभिव्यक्त किया। इसके पीछे उनका कठोर परिश्रम झलकता है। विद्वत् परिषद् और ब्राह्मणों द्वारा जंनता को बहकाने के दृश्यबंध दर्शकों ने बेहद पसन्द किए। कुल मिलाकर अन्वेषक की नाटकीय प्रस्तुति ने रंगमंच की सामर्थ्य और शक्ति को प्रदर्शित किया है।

8674, शीदीपुरा, करोलबाग, नई दिल्ली-110005

डॉ. कल्पना पाण्डेय

आँच से उभरते रंग

डॉ. गुरचरण सिंह की गणना विशिष्ट साहित्यकारों में की जाती है। डॉ. महीप सिंह तथा देवेन्द्र इस्सर पर कार्य करने के उपरान्त उन्होंने 'जिन्दगी की आँच और रंग' के माध्यम से डॉ. ललित शुक्ल की विभिन्न रचनाओं पर कुछ विद्वान साहित्यकारों की राय जानने की कोशिश की है।

डॉ. गुरचरण सिंह से डॉ. शुक्ल की जो बातचीत है वह बड़ी ईमानदारी और बेबाकी से प्रस्तुत की गई है। डॉ. शुक्ल ने डॉ. सिंह के प्रश्नों का उत्तर बड़ी ईमानदारी से दिया है और अपनी रचनाओं में एक तरफ प्रकृति सौंदर्य तथा दूसरी ओर शोषित मानव समाज अर्थात् विरुद्धों का सामंजस्य जैसी कड़ी से जुड़ते हुए डॉ. शुक्ल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कतार में शामिल हो जाते हैं। एक जगह पर खुद डॉ. शुक्ल कहते हैं कि मानता हूं कि जीवन की समग्रता विरोधी गतिविधियों से ही पूरी होती है। साहित्य के प्रयोजन के बारे में पूछने पर डॉ. शुक्ल कहते हैं कि बिना प्रयोजन के कोई काम नहीं होता। यदि मेरे साहित्य सृजन से समाज में फैले अंधेरे का एक कण भी तिरोहित हो सके तो मेरे लिखने का उद्देश्य पूरा हो जाए। साहित्य का कर्त्तव्य है कि वह समाज को वह दृष्टि दे जिसमें नवीनता हो, जो आगे बढ़ने की ललक पैदा करती हो-निष्प्रयोजन साहित्य सृजन निरर्थक होता है।

डॉ. ललित शुक्ल गुरचरण सिंह से एक स्थान पर कहते हैं कि मैं शिल्प के खूँटे में बंधकर कविता नहीं लिखता। काव्य रचना के क्षेत्र में बड़ी अराजकता है। अनुभव-अनुभूति की झोली फटी हुई है। शब्दों के प्रयोग बड़ी जिम्मेदारी की मांग करते हैं। भाषा रचना को संवारती है और वही उसका सत्यानाश भी करती है। डॉ. शुक्ल भाषा को साधन मानते हैं साध्य नहीं। भाषा वही प्रिय लगती है जो बादलों की भांति हृदय को आर्द्र कर जाए, पाठक उसे बार-बार पढ़ना चाहें। प्रकृति में आसक्ति जताते हुए डॉ. शुक्ल कहते हैं कि मुझे नदी, पर्वत, वन, खगोल, भूगोल ज्यादा प्रिय हैं। दूसरे स्थान पर मनुष्य का दैन्य मेरा प्रिय विषय है। मेरी शब्दावली भी इन्हीं क्षेत्रों से आती है, सायास नहीं अनायास। कहानी, उपन्यास की अपेक्षा शुक्ल जी का मन कविता और रिपोर्ताज में अधिक रमने का कारण भाषा से लेखक का सीधा संबंध है। अपने मित्रों के साथ लम्बे अरसे से मित्रता को बनाए रखने में वे उसका योगदान मानते हैं।

डॉ. ललित शुक्ल के गुरु डॉ. ब्रजलाल वर्मा उनकी लेखनी को सिद्ध लेखक की लेखनी कहते हुए उन्हें आत्मप्रचार के कौशल में विपन्न बताते हैं। डॉ. रामदरश मिश्र कहते हैं कि उनके पास ग्रामीण अनुभव की संपदा है और तज्जन्य सामाजिक दृष्टि भी। सामान्य मनुष्य की समस्याओं से गुजरने वाली सोच उनकी सोच है। वह सोच प्रगतिशील सोच है यद्यपि वह प्रगतिशीलता के बने-बनाए सोच के कटघरे में खड़े नहीं हैं। 'शेषकथा' उपन्यास के माध्यम से रामदरश जी ने डॉ. शुक्ल को उनकी संपूर्णता में प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया है। उपन्यास में स्वरूपानंद का चुपचाप कहीं चले जाना संवेदनशील मिश्र जी को अखरता है। 'एक दूसरी दुनिया' तथा 'शेषकथा' उपन्यास के माध्यम से नंदिनी ने नारी मनोभावों को पर्त दर पर्त खोलने का प्रयास किया है जिन्हें डॉ. शुक्ल ने अकेलेपन का बोझ ढोते हुए दिखाया है। एस. रामचंद्र ने इन पात्रों को खटास-मिठास भरी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर कहा है। प्रताप सहगल ने 'शेषकथा' में आँचलिकता का पुट बताया है। डॉ. माहेश्वर कुछ बड़े रचनाकारों के प्रति शासक वर्ग के उपेक्षात्मक रवैये से क्षुब्ध हैं। डॉ. शुक्ल के पूरे सृजन कर्म का ब्यौरा प्रस्तुत करते हुए 'जिन्दगी के धुंधलके से जिन्दगी की आँच तक' के माध्यम से उनकी तेईस कहानियों का वर्गीकरण निम्नवर्ग, निम्न मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग में करते हुए 'भरोसा' कहानी को शिल्प की दृष्टि से बेहतर कहानी कहा है। इसी क्रम में महेन्द्र भटनागर, जयशंकर त्रिपाठी और अजय कुमार पटनायक के साथ-साथ कीर्ति केसर, वेदप्रकाश अमिताभ, सुलेख चंद्र शर्मा ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

देवयानी सेन को डॉ. ललित शुक्ल की रचना मानवतावाद के करीब लगती है। उनकी मूल चिंता आज के मनुष्य के सामने उपस्थित वह मानवीय संकट है जिसकी वजह से वह दिनोंदिन अपनी पहचान खोता जा रहा है और भावना के स्तर पर अब मनुष्य में और विवेकशून्य जीवनधारियों में कोई खास अंतर नहीं रह गया है। सहज वाक्य-विन्यास, लोकरस में डूबे हुए शब्द और लोकचेतना से संबंधित मुहावरों का प्रयोग कहानी को सजीवता प्रदान करते हैं। 'धुंधलका' कहानी संग्रह को पढ़ते हुए जयशंकर त्रिपाठी को कार्यकारी मन के सत्य प्रत्यक्ष होते हैं तथा समाजवादी मान्यताएं दृष्टिगत होती हैं। डॉ. शुक्ल को समकालीन कथा रचना के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर कहने वाले आनंद प्रकाश त्रिपाठी कहते हैं- "आंच के रंग (1992) के माध्यम से आम आदमी के दुख-दर्द, अराशा-निराशा, संघर्ष-टूटन की कथा कहना उन्हें प्रिय है। जीवन के प्रति आस्था का स्वर उनकी रचनाओं में मुखर है। किसी वाद-विवाद में फंसे बिना शुक्ल जी मनुष्य और मानवता की परख करते हैं। मानव मूल्यों को बचाए रखने के प्रति उनकी चिंता आजके युग में बेहद प्रासंगिक है। डॉ. शुक्ल कालजयी रचनाएं देने में समर्थ होंगे।"

विवेकी राय ने 'धुंधलका' कहानी संग्रह के माध्यम से कहा है कि व्यक्तित्व की समग्रता को भावुक पकड़ के साथ यथार्थ जीवन से जोड़ने पर जो कृतिकार का रूप उभरता है वही ललित शुक्ल की कहानीकार के रूप में पहचान है और यही पहचान उनके कहानी संग्रह में उभरी है। कहानियां प्रचलित लीक से हटकर लिखी गई हैं। तराशपूर्ण, नुकीले, झटकेदार अंत से रहित कहानी का संश्लिष्ट अंत पाठक की चिंतन प्रक्रिया को उभार धीरे-धीरे कचोटने वाला बन जाता है। कहानी में कार्यकारण श्रृंखला बिल्कुल नहीं है। 'झुलस गई है खुशबू' 'सहमी हुई शताब्दी' में संकलित एक कविता 'अनुपस्थित' की एक पंक्ति है जो डॉ. नरेन्द्र मोहन को प्रभावित करती है वे कहते हैं शुक्ल जी न मतवादी हो सकते हैं और न व्यक्तिवादी। उनका आत्म परिवेश में फैलता है जो विचारों को जन्म देने लगता है।

मनोदशाएं भीतरी असंतोष को कुरेदती हैं, आत्मद्वन्द्व को उभारती हैं और अंततः सामाजिक संदर्भों से जुड़ जाती हैं। बिम्ब विधान के सन्दर्भ में डॉ. नरेन्द्र मोहन कहते हैं कि बिम्ब विधान कविता पर हावी हो गया है।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने 'जैविक सौंदर्य को पकड़ने का उपक्रम' के माध्यम से शुक्ल जी को परखा है। डॉ. सिंह कहते हैं कि कवि का कालबोध व्यापक है और वह मुख्यतः जागतिक एवं प्राकृतिक स्तर तक सीमित है। समकालीन सृजन में संवेदना की व्यापकता ज्ञान की मांग करती है, वह मात्र अनुभव तक सीमित प्रक्रिया में नहीं है। डॉ. सिंह शुक्ल जी के सृजन कर्म को संभावनाओं का द्वार बताते हैं। घनश्याम रंजन ने उनकी कविताओं में सामाजिकता की तलाश की है।

'दीये की लौ में ठिठुरी जिन्दगी से जूझती' कविता के माध्यम से उपेन्द्र ने डॉ. शुक्ल के वैचारिक आयामों को प्रस्तुत किया है कि अंधेरे में रास्ता टटोलने के बजाय उन्होंने अंधेरे से लड़ने का ही संकल्प कर लिया। उन्होंने अपने आपको सर्वहारा से जोड़ते हुए उसके दुःखों, कष्टों और कठिनाइयों से एक सहज तादात्म्य प्राप्त किया और उन सभी शक्तियों से विद्रोह करने की ठान ली जो समाज और देश को कमजोर करती हैं। 'जवान लहरों को रोकता बूढ़ा समन्दर' के माध्यम से जनार्दन उपाध्याय कहते हैं कि वे न तो अनुगमन करते हैं और न अन्यों से अपने प्रति उसकी अभिलाषा रखते हैं। यही कारण है कि वे अपने कथ्य को इतना व्यापक बना सके हैं। वे किसी झंडे-बैनर के पीछे चलने वाले कवि नहीं हैं।

प्रमोद सिनहा ने शुक्ल जी के छठे काल-संग्रह 'सागर देख रहा है' पर अपनी दृष्टि डाली है। उन्हें उसमें एकालाप नजर नहीं आता। वे कहते हैं कि उनकी रचनाएं सामाजिक चिंतन और वैचारिकता से कटी हुई नहीं हैं बल्कि सीधे-सीधे जुड़ी हुई हैं। यही 'सागर देख रहा है' की सार्थकता है। डॉ. राहुल ने शुक्ल जी की कविताओं का रचनात्मक विश्लेषण किया है। बिम्ब, प्रतीक, भाषा, शब्द योजना पर उनका कार्य काफी महत्वपूर्ण है। वहीं अशोक तिवारी ने डॉ. शुक्ल की पुस्तक 'नया काम नये मूल्य' को समकालीन साहित्य में सही और प्रामाणिक मूल्यों को खोजने की कोशिश बताया है। भगवती प्रसाद निदारिया तथा मीना सिंह ने इनकी रचनाओं में विसंगति में संगति तलाशता व्यक्तित्व देखा तथा असली संस्मरणात्मक प्रस्तुति माना है। अनुराधा जी संघर्षों को ही उनका जीवन और लेखनी मानती हैं। शशि तिवारी ने ललित शुक्ल के 'पद्मावत संदर्भ कोश' की परख करते हुए भाषा के सर्जनात्मक इस्तेमाल और उसमें नई संभावनाओं की तलाश की है।

पुस्तक के अंत में पुनश्च के अंतर्गत संपादक डॉ. गुरचरण सिंह ललित शुक्ल के रिपोर्ताज के विषय में कहते हैं कि उनके रिपोर्ताज उनकी खोजी प्रवृत्ति, यायावरी जीवन, वस्तुओं की गहरी पकड़, विस्तृत अनुभव तथा ज्ञान, यात्रा संस्मरण, कथातत्व तथा काव्यात्मक प्रतिभा सभी के प्रभाव को लिए हुए हैं। इसलिए उनमें सरसता है। कथातत्व तथा काव्यात्मकता उन्हें रोचक बनाती है। इन तत्वों के मिश्रण से ललित जी के रिपोर्ताज शत प्रतिशत रिपोर्ताज नहीं रह जाते क्योंकि वे पाठकों को मात्र रपट न देकर बहुत कुछ दे जाते हैं। आपके रिपोर्ताजों में ललित निबंधों का लालित्य, कविता की कोमलता तथा मधुरता, कहानी की रोचकता तथा रेखाचित्रों की जीवंतता है।

जिन्दगी की आँच और रंग; संपादक - डॉ. गुरचरण सिंह; मंजूषा प्रकाशन; मूल्य - 325 रुपये

बी-40, रामदत्त एन्क्लेव, उत्तम नगर, नई दिल्ली

अनिल कुमार

संवेदनाओं से युक्त रचनाएं

आज कड़वाहट और आक्रोश ने कविता को तीखा स्वर तो प्रदान किया है परन्तु लोक संस्कृति से उसका जुड़ाव कम हो गया है। इसी कारण वह जनमानस से दूर हो रही है। आज के माहौल की विसंगतियों को परखने और पुराणैतिहसिक कथाओं से संबद्ध करने का प्रयास ऋषभ देव शर्मा ने अपने कविता संग्रह 'ताकि सनद रहे' में किया है। इससे कविता की दिशा में तो विस्तार हुआ ही साथ ही पाठक की पकड़ भी काव्य के लिए आसान हुई। इन कविताओं के विषय दूर के नहीं अपितु हमारे आसपास के ही हैं। पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि ये कविताएं हमारी ही समस्याओं को उठा रही हैं। जहाँ ये कविताएं छंदमुक्त हैं वहीं लययुक्त हैं जिससे उनकी निरंतरता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पठनीयता के साथ-साथ संप्रेषण में प्रवहमानता के कारण ये अपनी अभिव्यक्ति में व्यापक भाव देती हैं। कविताओं के भाव सामाजिक और हार्दिक उद्वेग के साथ उपस्थित हुए हैं। इन कविताओं में व्यंग्य, प्रहार, आक्रोश, तल्खी, क्रोध एक अंतर्धारा के तहत अंतर्निहित हैं। सामाजिक सच विसंगतियों से भरा है। ये कविताएं इन्हीं के बदलाव की तलाश में दिखती हैं। ऋषभ देव शर्मा की कविताओं में मानवीय भाव प्रमुख है जो इसे रोचक बनाता है।

दूसरी कृति 'करील का पेड़' वीरेन्द्र सिंह गुम्बर का कहानी संग्रह है, जिसमें 15 कहानियां संग्रहीत हैं। इस संग्रह की कहानियां आज के सच को रेखांकित करती हैं। अभाव, भूख, गरीबी और बेबसी से उत्पन्न त्रासदी इन कहानियों के केन्द्र में है। मानवीय संवेदना से जुड़ी ये कहानियां सहज और मर्मस्पर्शी हैं। नारी की संवेदना और संघर्ष को लेकर काफी पहले से लिखा जा रहा है। शरत की अधिकांश रचनाओं के केन्द्र में नारी ही है। नारी के जो चित्र शरत ने उकेरे हैं अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस कृति की अधिकांश कहानियां भी नारी उन्मुख हैं जिनमें आज की नारी की संवेदना, उसके संघर्षशील तेवर और जिजीविषा का चित्रण है। आज के बदलते मानवीय मूल्य, ग्रामीण और शहरी त्रासदी, संबंधों आदि को भी भली प्रकार वर्णित किया गया है, जिससे कहानियां अधिक जीवंत हो उठी हैं।

समीक्षित कृतियाँ :

1. ताकि सनद रहे : ऋषभ देव शर्मा; तेवरी प्रकाशन, 4-7-419, इसामिया बाजार, हैदराबाद; मूल्य 120 रुपये

3. करील का पेड़ : वीरेन्द्र सिंह गूम्बर; अग्नि प्रकाशन, ए-753, डी.डी. ए. कालोनी, चौखंडी, दिल्ली-18 मूल्य 80 रुपये

एच-3/72, विकास पुरी, नई दिल्ली-110018

डॉ. उमाकांत

नैतिकता के सही सन्दर्भ की तलाश

'वर्जनाओं को लांघते हुए' कथाकार हरदर्शन सहगल द्वारा सम्पादित कहानी संकलन है। विगत अनेक वर्षों में प्रकाशित ये तेरह कहानियां जो रचनाकार के मन में उबलते प्रश्नों को पक्षधरता के साथ उभारती हैं, इस संकलन में संग्रहीत हैं। इन कहानियों के रचनाकार अपने समय को साक्षीभाव से देखने वाले नामचीन कथाकार हैं।

संग्रह की कहानियां जितनी रोचक हैं उतना ही महत्वपूर्ण तथा प्रश्नगर्भ सम्पादकीय वक्तव्य है जो 'इन कहानियों की बाबत' कहा गया है। इन कहानियों को पूर्व में भी पढ़ा गया है किन्तु सहगल का कौशल इस तथ्य में है कि वे अपने सवालों की छाया में पुनः-पुनः पढ़ने की क्रमिक ललक जगाते हैं। मैं कहना चाहूंगा वर्जनाओं के सच से लड़ते हुए जिन सवालों का वे खड़ा करते हैं उनके सन्दर्भ में ये कहानियां और अधिक अच्छी लगती हैं। कथाकार सहगल के प्रश्न करीने से झकझोरने वाले अन्दाज में भारतीय मिथकों और पश्चिमी चिन्तन की सरणियों के सन्दर्भों से उठाए हैं।

नारी-पुरुष सम्बन्धों एवं नैतिक वर्जनाओं में बसे खोखलेपन की सार्थकता और औचित्य क्या है?

'अन्य' से सम्बन्ध की सीमा कितनी सहजात और मर्यादापूर्ण है ?

शरीर का विज्ञान मन के विज्ञान से कितना भिन्न या अभिन्न है?

थोपी हुई लोक-लज्जा, मुद्दतों से चले आए संस्कार तथा समाज का आतंक अथवा वैज्ञानिकों के तर्क-किसके आधार पर प्रेम आकर्षण को मूल्यांकित किया जाए?

क्या सहजात वृत्ति का सहज विकास सम्भव नहीं है?

वर्जनाओं (मनोग्रन्थियों) के परिणाम कितने भयानक हैं? बलात्कार, यौन विकृति, विक्षिप्तता, यौन रोग आदि के रूप में।

सामाजिक ढांचे में घुसे ऊंच-नीच, जाति-पांति या अमीरी-गरीबी की प्रेम के पैमाने तय करने में कितनी भूमिका है?

जिस स्वच्छन्दता की हम मन ही मन हिमायत करते हैं तथा कहीं अकेलेपन अथवा अक्सर अचेतन स्तर पर अतृप्ति की स्वछन्दता को भोगते हैं, उसे दूसरे के लिए वर्जित क्यों करते या करना चाहते हैं? यह दोहरा मानदण्ड क्यों?

क्या नैतिकता के मानदण्ड सभी के लिए समान नहीं होने चाहिए? इस छद्‌म से लड़ा जाना आवश्यक नहीं है?

भारतीय दृष्टि बनाम पाश्चात्य दृष्टि का सच क्या है? अपने स्वार्थ पालन करते हुए इन दृष्टियों का अपना-अपना अर्थ परोटना उचित है?

डी रोमैंटिसाइजेशन की नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में क्या भूमिका है?

प्रेम का मानसिक छायात्मकीकरण और लैंगिकता की सीमा कितनी, क्या, कैसी?

इन्हीं प्रश्नों की नींव पर कहानियों को संकलन में स्थान दिया गया है। संकलन की कहानियां अन्दर के सच को बाहर के सच के माध्यम से तलाशती हैं। कहानियां हमारे ही इर्द-गिर्द खड़ी होकर अपना कद बड़ा करती दृष्टिगत होती हैं और कौंचती हैं।

प्रेम प्रकाश की कहानी 'डेडलाइन' देवर-भाभी के सम्बन्धों के माध्यम से नैतिकता के रिश्तों और रिश्तों की नैतिकता तथा सहज आकर्षण की वृत्ति को भावुकता के दायरे में तलाशती है। तो 'मुरारी फूलवाला और मीम साहब' कहानी अमीर गली के मोड़ और नीम के नीचे वाली गरीबी के बीच से फूल की सुवास के चमड़गन्ध में तब्दील होने में वर्जना में सर्जना के बिन्दु पर खड़ी है। से.रा. यात्री की कहानी में शरीर की आवश्यकता और भाषा का 'विस्फोट' है जिसके धमाके 'क्यों कोई किसी को प्यार करे' के अन्दाज में होते हैं। 'खेल अंगूठी का' नैतिकता में दबी मजबूरी और मजबूरी में सिसकती नैतिकता की दर्दनाक कहानी है जो सच्ची आदर्शवादिता को तलाशती दिखाई देती है। साथ ही, इस स्थिति को जन्म देने वाली सामाजिक स्थितियों से टकराती है और स्थितियाँ पूरी कहानी में खामोशी की तरह पसरी हुई दिखाई देती हैं। यह कहानी विकृति और मजबूरी के सम्बन्धों को परखती नज़र आती है। 'आदि पर्व' (यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र) नारी के नारी होने और प्रेम की निश्छलता के बीच से सम्पादकीय प्रश्नों की पक्षधरता करती दृष्टिगत होती है।

खुद सहगल की कहानी 'एक प्रतीक पुरुष' आकर्षण के समग्र मूल्य की सम्भावना को खोजती है तथा परिचित के बीच अपरिचित को जानने की चेष्टा करती है। पुरुष की कुण्ठाओं को उघाड़ती है, जहां वह शरीर की भाषा में वेदना का पाठ करता रहता है। वरदान स्वरूप नएपन के बहाने से शरीर के संशय की स्वाभाविक समाप्ति देखना चाहता है।

प्रेम मानव के लिए प्राचीन काल से ही चिन्तन का विषय रहा है। किसी ने 'प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पे धावनो है' कहा तो अन्य ने 'अति सूधो स्नेह को मारग है जहां नेकु सयानप बांक नहीं" जैसी विरोधी-सी लगने वाली बात कह दी। दोनों ने प्रेम की अनिर्वचनीयता को ही रेखांकित किया है। हरदर्शन सहगल इस अनिर्वचनीयता के मौन को मुखर करना चाहते हैं और सफलता के साथ उद्घोषित करते हैं कि आरोपित आदर्शवादिता कोई माने नहीं रखती। भावावेश से निर्दिष्ट आदर्शवादिता अनेक समस्याओं को जन्म देती है। अन्तर्मन से निपजी आदर्शवादिता ही महत्वपूर्ण है, इसी की आवश्यकता भी है। बुद्धिजीवी पाठक प्रश्नों से ऊर्जस्वित और उद्वेलित होंगे और सुषुप्त अदृप्त की खुली अभिव्यक्ति झकझोरेगी, सामान्य पाठक के लिए सच के रूबरू खड़ा होने में सम्बल बनेगी।

वस्तुतः संग्रह की कहानियाँ परिवेश में व्याप्त कहने-करने के अंतर को सफलतापूर्वक दिखाती हैं। यह चिरन्तन प्रश्न पर समसामयिक कोशिश है, जो सच के बदलते चेहरे का आईना भी है।

वर्जनाओं को लांघते हुए; सम्पादक : हरदर्शन सहगल; मेधा बुक्स, शाहदरा, दिल्ली-32, मूल्य : 135 रुपये

हिन्दी विभाग, डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

सुरेन्द्र तिवारी

महत्वपूर्ण हैं सरकारी पत्रिकाएं भी

भारत में सरकारी पत्रिकाओं के प्रकाशन की एक परंपरा रही है, विशेष रूप से हिन्दी में, परन्तु साथ ही यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति रही है कि सरकारी पत्रिकाओं को गंभीरता से (साहित्यिक चर्चाओं में) लेने की परंपरा नहीं रही है। साहित्यिक दुनिया इन पत्रिकाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखती है और इस तरह बहुत सारा लेखन, जिसे भले ही हम उत्कृष्ट न कहें, श्रेष्ठ तो कह ही सकते हैं, दृष्टि से ओझल ही रह जाता है। आखिर इसका कारण क्या है? संभवतः इस पर तटस्थ भाव से बहुत कम सोचा जाता है और सिर्फ सरकारी पत्रिका कहकर सब कुछ को नकार दिया जाता है। यह मान लिया जाता है कि इन पत्रिकाओं पर चूंकि एक विशेष तंत्र का (राजनीतिक पार्टी से संबद्ध सरकार का) अधिकार होता है, इस कारण इन पत्रिकाओं में छपने वाली रचनाएं भी 'विशेष दृष्टि' या 'खास विचार' की परिचायक होती हैं, जबकि यह पूरा सच नहीं है।

अगर हम विभागीय पत्रिकाओं की बात छोड़ दें जो प्रायः हर मंत्रालय और राज्य सरकारें अपनी उपलब्धियों को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए निकालती हैं, और हमारी चर्चा में इन पत्रिकाओं का कोई स्थान भी नहीं है, तो यह जानना जरूरी होगा कि साहित्य से जुड़ी अनेक पत्रिकाएं केन्द्र एवं राज्य सरकारें लगातार निकाल रही हैं परन्तु इन पत्रिकाओं पर भी समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। इन पत्रिकाओं को भी हम सिर्फ इस कारण उपेक्षा की दृष्टि से देखें कि वे सरकारी साधनों से निकल रही हैं तो यह कोई संगत बात नहीं लगती। सरकारी विज्ञापनों के बल पर निकलने वाली अनेक लघु पत्रिकाओं को क्या हम महत्व नहीं देते? मुझे लगता है कि अनेक सरकारी पत्रिकाएं साहित्यिक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। यहां इस बार मैं ऐसी ही कुछ पत्रिकाओं की चर्चा कर रहा हूं जो सरकारी तंत्र से नियंत्रित होने के बावजूद साहित्य के प्रचार-प्रसार और विकास में कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं।

साहित्य को केन्द्र में रखकर निकलने वाली सरकारी पत्रिकाओं में सबसे पुरानी पत्रिका 'आजकल' है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व ही 'आजकल' का प्रकाशन आरंभ हो गया था- सन् 1943 से उर्दू में और 1945 से हिन्दी में। मई, 1945 में हिन्दी 'आजकल' का प्रवेशांक आया था और तब से यह पत्रिका लगातार छप रही है। स्वतंत्रता-पूर्व अंग्रेजी सरकार का एक विभाग था 'संयुक्त प्रकाशनालय' जो इन पत्रिकाओं को प्रकाशित करता था। स्वतंत्रता पश्चात् भारत सरकार ने संयुक्त प्रकाशनालय को प्रकाशन विभाग में परिवर्तित कर दिया। इस विभाग से ही आज भारत सरकार की कई प्रमुख पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं जिनमें 'योजना', 'कुरुक्षेत्र', बाल भारती' काफी लोकप्रिय रही हैं। 'आजकल' प्रारंभ से ही साहित्य से जुड़ी पत्रिका रही है और हिन्दी का हर प्रमुख कवि-कथाकार-नाटककार- आलोचक-निबंधकार इसमें छपा है, छप रहा है। देवेन्द्र सत्यार्थी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मन्मथनाथ गुप्त, केशव गोपाल निगम, द्रोणवीर कोहली, प्रताप सिंह बिष्ट (पंकज बिष्ट) जैसे लेखक इसके संपादक रहे हैं। हिन्दी की अनेक चर्चित रचनाओं को 'आजकल' के पुराने अंकों में पाया जा सकता है। यह सच है कि समय के साथ-साथ इसमें अनेक परिवर्तन होते रहे हैं, इसकी साहित्यिक गरिमा भी घटती-बढ़ती रही है, किन्तु इसका अपना एक ऐतिहासिक महत्व है और आज भी इसका साहित्यिक स्वरूप बना हुआ है। वर्तमान संपादक बलदेव सिंह मदान के साहित्यिक रुझान के कारण यह पत्रिका अभी भी समकालीन साहित्य के अधिक निकट है। यह वर्ष पत्रिका का 'हीरक जयंती' वर्ष है। इन साठ वर्षों में 'आजकल' (प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-1) ने अपनी एक अलग पहचान बना ली है जो किसी भी पत्रिका के लिए गर्व की बात हो सकती है, विशेष रूप से किसी सरकारी पत्रिका के लिए।

भारत सरकार का 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' भी साहित्य से जुड़ी एक महत्वपूर्ण पत्रिका 'भाषा' प्रकाशित करता है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए स्थापित 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' द्वारा गत् 43 वर्षों से प्रकाशित यह पत्रिका आज साहित्य जगत में एक सम्मानित पत्रिका है। इस पत्रिका के समय-समय पर अनेक विशेषांक प्रकाशित हुए हैं, जो ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। प्रसाद, प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, रामचंद्र शुक्ल जैसे हिन्दी के मूर्धन्य रचनाकारों पर निकाले गए विशेषांकों का विशेष महत्व और उपयोगिता रही है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की रचनाओं को प्रमुखता से सामने लाने वाली यह हिन्दी की पहली पत्रिका रही है। इस पत्रिका के प्रकाशन के उद्देश्य पर अगर हम दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सरकारी पत्रिका होने के बावजूद अपने स्वभाव में यह गैर-सरकारी है। हिन्दी को सब प्रकार की अभिव्यक्ति का सशक्त और प्रभावशाली माध्यम बनाने के उद्देश्य से उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रादेशिक भाषाओं का सहयोग लेना, समस्त भारतीय भाषाओं के बीच समानता की खोज कर और आदान-प्रदान का द्वार मुक्त करना ही इस पत्रिका का उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए जो माध्यम है वह साहित्य ही है। 'भाषा' की यह भी खूबी रही है कि इसके संपादक के रूप में कोई न कोई चर्चित समकालीन रचनाकार हमेशा जुड़ा रहा है। जगदीश चतुर्वेदी, वीरेन्द्र सक्सेना, भ.प्र. निदारिया आदि के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। आजकल शशि भारद्वाज के संपादन में प्रकाशित 'भाषा' (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-66) में नये लेखकों को प्रमुखता से स्थान देने के कारण इसके स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन आया है और नये रचनाकारों को एक उचित मंच प्राप्त हो रहा है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने दो वर्ष पूर्व हिन्दी में एक और महत्वपूर्ण पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया है। 'उर्दू दर्पन' (सं. मोहम्मद हमीदुल्लाह भट्ट, वेस्ट ब्लाक-1, विंग-6, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली) का प्रकाशन इसलिए भी उल्लेखनीय है कि यह हिन्दी में उर्दू अदब का आईना है। उर्दू के श्रेष्ठ लेखन को हिन्दी तक पहुंचाना इस पत्रिका का उद्देश्य है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इसमें रचनाएं अनूदित होकर नहीं छपतीं, बल्कि रचना का सिर्फ लिप्यन्तरण किया जाता है और कठिन शब्दों के केवल अर्थ लिख दिए जाते हैं, इससे पाठक मूल का रसास्वादन कर पाता है। अच्छी रचनाओं के चयन के साथ आकर्षक मुखपृष्ठ और मुद्रण के कारण भी यह पत्रिका पाठक को आकर्षित करती है।

'केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, भारत सरकार' की मासिक पत्रिका 'समाज कल्याण' (सं. जुहैर अहमद जैदी, समाज कल्याण भवन, बी-12, कुतुब इंस्टिट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-16) अपने प्रकाशन के पचासवें वर्ष के निकट है। इस पत्रिका में निश्चित रूप से साहित्य को उतना स्थान नहीं मिलता जितना सामाजिक समस्याओं को उकेरनेवाली रचनाओं को क्योंकि इस पत्रिका का उद्देश्य ही 'समाज कल्याण' के उपायों को खोजना और उसे पाठकों तक पहुचाना है, उन्हें जागरूक बनाना है, फिर भी कहानी, कविता, समीक्षा आदि इस पत्रिका के अनिवार्य अंग हैं।

राज्य सरकारों की पत्रिकाओं में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'उत्तर प्रदेश' संभवतः सर्वाधिक चर्चित पत्रिका रही है। करीब तीस वर्षों से प्रकाशित 'उत्तर प्रदेश' (प्र.सं. विजय राय, सूचना एंव जन-संपर्क विभाग, पार्क रोड, लखनऊ) किसी सीमित क्षेत्र की पत्रिका न होकर सम्पूर्ण भारत की पत्रिका है जिसमें नये-पुराने रचनाकारों को समान महत्व दिया जाता है।

हिमाचल प्रदेश एक छोटा-सा राज्य है किन्तु यहां से सरकारी तंत्र के माध्यम से दो साहित्यिक पत्रिकाएं लगातार छप रही हैं। भाषा एवं संस्कृति विभाग हि.प्र. द्वारा प्रकाशित 'विपाशा' (सं. तुलसी रमण, 39, एस.डी.ए., शिमला) तथा सूचना एवं जनसंपर्क विभाग द्वारा प्रकाशित 'हिमप्रस्थ' (सं. यादविन्दर सिंह चौहान, हिमाचल प्रदेश मुद्रणालय परिसर, शिमला) साहित्य और संस्कृति को समर्पित पत्रिकाएं हैं। 48 वर्षों से प्रकाशित 'हिमप्रस्थ' और अपने प्रकाशन के बीसवें वर्ष के निकट पहुंची 'विपाशा' ने जहां हिमाचल प्रदेश के नये-पुराने लेखकों को हिन्दी जगत के सम्मुख प्रस्तुत किया है वहीं हिमाचल की कला, संस्कृति और सांस्कृतिक धरोहरों से भी हमें परिचित कराया है। ऐसी पत्रिकाओं का महत्व इस कारण और बढ़ जाता है कि इनके माध्यम से हमें एक विशेष भू-खंड की लोककला और लोकजीवन की पहचान होती है। गंभीर स्वभाव की दोनों पत्रिकाएं निस्संदेह हिन्दी पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण स्थान पाने योग्य हैं।

पंजाब सरकार का भाषा विभाग भी एक हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन करता है। 'पंजाब सौरभ' (प्र. सं. रछपाल सिंह गिल्ल, भाषा भवन, पटियाला, पंजाब) जिसमें पंजाबी लेखकों की अनूदित रचनाओं के साथ ही हिन्दी रचनाकारों की रचनाएं भी प्रमुखता से छपती हैं। साहित्य की हर विधा को समेटने वाली यह पत्रिका पंजाब से बाहर कम प्रचारित-प्रसारित होने के कारण साहित्यिक दुनिया में अपनी कोई पहचान नहीं बना पायी है, यह सच है, किन्तु यह भी सच है कि अनेक नये लेखकों को प्रकाशन का अवसर यहां प्राप्त हो जाता है।

जम्मू एवं काश्मीर सरकार करीब चालीस वर्षों से 'शीराजा' नामक पत्रिका निकाल रही है जो कभी साहित्यकारों के बीच काफी चर्चित रही थी पर अनियमित होने के कारण और साथ ही अन्य हिन्दी प्रदेशों तक न पहुंच पाने के कारण यह पत्रिका एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रह गई है। श्यामलाल रैणा के संपादन में जे. एण्ड के. अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू द्वारा प्रकाशित 'शीराजा' डोगरी और कश्मीरी साहित्य को हिन्दी में लाने के लिए प्रयासरत है, साथ ही हिन्दी, पंजाबी, उर्दू आदि भाषाओं की रचनाएं भी इसमें छपती रहती हैं।

दिल्ली सरकार हिन्दी में तीन पत्रिकाएं निकालती है- 'इन्द्रप्रस्थ भारती' (सं. नानक चंद, हिन्दी अकादमी, समुदाय भवन, पदम नगर दिल्ली-7), 'दिल्ली' (सं. फ़ैज़ी ओज़ैर हाशमी, सूचना एवं प्रचार निदेशालय, खंड-7, पुराना सचिवालय, दिल्ली-54) तथा 'पालिका समाचार' (सं. श्याम बिहार, कौशिक 'निर्मम', 1209, पालिका केन्द्री, संसद मार्ग, नई दिल्ली-1), इन पत्रिकाओं में 'इन्द्रप्रस्थ भारती' विशुद्ध रूप से साहित्यिक पत्रिका है, जिसके समय-समय पर कहानी एवं कविता के कई विशेषांकों ने प्रशंसा प्राप्त की है। साहित्य की हर विधा से जुड़ी इस पत्रिका ने साहित्यिक पत्रिकाओं में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है, सरकारी पत्रिका होने के बावजूद। 'दिल्ली' तथा 'पालिका समाचार' में प्रचारात्मक सामग्री ज्यादा होने के बावजूद साहित्य को भी भरपूर स्थान प्राप्त है, विशेष रूप से नये उभरते रचनाकारों के लिए ये पत्रिकाएं उपयोगी हैं।

इन पत्रिकाओं के अतिरिक्त हिन्दी में अनेक ऐसी श्रेष्ठ और चर्चित पत्रिकाएं हैं जो सरकार द्वारा स्थापित अकादमियों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा प्रकाशित होती हैं परन्तु जिन्हें अलगाकर हिन्दी पत्रिकाओं की चर्चा संभव नहीं, न ही यह ही भूला जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार में इन पत्रिकाओं का उल्लेखनीय स्थान है। ऐसी पत्रिकाओं में साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'समकालीन भारतीय साहित्य' (रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-1) का स्थान सर्वोपरि है। करीब पच्चीस वर्षों से प्रकाशित इस पत्रिका के माध्यम से भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रकाशन होता है। यह पत्रिका साहित्य के गंभीर पाठकों

और जिज्ञासुओं के लिए आकर्षण का केन्द्र रही है। विभिन्न भारतीय भाषाओं को एक सूत्र में जोड़ने का काम यह पत्रिका करती है। इसी तरह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रकाशित दो पत्रिकाएं 'रंग-प्रसंग' (सं. प्रयाग शुक्ल, बहावलपुर हाउस, भगवानदास रोड, नई दिल्ली) तथा 'राजभाषा मंजूषा' (सं. अलख नारायण राय, बहावलपुर हाउस, भगवान दास रोड, नई दिल्ली) अपने-अपने ढंग की अनूठी पत्रिकाएं हैं। 'रंग-प्रसंग' में जहां नाट्य-विधा और रंगमंच को प्रधानता दी जाती है, 'राजभाषा मंजूषा' के प्रकाशन का उद्देश्य है राजभाषा हिन्दी पर, हिन्दी साहित्य पर और हिन्दी में हो रहे रंगकर्म पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना। परन्तु इसके साथ ही रचनात्मक लेखन से भी पत्रिका अछूती नहीं है, जैसे इसके सद्य प्रकाशित अंक में कुंवर नारायण एवं विनोद कुमार शुक्ल की कविताएं भी हैं और महीप सिंह की कहानी भी। 'रंग-प्रसंग' ने अभी-अभी ब.व. कारंत पर महत्वपूर्ण विशेषांक निकाला है जिसकी चर्चा 'संचेतना के पिछले अंक में मैं कर चुका हूं।

मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'साक्षात्कार' (सं. हरि भटनागर, संस्कृत परिषद, संस्कृति भवन, बाणगंगा, भोपाल) एक महत्वपूर्ण पत्रिका है जो करीब 28 वर्षों से प्रकाशित हो रही है। अखिल भारतीय स्तर पर स्वीकृत- चर्चित इस पत्रिका में प्रायः हर समकालीन लेखक की रचनाएं पायी जा सकती हैं। दलगत और वैचारिक मतभेदों पर ध्यान न देकर हर विचारधारा के रचनाकार को इस पत्रिका ने अपने से जोड़ा है। हालांकि यह भी सच है कि सरकारी पत्रिका होने का कारण बहुत विवादास्पद रचनाएं यहां नहीं छपतीं, किसी भी सरकारी पत्रिका में नहीं छपतीं, परन्तु वैचारिक रचनाओं का यहां अभाव नहीं होता। विवाद-पसंद लोगों के लिए ऐसी पत्रिकाएं अनुपयोगी हो सकती हैं किन्तु जो अच्छी रचना की खोज में होते हैं, उन्हें ये पत्रिकाएं निराश नहीं करतीं। राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका 'मधुमती' (सेक्टर-4, हिरन मगरी, उदयपुर-2) भी इसी श्रेणी में आती है। 44 वर्षों से प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका से राजस्थान के साथ ही देश के अनेक नामी-गिरामी लेखक इससे जुड़े रहे हैं। कुछ संपादकों की कोशिश बराबर रही है (जैसे स्व. प्रकाश आतुर की) कि इस पत्रिका को आखिल भारतीय रूप दिया जाए पर ज्यादातर संपादकों की पहुंच प्रदेश के लेखकों तक ही सीमित रही है। फिर भी यह पत्रिका 'साहित्य' के विपरीत कभी नहीं हुई, तमाम राजनीतिक और दलीय उठा-पटक के बाद भी।

हरियाणा सरकार की भी एक साहित्यिक पत्रिका है- 'हरिगंधा'। परन्तु अनियमित प्रकाशन होने के कारण इसकी पहुंच बहुत सीमित है। रंगरूप और साजसज्जा की दृष्टि से पत्रिका आकर्षित करती है परन्तु रचनात्मक स्तर पर इससे संतुष्टि नहीं मिलती। किसी भी पत्रिका के व्यक्तित्व को उसका संपादक बनाता है और मुझे लगता है कि चाहे वह मधुमती हो या हरिगंधा, इनको समकालीन समझ और जागरूक दृष्टि वाले एक संपादक की जरूरत है क्योंकि इन पत्रिकाओं के समक्ष आर्थिक समस्या नहीं है, समस्या है सिर्फ दृष्टि की, उद्देश्य की, सजगता की। दृष्टिहीनता के कारण ही 'गगनांचल' जैसी महत्वपूर्ण पत्रिका बंद हो जाती है, 'अतएव' (उ.प्र. सरकार की पत्रिका) का एक अंक ही सरकार के लिए भारी पड़ सकता है।

आज जब बड़े-बड़े व्यावसायिक घरानों की साहित्यिक पत्रिकाएं बंद हो चुकी हैं या हो रही है, लघु पत्रिकाएं अपने सीमित साधनों के कारण ज्यादा दूर तक नहीं चल पातीं, सरकारी पत्रिकाएं ही अब साधन हैं, माध्यम हैं जो हमारी सर्जना और अभिव्यक्ति को व्याप्ति दे सकती हैं, अगर हम इनका सही उपयोग कर सकें।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

कमलेश सचदेव

आवां : वर्ग चेतस् नारी-विमर्श का उपन्यास

'आवां' स्त्री-चेतना में अपनी पूरी जटिलता और वेदना के साथ सहज रूप से उगती वर्ग चेतना का आख्यान है। यों इसकी नायिका नमिता 'कामगार आघाड़ी' के सर्वप्रिय नेता अन्ना साहब के दाहिने हाथ माने जाने वाले देवीशंकर पांडेय की बेटी है जो बचपन से ही श्रमिक संघर्ष के वातावरण में पली-बढ़ी है, इसलिए वर्ग-चेतना के बीज उसमें विद्यमान हैं लेकिन यह संघर्ष उसका अपना सत्य तभी बनता है जब वह मोहभंग की प्रक्रिया से गुजरने की यातना को अपनी देह और मन पर झेल चुकती है।

पिता के फालिज के शिकार होकर नौकरी खो बैठने के बाद नमिता अपनी बी.ए. की पढ़ाई छोड़ नौकरी ढूंढने के लिए भटकने लगती है।। माँ 'श्रमजीवा' संस्था में पापड़ बेलती हैं, नमिता पापड़ बेलने के साथ-साथ साड़ियों में फाल टांकती और ट्यूशन करती है लेकिन इस सबसे दो वक्त पेट भरने का जुगाड़ भी मुश्किल से हो पाता है। इस बिन्दु पर उसके समक्ष लगभग समानान्तर तौर पर दो तरह के परिवेश अपने सम्मोहनों और अन्तर्विरोधों के साथ धीरे-धीरे खुलने लगते हैं।

ये परिवेश हैं 'कामगार आघाड़ी' की अन्तर्व्यवस्था तथा पूंजीपति उच्च वर्ग का अंतरंग-बहिरंग जीवन। कामगार आघाड़ी में उसे अन्ना साहब-जो बम्बई के सबसे बड़े मजदूर नेता हैं और आघाड़ी के सर्वेसर्वा-उसके पिता के स्थान पर काम देते हैं। जहाँ पिता स्वैच्छिक तौर पर निःशुल्क कार्य करते थे वहीं नमिता को पन्द्रह सौ रुपये दिए जाते हैं। नमिता को यहां पवार की देखरेख में उसके निर्देशानुसार काम करना पड़ता है। आघाड़ी में काम करने पर वह झोंपड़-पट्टी की विषम जीवन स्थितियों से परिचित होती है। मज़दूरों में भी औरत श्रमिक की कठिनाइयों और अज्ञान के कारण होने वाले उनके शोषण को समझती है और उस सबके प्रति आघाड़ी के सदस्यों के समर्पित संघर्ष एवं निष्ठा से रू-ब-रू होती है। अन्ना साहब के नेतृत्व में चलने नाले आन्दोलनों की तीव्रता, अन्ना साहब के श्रमिक हितों के प्रति समर्पण और उनकी वक्तृता के जादू से अभिभूत होती है। अपने मार्गदर्शक पवार की दलित होने की यातना से उपजी तिक्तता और उसकी विचारोत्तेजक टिप्पणियों से उद्वेलित होने के साथ-साथ उसके पुरुष के प्रति आकर्षित भी होती है। लेकिन संगठन के अन्य पक्ष भी उसके सामने खुलते हैं जो उसमें वितृष्णा जगाते हैं। अन्ना साहब द्वारा उनका हस्तमैथुन करने पर मजबूर कर दिए जाने पर तो वह आघाड़ी छोड़कर चली जाती है। इसके बाद उसे अंजना वासवानी के यहां नौकरी मिलती है जो उसके लिए एक अलग दुनिया के द्वार खोल देती है लेकिन उस दुनिया में निरन्तर धंसते या फंसते चले जाने के दौरान भी आघाड़ी और पवार से उसका सम्पर्क बना रहता है जो पिता की मृत्यु के कठिन समय में और भी गहरा होता है। संगठन के सदस्यों की अनेक कष्ट उठाकर की गई निःस्वार्थ सहायता उसे संगठन की महत्ता के एक अन्य पक्ष से परिचित करवाती है। उधर अपनी नई नौकरी के नए सम्पर्कों में संजय कनोई उसे आकर्षित करने लगता है और इधर पवार के साथ अपने संभावित रिश्ते में पवार द्वारा बैठाए गए वोटों के गणित को जानकर वह पवार से छिटक जाती है तथा संजय कनोई से प्रेम करने लगती है।

पहले अंजना वासवानी के आभूषणों के प्रदर्शन के लिए संजय और निर्मला कनोई के समक्ष माडलिंग करके और फिर संजय कनोई की कम्पनी के कैटलाग के लिए माडल बनकर वह प्रभूत प्रशंसा तो पाती ही है, साथ ही भरपूर पारिश्रमिक भी अर्जित करती है। अंजना वासवानी उसे ग्यारह महीनों के आभूषण डिजाइनिंग के प्रशिक्षण के लिए अपने खर्च पर हैदराबाद भेजती है। वह गर्भवती हो जाती है तो संजय उसे गर्भपात से मना करता है लेकिन तभी अन्ना साहब की हत्या की खबर सुनकर सदमे से उसका गर्भपात हो जाता है। गर्भपात की सूचना पाकर संजय कनोई के प्रेमी रूप की जगह एक चोट खाया काइयां व्यापारी अपने नुकसान पर उबलता हुआ सामने आ जाता है और नमिता को पता चलता है कि निर्मला कनोई के माँ न बन सकने के कारण संजय ने अंजना वासवानी से एक अछूती संस्कारी लड़की ढूंढ़कर देने का सौदा किया था जिससे वह अपनी सन्तान उत्पन्न कर उसके पैदा होते ही गोद लेकर निस्सन्तान होने से मुक्ति पा सके। नमिता को दिया जाने वाला महत्व इसी सौदे का हिस्सा था, उसकी किसी प्रतिभा का सम्मान नहीं। इस बिन्दु पर उसका इस वर्ग से मोह भंग हो जाता है और वह इस सबको छोड़कर चल देती है।

उपन्यास का वैचारिक आशय इसी बिन्दु पर पूरी तरह खुलता है। अपने घर में माँ के व्यवहार से त्रस्त, आघाड़ी में अन्ना साहब के स्खलन से विचलित और आभूषण कम्पनी की नौकरी में व्यक्ति से वस्तु में रूपान्तरित नमिता अन्त में किशोरी बाई के पास जाने का निश्चय करती है। किशोरी बाई यों तो एक विधवा श्रमिक महिला है जिसकी युवा बेटी की हत्या हो चकी है। वह उस बेटी की दुधमुंही बच्ची को पाल रही है। लेकिन नमिता द्वारा किशोरी बाई के साथ रहने का फैसला उसे एक प्रतीक में बदल देता है। मजदूर किशोरी बाई अपनी श्रमिक एवं महिला अस्मिता को पूरी गरिमा के साथ जी रही है। उसने अपने पति के साथ गृहस्थी करते हुए भी नमिता के पिता के साथ प्रेम किया और अन्त तक निभाया। अपनी बेटी सुनंदा को मुसलमान युवक से अनब्याहे ही गर्भ ठहर जाने पर उससे ब्याह के लिए तो कहा लेकिन लड़के की ओर से धर्म बदलने पर ही शादी करने की शर्त को सुनंदा द्वारा अस्वीकार कर दिए जाने पर उसके फैसले का सम्मान करते हुए सुनंदा और उसकी बेटी की देखभाल का दायित्व उठाया। साम्प्रदायिक कट्टरपंथी लोगों द्वारा सुनंदा की हत्या कर दिए जाने के बाद वह उसकी बेटी को पाल रही है। आत्मनिर्भर और स्वतंत्रचेता किशोरी बाई अपनी अस्मिता को बनाए रखते हुए संगठन से जुड़ी महिला है। नमिता अपने निम्न मध्य वर्ग से उठकर अपनी प्रतिभा और परिश्रम के बल पर उच्च वर्ग में सम्मिलित होने के भ्रम में जीने लगी थी लेकिन यथार्थ के झटके से वह समझ गई कि वह अनजाने में उनके द्वारा निर्धारित की गई भूमिका को उन्हीं की शर्तों पर जीते हुए स्वयं अपने निर्णय लेने से वंचित की जा चुकी है, दूसरे शब्दों में उसका वस्तुकरण हो चुका है, तब वह उस आरोपित भूमिका को अस्वीकार कर किशोरीबाई का साथ चुनती है। अपने स्व को स्वतंत्र रूप से जीने और संगठन के साथ जुड़कर सार्थकता पाने की राह में यह उसका सचेत और निर्णायक कदम है।

कहा जा सकता है कि वह श्रमिक संघर्ष से जुड़े संगठन के अंतर्विरोधों को जानते-समझते भी उसकी ओर क्यों मुड़ी और लेखिका को यदि संगठन की आवश्यकता प्रतिपादित करनी थी तो ट्रेड यूनियनों के आपसी झगड़े और महान मजदूर नेता तथा उसके सहयोगियों के चरित्र दोष इस प्रकार से क्यों सामने लाए गए कि नायिका को संगठन छोड़कर चले जाना पड़ा? इसका उत्तर शायद यह है कि लेखिका यथार्थ को उसके यथासंभव सभी पक्षों सहित अभिव्यक्त करना चाहती थी और उसके भीतर जो कुछ मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है उसकी ओर इंगित भी करना चाहती थी। ट्रेड यूनियनों की आपसी प्रतिद्वंद्विता कोई ऐसा तथ्य नहीं है जिसे 'आवां' में

पहली बार उद्घाटित किया गया हो। विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा पोषित और समर्थित ट्रेड यूनियनें प्रायः ही श्रमिक हितों के नाम पर कभी सत्ता की तो कभी उद्योगपतियों की दलाली करते देखी गई हैं। इसके अतिरिक्त महानतम नेता भी मनुष्य ही होते हैं, उनमें कुछ दुर्बलताएँ होना नितान्त सहज है। लेखिका का मंतव्य यही प्रतीत होता है कि अन्ना साहब जैसे श्रमिक हितों को समर्पित जुझारू नेता का मुनष्य सुलभ कमजोरियों और विकृतियों से युक्त होना उन्हें सामान्य मनुष्य बनाता है। अन्ना साहब की यौन-विकृति से आहत नमिता उनके नेता पक्ष की महानता के कारण उन्हें क्षमा कर चुकी दिखाई देती है। तभी तो उनकी हत्या की खबर से वह इतनी विचलित होती है कि उसका गर्भपात हो जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी संगठन में सक्रिय व्यक्तियों में आपसी मतभेद और पेंतरेबाजी भी सामान्य बात है। इसी कारण संगठन जड़ता के शिकार होने से बचे रहते हैं, उनमें नए विचारों और कार्यक्रमों का समावेश होता है। व्यक्तियों की दुर्बलताओं और आपसी झगड़ों के बावजूद संगठन का कोई विकल्प नहीं है क्योंकि यही श्रमिकों को न्याय के लिए लड़ने की शक्ति देता है और उनके कष्टों में उनके साथ रहता है। जब संगठन का लक्ष्य सत्ता में भागीदारी हो जाता हैं तब वे भी नैतिकता से निरपेक्ष होकर वोट गिनने के उपाय अपनाने लगते हैं जैसा कि विमला बेन को चुनाव जितवाने के लिए किरपू दुसाध के मामले में किया जाता है। वास्तव में लेखिका का आशय यही है कि ट्रेड यूनियनों को प्रेशर ग्रुप के तौर पर काम करना चाहिए, सत्ताकांक्षी राजनीतिक दलों की तरह नहीं। पवार की सत्ताकांक्षा से नमिता परिचित है, इसीलिए वह श्रमिक वर्ग और संगठन् को तो चुनती है लेकिन पवार के घर जाने की बजाय किशोरी बाई के घर जाती है।

इस उपन्यास में स्त्री पात्रों का एक बृहत संसार है जो नायिका नमिता की चेतना पर दस्तक देकर उसे दृष्टिसम्पन्न बनाता है। एक तरह से इसे मुम्बई की स्त्रियों का प्रतिनिधि उपन्यास कहा जा सकता है। सभी समवेत रूप से समाज में व्याप्त उपभोगाकांक्षा, मूल्यों के विघटन और दलाल संस्कृति तथा उसके बरअक्स खड़ी मानव-संवेदना और नए मानवीय मूल्यों के सृजन की आकांक्षा एवं सामर्थ्य का चित्र प्रस्तुत करती हैं।

नमिता की माँ भारतीय समाज के पुत्र-प्रेम और पुत्री-द्वेष का साक्षात उदाहरण है। इसी के साथ निर्धनता की कुंठा ने उसे अमानवीयता की हद तक कठोर और काइयां बना दिया है। पुत्री-द्वेष के कारण वह नमिता और मुनिया को हर समय बेवजह डॉटती-फटकारती रहती है। यहां तक कि नमिता को नीचा दिखाने की काल्पनिक वजहें भी खोज लेती है।

अंजना वासवानी, गौतमी, चेतना स्वामी, देययानी और निर्मला कनोई पूंजीवादी सोच के अनुसार दुनिया को बाजार मानकर चलने वाली स्त्रियां हैं जिनके अनुसार सब कुछ खरीदा और बेचा जा सकता है-स्त्री की छवि भी, उसकी देह भी और मातृत्व भी। यहां कुछ खरीदार हैं, कुछ बिकाऊ चीजें और कुछ दलाल। कनोई दंपति खरीदार हैं, गौतमी जैसी लड़कियां बिकने की वस्तुएं तथा वासवानी जैसे लोग दलाल। यहां सब कुछ 'स्वेच्छा' से होता है। दलाल को कमीशंन और विक्रेता को माल की कीमत दे दी जाती है और कहीं कोई नैतिकता की समस्या नहीं आती। नमिता इस दुनिया का हिस्सा बन जाती है। वह समझती है कि वह माडलिंग के जरिये अपनी छवि बेच रही है और संजय कनोई से भावना के स्तर पर जुड़ने के कारण उसके सम्बन्ध बन गए हैं लेकिन वह यह नहीं जानती कि उसके भावनात्मक सम्बन्ध भी दूसरे पक्ष के लिए एक सौदा-भर हैं। वस्तुतः निपट अभाव और निरी हताशा अवमानवीकरण का कारण है तो दूसरी ओर बाजार भी मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता-उसका वस्तुकरण कर देता है। ऐसे में मनुष्य बने रहने का उपाय यही है कि समाज से जुड़कर अपनी अस्मिता बनाए रखते हुए किन्हीं उच्चतर मूल्यों या आदर्शों के लिए काम किया जाए जो बेहतर मनुष्य समाज के स्वप्न से जुड़े हों। 'आवां' में नमिता के माध्यम से चित्रा मुद्गल ने यही संदेश देने का प्रयास किया है।

नारी-विमर्श 'आवां' के मूल कथ्य का हिस्सा है। तीन पात्रों का उनके निकट संबंधियों ने यौन-शौषण किया है- नमिता के मौसा ने नमिता का, गौतमी के सौतेले भाई ने गौतमी का और स्मिता के पिता 'मटका किंग' ने स्मिता की दीदी का। सवाल यह है कि इस सबसे गुज़रकर ये कहां पहुंचीं? गौतमी ने अपनी देह को बाज़ार में भुनाने का रास्ता चुना और आभूषण डिजाइनर के छद्म के तहत सन्तानहीन सेठों के लिए सन्तान उत्पन्न कर दौलत कमाने लगी। स्मिता की दीदी इससे उबरकर एक सामान्य गृहस्थ जीवन जीने की ओर अग्रसर दिखाई देती है और नमिता भी अपने जीवन को एक सार्थक दिशा दे रही है। व्यक्ति-स्तर पर सामर्थ्य और परिस्थिति-भेद के अनुसार इन पात्रों की यौन-शोषण के प्रति सक्रिय प्रतिक्रिया और जीवनगत परिणतियों में अन्तर है लेकिन समाज-स्तर पर इन घटनाओं का नोटिस तक लेने से इन्कार होता दिखाई देता है। नमिता के मौसा ने जब उसका यौन शोषण किया तब वह सिर्फ ग्यारह साल की थी। उसकी मौसी और माँ ने परिवार में किसी को भी इस घटना की हवा तक नहीं लगने दी और मौसा पूर्ववत समादृत रहे। गौतमी तो सौतेले भाई की हरकत किसी को बता भी नहीं पाई और गर्भवती होने पर आत्महत्या के लिए चल दी। ऐसी लड़कियों के लिए घात लगाए बैठी अंजना वासवानी ने उसे रोका और उसके साथ ठीक वही किया जो बाद में नमिता के साथ किया। इस तरह देखा जाए तो गौतमी वह परिणति है जो नमिता के लिए बाजार ने तय कर रखी थी। स्मिता की माँ तो सब कुछ जानकर भी मूक रही क्योंकि वह मटका किंग से भयभीत थी। खुद बेटी के साथ जाकर उसका गर्भपात करवाने में जो भी यातना मन पर बीती हो, लेकिन कोई सक्रिय प्रतिरोध वह नहीं कर पाई।

नारी-विमर्श की दृष्टि से उपन्यास का सबसे सक्रिय पात्र है स्मिता और मुखर पात्र है पवार। स्मिता स्वयं को आज की औरत कहती है और वह है भी। आपने पिता से उसने कभी पिता का वात्सल्य नहीं पाया, उसे बस एक आतंककारी और अत्याचारी उपस्थिति के रूप में ही जाना है। माँ का सहमापन और दीदी का शोषण उसमें इतना विद्रोह भर देता है कि वह एक रात घर लौटते मटका किंग पिता को सीढ़ियों से धकेल कर परिवार को उससे मुक्ति दिला देती है। वह अपने पहले प्रेमी को सिर्फ इसलिए छोड़ देती है कि वह निरोध का इस्तेमाल नहीं जानता। स्मिता आज की वह स्त्री है जो विद्रोहिणी है, अपने हिस्से का सुख लेना जानती है और गलत स्थितियों को बदलने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है लेकिन उसके सामने किसी आदर्श अथवा मूल्य के रूप में ऐसा कोई दिशाबोध नहीं है जो उसके विद्रोह को वृहत्तर अर्थों में सार्थक बना सके।

वृहत्तर अर्थों में सार्थक दिशाबोध से सम्पन्न नारी पात्रों में किशोरी बाई के अतिरिक्त शाह बेन और नीलम्मा दिखाई देती हैं। विधवा युवती नीलम्मा वासवानी की हैदराबाद की कोठी की देखभाल करती है और अपने बूढ़े ससुर तथा दो जुड़वां बेटों के साथ वहां क्वार्टर में रहती है। वह भरपूर नैतिक साहस की स्वामिनी है। एक धनाढ्य परिवार की यौन-क्षुधित महिला और उसकी सखियों की मालिश की आड़ में उनकी यौन-तृप्ति करने के एवज उसे मोटा वेतन मिलता है और स्वयं अपनी संतुष्टि के लिए वह किसी मर्द

के साथ सम्बन्ध बना लेती है लेकिन उसके मूल्यबोध को यह सब कचोटता है और एक दिन वह एक झटके से यह सब छोड़ देती है। वह नमिता की स्थिति को पूरी तरह समझती है और उसका गर्भपात होने पर उसकी सहायता करने के अतिरिक्त उसके हैदराबाद छोड़कर जाने का प्रबन्ध भी करती है। वह सही का साथ देने के लिए अपनी आजीविका को जोखिम में डाल देने का साहस रखती है। दायित्वबोध के साथ नैतिक साहस नीलम्मा की चरित्रगत विशेषता है। शाहबेन में ये गुण तो हैं ही, इसके अतिरिक्त उनमें स्पष्ट दिशाबोध एवं नेतृत्व-क्षमता भी है। स्वाधीनता आंदोलन में भाग ले चुकी शाहबेन महात्मा गांधी की अनुयायी हैं और निर्धन स्त्रियों को उदर-पूर्ति की खातिर देह बेचने से रोकने के लिए 'श्रमजीवा' संस्था चलाती हैं जहां ऐसी स्त्रियां पापड़ बेलकर कुछ दिहाड़ी कमा लेती हैं। यह चरित्र अंजना वासवानी के नितान्त वैषम्य में खड़ा दिखाई देता है। शाह बेन मजबूर औरतों को वेश्या बनने से रोकती हैं तो वासवानी मजबूर और महत्वाकांक्षी युवतियों की देह के सौदे कर दलाली खाती है। शाहबेन कठोर और कटुभाषी हैं तो वासवानी अत्यन्त मृदुभाषी। शाहबेन सादगी से रहती हैं तो वासवानी तमाम आधुनिक उपभोग-सामग्रियों से लैस हैं। वासवानी का ऐश्वर्य और मृदु व्यवहार आकर्षक है तो शाहबेन को झेलना बहुत मुश्किल है। लेकिन जहां शाहबेन विपन्न स्त्रियों को बाजार का माल बनने से रोकने के लिए श्रम की गरिमा से युक्त विकल्प देती हैं वहीं वासवानी ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के ग्लैमर से चकाचौंध कर मजबूर युवतियों को बाजार की वस्तु बना देती है। उपन्यास में यह वैषम्य बड़े सहज ढंग से, बिना किसी उपदेशात्मकता के प्रस्तुत हुआ है और लेखिका के अभिप्रेत को व्यक्त कर गया है।

नारी-विमर्श पर मुखर चर्चा पवार, गौतमी और सिद्धार्थ मेहता के संवादों में हुई है लेकिन इस संदर्भ में इस बात को याद रखना जरूरी प्रतीत होता है कि 'आवां' का वास्तविक नारी-विमर्श उसके पात्रों की जीवनगत स्थितियों और उनके अपने क्रिया-कलाप की अंतर्क्रिया में निहित है। इन पात्रों के संवाद समाज में मौजूद विभिन्न विचार-सरणियों के प्रतिनिधि भर हैं। गौतमी स्त्री के सिर्फ देह होने, अपनी देह की स्वयं स्वामिनी होने और उसका लाभ उठाने की तथाकथित आधुनिक सोच से संचालित है। उसने विवाह कर लिया है लेकिन पति उसी तरह है 'जिस तरह घर में अलमारी है, फ्रिज है, वाशिंग मशीन है, डिश-वाशर है।' उसे लगता है कि 'पति क्या होता है, आधिकारिक बलात्कारी।' लेकिन उसने अपने पति यह अधिकार से वंचित रखा है कि 'जब मन किया, बीवी सो रही हो, जग रही हो, काम में व्यस्त हो, मरजी हो, न हो-उठाकर बिस्तर पर पटक लिया...'। उसकी नारीवादी चेतना ने पति को ठीक वैसे ही वस्तु का दरजा दे दिया है जैसे अब तक पति पत्नी को देते आए हैं। यह नारीवाद का नकारात्मक रूप है।

पवार मेहनतकश है और दलित भी। उसके चिन्तन में गहराई है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति भदेस और अक्सर अश्लील है। वह सामने वाले व्यक्ति की पूर्वनिश्चित धारणाएं तोड़ने और नए ढंग से सोचने के लिए उत्तेजित करने की खातिर सोच-समझकर ऐसा करता है। स्त्री के स्वावलंबी बनने का समाज पर जो प्रभाव पड़ रहा है, उसके विषय में पवार का कहना है-'परस्परता विकसित होनी चाहिए थी। संतुलित। हो रहा है उलटा। घर टूट गए। टूट रहे। टूटेंगे। त्रिशंकु बनी संतानें अपने अस्तित्व के अपरिचय से जूझ रहीं। जूझेंगी। समस्या विकराल से विकरालतर होती जा रही।" वह स्त्री मजदूरों के पुरुष-मजदूरों के समान वेतन के लिए संघर्ष करता है लेकिन नारीवादी विचारों से सहमत नहीं है। वह नमिता से कहता है, 'क्या तुम्हें लगता है कि अपनी आजादी की अगुवाई पीटते हुए वह किसी सीमा तक भोग्या की परिभाषा से मुक्त हो पाई है? जाहिर है, जब तलक जवानी की उड़ान है, उफान है, वह उपभोग की वस्तु है..चूल्हे में भुने आलू-सी झुर्रियां खिंचते ही वह न तो पुरुषों के लिए काम्य रह जाती है, न कुटुंब के लिए छप्पर, न संतानों के लिए आंचल। चुसी गुठली-सी वृद्धाश्रम में छोड़ दिए जाने के लिए अभिशप्त हो उठती है।' वह गठबंधन परम्परा को ही उचित मानता है। उसे लगता है कि इसी के अंतर्गत स्त्री की सभी प्राकृतिक आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं। माँ बनना भी उसकी ऐसी ही आवश्यकता है। उसका कहना है, 'अपनी प्रकृति की आप उपेक्षा नहीं कर सकते। करेंगे तो निश्चय ही परिणाम घातक होंगे। बच्चा स्वयं नहीं जनेगी तो औरों के दुधमुंहों को आंचल में चाँप अपनी सूखी चूचियां चुसवाएगी। मातृत्व का कृत्रिम आनंद लेगी...डायन बन ढेले खाएगी लोगों के।" वह मानता है कि स्त्री विवाह कर पुरुष के आश्रय में रहकर संतान को पाले-पोसे तभी वह सुरक्षित रह सकती है और मान-सम्मान की अधिकारिणी हो सकती है-'फेंटे में तलवार कसकर निकलने पर भी समाज में तुम लोगों का सुरक्षित रह पाना संभव नहीं। सुरक्षा इसी में है कि समय रहते किसी योग्य घर-वर के संग सप्तपदी कर लो। घर-आंगन में झाड़ू-बुहारू करते पति के बच्चे जनो और जने हुओं का काजल-टीका करते हुए उन्हें देश-समाज का सुदृढ़ नौनिहाल बनाओ...लिखकर रख लो। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के बीतते-न बीतते संपूर्ण विश्व की सन्नारियां गहरे चिन्तन-मनन करने लगेंगी कि उनका एक मात्र श्रेष्ठ स्वरूप जननी है-केवल जननी!'

पवार की अभिव्यक्तियों की तीक्ष्णता को छोड़ दिया जाए तो उसके विचार लेखिका के विचारों का बहुत हद तक प्रतिनिधित्व करते हैं। लेखिका किशोरी बाई को नमिता का आश्रय माना है जो एक ऐसी श्रमजीवी गृहस्थिन है जो अपने दायित्वों का निर्वाह भी करती है और अपने प्रेम को भी जीती है। ऐसा लगता है कि 'आवां' में नारी-विमर्श एक दायित्वमयी और स्वतंत्रचेता गृहस्थिन नारी पर आकर रुकता है। लेकिन पातिव्रत्य की अनिवार्यता को ढील दे दी गई है क्योंकि विवाह भी प्रायः जीवन में कुछ रीतापन छोड़ देता है जिसे अन्य पुरुष से भर लेना-तमाम गृहस्थ दायित्व निभाते हुए-इस नारी विमर्श को स्वीकार्य है।

'आवां' में घटना विन्यास के लिए चेतना प्रवाह पद्धति का सहारा लिया गया है जो रोचक लगती है और पात्रों के चेतन-अवचेतन की गांठें खोलती चलती है लेकिन इसे पढ़ने के लिए अत्यन्त एकाग्रता की आवश्यकता है क्योंकि जरा-सा ध्यान चूकने पर सिलसिला पकड़ से छूटने लगता है। एक विराट फलक पर रचित इस कृति में पात्रों और उनकी कथाओं-अंतर्कथाओं की भीड़ है लेकिन मुम्बई की ट्रेड यूनियनों, दड़बेनुमा चालों, झोंपड़पट्टी और लोकल ट्रेन का परिवेश इसके बिना सृजित नहीं हो सकता था। हर पात्र का अपना व्यक्तित्व है और अपनी भाषा। पवार की भाषा अक्खड़ और मुंहफट है तो अन्ना साहब की नपी-तुली। संजय कनोई रोमांस से भीगे संवाद बोलता है तो सिद्धार्थ मेहता दो-टूक सौदेबाजी की भाषा में बात करता है। जहां तक उपन्यास में वर्णन की भाषा का प्रश्न है वह पूर्वी उत्तर प्रदेश की बोली-बानी की रंगत लिए हुए है। वाक्य विन्यास टकसाली भाषा से हटकर है जो ताजगी का अहसास कराता है। उपन्यास में आए मुहावरे, उपमान, बिम्ब आदि ठेठ औरत की भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। जहां स्त्री पात्र सोचते या बोलते हैं वहां तो भाषा में घरेलूपन है ही, लेखिका द्वारा दिए गए ब्यौरों में भी भाषा का यही तेवर दिखाई देता है जो इसे भाषा के पक्ष से भी नारी विधा का उपन्यास बनाता है।

सी-64, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026

चक्राचक्र

मैं हूँ ना....

बिहारी लाल जी एक फिल्म देखकर आए हैं, जिसमें हीरो बहुत मुंह बनाकर और आँखें चमका कर एक गाना गाता है। इस गाने में बार-बार वह कहता है-मैं हूँ ना।

इस गाने के ये शब्द बिहारी लाल जी के मन-कपाट को एकलव्य के बाण की भाँति चीरकर वहीं जम गए है, वैसे ही जैसे उसने एक भौंकते हुए कुत्ते के मुँह में बाण भरकर उसका भौंकना रोक दिया था। लेकिन बिहारी लाल जी अब हर बात पर कहते है-मैं हूँ ना।

जब पहली बार मैंने यह फिल्मी गाना सुना था तो मेरे मन में बड़ी खीझ पैदा हुई थी-तू ऐसा कौन सा फन्ने खाँ है कि तेरे होने से सारी दुनिया बदल जाएगी। अमेरिका ने बेबात इराक पर हमला करके उसको तहस-नहस कर दिया। उस समय भी तू गा रहा था-मैं हूँ ना...। क्या कर लिया तूने?

और अब बिहारी लाल जी...? क्या पिद्दी, क्या पिद्दी का शोरबा। बात-बात पर कहते हैं...मैं हूँ ना।

एक दिन मैंने कहा-"पंडित जी, अमरूदों को क्या हो गया है? बचपन में हम बाग-बगीचों से ढेर सारे अमरूद तोड़ लाते थे और सारा दिन खाते रहते थे। बाजार में रेहड़ियों वाले हाँक लगा कर बेचते थे। हम इसे गरीबों का फल समझ कर हिकारत भरी नज़रों से देखते थे। हमारी आँखों को अंगूर और सेब सुहाते थे। हम उन्हें इस तरह देखते थे जैसे कोई बिल्ली किसी मुंडेर पर बैठे हुए कबूतर को देखती है। लेकिन अब ये मरदूद अमरूद अंगूरों और सेबों को भी अंगूठा दिखाने लगे हैं। रेहड़ी वाले से जब मैं भाव पूछता हूँ तो वह अपनी हथेली की चार उँगलियाँ मुझे दिखाता है-चालीस रुपये किलो लेकिन आप के साथ रियायत करूंगा...तीस रुपये किलो।"

मेरी बात सुनकर वे गंभीर हो गए। बोले-"चिंता न करो...मैं हूँ ना...।

फिर वह अपनी जेब से पाँच रुपये का सिक्का निकालकर रेहड़ी की तरफ बढ़ते हैं और एक छोटा और कच्चा अमरूद लाकर मेरे हाथ पर रख देते हैं...खाओ...।

एक दिन सुबह-सुबह हम सैर के लिए जा रहे थे। हमने देखा, बाईं ओर के एक मकान पर किसी ईश्वरीय विश्वविद्यालय का बोर्ड लगा हुआ है। मकान के बाहर की दीवारों पर भी कई बोर्ड लगे हुए हैं। एक बोर्ड पर लिखा था-शीघ्र ही होने वाले विश्व के सम्पूर्ण विनाश से पहले परमात्मा का आगमन होगा...उनका स्वागत करने को तैयार हो जाइए।

मैंने बिहारी लाल जी से पूछा-"पंडित जी, इस बोर्ड पर लिखा है कि इस विश्व का शीघ्र ही विनाश होने वाला है...आप की क्या राय है? यह बात कब तक हो जाएगी?

वे बड़े शान्त भाव से बोले-"मैं भी मानता हूँ कि यह बात जल्दी ही होने वाली है। मेरे विचार से विश्व-विनाश की स्थिति दस हजार वर्ष के भीतर कभी भी आ जाएगी।"

मेरे चेहरे पर उभरी चिंता की रेखाओं को देखकर वह बोले-"तुम चिन्ता न करो। मैं हूँ ना...।"

मैंने कहा-"पंडित जी, आपने इस बोर्ड पर लिखी पूरी बात नहीं पढ़ी। इसमें लिखा है कि ऐसे विनाश को रोकने के लिए शीघ्र ही परमात्मा का आगमन होने वाला है।"

वह किसी सिद्ध पुरुष की भांति हँस दिए। बोले-"मैं आ गया हूँ ना...।"

मैं आश्चर्य से उन्हें देखने लगा-"पर, आपको आए तो काफी दिन हो गए हैं?"

वह उसी मुद्रा में फिर हँस दिए-"दस-पचास बरस पहले आ जाने से क्या होता है? उस समय तो शरीर के साथ केवल आत्मा आती है। यह आत्मा कब परमात्मा बन जाती है, तुम जानते हो?"

मैंने एक अज्ञानी व्यक्ति की भांति सिर हिला दिया-"पंडित जी, मुझे तो अभी तक यह भी पता नहीं कि जब मैंने शरीर धारण किया था, उस समय आत्मा भी मेरे साथ आई थी।"

"इसीलिए तुम बहुत सुखी हो।" पंडित जी आशीर्वाद देने की मुद्रा में बोले-"तुम्हें सिर्फ अमरूदों के महंगे हो जाने की चिंता सताती है। विश्व का विनाश कब होगा...वह कैसे बचेगा...उसे कौन बचाएगा...आदि चिंताएं तुम्हारे पास तक नहीं फटकतीं। गोस्वामी तुलसी दास ने तुम्हारे जैसे लोगों के लिए ही कहा था- सबते सुखी से मूढजन जिनहिं न ब्यापे जगत गति..। पर तुम्हें इन सब बातों की चिंता करने की जरूरत नहीं है। मैं हूँ ना...।"

आज मेरे सामने भी यह बात पूरी तरह साबित हो गई थी कि मैं सचमुच मूढ़ हूँ। अपने इस गुण को पूरी तरह उजागर करते हुए मैंने कहा-"पंडित जी, आप हैं, इस सम्बन्ध में मुझे कभी संदेह नहीं था। अभी आपने ही कहा कि जन्म के समय शरीर के साथ आप आत्मा लेकर भी आए थे। लेकिन आप परमात्मा कब हो गए?"

"देखो...।" वे बड़े संत भाव से मुझे समझाते हुए बोले-"संसार के सभी लोग आत्मा लेकर जन्मते हैं और उसी के साथ मर जाते हैं। किन्तु कुछ लोग परम हो जाते हैं। परम होने की अनुभूति किसी भी आयु में हो सकती है। भगवान बुद्ध को बोधिसत्व जन्म लेते ही प्राप्त नहीं हो गया था। परम हो जाना तो एक इल्हाम है...एक दैवी आदेश है, जो किसी-किसी को होता है। फिर उसकी आत्मा परमात्मा हो जाती है।"

मैंने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा। मुझे उनमें कोई फर्क नहीं दिखाई दे रहा था। वह बिल्कुल पहले की भाँति लग रहे थे।

"एक बात मेरी समझ में नहीं आई।" मैंने पूछा 'ईश्वरीय विश्वविद्यालय के सूचना पट पर लिखा था कि परमात्मा विश्व के विनाश के अवसर पर प्रकट होंगे। आप कह रहे थे कि ऐसा विनाश होने में दस हज़ार वर्ष लगेंगे। फिर आपको अपने परम होने का...आप क्या कह रहे थे?"

'इल्हाम।''

''हाँ...हाँ...इल्हाम। इतनी जल्दी कैसे हो गया?''

''अरे मूरख, मैं हूँ ना...।'' वह इस प्रकार बोले जैसे वह मुझे बार-बार राम बोलना सिखा रहे हैं और मैं बार-बार मरा-मरा कह रहा हूँ।

''मैं पलों...क्षणों को सदियों में बदल सकता हूँ और सदियों को पल-क्षण बना सकता हूँ। विश्व को अपनी सभी चिंताएं छोड़ देनी चाहिए.. .मैं हूँ ना।''

मैंने कहा-''क्या अमेरिकी लोगों को यह चिंता छोड़ देनी चाहिए कि वहां का अगला राष्ट्रपति जार्ज बुश को बनना चाहिए कि जॉन कैरी को?''

वह तपाक से बोले-''हाँ...ये दोनों प्राणी वहाँ बेकार की बहस में पड़े हुए है। मैं हूँ ना...उन्हें किस बात की चिंता है?'

एक दिन मैं बिहारी लाल जी के घर पर बैठा इधर-उधर की हाँक रहा था। लेकिन एक बात का पूरा ध्यान रख रहा था कि ऐसी कोई बात न कहूँ कि उन्हें यह कहने का अवसर मिले-मैं हूँ ना।

पर बिहारी लाल जी भी बहुत 'परम' हैं। वह कोई न कोई ऐसी बात निकाल लेते थे जिसमें उन्हें- 'मैं हूँ ना' कहने का मौका मिल जाता था।

इतने में दो व्यक्ति शीशे की खिड़की से बाहर खड़े दिखाई दिए। इससे पहले कि वे घंटी बजाएं, पंडित जी ने दरवाजा खोलकर उन्हें अंदर बुला लिया। एक व्यक्ति ने कागज़ की लम्बी शीट खोलते हुए पूछा-''आप बिहारी लाल हैं?''

''जी...।'' उनके चेहरे पर कुछ घबराहट उभर आई थी।

''एक साल से आपका बिजली का बिल जमा नहीं हुआ है। हमें आर्डर मिला है कि हम आपकी बिजली काट दें।'' उसने आर्डर का कागज उनके सामने रख दिया।

बिहारी लाल जी एकदम पसीने-पसीने हो गए।

''आप यह कैसे कर सकते हैं?'' वह बोले-''मैं अपनी भूल मानता हूं. ..आप मुझे कुछ दिन की मोहलत दीजिए। मैं बिल की रकम जमा करा दूंगा।''

वह आदमी अपने हाथ की कैंची चमकाता हुआ बोला-''और मोहलत नहीं दी जा सकती। आपको तीन रिमाइंडर भेजे जा चुके हैं। आपने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। आज हमें आपकी बिजली काटने का सख्त आर्डर है।''

बिहारी लाल जी की गर्दन ज़िबह किए जाने वाले किसी बकरे की तरह हिलने लगी।

मैंने कैंची हिलाते हुए उस व्यक्ति से कहा-''आप ज़रा मेरे साथ बाहर आइए।'' बाहर ले जाकर मैंने उससे कहा-''पंडित जी इस समय कुछ आर्थिक संकट में हैं, मेहरबानी करके उन्हें कुछ दिन की मोहलत दे दीजिए।'' कहते हुए मैंने सौ रुपये का नोट उसके हाथ में दबा दिया।

दोनों लोग वापस चले गए। पंडित जी ने अपने मुंह का पसीना पोंछते हुए पूछा-''आज तो बड़ी मुसीबत आ खड़ी हुई थी। तुमने किस तरह उन्हें टाला?''

मैंने कहा-''पंडित जी, आप चिंता क्यों करते हैं...मैं हूँ ना...।''

ooo

कुसुम अंसल के उपन्यास का लंदन में विमोचन

नेहरू केन्द्र लंदन एवं कथा यू.के. ने संयुक्त रूप से कुसुम अंसल के नवीनतम उपन्यास 'तापसी' के अंग्रेजी में अनूदित संस्करण 'दि विडो ऑफ़ वृंदावन' के विमोचन का कार्यक्रम आयोजित किया। उपन्यास का विमोचन नेहरू केन्द्र के निदेशक एवं जाने-माने साहित्यकार पवन के. वर्मा के हाथों हुआ। इस अवसर पर बोलते हुए श्री वर्मा ने कुसुम अंसल को इस बोल्ड विषय पर उपन्यास लिखने के लिए बधाई दी। श्री वर्मा ने आगे कहा कि यह क्षोभनीय विषय है कि जो व्यक्ति, पद एवं संस्थाएं इन विधवाओं के देख-रेख और सम्मान के ज़िम्मेदार हैं वही इनका शोषण भी कर रहे हैं।

भारतीय उच्चायोग के हिन्दी एवं संस्कृति अधिकारी श्री अनिल शर्मा ने अपने लिखित पर्चे में कहा कि तापसी में कुसुम अंसल ने एक ऐसा परिवेश प्रस्तुत किया है जिसमें धर्म को आधार बनाकर कमजोर एवं साधनहीन विधवाओं और परित्यक्ताओं का अवर्णनीय शोषण किया जा रहा है। कुसुम अंसल की लेखनी में वर्णन भी है और विचार भी, चिन्तन और दर्शन है तो संवेदना भी है।

कथाकार एवं कथा यू.के. महासचिव तेजेन्द्र शर्मा ने कार्यक्रम का संचालन करते हुए अपनी छोटी-छोटी टिप्पणियों में कहा कि इस उपन्यास के माध्यम से कुसुम अंसल ने भगवान के अस्तित्व पर कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। हमारे तीर्थस्थलों में उपस्थित बाहरी और भीतरी सड़ांध; विधवाओं पर शारीरिक, मानसिक और आर्थिक अत्याचार; विधवाश्रमों के संचालकों की पुलिस और अंडरवर्ल्ड के तत्वों के साथ सांठगांठ सभी पर लेखिका की नज़र है। कुसुम अंसल की भाषा कवितामयी है और उपन्यास में उनका शोध कार्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए डॉ. गौतम सचदेव ने कहा, "तापसी समाज के धार्मिक पाखण्ड और शोषण रूपी कोढ़ की एक ऐसी करुण गाथा है जिसका आंचल आंसुओं से भीगा हुआ हैं। इसमें भगवान की लीलाभूमि में उसके भक्तों द्वारा रचित नरक के साक्षात दर्शन तो किए ही जा सकते हैं, साथ ही उनके उस घृणित स्वार्थ को भी देखा जा सकता है जो हितैषी बनकर दूसरों की जान तक लेने में भी संकोच नहीं करता।"

लेखिका से उपस्थित श्रोताओं ने बहुत से प्रश्न किये जिनके सधे हुए जवाब कुसुम अंसल ने बहुत सहजता से दिए। उन्होंने बताया कि किस प्रकार उन्होंने कभी नंगे पांव, तो कभी रिक्शा पर, कभी पैदल अपनी शोध सामग्री जुटाने के लिए वृंदावन के चक्कर लगाए। आश्रमों के संचालक उन्हें हिकारत की निगाह से देखते थे तो विधवाएं डरी-डरी रहती थीं और उनसे बात करने से घबराती थीं। उन्होंने बताया कि उनका अगला उपन्यास प्रवासी भारतीयों को लेकर है।

बर्मिंघम से पधारीं कवियत्री तितिक्षा शाह ने कुसुम अंसल के उपन्यास का सरस पाठ किया जिसे श्रोताओं ने पूरे दिल से सराहा।

-नैना शर्मा

उर्मिला शिरीष के कहानी संग्रह पर चर्चा

पिछले दिनों 'अभिव्यक्ति' संस्था में उर्मिला शिरीष के कहानी संग्रह 'निर्वासन' पर चर्चा हुई। मार्गदर्शिका चित्रा मुद्गल की अनुपस्थिति में महेश दर्पण ने संचालन का कार्यभार संभाला। जाने-माने वकील और समीक्षक अरविन्द जैन भी आमन्त्रित थे।

महेश जी ने उर्मिला जी का परिचय देते हुए कहा कि उनके लेखन में वेदना और संवेदना दोनों बच्चे, बूढ़े, महिला सभी पात्रों को छू कर निकलती है और पाठक के दिल में गहरा सम्बन्ध बन जाता है क्योंकि सबको ऐसा आभास होता है कि कहीं न कहीं हम भी उनमें से एक हैं। अरविन्द जी ने उर्मिला जी की नायिका का परिवेश, रहन-सहन, मानसिकता सभी उभारने की कोशिश की।

उर्मिला जी ने बताया कि उनके लेखन की पीछे कोई गहरी सोच नहीं होती और शायद उनकी रचनाएं इसलिए भावुक और संवेदनशील होती हैं। पात्रों के मानसिक और मनोवैज्ञानिक संतुलन को समझना और परिस्थिति के अनुसार व्यक्त करना उनके लिए स्वाभाविक है क्योंकि उनकी सोच और नज़रिये का दायरा भावप्रधान है।

'अभिव्यक्ति' की सदस्याएं उनकी कहानियों से काफी प्रभावित हुईं। बीना जी को उनकी कहानी 'प्रतीक्षा' में एक पखेरू और उसके घोंसले के माध्यम से वृद्धा विधवा की जीवन यात्रा का वर्णन अनूठा लगा। आशा जैन को सभी रचनाएं मार्मिक लगीं। रीता जैन को ये रचनाएं दार्शनिक एवं आशापूर्ण लगी जहां अन्त में सभी मुख्य पात्र जीवन की कसौटी पर खरे उतरने की उम्मीद जगाए रखते हैं। मधुर भादुरी ने भी उर्मिला जी की रचनाओं की बहुत सराहना की।

अन्त में अभिव्यक्ति की अध्यक्षा त्रिशला जैन ने सभी अतिथियों को धन्यवाद दिया।

-रीता जैन

बाल साहित्य संगोष्ठी

पिछले दिनों हरदोई में साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था 'अनुभूति' के तत्वावधान में बाल साहित्य संगोष्ठी का आयोजन डॉ. रोहिताश्व अस्थाना की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। बाल कथाकार कु. मधु गुप्ता ने कहा, 'बाल साहित्य का स्वरूप बाल रुचि, परिवेश और बाल मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए। डॉ. कृष्ण दत्त मिश्र का मानना था, 'हिन्दी अंचल की अपेक्षा दक्षिण भारत के साहित्यकार अपनी कविता-कहानी की पुस्तकें सस्ते संस्करण में स्वयं छपाकर और बच्चों के बीच जाकर बेच देते हैं, इससे बच्चों में प्रोत्साहन और संस्कार विकसित होता है।' कविता-पत्रकार मजीद अहमद की टिप्पणी थी - 'बाल साहित्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान है, विशेषकर लघु पत्र-पत्रिकाओं का आम बच्चों तक आज पत्रिकाएं पहुंच नहीं पा रही हैं, अभिभावक बच्चों के लिए महंगा खिलौना ले सकते हैं, पर पत्रिका नहीं। यह शायद उनके संस्कारों में शामिल नहीं है।' सुप्रसिद्ध बाल साहित्यकार डॉ. रोहिताश्व अस्थाना ने कहा, 'कामिक्स पश्चिमी परम्परा की चीज है, जो बच्चों की सुरुचि में व्यवधान डालती है। हम चाहते हैं कि बालक अपनी परम्पराओं से भी जुड़ें।

-कुमकुम मिश्रा

सचेतना बुक क्लब का लाभ उठाइए

संचेतना के ज़ागरूक पाठकों के लिए एक आकर्षक योजना

संचेतना के देश में असंख्य पाठक हैं। असंख्य शिक्षण-संस्थाओं में संचेतना वर्षों से जा रही है जहाँ इसकी प्रतियों को सजिल्द कराकर संजोया जाता है। हमने संचेतना की सहयोगी संस्था अभिव्यंजना प्रकाशन के साथ मिलकर पुस्तक-प्रेमी पाठकों के लिए यह आकर्षक योजना तैयार की है। 60 रु. भेजकर एक वर्ष अथवा 100 रु. भेजकर दो वर्ष के लिए आप संचेतना के वार्षिक ग्राहक बनिए और निम्नलिखित पुस्तकों में से **कोई भी कितनी भी मनचाही पुस्तकें आधे मूल्य पर मँगवाइए।** डाक-खर्च भी हमारे द्वारा दिया जाएगा। मूल्य मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेजें। 50 रुपये से कम की पुस्तकें साधारण डाक द्वारा और अधिक की पुस्तकें रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाएंगी।

कहानी संग्रह

धूप की उँगलियों निशान	महीप सिंह	125.00
चर्चित कहानियाँ	महीप सिंह	40.00
इक्यावन कहानियाँ	महीप सिंह	150.00
सहमे हुए	महीप सिंह	60.00
इक्यावन कहानियाँ	विष्णु प्रभाकर	100.00
इकतीस कहानियाँ	कुसुम अंसल	150.00
पते बदलते हैं	कुसुम अंसल	25.00
चिनारों की आग	शाना	125.00
तेंतीस कहानियाँ	सिम्मी हर्षिता	300.00
घरों से मकानों तक	गुरनाम गिल	80.00
जिंदा पल मुर्दा पल	बचिंत कौर	45.00
अतीत से संवाद	बचिंत कौर	80.00
गिरोह तथा अन्य कहानियाँ	आनन्द अरथाना	30.00
नया मोड़	कमलेश बख्शी	25.00
उधार की जिन्दगी	बसंत प्रभा	35.00
एक दिन का सुलतान	गुरमुख सिंह जीत	25.00
तीन दिन का बेईमान	सविन्द्र सिंह उप्पल	25.00
आसमान दूर है	गुरुबचन सिंह	100.00
काली छोटी मछली	समद बहरंगी	40.00
काला नवम्बर	सं. सुरेन्द्र तिवारी	100.00
ग्रामीण परिवेश की श्रेष्ठ कहानियाँ	डॉ. सुभद्रा	40.00
खोई हुई खुशबू	सं. नरेन्द्र मोहन	40.00
श्रेष्ठ कहानियाँ	कुसुम अंसल	75.00
प्रवासी पंजाबी कहानियाँ	सं. महेन्द्र [illegible]ड़ा	80.00

कविता

खत्म नहीं होती यात्राएँ	मधु शर्मा	100.00
आरंभ से हाशिये तक	अनिता शर्मा	60.00
सबूत क्यों चाहिए	इन्दु जैन	90.00
धुएँ का सच	कुसुम अंसल	25.00
विरूपीकरण	कुसुम अंसल	35.00
सच कहती हूँ	सुनीता जैन	70.00
एक और दिन	सुनीता जैन	25.00
पीली धूप का टुकड़ा	शामा	100.00
मुझे आवाज़ देना	कीर्ति केसर	100.00
मुक्त कर दो	कीर्ति केसर	50.00
तुम मुझे झेल नहीं पाओगे	अरुणा कपूर	60.00
लेखिकाओं की प्रतिनिधि कविताएँ–83 और 84	संकलन	30.00

उपन्यास

यह भी नहीं	महीप सिंह	160.00
दिशा खोजती ज़िंदगियां	कमलेश बख़्शी	90.00
मंज़िलें	मनजीत हेयर	80.00
समय हार गया	मनजीत हेयर	150.00
सम्बन्धों के किनारे	सिम्मी हर्षिता	35.00
यातना शिविर	सिम्मी हर्षिता	75.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	80.00
एक और पंचवटी	कुसुम अंसल	70.00
शिखर और शून्य	गुरमुख सिंह जीत	55.00
प्रश्नों के रेगिस्तान	कु. इन्दिरा	35.00
चेतना की परतें	शकुन्तला दुबे	35.00

आलोचना / निबन्ध

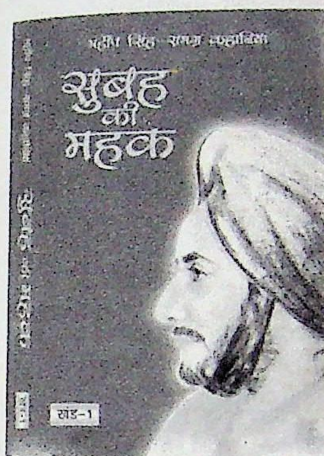
महीप सिंह का कथा–संसार	डॉ. कमलेश सचदेव	200.00
कथाकार महीप सिंह	सं डॉ गुरचरण सिंह	150.00
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में महानगर	डॉ. कुसुम अंसल	200.00
डॉ सुदर्शन मजीठिया : सृजन के धरातल	सं डॉ गुरचरण सिंह	200.00
हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन	डॉ. सुधाकर अदीब	250.00
कबीर ग्रंथावली में प्रेम भक्ति	डॉ. शकुन्तला श्रीवास्तव	150.00
कुसुम अंसल का कथा साहित्य	नगमा जावेद मलिक	90.00
लेखन और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता	सं डॉ. महीप सिंह	60.00
साहित्य और दलित चेतना	सं. डॉ. महीप सिंह चन्द्रकांत बांदिवडेकर	120.00
समकालीन हिन्दी कहानी : स्त्री–पुरुष सम्बन्ध	सुनंत कौर	80.00
हिन्दी कहानी : समकालीन परिदृश्य	डॉ. सुखबीर सिंह	50.00
मध्यकालीन बोध : मानवीय प्रयोजन	डॉ भगवान दास वर्मा	30.00
साहित्य, संस्कृति और सम्प्रेषण	डॉ भगवान दास वर्मा	60.00

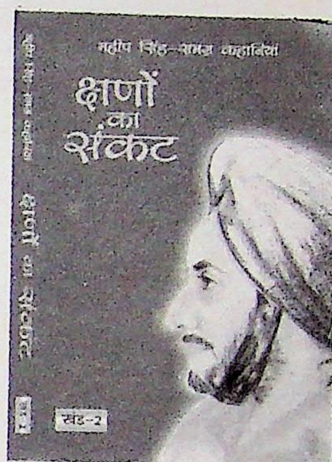
नाटक / व्यंग्य / विविध

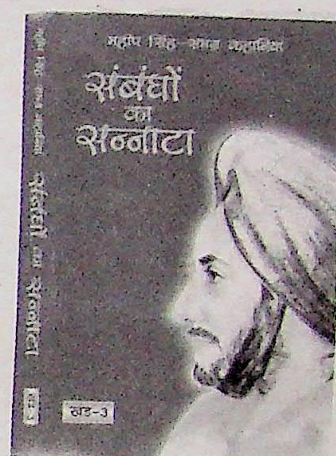
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी व्यंग्य :	स सुदर्शन मजीठिया	300.00
सृजन की यात्रा	डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	
शहीद ऊधम सिंह	सत्येन्द्र श्रीवास्तव	25.00
रेखाकृति	कुसुम अंसल	100.00
पालतू	भगवान अटलानी	20.00
भैंस के आगे बीन	रामावतार चेतन	40.00
गंजत्व दर्शन	श्याम गोइन्का	40.00
ऐसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं	सरोज वशिष्ठ	75.00
श्राउड	कु. इंदिरा	40.00

प्रख्यात कथाकार महीप सिंह की

तीन खंडों में समग्र कहानियाँ







सुबह की महक	300.00
क्षणों का संकट	300.00
संबंधों का सन्नाटा	300.00

महीप सिंह की कहानियाँ महानगरीय मध्य वर्ग के जीवन की धड़कनों को बड़ी गहराई से हमें महसूस कराती हैं। इसका कोई भी पक्ष उनकी कथा-दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। समकालीन जीवन में व्याप्त अन्तर्विरोध, तनाव और छद्‌म भी अपनी समूची विडम्बना के साथ इन कहानियों में मूर्त हो उठे हैं। कथा-शिल्प के भी कितने ही रंग उनके कथा-संसार में उभरे दिखाई देते हैं।

मनुष्य की सोच को सचेतन रखने के प्रस्थान-बिंदु से चले अपनी पीढ़ी के अत्यन्त समर्थ कथाकार के विकास क्रम को दर्शाता उसकी रचना-यात्रा का दस्तावेज़।

विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और कथा-रसिकों को
९०० रु. का पूरा सेट केवल 500 रु. में।

अभिव्यंजना
का एक गौरवशाली प्रकाशन

एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026
फोन : 25222888

मूल्य : रु.15

पूर्णांक 169

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम



सन्ध्या छाया

बुझाने के लिए पागल हवाएँ रोज़ आती हैं : कन्हैयालाल नन्दन

बेचैन रूह का परिन्दा : नासिरा शर्मा

एक संकटमोचक सम्पादक : त्रिलोक दीप

नन्दन की सृजन-दृष्टि में अर्थ का विस्तार : डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

संचेतना

पूर्णांक 169, वर्ष 34, अंक 3
सितम्बर-2004
(प्रकाशित दिसम्बर-2004)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
राजेश सिंह

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे(जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-26, फोन-25222888 (मो.) 9313932888

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
सुमन प्रिन्टर्स
पीरागढ़ी, दिल्ली-110035
में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित

संध्या छाया

संस्मरण

कहानी

मराठी धारावाहिक उपन्यास

कविताएँ

मैंने पढ़ा

समीक्षा

पत्रिकाएँ

व्यंग्य

समकालीन सर्जना और आलोचना का मानक रूप

संचेतना इस अर्थ में एक बेजोड़ साहित्यिक पत्रिका है कि इसने लगभग 35 वर्षों से समकालीन लेखन के क्षेत्र में न केवल विविध विधाओं के साहित्य को प्रकाशित किया है वरन् साहित्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों, विवादों और साहित्येतर गतिविधियों पर भी चर्चाएं और परिचर्चाएं कराई हैं। इससे भी बड़ी बात है इसका निष्पक्ष अविसंवादी साहित्य सर्जना को प्रश्रय देना और रेखांकित करना। जिस युग में विवादी और विसंगत स्वर इतने प्रमुख हों उस युग में स्वस्थ जनोन्मुख सर्जना के प्रकाशन में संचेतना की संलग्नता और प्रतिबद्धता मामूली बात नहीं है। यह शायद इसलिए सम्भव हुआ है कि इसके संपादक श्रेष्ठ कथाकार, आलोचक और चिंतक डॉ. महीप सिंह जी हैं।

मिसाल के तौर पर संचेतना का 168वाँ अंक मेरे सामने है जो डॉ. रामदरश मिश्र के रचना-संसार पर केन्द्रित है। आखिर डॉ. रामदरश मिश्र जैसे रचनाकार ही क्यों? सच तो यह है कि अपनी मिट्टी के रस से सिक्त होकर अपने समय के रू-ब-रू होने, उसकी संगतियों और विसंगतियों को इतने विपुल साहित्य में इतने कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने वाले कितने साहित्यकार हैं? मिश्र जी के व्यक्तित्व पर प्रख्यात साहित्यकार डॉ. विवेकी राय का और उनके साहित्य पर प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ का तथा अपनी सर्जना पर मिश्र जी का बहुमूल्य आत्मकथ्य पर्याप्त तो नहीं था, फिर भी पत्रिका के कलेवर को देखते हुए महत्वपूर्ण है।

सच तो यह है कि मानवीय संवेदनाओं का ऐसा ही साहित्य और ऐसी ही समीक्षा इस अंक में और पिछले सभी अंकों में छपती रही है। आंतर भारती की अर्चना का अनुष्ठान पत्रिका ने अपने हर अंक में किया है। प्रस्तुत अंक से मराठी के चर्चित उपन्यास 'उषःकाल' (कृतिकार : रामनाथ चव्हाण) के अनुवाद का धारावाहिक क्रम शुरू हुआ है। डॉ. वामन वी आहिरे का 'मराठी और गुजराती काव्य में नकार के स्वर' इसी क्रम को संपुष्ट करता है। हिन्दी की मौलिक सर्जना की दो कहानियां, 12-13 कविताएं और एक व्यंग्य लेख अपनी मार्मिकता और संभावनाशीलता में ध्यानाकर्षक हैं। रंजन जैदी की कहानी 'सन्नाटे के कैनवास पर' नव दम्पति की सांकेतिक प्रेम कथा तो है ही, रूढ़ियों और मर्यादाओं को तोड़कर प्रेम, शादी और नई संभावनाओं की स्वीकृति भी है। हिन्दी के कथाकार और उत्कृष्ट आलोचक गुरुबचन सिंह का 'यह राइटर क्या होता है' एक रोचक आत्मसंस्मरण है जो उनके एक नए रूप का उद्घाटन करता है।

डॉ. प्रभात शर्मा की 'अन्वेषक' नाटक की प्रस्तुति की समीक्षा और 'गतिविधियां' शीर्षक स्तंभ के अंतर्गत हिन्दी की देशव्यापी गतिविधियों का विवेचनात्मक परिचय सूचना-क्रांति के इस युग में एक ज़रूरत है। यों तो सभी पुस्तक समीक्षाएं आलोच्य कृतियों का मर्मस्पर्शी विवेचन करती हैं पर डॉ. कमलेश सचदेव द्वारा चित्रा मुद्गल के दीर्घकाय उपन्यास 'आवाँ' की समीक्षा परिश्रमपूर्ण और तर्कसंगत है।

आपके संपादकीय 'विदेशों में भारतीय भाषा का संरक्षण कैसे हो?' में आपके सांस्कृतिक सरोकारों के कारण कनाडा यात्रा की पीड़ा का वर्णन है। पिछले दिनों आपकी चीन यात्रा का विवेचनात्मक निरूपण दैनिक जागरण में पढ़ा था। एक जगह लोकतांत्रिक उन्मुक्ता है तो अपने मूल देश के साहित्य की प्राप्ति की गहरी समस्या है, दूसरी जगह सच्चे लोकतंत्र के अभाव में नपी-तुली बातचीत की कसमसाहट। प्रायः सभी देशों में न्यूनाधिक मात्रा में भारतीय आप्रवासी हैं किन्तु उनकी मूल भूमि के साहित्य और संस्कृति से उन्हें जोड़े रखने का उपक्रम भारत सरकार की ओर से नहीं होता। आपने ठीक लिखा है कि 'भारतीय दूतावास इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। भारतीय भाषाओं के साहित्य, विविध कलाओं तथा संस्कृति के अन्य पक्षों का संरक्षण उनके कार्य क्षेत्र का भाग होना चाहिए।'

कुल मिलाकर, संचेतना का यह 168वाँ अंक इतना भरा-पूरा, वैविध्यसंपन्न और रोचक है कि उसमें समकालीन सर्जना और आलोचना का मानक रूप उभरता है। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

डॉ. जितेन्द्रनाथ पाठक
वाणी प्रतिष्ठान, रवीन्द्रपुरी, गाजीपुर-233001

सनातन संबंध

संचेतना और मेरा संबंध अब सनातन जैसा है। यही कारण है कि वर्षों से वह मुझे निरन्तर प्राप्त हो रही है तथा उसका एक भी अंक ऐसा नहीं रहा जिसमें मुझे रस न आया हो। कुछ मौलिक प्रश्न उठाना और फिर विद्वान लेखकों के विचारों की श्रृंखला प्रकाशित करना तो जैसे संचेतना की पहचान ही बन गई थी वरन् कहूं कि ऐसा करना अन्य पत्रिकाओं ने संचेतना से सीख लिया तो उसने 'संध्या-छाया' की अनूठी राह पकड़ने का ऐलान कर दिया। उक्त स्तम्भ के इतर गम्भीर आलेख/ कहानियां/ कविताएं/ समीक्षाएं और एक दो लघु-कथाएं प्रकाशित करना पत्रिका का पैटर्न सा बनता जा रहा था कि सहसा किसी अंक में ग़ज़ल तो किसी में नवगीत प्रकाशित कर आपने किसी विधा से 'गुरेज नहीं' स्पष्ट करने का यत्न किया तो लगा एक दिन गीत/ग़ज़ल प्रकाशन की संख्या भी बढ़ सकेगी। किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब पत्रिका अपने लेखकों के बेड़े में बाहर के रचनाकारों के प्रति किंचित उदारता बरते।

संचेतना हिन्दी जगत में प्रमुख पत्रिका समूह में अपना स्थान बनाए हुए है इसके लिए आप बधाई के हकदार हैं।

मुकुट सक्सेना
5-ग,17, जवाहर नगर, जयपुर-302004

प्रवासी भारतीय सचेत हों

'संचेतना' के नये अंक में आपका 'अपनी ओर से' के तहत लिखा संपादकीय 'विदेशों में भारतीय भाषाओं का संरक्षण किस प्रकार हो?' पाठकों के कान खोलता है। वास्तव में आपका यह संपादकीय उन 'बड़े लोगों' की मानसिकता का जनाजा निकालता है जो बाहर से तो अपनी मातृ-भाषा के विकास के लिए खूब शोरगुल मचाते हैं लेकिन अंदर से ईमानदार नहीं हैं। यह स्थिति अकेले कनाडा की ही नहीं, अन्य देशों में भी यही विडंबना है। अपनी मातृ-भाषा के प्रति नकारात्मक रवैया रखना देश के हित में नहीं है। अपनी जबान और अदब को नजरअंदाज करने वाली कौम नेस्तोनाबूद हो जाती है। हताशा उत्पन्न करने वाली ऐसी स्थिति से बचने के लिए विदेशों में रहने वाले भारतीयों को अपनी भाषा और साहित्य के प्रति सचेत होना चाहिए। इसी में हमारा हित है।

डॉ. दर्शन सिंह आशट
पंजाबी विश्वविद्यालय प्रेस, पटियाला, पंजाब-147002

संध्या छाया आकर्षक है

संचेतना का पूर्णांक-168 प्राप्त हुआ। हार्दिक आभारी हूं। आपने मेरी एक कविता (बर्फ) को भी इतनी स्तरीय, गंभीर सामग्री से भरपूर पत्रिका का मंच प्रदान किया, यह मुझ जैसे नौसीखिए लेखक के लिए उत्साहवर्धक है।

इस अंक में सुप्रसिद्ध कवि, कहानीकार, उपन्यासकार रामदरश मिश्र जी के बारे में बहुत कुछ जानने को मिला। 'संध्या छाया' स्तंभ वरिष्ठ साहित्यकारों के बारे में एक बहुत आकर्षक स्तंभ है।

गुरु बचन सिंह जी का आत्मकथ्य 'यह राइटर क्या होता है?' बहुत मजेदार लगा। रंजन ज़ैदी जी की 'सन्नाटे के कैनवास पर' कहानी बहुत प्रभावशाली लगी। हरजिंदर सिंह सेठी ज़ी की कविता 'तुम देखना मेरे दोस्त' वाकई अच्छी बन पड़ी है। सुरेन्द्र तिवारी जी ने इस बार कई अच्छी छप रही सरकारी पत्रिकाओं से परिचय कराया। समीक्षाएं सभी बेहतरीन हैं।

शशिभूषण बडोनी
राज. सेंट मेरीज चिकित्सालय, मसूरी (उत्तरांचल)- 248179

संध्या छाया और आत्मकथ्य प्रभावशाली

श्री शशी भूषण बड़ोनी के माध्यम से 'संचेतना' का जून 2004 अंक मिला, पढ़कर अच्छा लगा। सभी स्तम्भ सराहनीय हैं। 'संध्या छाया' में रामदरश मिश्र एवं आत्मकथ्य में गुरु बचन सिंह खासे प्रभावित करते हैं।

महाबीर रवांल्टा
प्रा. स्वा. केन्द्र धरपा, बुलंदशहर (उ.प्र.) पिन-203131

प्रतिबद्ध लेखक से साक्षात्कार

संचेतना का जून 2004 अंक (पूर्णांक 168, वर्ष 34 अंक 2) पूरी तरह सहेजकर रखने वाला अंक है।

आदरणीय श्री रामदरश मिश्र की 'मैं और मेरी सर्जना' (संध्या छाया) ने दिल को छूकर एक आदर्श, प्रतिबद्ध लेखक से साक्षात्कार करवा कर अभिभूत कर दिया। खासकर आखिरी पैराग्राफ की अंतिम कुछ पंक्तियां (इस बात का भी ध्यान रहा...मुझे दुख नहीं है।) उनके आत्मबल और साहस का परिचय देती हैं।

खासकर ऐसे वक्त में जब कुछ पत्रिकाएं साहित्य में सत्यता के नाम पर नग्नता व सेक्स का तांडव करवा कर आम पाठक को साहित्य से दूर ले जा रही हों।

श्रीमती मंगला रामचंद्रन
41 डीडीएस-3, स्कीम -78, इन्दौर
(मध्य प्रदेश) पिन- 452010

कविताएँ प्रभावित करती है

'संचेतना के नए अंक (168) में अन्य सामग्री के अतिरिक्त कविताओं ने विशेष रूप से प्रभावित किया। मंजु गुप्ता की सागर पर लिखी दस कविताएँ सागर के विविध रूपों के साथ मानवीय मनोभावों का बहुत सुन्दर ताना-बाना रचती हैं। शशिभूषण बडोनी की 'बर्फ' कविता विडम्बना को उभारती है जबकि हरजिंदर सिंह सेठी ने उत्तराखंड के जीवन की विषमता को अपनी कविता 'तुम देखना मेरे दोस्त' में साकार कर दिया है। बृजनाथ श्रीवास्तव का गीत 'तो क्या करें' आम जन की बेबसी को कबूतर के प्रतीक से बड़ी खूबसूरती से बयान कर गया है। इन कविताओं को पढ़ने का अवसर उपलब्ध करवाने के लिए धन्यवाद।

संध्या सिंह
ए-108, लाल क्वार्टर, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026

रामदरश मिश्र पर उत्कृष्ट सामग्री

'संचेतना' के पूर्णांक 168 में वयोवृद्ध साहित्यकार रामदरश मिश्र पर आपने उत्कृष्ट सामग्री प्रकाशित की है। डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ तथा विवेकी राय के लेखों ने जहाँ मिश्र जी के साहित्य एवं व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला वहीं स्वयं रामदरश मिश्र द्वारा अपने बारे में लिखे गए आलेख 'मैं और मेरी सर्जना' ने तो लेखक के मनोजगत को पूरी तरह उद्घाटित कर दिया है। अपनी मिट्टी की खुशबू से बसे लेखक का व्यक्तित्व इसमें बड़ी मोहक अदा में उभरा है।

एक अन्य वयोवृद्ध लेखक गुरु बचन सिंह का आत्मकथा 'यह राइटर क्या होता है?' भी बहुत अच्छा लगा। लेखक का संघर्ष और सरोकार इसमें बहुत रोचक शैली में व्यक्त हुए हैं

परमजीत सिंह
बी-98, टैगोर गार्डन एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110027

कैसे बने हिन्दी संवाद की भाषा?

इस वर्ष साहित्य अकादमी की ओर से भारतीय भाषाओं के 10 लेखकों का एक प्रतिनिधि-मंडल चीनी लेखक संघ के आमन्त्रण पर चीन गया था। चीनी लेखकों से उनका संवाद कैसा रहा, यह कहानी अलग है, यहाँ मैं भारतीय लेखकों के पारस्परिक संवाद की बात कर रहा हूँ। प्रतिनिधि-मंडल के नेता तेलुगु के भाषाविद् और साहित्य अकादमी के महत्तर सदस्य प्रो. कृष्णमूर्ति थे।

हम सभी लेखक आपस में प्रायः अंग्रेजी में ही बातचीत करते थे। मैंने देखा कि हिन्दीतर भाषी लेखकों में से अधिसंख्य की रचनाएँ हिन्दी में भी प्रकाशित हुई हैं और वे चाहते हैं कि हिन्दी के माध्यम से उनकी रचनाएँ विशाल पाठक वर्ग तक पहुंचें। अधिकतर लेखक हिन्दी में बातचीत करने में भी समर्थ थे, फिर भी वे बातचीत का माध्यम अंग्रेजी को बनाए हुए थे।

मुझे यह बहुत विचित्र लग रहा था कि विदेशी धरती पर भारतीय लेखकों का आपसी संवाद अंग्रेजी में हो। मैंने सभी से हिन्दी में बातचीत करने का प्रयास किया। बंगाली के श्री दिव्येन्दु पालित को अथवा उड़िया की सुश्री प्रतिभा राय को कोई कठिनाई नहीं थी। गुजराती के डॉ. अश्विन कुमार देसाई अथवा कन्नड़ के गिराडी गोविन्द राज भी बड़ी अच्छी हिन्दी बोल रहे थे। तमिल लेखिका सुश्री तिलकावती की कठिनाई स्वाभाविक लगती थी। वे दो-चार शब्दों से अधिक हिन्दी नहीं बोल पाती थीं। सर्वाधिक विचित्र रवैया प्रो. कृष्णमूर्ति का था। जब मैंने हिन्दी में उनसे कुछ पूछा तो अंग्रेजी में उनका उत्तर था- यदि यह बात आप अंग्रेजी में पूछेंगे तो मैं इसका उत्तर दूंगा। अथवा आप तेलुगु में मुझसे पूछिए।

फिर उनकी शिकायतों का पुलिंदा खुल गया। उनका कहना था कि हिन्दी वाले यह तो चाहते हैं कि देश की अन्य भाषाओं के लोग हिन्दी में पारंगत हों, किन्तु वे भारत की किसी अन्य भाषा को सीखने का कोई प्रयास नहीं करते। आप मुझे किसी एक व्यक्ति का नाम बताइए जिसने तेलुगु में कोई कार्य किया हो।

मैं सोचने लगा। मैं ऐसे अनेक नाम जानता हूं जिनकी मातृभाषा तेलुगु है और हिन्दी भाषा तथा साहित्य का उनका अध्ययन किसी हिन्दीभाषी से कम नहीं है। किन्तु मुझे ऐसे किसी नाम का स्मरण नहीं हुआ जिसकी मातृभाषा हिन्दी हो और उसने तेलुगु में सिद्धता प्राप्त की हो। मुझे केवल एक नाम याद आया-डॉ. रवीन्द्र नाथ सेठ, जो पंजाबी भाषी हैं, हिन्दी के प्राध्यापक हैं और तमिल भाषा में पारंगत हैं।

प्रो. कृष्णमूर्ति संस्कृत के विद्वान हैं। कालिदास के अनेक पद वे सस्वर सुनाते हैं, किन्तु हिन्दी के कट्टर विरोधी हैं। चीन की दो सप्ताह की यात्रा में हिन्दी का एक वाक्य भी उन्होंने नहीं बोला।

इस स्थिति को भावुक होकर देखना ठीक नहीं रहेगा। क्या कारण है कि इस देश में हिन्दी व्यापक रूप से संवाद की भाषा नहीं बन पा रही है? क्या कारण है कि कृष्णमूर्ति जैसे लोग हिन्दी के प्रति इतना कठोर दुराग्रह अपने मन में पाले हुए हैं? हिन्दी-विरोध का उनका मूलाधार यह है कि जब हिन्दी प्रदेश के लोग भारत की किसी अन्य भाषा को सीखने में कोई रुचि नहीं रखते हैं तो आप हमसे यह आशा क्यों करते हैं कि हम हिन्दी को अपनाएं?

> बहुत कम ऐसा होता है कि किसी भाषा (अपनी मातृभाषा ही क्यों न हो) का अध्ययन उसके प्रति प्रेम, कर्तव्य या मोह के कारण किया जाता हो। भाषा का सीधा सम्बन्ध आजीविका से होता है। जो भाषा अच्छी आजीविका प्राप्त कराने में अधिक सहायक सिद्ध होती है, व्यक्ति उसे ही पढ़ता है। आज अंग्रेजी की प्रभुता इसलिए भी बनी हुई है कि अच्छी नौकरी और स्तरीय व्यवसाय में वह बहुत सहायक है। सारे संसार में सूचना तकनीक के विकास से अंग्रेजी का महत्व और बढ़ गया है।

जब उनसे कहा गया कि हिन्दी को इस देश में 40 प्रतिशत से अधिक लोग अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार करते है, वह केन्द्र सरकार की राजभाषा हैं, उनका उत्तर था- हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, वे उसे स्वीकारें। वह हमारी मातृभाषा नहीं है। केन्द्र सरकार की राजभाषा अंग्रेजी भी है। हम उसका उपयोग क्यों न करें?

कोई व्यक्ति किसी भाषा को क्यों सीखता है? हमने मुगलों के समय फारसी सीखी थी, इसलिए कि वह उस समय की राजभाषा थी। फारसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को सरकारी नौकरी मिलने की अधिक संभावना होती थी, राज-दरबार और पढ़े-लिखे समाज में उसे आदर-सम्मान प्राप्त होता था, अंग्रेजी को भी इस देश में इसी रूप में लिया गया। अंग्रेजी राज्य के समय अच्छी नौकरी पाने के लिए उच्च स्तर की पढ़ाई करने के लिए अंग्रेजी जानना आवश्यक था, साथ ही मान-सम्मान भी जुड़ा हुआ था।

मुग़लों का राज्य समाप्त हो गया तो फारसी का प्रभुत्व भी जाता रहा। किन्तु अंग्रेजी के साथ यह नहीं हुआ। स्वतन्त्र भारत में वे सभी भाषाएँ, जिनमें साहित्य की रचना भी होती थी, अपने-अपने प्रदेशों में अपनी अस्मिता के प्रति आग्रहशील हो उठीं और शासन प्रबन्ध की भाषा भी बनने लगीं। भाषा के आधार पर देश का पुनर्गठन होने से यह स्थिति पूरी तरह मान्य हो गई।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय देश के नेताओं के सम्मुख यह प्रश्न उभरा था कि कौन-सी भाषा भावी भारत की राष्ट्रभाषा बनेगी?

अनेक राज्यों में थानों और कचहरियों का काम उर्दू में होता था। गांधी जी ने उस समय हिन्दी और उर्दू की मिली-जुली भाषा हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने का सुझाव दिया था। किन्तु उसकी अव्यावहारिकता और बनावटीपन जल्दी ही स्पष्ट हो गया। अधिसंख्य वरिष्ठ नेताओं में यह विचार उभरने लगा कि हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा होने का गौरव मिलना चाहिए। सम्पूर्ण देश में राष्ट्रभाषा समितियाँ बनने लगीं। अहिन्दीभाषी प्रदेशों में उनकी सक्रियता विशेष रूप से दृष्टव्य थी। उनकी ओर से हिन्दी की परीक्षाएँ प्रारम्भ की गईं और असंख्य विद्यार्थी, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, इन परीक्षाओं के माध्यम से हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने लगे। कुछ सीमा तक ये संस्थाएँ अभी भी सक्रिय हैं।

किन्तु संविधान का निर्माण होते समय यह प्रश्न उभर आया कि क्या किसी एक भाषा को सम्पूर्ण देश की राष्ट्रभाषा का स्थान दिया जा सकता है? उस समय आम सहमति से यह स्वीकार किया गया कि देश की सभी भाषाएँ इस देश की राष्ट्रीय भाषाएँ हैं इसलिए किसी एक भाषा के लिए इस शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। संविधान के आठवें अनुच्छेद में देश की 14 भाषाओं (आज उनकी संख्या 20 है) को राष्ट्रीय भाषाएँ माना गया। संविधान में इस देश को विभिन्न राज्यों का एक संघ स्वीकार किया गया और हिन्दी को संघ की राजभाषा (राष्ट्रभाषा नहीं) घोषित किया गया। साथ ही यह भी कहा गया कि इस संविधान के प्रारम्भ से पंद्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे पहले प्रयोग किया जा रहा था।

संविधान के एक संशोधन द्वारा संघ की राजभाषा के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग को उस समय तक बढ़ा दिया गया है, जब तक संघ के सभी राज्य उसे हटाने के लिए सहमत न हों। इस प्रकार अनिश्चित काल के लिए अंग्रेजी को अभयदान दे दिया गया है। यही कारण है कि प्रो. कृष्णा मूर्ति जैसे व्यक्ति अंग्रेजी को वरीयता देते रहते हैं।

आज देश के सभी राज्यों में उच्च स्तर तक हिन्दी का अध्यापन और अध्ययन हो रहा है। सभी राज्यों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग हैं जिनमें अहिन्दी भाषी प्राध्यापकों और विद्यार्थियों की संख्या ही अधिक होती है।

बहुत कम ऐसा होता है कि किसी भाषा (अपनी मातृभाषा ही क्यों न हो) का अध्ययन उसके प्रति प्रेम, कर्तव्य या मोह के कारण किया जाता हो। भाषा का सीधा सम्बन्ध आजीविका से होता है। जो भाषा अच्छी आजीविका प्राप्त कराने में अधिक सहायक सिद्ध होती है, व्यक्ति उसे ही पढ़ता है। आज अंग्रेजी की प्रभुता इसलिए भी बनी हुई है कि अच्छी नौकरी और स्तरीय व्यवसाय में वह बहुत सहायक है। सारे संसार में सूचना तकनीक के विकास से अंग्रेजी का महत्व और बढ़ गया है। गत वर्षों में हिन्दी का व्यावसायिक महत्व भी बढ़ा है। केन्द्र सरकार की राजभाषा होने के कारण देश भर में फैले हुए उसके कार्यालयों, बैंकों, रेलवे तथा अन्य संस्थानों में बहुत-सा काम हिन्दी में भी होने लगा है। परिणामस्वरूप हिन्दी अधिकारियों, अनुवादकों, आशुलिपिकों आदि पदों पर नियुक्तियों के अनेक अवसर हिन्दी के स्नातकों को उपलब्ध हो गए हैं।

किन्तु आज भी संभ्रान्त समाज की भाषा अंग्रेजी बनी हुई है। अंग्रेजी के साथ रोज़गार तो जुड़ा हुआ है ही, उसके साथ पढ़ा-लिखा व्यक्ति होने का प्रमाणपत्र भी नत्थी है। जो लोग हिन्दी के माध्यम से अपनी रोज़ी कमाते हैं, वे भी अंग्रेजी लिखने-बोलने में गौरव अनुभव करते हैं।

प्रश्न यह है कि प्रो. कृष्णमूर्ति जैसे लोगों की मानसिकता का आकलन किस प्रकार किया जाए? उनके भाषाविद् और विद्वान होने में मुझे कोई संदेह नहीं हैं, किन्तु उनके मन में हिन्दी विरोधी ऐसी जटिल ग्रंथि क्यों बन गई है? चीन में अनेक बार ऐसे अवसर आए जब हम सभी लेखक यह चाहते थे कि हमारी बात चीनी अधिकारी न समझ सकें। अंग्रेजी में बोलने के कारण दुभाषिए के माध्यम से वह बात उन तक पहुंच सकती थी। इसलिए हमने अनेक बार उनसे यह आग्रह किया कि इतनी बात वे हिन्दी में कर लें। किन्तु वे टस से मस नहीं हुए। हिन्दी में एक वाक्य बोलना भी उन्हें गवारा नहीं था। पेइचिंग विश्वविद्यालय में जब हमारे मित्र गिरिराज किशोर ने हिन्दी पढ़ने वाले चीनी विद्यार्थियों को हिन्दी में संबोधित करना प्रारम्भ किया तो उन्होंने उन्हें टोक दिया और अंग्रेजी में बोलने के लिए कहा।

आन्ध्र में यह हिन्दी विरोधी ग्रंथि व्यापक हो मुझे ऐसा नहीं लगता। वहाँ के विश्वविद्यालयों में उच्च स्तर पर हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन होता है। अनेक शोधार्थी वहाँ डाक्ट्रेट की डिग्री के लिए शोध-कार्य कर चुके हैं। यह कार्य निरन्तर चल रहा है।

यह सुझाव मैं इससे पहले दे चुका हूँ कि भारत सरकार को एक राष्ट्रीय भाषा आयोग का गठन करना चाहिए जिसका कार्य सभी भारतीय भाषाओं के मध्य सौहार्द का निर्माण करना हो। ऐसा आयोग यह प्रयास करे कि सभी भारतीय भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्रों में उन्नति करें तथा आपस में संवाद के लिए हिन्दी का प्रयोग करें। एक से अधिक भारतीय भाषाओं में विशेषज्ञता प्राप्त करने वाले अध्यवसायियों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष योजनाएँ बनाई जाएँ।

मुझे पेइचिंग विश्वविद्यालय की एक चीनी छात्रा का वह मासूम प्रश्न कभी नहीं भूलता जब उसने हम सभी को अंग्रेजी में बातचीत करते सुनकर पूछा था कि क्या आप लोगों में हिन्दी किसी को नहीं आती?

कन्हैयालाल नन्दन

बुझाने के लिए पागल हवाएं रोज़ आती हैं

बड़ी मुश्किल यात्रा होती है यह, कि आप आईने के सामने खड़े होकर अपने जन्म से लेकर अब तक के जीवन को एक गवाह की तरह निहारें। मेरे शायर मित्र (स्व.) अमीर क़ज़लबाश ने लिखा था "सुबह मेरे माथे पर इस क़दर लहू कैसा/ रात मेरे चेहरे पर आईना गिरा होगा।" आदमी अपने जीवन की तल्ख़ सच्चाइयों से लहूलुहान हो जाता है और फिर मुक़द्दर को कोसने लगता है और माथे का पसीना पोंछने लगता है। जब यह शेर सुना था पहली बार, तो उसकी भावाभिव्यक्ति की चमक ने आकर्षित किया था। फिर धीरे-धीरे इस शेर की गहराई मेरे सामने खुलती गयी और अब मैं जब खुद उसकी गहराई में उतरने को हूँ तो लगता है कि ज़िन्दगी फिर लहूलुहान कर देगी- 'ये सच है हम भी कल तक ज़िंदगी पर नाज़ करते थे।

मगर अब ज़िन्दगी पटरी से उतरी रेल लगती है।'

ऐसा नहीं कि पूरी उतर गयी हो और ऐसा भी नहीं कि इस यात्रा में आनन्द नहीं आया या शिकायतें ही शिकायतें हैं जिनको गिनने और उठाकर बयान करने मुश्किल आ रही है। मुश्किल सिर्फ यह है कि इनमें से किसे उठाऊँ और किसे छोड़ूँ। रंगतें हज़ार हैं, बल्कि कहूं कि रंगों का मेला है यह सफ़र, तो अतिशयोक्ति न मानी जाये। हर रंग को जीने का अवसर दिया ज़िन्दगी ने, भरपूर अवसर दिया....गुरबत का आलम क्या होता है यह भी देखा तो अमीरी किस क़दर बेहूदगी से अट्टहास करती है यह भी मुंबई में रहकर अमीर घरों में आ-जाकर देख सका। व्यवस्था किस क़दर ज़रूरी होती है जीवन में यह भी जाना तो यह भी कि सब कुछ व्यवस्थित-व्यवस्थित जीने में कितनी ऊब होती है। जीवन बिल्कुल किताब बन कर रह जाता है, एक तरह की रूल बुक। इसलिए जीवन में थोड़ी-बहुत अव्यवस्था होती है तो छोटी-मोटी चुनौतियों से जूझने का सुख भी मिलता रहता है और कारे-जहां दराज़ का काम भी चलता रहता है। इसका आनन्द एक अलग आनन्द होता है, ऐसा आनन्द कि अल्ला ताला से भी कहने का मन हो जाये कि "बाग़े-बहिश्त से मुझे हुक्मे सफ़र दिया था क्यों, कारे जहां दराज़ है अब मेरा इंतज़ार कर।" जीवन का असली आनन्द तभी मानना चाहिए जब मन यह हो कि अल्लाताला से भी कहने का हुलास पैदा हो कि हुज़ूर, अब मुझे आपकी इस कायनात में दिल लग गया है, वापस बुलाने की जल्दी न कीजिए। तो साहबान! सफ़र यह कुछ इसी ढब का रहा है जिसकी शुरुआत एक छोटे-से गांव परसदेपुर से हुई थी।

परसदेपुर उत्तर प्रदेश के जिले फतेहपुर की पश्चिमी सरहदों पर बसा हुआ एक छोटा-सा गांव, जिसे दो तरफ से एक छोटी-सी सदानीरा नदी ने घेर रखा है। वह नदी किसी पहाड़ से नहीं निकली लेकिन फिर भी सतत प्रवहमान ही दिखती है, गर्मियों में भी इतना कभी नहीं सूखी कि पानी मँझाए बिना पार उतर जायें। उत्तर की तरफ हावड़ा दिल्ली रेलवे लाइन का छोटा-सा स्टेशन करबिगवाँ, जहां भाप से चलने वाले इंजनों के लिए उसी सदानीरा पांडव नदी से पानी भरने का इंतजाम था इसलिए हर मालगाड़ी का इंजन पानी लेने के लिए उस छोटे-से स्टेशन पर जरूर खड़ा होता था। मुझे अपने बचपन में वह स्टेशन हमेशा यह एहसास कराता रहा कि बड़ी से बड़ी मालगाड़ी भी छोटे-से स्टेशन पर रुके बिना आगे नहीं बढ़ती। करबिगवाँ स्टेशन के दक्खिन के तमाम गांवों के लोग मेरे गांव के अन्दर से होकर ट्रेन पकड़ने जाते थे और रास्ता मेरे घर के सामने से होकर जाता था तो आते-जाते मेरे बाबा पंडित देवी दयाल तिवारी को सभी लोग पैंलगी करते थे। 'मैं बालक बंहियन को छोटो' उन सारे सम्पर्क-सूत्रों को अपने हितू का दर्जा देकर सम्बन्धों की संपन्नता का एहसास करता गया। और गर्व से कहता रहा कि मेरे बराबर संपन्न कौन हो सकता है जिसे इतने गांवों के लोग चाहने वाले हैं।

इन्हीं चाहने वालों के बीच मेरा बचपन कटा। पिता श्री यदुनन्दन तिवारी इलाहाबाद में नौकरी करते थे। जब मेरे जन्म की ख़बर उन्हें मिली तो मारे खुशी के उन्होंने अपनी कमाई के रुपये कमर में समेटे और ऊपर से फेंटा कसा और बैठ गये ट्रेन में। स्टेशन में उतरे तो टिकट न होने के कारण स्टेशन मास्टर के दफ्तर में दाख़िल किये गये। उन्होंने टिकट न ले पाने की अपनी मजबूरी बतायी तो किसी को यकीन न हो कि कोई खुशी में टिकट लेना कैसे भूल सकता है। उन्होंने हज़ार मिन्नतें कीं लेकिन स्टेशन का बाबूवृन्द उन्हें छकाने के आनन्द में उतर गया। बोले, फाइन भरना पड़ेगा, अंग्रेज बहादुर का राज है कोई मज़ाक नहीं है। अब पंडित यदुनन्दन तिवारी को आ गया गुस्सा, उन्होंने पूछा "बोल, कितने रुपये फाइन के हुए?" और अपनी कमर का फेंटा खोला और सारे रुपये खड़-खड़ करके मेज़ पर उड़ेल दिये। चांदी के रुपये चलते थे सो सारी मेज़ रुपयों से पट गयी। बैंक-वैंक तो होता नहीं था इस काम के लिए। जो काम था सब नक़द का था। पूरी कमाई रेल बाबू की मेज पर पड़ी थी। बोले पिताजी, "ले ले जितना तेरा फाइन बनता हो और भर दे अपने अंग्रेज बहादुर का पेटा। मजबूरी का फायदा उठाना है उठा ले और फिर बता कि अब जाऊँ कि न जाऊँ।"

इस तरह के यात्री से रेल बाबू का पाला नहीं पड़ा था। रेल बाबू ने अचकचाकर पिता जी से माफी मांगना शुरू कर दिया और एक नयी रिश्ते की डोर बननी शुरू हो गयी। पिताजी ने खुद एक बार जब यह किस्सा सुनाया तो मुझे अपने पिता के तेवर उसमें झांकते नज़र आये। उन तेवरों का कोई न कोई अंश मेरे वजूद का हिस्सा

भी बना जिसके अनेक उदाहरण जीवन में भरे पड़े हैं। एक सीमा तक विनम्रता और फिर सीमा के उस पार पहुंचते ही बिलकुल विपरीत अक्खड़पना- इस धजा के कुछ नुकसान होते हैं कुछ फायदे भी। मैंने नुकसान का कोई हिसाब लगाया नहीं और फायदा हुआ तो उसे जीवन का सहज अंग मानकर आगे बढ़ गया।

आगे बढ़ने में सबसे बड़ा सहारा मेरे लिए शिक्षा रही। गांव में प्राइमरी पाठशाला थी सो एक दिन बाबा स्कूल में दाखिले के लिए मेरी पाटी पुजाने ले गये। हेडमास्टर थे पास के औसेरी खेड़ा के पंडित जी। बोले : "जन्मदिन क्या लिखें?"

अब जन्म दिन किसी को याद हो तो बतावे न? बोले : "यही कोई पांच साल का है।" सो हिसाब लगाया गया और पांच साल पहले के साल की उसी तारीख को जिस दिन स्कूल दाखिल हुए थे मेरी जन्म तिथि तय हो गयी। उस दिन तारीख थी 2 जुलाई और सन् निकला सन् 1933 सो बन्दे की जन्मतिथि बिना किसी हीले- हवाले के 2 जुलाई 1933 मुक़र्रर कर दी गयी जो आज तक मान्य, मुक़र्रर और बरकरार है।

चूंकि उसके पहले की दो पीढ़ियों में कोई पढ़-लिख नहीं सका था सो बन्दे के स्कूल जाने को बाबा ने एक उत्सव बना दिया। घर के दोनों ओर देवस्थान थे। दक्षिण की तरफ काले देव बाबा का चबूतरा जिसमें यदाकदा हवन हुआ करता था, उत्तर की तरफ शिव जी का मंदिर। बीच में मेरा घर। बाबा ने दोनों जगह प्रसाद बँटवाया और मेरा स्कूल जाना ऐसे सेलिब्रेट हुआ जैसे दाखिला लेते ही डिग्री हासिल हो गयी हो। बाबा और पिताजी दोनों की इच्छा थी कि लड़का खूब पढ़े-लिखे।

पढ़ने-लिखने में मेरी तरफ से कोई कोर-कसर नहीं रही, अगर कुछ रही भी तो स्थितियों की रही। चार बहनें थीं, पिताजी मामूली कमाई वाले नौकरीपेशा इंसान थे। बाबा अपनी जगह-ज़मीन एक कत्ल के मुक़दमे से दूर रहने के क्रम में छोड़कर चले आये थे और परसदेपुर में आकर बस गये थे सो आटा हमेशा गीला ही रहता था। पढ़ाई में जो थोड़ा-बहुत खर्च होता था, उसकी भी गुंजाइश नहीं थी। उसे बन्दे ने वज़ीफ़ा का इम्तिहान देकर पूरा कर लिया। वज़ीफ़ा का इम्तिहान दिया तो पछता-पछताकर लेकिन नतीजा निकला तो अपनराम ज़िले में अव्वल आ गये। दो रुपये महीने वज़ीफ़ा।

उस दो रुपये के लालच में मेरा मिडिल स्कूल में दाखिला हुआ। उर्दू दीगर ज़बान चलती थी सो एक मौलवी की तरह ककहरे के साथ अलिफ़-बे की पढ़ाई भी की। उर्दू मुझे खासी रुचिकर लगती। उसकी नज़्में और ग़ज़लों की लय आकर्षित करती थी। हिन्दी और उर्दू के सम्मिलित बहाव से जो भाषा-प्रवाह बनता है, वह मेरे लिए सहज अभिव्यक्ति का माध्यम बना जिसे मेरे अध्यापकों ने बड़ी खूबसूरती से संवारा।

मुझे अध्यापक मिले भी उम्दा। उम्दा वे पढ़ाने में तो थे ही, अपने चारित्रिक गुणों में ए वन थे। विद्यार्थी को अपनी सन्तान से बढ़कर समझने वाले। एक बार मेरी पढ़ाई छूट गयी और मैं घर के हालात में आर्थिक सहारा बनने के लिए मुड़िया पढ़ाकर मुनीमी में डाल दिया गया। तीस रुपये महीने में कत्थे की दुकान पर पर्ची काटने का काम। मैं अंग्रेजी पढ़ना चाहता था लेकिन अंग्रेजी तो काफूर हो रही थी। तभी एक दुर्घटना घट गयी। मेरी दो बहनें, जिन्हें मैं अपनी माँ के साथ कानपुर लिये जा रहा था, अचानक रेल के एक इंजन के नीचे आ गयीं और देखते-देखते उन्हें मैं हमेशा के लिए खो बैठा।

उस सदमे से उबरने के क्रम में मैं नौकरी से छुट्टी लिये रहा और फिर नर्वल के भास्करानंद विद्यालय के अध्यापक पंडित प्यारेलाल त्रिपाठी के सहयोग से मैं फिर से नर्वल में जा दाख़िल हुआ। उन्होंने मेरी संगीत की दक्षता को आधार बनाकर प्रिंसिपल पंडित शिवशंकर लाल शुक्ल से मेरी फीस ही नहीं माफ़ करायी, मेरी किताबों की भी व्यवस्था स्कूल से ही करायी और मैं हाई स्कूल का विद्यार्थी हो गया। वहीं मुझे मिले डॉ. ब्रजलाल वर्मा जो मेरे क्लास टीचर भी थे और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी और फारसी तथा संस्कृत के खासे विद्वान थे। उन्होंने शब्द की लरजन, उसकी ऊष्मा और उसकी संगति की ऐसी पहचान मेरे मन में बैठा दी कि मुझे साहित्य जीवन जीने की कुंजी जैसा लगने लगा। वे हिन्दी की किसी कविता पंक्ति को समझाने को लिए उर्दू और संस्कृत के काव्यांशों के उदाहरण देते थे और इस तरह साहित्य की बारीकियों पर मेरा ध्यान केन्द्रित करते थे। लोक जीवन से संवेदना के तमाम तार झनझना देते थे। 'छापक पेड़ छिउलिया तपत वन गह्वर हो। तेहि तर ठाढ़ी हिरनिया हिरन का बिसूरइ हो।" यह सोहर मैंने पहली बार डाक्टर ब्रजलाल वर्मा के मुख से सुना था और पहली बार उस दर्द को गहराई से महसूस किया था कि एक हिरनी कैसे अपने हिरन के मारे दिये जाने पर उसे याद करने के लिए कौशल्या मां से कहती है कि जब-जब उसकी खाल से बनी डफ़ली पर तुम्हारा लाड़ला थाप देता है तो मेरा हिया काँप जाता है, माँ वह डफली मुझे दे दो। मुझे उस आवाज में मेरे हिरना की सांस बजती हुई मालूम होती है और मैं उसे बिसूर कर रह जाती हूं।

संवेदना की इन गहराइयों में उतरने का अभ्यास मेरे उन्हीं प्रारंभिक अध्यापकों ने कराया था जो शब्द की सिहरन को दिल की धड़कन के इशारों की तरह बारीकी से पढ़ना सिखा देना चाहते थे। डॉ. ब्रजलाल वर्मा अक्सर गुनगुनाया करते थे : "कोई हमराज़ तो पायें कोई हमदम तो मिले/ दिल की धड़कन के इशारात किसे पेश करें।"

यही साहित्यिक अभ्यास थे जो जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का दर्शन और 'आंसू' की रोमानियत को समझ सकने का सलीक़ा भी दे सके और यह भी कि साहित्य और कुछ नहीं, जीवन की

बारीकियों का बुना हुआ दुपट्टा है जो जिन्दगी को ज़ेवर भी बनाता है और ज़हर भी। यह आप पर निर्भर होता है कि आप उसे ज़ेवर बना लें या ज़हर।

मैं एक बार नहीं अनेक बार कह और लिख चुका हूं कि साहित्य मेरे लिए और खास तौर पर कविता, जिंदगी को बेहतर बनाने का ज़रिया है। कविता सुनना, कविता लिखना और पढ़ना मेरे लिए बेहतर मनुष्य बनने का एक ज़रिया है। जब से कविता को समझने की समझ पैदा हुई तब से मैंने कविता को जीकर अपनी जिंदगी संवारी है। भाषा की दीवारें इसमें कभी आड़े नहीं आयीं, खासकर उर्दू और हिन्दी के बीच की दीवारों को मैंने भरसक तोड़ने की कोशिश की। आज भी जब कुछ लोग प्रेम के अतिरेक में मुझे यह कहते हुए हिन्दी-उर्दू के बीच पुल बनाने का श्रेय देते हैं कि आपके बाद हिन्दी सम्पादकों में कोई ऐसा नहीं दिखता जो दोनों भाषाओं की खूबसूरती को पहचान कर उसकी बारीकियों को उभार सके तो एक धक्का-सा लगता है कि क्या सचमुच भविष्य का मंजर इतना वीराना है! लेकिन जब आज के साहित्यिक मित्रों के बीच उर्दू शब्दों की छीछालेदर सुनता हूं या पत्रकारों में उर्दू के शीन क़ाफ दुरुस्त करने के क्रम में जबलपुर को ज़बलपुर कहते सुन लेता हूं तो अपनी आत्मप्रशंसा में लगा हुआ धक्का एक तकलीफ़ में बदल जाता है। भाषाओं के प्रति मेरा उदार भाव, हो सकता है, थोड़ा-बहुत अव्यावहारिकता की हदें छुए लेकिन मेरे लिए सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, कृष्ण बिहारी 'नूर', बशीर बद्र और निदा फ़ाज़ली अथवा अहमद फ़राज़, किश्वर नाहीद और फ़हमीदा रियाज़ उतने ही प्रिय हैं जितने सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुंवर नारायण, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त अथवा दिनकर, अज्ञेय और सुमन जी लगते हैं। मैंने अपने अनेक समकालीनों के रचना खंडों को अपने जीवन का अंग बनाया है और उनसे अपनी जीवन शैली के सिद्धान्त गढ़े हैं। पंडित रमानाथ अवस्थी की पंक्तियां हैं :-

आये गये बड़े बड़े पंडित औ' ज्ञानी
कह नहीं पाये कोई मिट्टी की कहानी
कोई मिला बस्तियों में कोई बियाबान में
कोई कहीं टूट गया भूख की थकान में
टूटने का दर्द जहां समझा न जाये,
ऐसी दुनियां को किस वास्ते संवारूँ!
करने वाला और है किसी को क्यों पुकारूँ
जीवन की नाव किसी घाट क्यों उतारूँ!

मुझे ये पंक्तियां ऐकान्तिक संघर्ष का सबसे बड़ा संबल लगती हैं। एक ऐसी ऊर्जा जो असहाय-सी दिखने वाली अवस्था में भी स्वाभिमान को जागृत रखती है, इन पंक्तियों से प्रवाहित होती रहती है। डॉ. बशीर बद्र की पंक्तियां पढ़ता हूँ :

"मैं तो दरिया हूँ मुझे अपना हुनर मालूम है।
मैं जिधर से जाऊंगा वो रास्ता हो जायेगा"

तो ये पंक्तियां मुझमें मगरूरी नहीं, गहरा आत्मविश्वास जगाती हैं। अपनी अकिंचनता में भी अपनी अस्मिता को रेखांकित करने का जो हुलास बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर 'उद्धवशतक' की एक पंक्ति में दे देते हैं कि :

'जइहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की।
बूंदता बिलइहै बूंद बिबस बिचारी की।"

उसी को कृष्ण बिहारी नूर में पढ़ता हूं : "मैं एक क़तरा हूं लेकिन मेरा वजूद तो है/ हुआ करे जो समन्दर मेरी तलाश में है।" अपने एकान्त को काटने के लिए मैं कुंवरनारायण जी की कविता पुस्तक 'इन दिनों' को इन दिनों अपने साथ रखता हूं और उनके शब्दों के साथ जिंदगी की तमाम धूल झाड़कर तरोताज़ा हो जाता हूं। डॉ: धर्मवीर भारती की 'सपना अभी भी' में अपने ही नहीं, देश और दुनिया के तमाम अधूरे सपनों के साकार होने का विश्वास जीने लगता हूं। जीवन की अनेक विषम परिस्थितियों में कविता ने राह दी है। इलाहाबाद के मेरे मित्र कवि बुद्धिसेन शर्मा ने लिखा है :

"जिस तट पर प्यास बुझाने में अपमान प्यास का होता हो
उस तट पर प्यास बुझाने से प्यासा मर जाना बेहतर है।"

ये पंक्तियां पढ़कर मुझे जीवन में रीढ़ सीधी रखने का मंत्र मिल जाता है। कोलकाता के उर्दू शायर मुनव्वर राना की ग़ज़ल का एक शेर अपनी कैफ़ियत बयान करने के लिए मुझे कई बार काफ़ी लगा है। वे कहते हैं :

"मियां मैं शेर हूं शेरों की गुर्राहट नहीं जाती।
मैं लहजा नर्म भी कर लूं तो झुंझलाहट नहीं जाती।"

काव्य के ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनसे मैंने अपना मानस रचा और संवारा है और उस रचाव से जो मेरा शब्द बनकर निकला है उसकी बाक़ायदा इज्ज़त की है। अपने बोले हुए शब्द के प्रति पूरी आस्था के साथ डटा रहना मेरी कमज़ोरी भी है और मेरी शक्ति भी। यह अवगुण मेरी पैतृक संपत्ति है और उसकी रक्षा करना मैं अपना परम धर्म मानता हूं।

हुआ कुछ यूं कि मेरे पिता जी उन दिनों नौकरी-चाकरी छोड़कर गांव में ही रह रहे थे। रिश्ते के एक दूर के चाचा राधेश्याम जो साधु हो गए थे, अपने गांव में भंडारा करना चाहते थे। उन्होंने अपनी यह इच्छा पिताजी को बतायी तो पिताजी ने इसे एक मांगलिक 'सर्वजनहिताय' काम समझकर उसमें पूरी तरह सम्मिलित रहने का वचन दिया। जब भंडारे का समय आया तो गांव के चंडाल प्रकृति ब्राह्मणों ने भंडारे का बहिष्कार शुरू कर दिया। बहिष्कार का कारण यह कि साधू हैं, हर जगह का भोजन छुआछूत का विचार छोड़कर करते हैं, ऐसे व्यक्ति के भंडारे में सम्मिलित होने से ब्राह्मणत्व की साख को बट्टा लगेगा और 'उच्चता' लांछित होगी। अजीब तर्क कि साधू

अछूत है।

पिताजी पर भी ब्राह्मण मंडली ने दबाव बनाया और चाहा कि वे भी सम्मिलित होने से इंकार कर दें। पिताजी ने कहा कि मैं अपनी ज़बान से राधे को वचन दे चुका हूं। मुझसे राय लेकर उन्होंने भंडारा किया है, मैं अब कैसे इंकार कर दूं। ब्राह्मण मंडली अब ज़रा सख्त हुई और बोली : "अगर यदुनन्दन तिवारी भंडारे में सम्मिलित होंगे तो हम उनका भी जाति बहिष्कार करेंगे।" पिताजी ने खबर भिजवा दी जवाब में कि जाति बहिष्कार तो अब से ही कर लें क्योंकि मैं भंडारे में सम्मिलित होऊंगा।

वे भंडारे में सम्मिलित हुए और शान से भंडारा हुआ। मैं आयु में छोटा था लेकिन पिताजी का वचन देकर उस पर डटने का तेवर मेरे लिए प्रेरक मंत्र बना और जीवन भर बना रहा। लांछन सहकर भी अपने शब्द को जीना मैं अपने चंद बुनियादी सिद्धांतों में मानता हूं। और लांछन मैंने जीवन में कम नहीं सहे।

सबसे बड़ा लांछन तो यह कि मैं 'पूंजीपतियों का पिट्ठ' रहा। मेरा 'दुर्भाग्य' कि मैंने बम्बई विश्वविद्यालय की प्राध्यापकी छोड़ने के बाद पूंजीपति संस्थानों में ही नौकरी पायी। सौभाग्य यह कि इसके लिए मुझे कोई प्रार्थनापत्र देने नहीं जाना पड़ा। जिस नौकरी के लिए प्रार्थनापत्र देते घूम रहा था वह थी किसी इंटरमीडिएट कॉलेज में ड्राइंग मास्टर की नौकरी। जिन दिनों मैं इंटरमीडिएट कर रहा था तभी मेरे अग्रज और आत्मीय जो बाद में मेरे सगे संबंधी बने, श्री रामावतार चेतन, उनकी प्रेरणा से मैंने सर जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स बम्बई की इंटरमीडिएट ग्रेड ड्राइंग परीक्षा पास की। उसका उत्तर भारत में केन्द्र था ग्वालियर में जहां मैंने पहली बार ग्वालियर का राजमहल भी देखा। परीक्षा देने गया तो ग्वालियर का किला और फिर महल देखने की इच्छा हुई। महल में गया तो सब लोग जिधर जा रहे थे उधर से अलग वह खंड भी देखने की इच्छा हुई जिधर कोई नहीं जा रहा था। जब मैं उधर जाने लगा तो किसी अन्य दर्शक ने रोका कि उधर नहीं जाने देंगे, उधर शाही निवास है। मैंने कहा : "जब कोई रोकेगा तो देखा जायेगा, लौट आऊंगा। जाने नहीं देगा तो आने तो देगा।" और मैं अंदर तक अटपटे अंदाज़ में महल को देखता अन्दर तक चला गया। काफी दूर अंदर जाकर एक पहरेदार ने झिड़का : 'ए, कहां जाता है तुम।"

मैंने कहा : "मैं महल देख रहा हूं बाहर से आया हूं।"

उसने कहा : "बाहर से आया हूं तो अंदर कहां जा रहा है बाहर जाओ।"

मैंने उसी बेडर टोन में कहा : "तो अकड़ क्यों रहा है, जा रहा हूं।" और मैंने वापस बाहर जाने का रास्ता पकड़ा और बाहर आ गया। लेकिन इसी क्रम में आधे से ज्यादा महल का अंतर टटोल आया।

उसका परीक्षाफल आया तो मैं पास हो गया था। उस समय यू. पी. बोर्ड में सर जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से 'पास' को इंटर कॉलेज में ड्राइंग पढ़ाने का हक़दार माना जाता था। अपनराम ने उसका फायदा उठाना चाहा और बी.ए. करते-करते थोड़ी आमदनी का ज़रिया बना लेना चाहा। नौकरी मिली लेकिन गंगा पार उन्नाव ज़िले के गांव रुझेई में। वहां कुछ ऐसा संयोग बना कि इंटरव्यू पहले हो लिया और उसमें प्रिंसिपल साहब की रुचि दिखी तो उन्होंने कहा कि आप प्रार्थनापत्र दे दीजिए। मैंने सुबह वहीं उठकर प्रार्थनापत्र लिख दिया। लिखा अंग्रेजी में और पहुंचवा दिया। जो परिचित प्रार्थनापत्र देने गये उनसे प्रिंसिपल साहब ने पूछा कि यह प्रार्थनापत्र लिखा किसने है। चूंकि उन्होंने खुद देखा था मुझे लिखते हुए, सो बोले लिखा तो उन्होंने ही है, लेकिन नींद में से जागे थे इसलिए हो सकता है कुछ चूक हो गयी हो।

मेरे परिचित सज्जन तो जैसे आसमान से ज़मीन में गिरे। प्रिंसिपल साहब ने कहा : "चूक नहीं, बड़ी अच्छी अंग्रेजी में लिखी है।" वे लौटे तो गद्‌गद भाव से। नौकरी की स्वीकृति साथ लेकर।

वह नौकरी मैंने साल भर की और फिर मैं एम.ए. करने इलाहाबाद चला गया। इलाहाबाद गया तो यह पता नहीं था कि रहूंगा कहां, फीस कैसे भरूंगा और खाऊंगा क्या। लेकिन अपन ने एक कहावत गांव में सुन रखी थी कि जिसने मुंह चीरा है, वह खाने को भी कुछ न कुछ कहीं से लायेगा। यह अजब किस्म का विश्वास लेकर मैं इलाहाबाद गया था और वहां प्रकाशकों के भरोसे शान से दो साल गुज़ारे। सुबह यूनिवर्सिटी जाता था, दोपहर को प्रकाशकों के चक्कर लगाता था, पुस्तकों के कवर डिज़ाइन बनाने का काम ढूंढ़ता था और रात में उसे पूरा करके सुबह देर तक सोता था। इतनी देर तक कि कई बार नाश्ता किये बिना ही क्लास में जाने की मजबूरी होती थी। वह सुबह देर तक सोने की आदत आज तक नहीं छूटी।

अगली नौकरी जाकर लगी महाराष्ट्र में। चेतन जी उन दिनों बम्बई रह रहे थे। उन्होंने वहां एल्फिंस्टन कॉलेज के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. इंदु प्रकाश पांडेय की सलाह से मुझे सरकारी कॉलेजों में आवेदन भेजने को कहा। मैंने बेमन प्रार्थनापत्र भेजा क्योंकि पूना में शिक्षा निदेशक के नाम भेजना था एक प्रार्थनापत्र। भेज दिया और भेजकर निश्चित हो गया कि होना-जाना तो कुछ है नहीं। सो हिन्दी भवन, इलाहाबाद की पुस्तकों की प्रचार-मुहिम हाथ में लेकर पश्चिमी यू. पी. के कॉलेजों में भटकता रहा। जब लौटकर इलाहाबाद पहुंचा तो देखा कि इंटरव्यू-लेटर आया है। और 'कल' पूना में इंटरव्यू है। कल...यानी कि तत्काल गाड़ी पकडूं तो भी कल तक बम्बई ही पहुंचूंगा, फिर वहां से पूना जाना...मतलब कि नौकरी की उम्मीद गयी।

उम्मीद गयी थी, मगर गाड़ी मेरी नहीं गयी थी। मैंने फौरन टिकट के पैसों का इंतजाम किया और हावड़ा मेल पकड़ बम्बई के लिए

रवाना हो गया। इंटरव्यू के दिन बम्बई पहुंचा, उससे अगले दिन पूना भी गया लेकिन चिड़िया खेत चुग गयी थी।

मैं निदेशक महोदय से मिलने की ज़िद में दिन भर पूना में रहा, उनसे कुछ कहता उसके पहले ही उन्होंने बता दिया कि वे अज्ञेय जी के भाई हैं, अब ज़रूर कुछ नहीं कर सकते लेकिन शाम को खाना खिलाने अपने घर ले गये।

खैर अगले साल मैंने फिर प्रार्थनापत्र दिया और एक साल किसी तरह फुटकर काम करके बम्बई में गुज़ार दिया। नौकरी मिली और शानदार मिली। मुझे मेरे मन की नियुक्ति दी गयी। जिस कॉलेज में मुझे प्राध्यापकी मिली उसमें प्रिंसिपल थे मराठी के मशहूर कवि पु. शि. रेगे जो मराठी में मर्ढेकर के बाद नयी कविता के पुरोधा माने जाते थे। दो साल मैंने उनके साथ काम किया। उन्हीं के साथ काम करते मेरी शादी हुई। उन्होंने शादी के बाद खाने पर आमंत्रित किया और जो भेंट दी वह अद्भुत थी। उन्होंने अपने बगीचे से रातरानी, एक्ज़ोरा और पारिजात के पौदे दिये। वही मेरे लिए शादी की सौगात थी। वैसी सुगन्धभरी सुन्दर सौग़ात जीवन में दोबारा किसी ने नहीं दी। रातरानी और पारिजात की सुगन्ध से मैं आज भी अभिभूत हो उठता हूं।

एक दिन रेगे साहब ने बड़ी गंभीरतापूर्वक मुझे राय दी कि मैं सरकारी कॉलेजों के बजाय यूनिवर्सिटी के स्थानीय कॉलेजों में शिफ्ट हो जाऊँ। कारण यह कि मैं गैर मराठी अध्यापक मराठा राजनीति में पिस कर पूरे प्रदेश में ट्रांसफर ही भोगता रहूंगा, मेरा लिखना-पढ़ना सब स्वाहा हो जायेगा। और इस तरह मैं शींव के एस आई ई एस कॉलेज में हिन्दी विभाग में आ गया। वहाँ पर मेरे प्रिंसिपल थे प्रोफेसर ए बी शाह और वाइस प्रिंसिपल थे प्रोफेसर राम जोशी जो बाद में बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर बने। साल भर बाद में विले पार्ले के मीठीबाई कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष बनकर चला गया और उसी के छह महीने बाद डॉ. धर्मवीर भारती ने मुझे 'धर्मयुग' में बुला लिया।

'धर्मयुग' में मेरा साल मुश्किल से बीता कि भारती जी को मेरा सुकून खलने लगा। उन्हें अपने मातहतों को अग्नि की लपटों में रखने का हुनर हासिल था। संपादकीय संप्रभुता की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध टाइम्स का प्रबन्धन इसमें भारती जी का पक्ष लेने के लिए मजबूर था और इस तरह उन्होंने पंडित सत्यकाम विद्यालंकार के ज़माने से अपने भरती किये गये आदमियों तक करीब अठारह आदमी निकाल दिये थे। धर्मयुग में भारती जी की तूती के आगे किसी की पिपिहरी भी नहीं बज सकती थी। धर्मयुग का संपादकीय स्तर सुधारने में भारती जी का योगदान बेजोड़ था लेकिन वहां सौहार्द का माहौल नष्ट करने में उनका योगदान ऐतिहासिक था। अनेक भावी के होनहार बड़े बेआबरू होकर निकाल फेंके गेये। मैं भी भारती जी की अपेक्षाओं के मुताबिक खरा न उतरा और अंत में उनके बम की आखिरी चोट नम्बर दो होने के नाते मुझ पर आकर दम लेती थी। मुझे उनके साथ ग्यारह साल काम करना पड़ा। लम्बी दास्तान है वह जीवन की, जिसे फिर कभी बयान करूंगा। लेकिन उस दरमियान मुझे अनेक दोस्त मिले जो तब जुड़े तो जीवन भर जुड़े ही रहे। रवीन्द्र कालिया उनमें से एक हैं और मुझे उनकी मेरे साथ दोस्ती-निर्वहन पर आज भी गर्व होता है। खासकर उनके सामने रखा गया भारती जी का सहायक संपादक बनाने का प्रस्ताव और बदले में कालिया द्वारा अपने प्रभाव का उपयोग कर विभाग से मेरे खिलाफ सहयोगियों का एक शिकायती पत्र बनवाने का प्रस्ताव सिरे से ठुकरा देना। कालिया का उस प्रस्ताव को ठुकराने के लिए साहस जुटाने के लिए शराब पीकर भारती जी के घर जाना उनकी कथाकृतियों 'काला रजिस्टर' और 'मोनालिसा की मुस्कान' में दर्ज है।

बहरहाल वह ऐसा इतिहास है जो मेरी पत्रकारिता की पाठशाला भी है और मेरे टाइम्स में जीवित बने रहने का एक अजूबा भी। मगर जैसा मैंने कहा कि मुझे उसी दौरान अनेक घने मित्र मिले जो मेरे तूफ़ानी दिनों का लंगर भी साबित होते रहे। उनमें कुछ तो भारती जी के ही घने मित्र थे। स्वर्गीय ठाकुर प्रसाद झुनझुनवाला और उनकी विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती शीला झुनझुनवाला उनमें मुख्य थे। उस घर में मुझे अपार प्रेम मिला जो आज तक मिलता चला जा रहा है। आज भी मेरे घर का कोई मांगलिक कर्म, पूजा-अनुष्ठान शीला जी की शिरकत के बिना पूरा नहीं होता। प्रसिद्ध संगीतकार सुरिन्दर सिंह हैं जो मेरे एकान्त के क्षणों के लिए 'एक अकेला काफी' हैं। रवीन्द्र कालिया मेरे लिए आज भी अनुजवत् प्यारे हैं। डॉ महीप सिंह आज तक घने विश्वास के हकदार बने हुए हैं। कमलेश्वर जी को अब भी मैं उसी विश्वास और आत्मीयता के साथ अपने नज़दीक पाता हूं जिसे उन्होंने बम्बई में मुझे दिया था। टाइम्स संस्थान के तत्कालीन महाप्रबन्धक डॉ. राम तरनेजा के प्रबन्ध कौशल और प्रशासनिक दक्षता ने एक दिन मुझे संपादक बनाकर दिल्ली भेज दिया और मैं बिना किसी सूचना के संपादक बनाकर भेज दिया गया। सुनने में बात अविश्वसनीय लगती है लेकिन सच है कि मुझे मेरी पदोन्नति क़ी भनक तक न दी गयी और एक झटके में बम्बई छोड़कर दिल्ली जाने का मार्चिंग आर्डर दे दिया गया।

दिल्ली में मेरे जीवन का बंद ढक्कन जो खुला तो फिर पलटकर देखने के दिन नहीं आये। मेरे संपर्कों का दायरा एकदम विस्तार पा गया। राजनीति, साहित्य, पत्रकारिता, समाजसेवा, शिक्षा, मीडिया... बहरहाल हर कहीं अपनी झंडी का रंग दिखाई देता था। और यही मेरे लिए ईर्ष्या और लांछनों का कारण बनता गया। लेकिन विश्वास मानिए, बन्दे ने अपने अन्दर झांककर देखने के अलावा किसी भकुए का कथन कान नहीं दिया। मैं 'पराग' से 'सारिका', 'सारिका' से

'दिनमान' और 'दिनमान' से 'नवभारत टाइम्स' तक का सफ़र तय करने के बाद इस नतीजे पर पहुंचा कि मुझे जिनका आशीष मिलता तो मैं मालामाल अनुभव करता, वे इतने कमज़र्फ थे कि उन्होंने अपने अल्फ़ाज़ मेरा क़द छोटा करने में ही सर्फ़ किये। दुष्यन्त की पंक्तियां रह-रहकर याद आया करती थीं। 'एक कण्ठ विषपायी' में शंकर सती का शव ढोते-ढोते आखिर कह उठते हैं :-

आदर्शों का परिधान ओढ़
मैंने क्या पाया जीवन में? प्रेयसि वियोग!
हर परम्परा के ढोने का विष मुझे मिला
हर सूत्रपात का श्रेय ले गये 'और लोग'।
मैं ऊब चुका हूं इस महिमामंडित छल से
अब मुझको अपना जीवन सत्य पकड़ना है
जिन आदर्शों ने मुझे छला है कई बार
उन आदर्शों से ही मुझको लड़ना है।

मेरी यह लड़ाई मेरे उन्हीं अपनों से रही जो मुझे परोक्ष में लांछित करके मेरे लिए खाई खोदते रहे और सामने मुझसे मेरे संपर्कों का लाभ लेने का बानक बनाते रहे।

इस सबके बावजूद मेरे आत्मीयों की परिधि छोटी नहीं थी जिसमें जोड़ने वाला सूत्र केवल 'मनुष्यता' थी। देखने काबिल दृश्य था जब मेरी बड़ी बेटी का तिलक करने जाने वालों में श्री रमेश चंद्र जी जैन थे, पंडित रमानाथ अवस्थी थे, सरदार सुरिन्दर सिंह और डॉ. महीप सिंह थे, डाक्टर कैलाश वाजपेयी थे, मैं उस जमात में सबसे पीछे था। आज भी जब मेरे दोनों दामाद इन मित्रों-अग्रजों के पैर को हाथ लगाकर आशीर्वाद लेते हैं तो मैं गर्व से फूला नहीं समाता कि जात-पाँत और धर्म की जिन बेमानी दीवारों को मैंने अपने जीवन में कोई स्थान नहीं दिया, उन्हें मेरे दोनों बेटों ने भी ज्यों का त्यों अपने जीवन में उतारा। श्री भागवत झा आज़ाद और पंडित शिवसागर मिश्र बारात की आगवानी करने वालों में थे। ताराचंद खंडेलवाल अपने घर की एक शादी को भुलाकर सारा इंतजाम देख रहे थे, प्रबन्धकर्ता थे। घरेलू हेतू व्यवहारी के रूप में सुशील अंसल और उनकी सुप्रसिद्ध लेखिका पत्नी कुसुम अंसल थीं, लक्ष्मी निवास झुनझुनवाला, अशोक जैन, डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी और भौजाई कमला सिंघवी, श्री रामनिवास जाजू जैसे आत्मीय थे जो आज भी वही आत्मीय गौरव देते हैं। अनुज के रूप में आलोक मेहता मिले हुए थे। मेरी पत्नी को सगी बहन से ज्यादा मानने वाले कुलदीप तलवार और विजय क्रांति थे... सम्बन्धों की एक लहलहाती हुई शस्य श्यामला फसल थी जो मुझे दिल्ली में मिली और जिन्हें पाकर मैं धन्यता का अनुभव करता हूं। इन आत्मीयों ने मुझे कभी भी विपन्न नहीं महसूस होने दिया।

सत्ता का प्यार भी मुझे कम नहीं मिला था। यह मेरा सौभाग्य रहा कि श्रीमती इंदिरा गांधी के ज़माने से लेकर उनके पुत्र राजीव गांधी, श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह, चंद्रशेखर, पी वी नरसिंह राव, इंदर कुमार गुजराल, अटल बिहारी वाजपेयी तक सभी प्रधानमंत्रियों के सान्निध्य से मैं मंडित रहा लेकिन इस सान्निध्य का अनधिकृत लाभ मेरे हिस्से न कभी आया और न कभी उसके लिए मेरा मन हुआ कि अपनी रीढ़ को झुकाकर कुछ हासिल करूं। पद्मश्री अलंकरण मिला तो तब जब राजग की सरकार थी जिसका मैं बहुत प्रशंसक नहीं रहा, यहां तक कि कुछ 'महापुरुषों' ने प्रधानमंत्री को मेरे विरुद्ध भड़का भी दिया था। नेहरू फेलोशिप मिली तब जब मैं किसी अखबार का संपादक क्या किसी को 'ओबलाइज़' कर सकने का भ्रम भी नहीं दे सकता था। 'परिवार' पुरस्कार तब मिला जब मैं प्रिंट मीडिया से अलग इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में 'इन चैनल' का डायरेक्टर बन गया था। पत्रकारिता का सर सैयद पुरस्कार तब मिला जब मैं वहां से भी मुक्त होकर पुनः दिल्ली आ गया। व्यवस्था को भी आंख मूंद कर मैं कभी नहीं भाया। श्रीमती इंदिरा गांधी के समय श्री श्रीकांत वर्मा ने जब लेखक संगठन बनाया तो एक मीटिंग में मुझे बुलाया गया। उसमें मैंने एक तिर्यक बयान दे दिया तो फिर मैं दोबारा उस मीटिंग के काबिल नहीं समझा गया। राजनीतिक संपर्क सूत्रों का लाभ इमर्जेंसी के वक्त कुछ निर्दोष लोगों के वारंट कटवाने में ज़रूर किया, कुछ के तबादले रुकवाये। लेकिन उन्हीं लोगों ने मेरे लिए हलफ़िया बयान दिये कि वे निजी अनुभवों के आधार पर कह सकते हैं कि इमर्जेंसी के दिनों में मेरे 'व्यवस्था' से सम्पर्क घनेरे थे। मैंने ऐसे अनेक लांछन सुने और सहे। ऐसे ही लांछनों का एक पत्थर एक दिन उस पूंजीपति संस्थान की तरफ़ से भी आया जिसका मैं बड़ा पिट्ठू बताया जाता था। चूंकि न व्यवस्था का पिट्ठू होना मंजूर रहा और न पूंजीपति का, सो दोनों की ओर से किनाराकशी हुई और मैं टाइम्स संस्थान से निकलकर दूजे पूंजीपति श्री संजय डालमिया के अखबार 'संडे मेल' में आ गया और अपनी कीमत पर ही गया। 'संडे मेल' हिन्दी का सर्वाधिक लोकप्रिय रविवारीय अखबार बना, यह मेरा सौभाग्य रहा। 'पराग' से लेकर 'संडे मेल' तक मैंने हर क्षेत्र की प्रख्यात हस्तियों से साक्षात्कार किया। संसार भर की सैर की। अपने देश के प्रधानमंत्रियों और विदेशमंत्रियों के साथ घूमा, विदेशी सरकारों के आमंत्रण पर बाहर गया, मौका पाकर हर विभूति से बातचीत की, फिदेल कास्त्रो से क्यूबा में मिले तो मिसेज़ मार्ग्रेट थैचर से नयी दिल्ली के प्रगति मैदान में। अपने देश के हर प्रधानमंत्री के साथ लम्बे-लम्बे साक्षात्कार किये, दुनिया देखी और अपने पाठकों को दिखाई। आज भी इस शौक से उबर नहीं पाया। अपनी कमाई का अधिकांश हवाई जहाजों के किराये में दिया और पर्यटन और भ्रमण का सुख उठाया।...और जब संडे मेल बंद हुआ तो एक बार फिर किंकर्तव्यविमूढ़ होने की स्थिति में पहुंचता कि उसके पहले ही दुनिया के सबसे धनी माने जाने वाले लोगों में

से हिन्दुजा समूह के चैनल में मीडिया डायरेक्टर बनकर चला गया। ईर्ष्या की स्याही के धब्बे अभी मेरे दामन पर पड़ने बंद नहीं हुए, कम भले हो गये हैं। कुछ तो इसलिए भी कम हो गये हैं कि स्याही फेंकने वाले भी मान बैठे हैं कि यह लाइलाज मरीज़ है, अपनी मौत मरने दो। लेकिन यह मरीज़ अपनी चाहत के दियों के साथ ज्यों का त्यों जिंदा है :-

'अभी रोशन हैं चाहत के दिये सपनों की आंखों में
बुझाने के लिए पागल हवाएं रोज़ आती हैं।'

ये पागल हवाएं अब सेहत की जानिब से भी हमला करने लगी हैं। पता यों चला कि एक दिन ब्लड प्रेशर नाप लिया गया। पता चला कि जिस रक्तचाप का आदी धर्मयुग के ज़माने से हो गया था, उसने दिल को तो बचा लिया लेकिन किडनी पर हमला कर बैठा। करीब अठहत्तर प्रतिशत गुर्दे ढेर हो चुके हैं। मैंने हिन्दुजा अस्पताल के फ़िज़ीशियन डॉ. एफ.डी. एस्तूर की मदद से वहां के गुर्दा विभाग के हेड डॉ. भरत शाह से सीधा सवाल किया कि डॉक्टर साहब, अगर इसी रफ्तार से मैं चलता रहा तो मुझे कितना सुरक्षित वक्त आप दे सकेंगे। उन्होंने डॉक्टर के नाते सवाल का जवाब देना ग़ैर वाजिब माना लेकिन इसरार करने पर दोस्त के नाते बता दिया कि अठारह महीने के बाद ज़रा जिंदगी को डावाँडोल मानना चाहिए। डॉक्टर दस्तूर अठारह महीने की बात सुनकर घबरा गये। मैं उनकी घबराहट देखकर घबरा गया। मैंने डॉक्टर दस्तूर से कहा कि डॉक्टर साहब, एक नियम होता है ऐकिक नियम, जिसमें हिसाब लगाया जाता है एक इकाई के आधार पर। सो आप हिसाब लगाइए कि एक आदमी को अपनी दोनों किडनियां अठहत्तर प्रतिशत खराब करने में सत्तर साल लगे तो बाकी बाईस प्रतिशत खराब करने में उसे कितने साल लगेंगे?

सवाल सुनना था कि डॉ. भरत शाह सहित हम सब ठहाका लगाकर हँस पड़े। डॉ. शाह बोले : डॉक्टर नंदन, आई ऐप्रीशिएट योर सेंस आफ ह्यूमर ऐंड विलपावर, कीप इट अप।

अब मैं उन्हें कैसे बताऊं कि उनके दिये अठारह महीने कई बार गुज़र कर चले गये और हम हैं कि अभी चले ही जा रहे हैं। पिछले दिनों दिल्ली के डॉक्टरों ने एक ऑपरेशन जरूरी माना तो मैंने उनके हुजूर में अपने को हाज़िर कर दिया। सर्जन साहब तीन घंटे लगे रहे, एक धमनी काटकर किसी शिरा में जोड़ी जानी थी। शिरा ने जुड़ने से इंकार कर दिया, ऑपरेशन फेल घोषित हो गया। सर्जन साहब अफसोस में। मैंने कहा : डॉक्टर, मस्त हो जाओ, अपन को अभी जल्दी कुछ नहीं होने का।

"मेरे अजदाद ने रौंदे हैं समन्दर सारे
मुझसे तूफान में लंगर नहीं फेंका जाता।"

132, कैलाश हिल्स, नई दिल्ली-110065

नासिरा शर्मा

बेचैन रूह का परिंदा

मैं आपको एक ऐसे आदमी की कहानी सुनाती हूं जो कभी छोटा लड़का था, महत्वाकांक्षी, विद्रोही और संघर्षशील...नंगे पैरों से चलते हुए जमीन की वह जगह तलाश करता जहां झुलसे पैर फफोलों में न बदलें...कक्षा-कक्षा किसी एक ऐसे शख्स की तलाश में भटकता हुआ जो उसकी फीस दे सके...खेल में मैदान में फुटबाल खेलते हुए बेंत जैसे बदन की फुर्ती को लहराता हुआ जी जान की बाजी लगा अपने दल को जिताने वाला...एकाएक जिंदगी की उस पटरी पर ठिठक जाता है जहां से मुसाफिरों भरी रेल गुजरती है और उसकी दो छोटी बहनों को, जो परिवार के संग किसी दावत में जाने के लिए पटरी पार कर रही थीं, उसी की नजरों के सामने, कुचलती निकल जाती है...वह घर का बड़ा लड़का है, उस पर कर्तव्यों का बोझ है...उसके पास आंसू बहाने और भावना में डूबने-उतराने का समय नहीं है बल्कि उसे तो इन दो बहनों का क्रियाकर्म करना है। मां-बाप और बाकी के भाई-बहनों को संभालना है। जब चिता के बुझते शोलों के साथ सब कुछ खत्म हो जाता है तब रात की सियाही में थके शरीर में ठहरा नन्हा-सा दिल गहरे संताप से भर उठता है कि उसकी दोनों बहनों को मौत उससे छीन ले गयी और तब शुरू होती है असहनीय पीड़ा...! दुःख की यात्रा को वह अकेला पार करता है। गर्म आंसुओं से तर उसके चेहरे को कोई नहीं देख पाता, न समझ पाता है मौत के रहस्य को जानने की उसकी आक्रोश भरी जिज्ञासा की तिलमिलाहट को!

अपने गांव-परिवार के परिवेश से बिलोकर अपने को निकालने की प्रक्रिया में वह लड़का बराबर अकेला पड़ता चला जाता है, उसे बाप का पेशा मंजूर नहीं, खो गये खेत और खलिहान का सियापा स्वीकार नहीं, बेचारगी से उसे सख्त नफरत है, आखिर वह जाये तो कहां जाये? हरदम मथती बेचैनी कार्ल मार्क्स के उस शोषित मजदूर के समकक्ष खड़ा कर देती जो अपने वर्ग के शोषण के विरोध में सारा निजाम बदल देना चाहता है। पढ़ने की इच्छा है तो पुस्तक नहीं, भूख है तो रोटी नहीं। ब्राह्मण संस्कार के कसे तानों-बानों के बीच जब वह आराधना करता तो निष्ठा में समर्पण उसका सबसे बड़ा सुख होता और यही निष्ठा उस बेचैनी का वाहन बन उसे उस दुनिया की तरफ ले गयी जहां उसे हर कदम पर नयी जमीन खोदनी थी। हर रुकावट को हटाना था। गीत उसके पास थे जो उसकी आत्मा के शब्द थे!

गांव का वह गीतकार जवान अपना संसार खोजता बंबई शहर पहुंच गया जहां की चमकदार दुनिया में उसके शुरू के दिन फीके और बदसूरत थे। तन्हा और बेगाने थे। चाय और पावरोटी खाकर,

लोकल ट्रेनों में सवार होता, एक दिन वह कॉलेज में अध्यापक बन गया। जिंदगी एक पड़ाव पर ठहरी। संघर्ष का नतीजा हाथ लगा, मगर जिम्मेदारियों से फुरसत नहीं, गांव से नाता टूटा नहीं। बहनों के विवाह के कर्तव्य एवं अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं से गुजरता वह जवान जिंदगी में दाखिल हो चुका था। रोटी, कपड़े, मकान की व्यक्तिगत समस्या से उबर चुका था। उसके पास उसकी प्रेयसी के रूप में पत्नी और दो प्यारी लड़कियां थीं। प्रेम और वात्सल्य के अनुभव ने उसकी जिंदगी में सुख के रूप में प्रवेश पा लिया था। अब उसे फुरसत मिली थी वह समाज के दुःख को समझे, दूसरों के लिए कुछ अंजाम दे और गीत से लेख, कहानी और कविता की तरफ बढ़े। दूसरों के लिए कुछ करने की छटपटाती बेचैनी उसे कई बार गैरजरूरी उलझाव का आमंत्रण दे बैठती। सच बोलने का उतावलापन, एहसास के इजहार की बेकरारी, दूसरों के सच को अपना सच मानना, दूसरे के रणक्षेत्र में पहुंच जाना, उसे मित्रों से भरी एक ऐसी दुनिया में ले गया, जहां वह संयुक्त परिवार के सदस्य की तरह सुरक्षित था।

बंबई से दिल्ली आना हुआ। शहर-शहर भटकते हुए वह विदेश यात्रा पर निकल जाता। तरक्की के साथ उसके अध्ययन का शौक भी बढ़ रहा था। अपनी पसंद की किताबों से उसका स्टडीरूम भरने लगा। यह तो सभी को पता है जिंदगी में कुछ भी स्थायी नहीं होता है। उसको भी महसूस हुआ कि जीवन इतना आसान और मंजिल इतनी करीब नहीं है जो जीती बाजी की तरह हासिल कर ली जाये। यहां तो हर खुशी भ्रम है और हर रिश्ता छलावा है। कदम-कदम पर संघर्ष है। कशमकश की आकाशगंगा ने बोगनवेलिया के सारे लाल फूलों को झारना शुरू कर दिया। उसे रेत की वीरानी का एहसास जागा जिसमें ऊंट मीलों तक तन्हा सफर बिना किसी प्रतिवाद के बड़ी खामोशी से तय करता है। तब उसने जाना कि अंगारे को अपना ताप स्वयं सहन करना पड़ता है। किसी के कहने पर तीर चलाने से कहीं बेहतर है अपना निशाना साधना। व्यक्तिगत अनुभवों का बढ़ता दायरा, संघर्ष का न समाप्त होने वाला सिलसिला, बढ़ती सामाजिक चेतना, इंसानी स्वभाव का पर्त दर पर्त भेद पाना, भ्रमों का टूटना, सपनों का गुम हो जाना। वह जवान अब उम्र के बहाव के बीचोंबीच खड़ा हो अपनी उम्र की अधेड़ अवस्था में समय के बदलते तेवर को समझने लगा था। उसके खिलंदरेपन के पीछे छुपे भय में एक गंभीर ठहरी दार्शनिकता ने अपने कदम जमाने शुरू कर दिये थे। उसने सूरज का रहस्य जान लियां था कि वह अपनी उष्णता से दूसरों का जीवन बचाये रखता है। उसकी लेखनी के तेवर बदल चुके थे। उसे खुद इस बात का एहसास था कि उसकी चेतना को यह क्या हो गया? कहानी का यह हिस्सा यहीं खत्म होता है।

संबंधों की सत्यता को जान लेने की जोखिम भरी मानवीय व्याख्या का उनका अपना दृष्टिकोण है जो अक्सर उन लोगों की समझ से परे है जो आंतरिक टूटन को व्यक्त कर व्यक्तिगत संबंध तोड़ लेते हैं मगर नंदन संबंध के मर जाने के बाद भी ऊपरी तौर पर, वेताल की तरह शव कंधे पर डाले उस मुर्दा संबंध को पूरी गरिमा के साथ जीने का भ्रम बनाये रखते हैं। सबके साथ बने रहने की यह जिजीविषा, कुछ न तोड़ पाने की विडंबना उनको बड़ी आसानी से सलीब पर टांग देती है कि नंदन को दाना और नादान का फर्क पता नहीं है। दोस्त और दुश्मन की पहचान नहीं। दूध और पानी को पृथक करने की उन्हें फुरसत नहीं। पेबंद दर पेबंद लगा पुराने को जिंदा बनाये रखने का यह अनुरोध, ठेठ भारतीय मिज़ाज है जिसकी कीमत उन्हें अक्सर इस रूप में अदा करनी पड़ती है कि जिन मुद्दों पर उन्हें आसपास वालों का समर्थन चाहिए वहां वे चुप रह जाते हैं क्योंकि उन्हें अपनी मुखरता में लिपटा एक प्रश्न खड़ा नज़र आता है कि क्या नंदन को उनकी जरूरत है? नंदन का वास्तव में अपना पक्ष और विपक्ष क्या है? नंदन के पास जिंदगी का एक बड़ा कैनवास है जिसमें हालात ने उन्हें भीषण रूप से स्वावलंबी और आत्मनिर्भर बना दिया है। कभी-कभी आत्मकेन्द्रित भी जिसके कारण उनकी दोस्ती, दुश्मनी, प्रोफेशनल एटिट्यूड, दूसरों से प्राप्त फीड-बैक, एक ऐसी मजबूत अंतर्धारा का निर्माण करते हैं जो उनको अपना एक व्यक्तिगत समीकरण बनाने में सहायक बनने के साथ उन्हें जीने के लिए दिशा और निर्देशन देते हैं; इस सत्य के बावजूद कि रोज उसमें कुछ टूटता-बिखरता है जिसको उन्हें जोड़ना, संभालना और चलायमान रखना है।

नंदन को, 'शहादत' के प्रति कोई अनुराग नहीं है। वह दुःखों का राजा बेटा बन मुसीबतों की फसल काटने में विश्वास रखते हैं और कभी-कभी उसे नियति समझ सहज रूप से स्वीकार भी कर लेते हैं। यही उनकी ऊर्जा भी है और विश्वास की ज़मीन भी, इसलिए जब-जब मुसीबतों के पहाड़ टूटे तब-तब वे संयत हो उस समय का इंतजार करते हैं जो उनके धैर्य की परीक्षा ले रहा होता है। उनका कष्टमय अतीत उनकी शक्ति है जिसको वह अक्सर याद करते हुए बहुत संवेदनशील हो उठते हैं और उस समय उनके अंदर से असली नंदन आपके सामने निकल कर आता है जो भावुक है, सच्चा और ईमानदार है, संचेतन एवं संघर्षशील है, जो इस दुनिया की तिकड़म समझ, दूध का दूध, पानी का पानी की असलियत जानता है। वह यह भी जानता है कि शिलालेख पर लिखी पंक्तियां बांचना और इंसान को पढ़ना दो बिल्कुल अलग अनुभव हैं। शताब्दियों के गलियारों से गुजरते हुए इंसान ने दूसरे इंसान से कुछ नहीं सीखा। घोड़े और इंसान के बदन से बहे पसीने की कदर न जानी, भले ही वह इतिहास का हिस्सा बन जाये।

अपने लेख में नंदन एक जगह लिखते हैं : "जाने क्यों मुझे अपना अतीत, जो कि चमकदार तो रहा नहीं, बल्कि अंधेरा ही अंधेरा है, बड़ी ताकत देता रहा है। असल में मनुष्य की संघर्ष चेतना के प्रति मैं हमेशा बहुत आश्वस्त रहा हूं और यही आत्मविश्वास मुझे आत्मनिर्णय के उन क्षणों तक ले गया है, जहां दर्प नहीं होता पर स्थिति विशेष में अपने अस्तित्व की सार्थकता के प्रमाणित हो जाने की ललक और अस्तित्व की सार्थकता की सहज स्वीकृति का गहन विश्वास होता है।"

जिस लड़के की कहानी मैंने पाठकों को सुनानी शुरू की थी दरअसल वह खत्म नहीं हुई थी। वह तो अतीत का झरोखा भर था। उसी अतीत से निकले वर्तमान का किस्सा कहना अभी बाकी है। वह लड़का बीहड़ रास्ते पर चलते-चलते बिल्कुल तन्हा रह गया जो अक्सर हर सृजनकर्ता की नियति होती है। वे जुड़ते हर जगह से हैं मगर बनते किसी के नहीं हैं। उस लड़के के दूर निकल जाने पर भी फतेहपुर के लोग अक्सर उस संस्कारी लड़के का जिक्र बड़े चाव से करते हैं जो मेहनती था, ईमानदार था, संवेदनशील था। जो किसी की साइकल को खड़ा करने से पहले गांव या खेत का चक्कर लगाना जरूरी समझता था, जो इकलौती कमीज के कालर में इतनी माड़ लगा लेता था कि उसकी गर्दन अक्सर छिल जाती थी मगर वह गरीबी के बावजूद वाहन और साफ-सुथरे कपड़े पहनने का शौक नहीं दबा पाया और एक दिन तेज हवा के संग वह उड़ गया महानगरों की तरफ और बन गया बड़ा आदमी। उसकी फोटो, उसका लेखन, उसके बारे में बहुत कुछ उन तक पहुंचता है जिसे वे ऐसे सुनते और देखते हैं जैसे किसी इंसान के अंदर से दूसरा आदमी उग आये जो प्रकृति से परिंदा हो।

इस परिंदे को दोनों तरफ की दुनिया वाले 'ओन' करना चाहते हैं। भौतिक अर्द्धग्लोब के बीच वह एक चिंतक एवं साहित्यकार समझा जाता है जिसकी सोहबत सबको भली लगती है और आध्यात्मिक अर्द्धग्लोब में सृजनकर्ताओं के बीच वह एक भौतिकवादी चतुर, चालाक है जिसके द्वारा अक्सर उनके रुके काम बनते हैं मगर दोनों की पकड़ से दूर वह परिंदा निरंतर यात्रा में है। मैं जानती हूं आजादी जिसको नसीब हो जाये वह क्यों उसे गंवायेगा और किसी एक दुनिया का होकर अपनी स्वतंत्रता को 'रहन' रखेगा। उसे रात-दिन दोनों प्रिय हैं। इसलिए दोनों दुनिया वालों से मेरा विनम्र निवेदन है कि यदि बेचैन रूह का यह परिंदा आपका, सिर्फ आपका है तो सिर्फ इतना कि वह आपके पास लौटेगा, मगर वापस जाने के लिए।

डी37/697, छतरपुर पहाड़ी, नई दिल्ली-110030

त्रिलोक दीप

एक संकटमोचक संपादक

वास्तव में नंदन जी के व्यक्तित्व के विभिन्न कोणों को जानने का अवसर उस समय मिला जब उनके साथ 'दिनमान' और बाद में 'संडे मेल' में काम करने का अवसर मिला। श्री सच्चिदानंद वात्स्यायन के समय में ही मैं 'दिनमान' में आ गया था। उस समय हमारे सहयोगियों में रघुवीर सहाय, मनोहर श्याम जोशी, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रमेश वर्मा, श्यामलाल शर्मा जैसे दिग्गज हुआ करते थे। वात्स्यायन जी के त्यागपत्र के बाद रघुवीर सहाय ने 'दिनमान' का संपादक का पद संभाला और रघुवीर सहाय के बाद कन्हैयालाल नंदन इस पद पर आये। यहीं से उन्हें करीब से जानने का मौका मिला।

नंदन जी का एक पक्ष यह भी जानने का अवसर मिला कि अपनी पीठ खुद थपथपाओ। उनका शायद यह आशय होता है कि 'आदमी अपना जनसंपर्क खुद नहीं साधेगा तो दूसरा कोई साध कर देने वाला नहीं। यह आज की रवायत है। इसे हमें नहीं भूलना चाहिए।' शायद उनका कहना ठीक भी था। आज हम जिस तरह की पत्रकारिता और पत्रकारों को देख-सुन रहे हैं, उसकी कल्पना नंदन जी ने दसियों बरस पहले कर ली थी। दूसरे, उसके बारे में कई तरह के दावे हैं। ये दावे बिलकुल बेबुनियाद भी नहीं होते। उनमें दम भी रहता है। जैसे अक्सर कहा जाता था, 'अगर कोई अखबार न चलता हो तो नंदन को वहां बिठा दो, चल पड़ेगा' या 'अगर किसी पत्रिका का सर्कुलेशन न बढ़ रहा हो, नंदन को वहां भेज दीजिए, देखिये पत्रिका कहां से कहां पहुंच जाती है।' उनके बारे में ये दावे सतही नहीं हुआ करते थे। उन्होंने अपने समय 'पराग', 'सारिका' और 'दिनमान' की प्रसार संख्या खासी बढ़ायी थी। 'दिनमान' की प्रसार संख्या के सिलसिले में कहा जाता था कि 'उस समय की राजनीतिक स्थितियां ऐसी थीं कि संख्या अपने आप बढ़ती' इस पर नंदन जी की अपनी प्रतिक्रिया भी होती : 'लेकिन राजनीतिक या दूसरी परिस्थितियां हमेशा होती हैं, उनका आकलन और दोहन करने वाली नज़र भी चाहिए होती है।'

मैं 'दिनमान' की बात पहले करूंगा, बाद में 'संडे मेल' की। इन दोनों ही अखबारों में मुझे नंदन जी की कार्यशैली और संपादकी करीब से देखने का अवसर मिला था। नंदन जी के 'दिनमान' संभालने से पहले मैं अंतर्राष्ट्रीय समाचारों के साथ-साथ पंजाब, दिल्ली और उत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखा करता था। यह व्यवस्था वात्स्यायन जी के समय से चली आ रही थी। रघुवीर सहाय ने भी उसे नहीं बदला था।

अलबत्ता उसमें 'खेल खिलाड़ी' स्तंभ और जोड़ दिया था। नंदन जी ने आते ही मेरी अंतर्राष्ट्रीय संवादों से यह कहकर छुट्टी की कि कुछ सामाजिक कोढ़ को ढूंढना और निकाल फेंकना चाहिए, इसके लिए 'आप मौजूं' हैं। हुक्म संपादक का, शिरोधार्य किया। हमेशा इस बात की कोशिश रही कि किसी संवाद में हल्कापन न आये, लिहाजा कहीं न कहीं उसमें अंतर्राष्ट्रीय अंश डाल देता। ऊपर से उन्हें संवाद तो भाता लेकिन भीतर से अंतर्राष्ट्रीय पक्ष उन्हें अच्छा नहीं लगता। वह मुझे कुछ खुद तो नहीं कहते लेकिन उनकी 'बतकही' आभास दे जाती। आखिर वात्स्यायन जी के साथ कई बरसों तक काम करने का कुछ न कुछ तो असर होना ही था।

इस बीच 1984 में श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या हो गयी और पंजाब में आतंकवाद जोरों से शुरू हो गया। 31 अक्टूबर 1984 को ज्यों ही इंदिरा गांधी के निधन की खबर नंदन जी को मिली तो मुझे पुलिस मुख्यालय भेजा गया, उन दिनों 'क्राइम बीट' भी मेरे पास थी। संवाद तैयार करते रात हो गयी। घर पहुंचने पर फोन आया कि 'अगले दिन सुबह 1 नवम्बर को तीन मूर्ति में इंदिरा गांधी का शव आना है, आंखों देखी आप ही तैयार करेंगे।' संपादक की आज्ञा शिरोधार्य कर सुबह छः बजे तीन मूर्ति पहुंच गया। पुलिस के लोग आ गये थे, कुछ पत्रकार भी मौजूद थे। करीब आठ बजे इंदिरा गांधी का शव आया। उसके दर्शन करने के लिए अरुण नेहरू, अमिताभ बच्चन, जया बच्चन जा रहे थे। मैं भी भीतर गया। एक तरफ राजीव गांधी और राहुल भी खड़े थे। ज्यों ही बाहर बरामदे में आया सिखों के खिलाफ नारे लगने शुरू हो गये। उस समय गौतम कौल और हरिदेव पिल्लै वहां मौजूद थे। उन्होंने मुझे तुरंत वहां से निकल जाने की सलाह दी। मैं बिना किसी खटके के घर गया, नाश्ता किया। उसके बाद दफ्तर के लिए चल पड़ा। संवाद मेरे पास था, आंखों देखी रपट थी जो किसी दूसरे संवाददाता के पास नहीं थी। मैं दिल्ली गेट के चौराहे पर पहुंचा कि एक सिपाही ने चुपके से कान में कहा 'सीधे मत जाइएगा, रिंग रोड से स्कूटर निकाल लो और तेजी के साथ जाना।' मैंने उसकी सलाह मानकर वैसा ही किया। जब मैं दरियागंज स्थित अपने दफ्तर में घुसा तो देखा कि 'दिनमान' के सभी साथी नीचे खड़े हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें इस बात का पता चल गया था कि सिखों का कत्ल बड़े पैमाने पर हो रहा है। नंदन जी घबराये जरूर, लेकिन अपनी वह घबराहट चेहरे पर नहीं आने दी।

दफ्तर पहुंच कर मैंने अपना संवाद तैयार किया। मेरे साथी मेरी कुशल क्षेम पूछ रहे थे। संवाद तैयार करने के बाद सभी लोग क्या देखते हैं कि दिल्ली में कई तरफ से धुआं उठना शुरू हो गया है। इतना लंबा प्रसंग जानबूझकर दिया जा रहा है। अब नंदन जी की घबराहट शुरू हुई। उन्होंने संवाद देखा। उसके बाद उन्होंने अपनी एक संपादकीय टिप्पणी लिखी, वैसी ही जैसी 'इंडिया टुडे' में आजकल अरुण पुरी लिखते हैं। वही प्रशंसा कि 'हमारे संवाददाता ने अपनी जान जोखिम में डालकर यह संवाद तैयार किया है आदि आदि।' लेकिन नंदन जी की घबराहट इस बात को लेकर थी कि मैं अपने घर सकुशल किस तरह से जाऊंगा। दफ्तर के बाहर अच्छी-खासी भीड़ जमा थी, जो हमारी जान लेने पर उतारू थी। हमारी इसलिए क्योंकि उस समय परमजीत सिंह नाम का एक और सिख भी हमारे साथ दफ्तर में मौजूद था। नंदन जी ने कार्यकारी निदेशक रमेश चंद्र जी से बात की। उसके बाद वह अपनी गाड़ी से यह जानने और जांचने के लिए निकले कि हमारा बाहर जाना कितना सुरक्षित या असुरक्षित है। वह दरियागंज से बहादुरशाह जफर मार्ग और वहां से तिलक मार्ग तक का चक्कर लगाकर हमारे रहने का इंतजाम कर आये। नंदन जी मुझे और परमजीत सिंह को अपनी गाड़ी में डालकर तिलक मार्ग के अतिथिगृह में ले गये। नंदन जी की कार के आगे और पीछे हमारे साथी अपने-अपने स्कूटरों पर चल रहे थे ताकि रास्ते में हम पर कोई हमला करने का प्रयास न करे। 4, तिलक मार्ग पहुंचकर और हमारे रहने और खाने का इंतजाम करके नंदन जी स्वयं घर गये। वह इस बात का भी प्रबंध करते गये ताकि हम अगले दिन यानी 2 नवंबर को अपने-अपने घर सकुशल पहुंच सकें। नंदन जी के व्यक्तित्व का एक यह भी पक्ष है, मानवीय पक्ष, जिसे कम लोग ही जानते होंगे। जब तक दिल्ली की हालत पूरी तरह से सुधर नहीं गयी, उन्होंने मुझे दफ्तर नहीं आने दिया।

'दिनमान' में ही पंजाब और वहां पर पनपने वाले आतंकवाद के बारे में संवाद लिखने या लिखवाने की मुझे पूरी स्वतंत्रता थी। जब चाहता मैं पंजाब के किसी भी क्षेत्र में जा सकता था। कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि नंदन जी के दफ्तर में न होने पर अगर मैं समझता कि मेरा पंजाब जाना जरूरी है तो उनको फोन पर ही सूचित करके दौरे पर निकल जाया करता था। इसमें संदेह नहीं कि कामकाज करने की जितनी छूट और आज़ादी नंदन जी के समय में रही उतनी शायद ही कभी किसी संपादक ने अपने अधीनस्थों को दी होगी। अगर नंदन जी बार-बार 'काम की आज़ादी' का दावा करते हैं तो उसका यही अर्थ निकालना चाहिए कि उन्हें अपने साथियों-सहयोगियों पर भरपूर भरोसा रहा करता था।

1989 की बात है प्रसिद्ध उद्योगपति श्री संजय डालमिया ने 'संडे मेल' नामक अखबार खरीद लिया। पहले उसका अंग्रेजी संस्करण निकला करता था। उसमें कुछ परिवर्तन-संशोधन करके

उसे फिर से निकाला गया। इस बीच संजय जी ने हिन्दी में भी 'संडे मेल' निकालने का मन बनाया। मुझसे भी श्री डालमिया की कई बैठकें हुई। कई तरह की सोच-विचार के बाद उन्होंने नंदन जी को प्रधान संपादक नियुक्त करने का फैसला किया। साथ ही यह भी कहा कि आप भी नंदन जी के साथ रहेंगे। यह बात मैंने उनसे कर ली है। लिहाजा एक बार फिर नंदन जी के साथ काम करने का अवसर मिला। इस बार 'संडे मेल' के कार्यकारी संपादक के तौर पर यानी नंबर दो की हैसियत से। संजय डालमिया जी चाहते थे कि 1989 के अंत में हिन्दी संस्करण जरूर निकलना चाहिए। काम बहुत मुश्किल था। मुश्किल इसलिए कि न कोई स्टाफ था, न कोई कंपोजिंग की मशीन, न प्रूफ रीडर, न पेस्टर, न सहायक संपादक, न उपसंपादक, न संवाददाता। हां कला संपादक रवि शर्मा जरूर हमारे साथ आ गये थे। डालमिया साहब का कहा सिर माथे कहकर हम लोग काम में जुट गये।

नंदन जी हरफन मौला तो हैं ही, पत्र डिजाइन भी कर लेते हैं, जरूरत पड़ने पर प्रूफ रीडिंग और पेस्टिंग कर लेते हैं, लिक्खाड़ तो हैं ही। जितने लोग हम 'संडे मेल' के लिए जुटा सकते थे, जुटाने का प्रयास किया। भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के कई व्यक्ति हमारी टीम में शामिल हुए। समय हमारे पास पांच-छः हफ्ते का था। सभी लोग 'चुनौती' समझकर नंदन जी के नेतृत्व में जुट गये, घर-बार सभी भूल गये। हर कोई हर किस्म का काम कर रहा था, कहीं कोई छोटा-बड़ा नहीं। सभी संग-संग। साप्ताहिक पत्र का पहला प्रयोग था। भाग-दौड़ और दिन-रात की मेहनत से 1989 के दिसंबर के आखिरी हफ्ते में हम लोग 'संडे मेल' बाजार में लाने में सफल हो सके। यह बात दीगर है कि 'डमी रन' सिर्फ एक ही कर सके। उसके बाद 'संडे मेल' ने देश भर में जो स्थान बनाया वह भी अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना है। जब सात हफ्ते के भीतर कोलकाता में हमने 'संडे मेल' का संस्करण निकाला तो दिल्ली संस्करण की प्रसार संख्या 75 हजार के पार हो चुकी थी। बारह सप्ताह में 'संडे मेल' एक लाख की प्रसार संख्या पार कर गया था। इसे हम नंदन जी का नेतृत्व और अपने साथियों की मेहनत तथा श्री संजय डालमिया का पूरा सहयोग मानते हैं। श्री डालमिया जैसे मालिक भी बड़ी किस्मत से मिलते हैं। इस बात को नंदन जी आज स्वीकार करते हैं तथा अंग्रेजी संस्करण के संपादक रह चुके टी.वी. आर. शेनाय भी।

'संडे मेल' में रहते हुए नंदन जी को करीब से जानने का अवसर मिला। दो नंबर की हैसियत थी। इस नाते भी हम दोनों मिलकर ही फैसले लेते थे, मालिकों से मिलते थे, कारपोरेट से बातचीत होती थी। एक बार 'संडे मेल' में छपी एक 'प्रश्न चर्चा' की इबारत को लेकर जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के लोगों नें आपत्ति जतायी। वे एक जुलूस लेकर 'संडे मेल' के कार्यालय के सामने प्रदर्शन करने पहुंच गये। नंदन जी उसी दिन लंबी छुट्टी से लौटे थे। लेकिन नंदन जी ने बड़ी ही सूझ-बूझ का परिचय देते हुए न सिर्फ उन प्रदर्शनकारियों को संतुष्ट करके लौटाया बल्कि उस इबारत में कुछ तरमीम करके ऐसा बना दिया जिससे प्रदर्शनकारियों की बात भी रह गयी और हमारी भावना में भी बदलाव नहीं आया। अपनी गैरहाजिरी में हुए बवाल को भी उन्होंने ओढ़ा और संभाला। बात को कहने और रखने का तरीका नंदन जी को बखूबी आता है।

इसीलिए नंदन जी को 'संकटमोचक' भी कहा जाता है। कहीं किसी विधा का पेंच ढीला हो गया, नंदन जी उपस्थित हैं। कोई संवाद नहीं लिखा जा रहा है, नंदन जी तैयार। संपादकीय लिखा जाना है, नंदन जी हाजिर। प्रूफ रीडर नहीं है, गैलियां नंदन जी के पास भेज दो। डिजाइन करने के लिए डिजाइनर नहीं है, नंदन जी के पास चले जाइए काम हो जायेगा। फोटो नहीं मिल पा रहा है, नंदन जी का स्टाक हाजिर है। मतलब यह कि 'क्राइसिस मैनेजमेंट' कैसे किया जा सकता है, इसे कोई नंदन जी से सीखे।

आम तौर पर यह माना जाता है कि हिंदी के पत्रकार के संपर्क सूत्र अंग्रेजी पत्रकारों की तुलना में कम होते हैं। कन्हैयालाल नंदन को जानने वाले अंग्रेजी पत्रकार भी इस दावे को मानने के लिए तैयार नहीं। नंदन जी के परिचय का दायरा बहुत व्यापक है। उसके कई कारण हैं, एक वे कवि है, कवि सम्मेलनों में भी देखे जाते हैं, टीवी पर भी उन्हें अक्सर लोग देखते हैं, प्रधानमंत्रियों और मंत्रियों के साथ देशी-विदेशी दौरों पर भी जाते हैं, बड़े-बड़े राजनेताओं, कलाकारों, साहित्यकारों से उनके साक्षात्कार हैं, डॉक्टरों से भी उनकी दोस्ती है तो बड़े-बड़े नौकरशाहों से भी, इसलिए नंदन जी को हर मर्ज की दवा भी कहा जाता है।

नंदन जी दोस्ती और रिश्ते निभाना भी बखूबी जानते हैं। जिसे वे मानते हैं, दिल से मानते हैं। मैं जानता हूं कि 'संडे मेल' में मेरे खिलाफ उनके कान भरे गये। लेकिन क्या मजाल कि कभी उन्होंने मुझसे कोई शिकायत की हो। जिस सम्मान का मैं पात्र था, वह हमेशा ही मुझे मिला। एक बात और। एक बार मैं बीमार पड़ गया और करीब दो हफ्ते तक अस्पताल में रहा। क्या मजाल जो एक दिन भी ऐसा गया हो जब नंदन जी मेरा हाल पूछने न आये हों, डॉक्टरों से पूरी पूछताछ न की हो। और जब मैं स्वस्थ हो गया तो अस्पताल से डिस्चार्ज कराकर भी वे ही ले गये। रिश्ते निभाना नंदन जी खूब जानते हैं। यह भी उनके व्यक्तित्व की एक मजबूत कड़ी है, शायद सबसे पुख्ता और सराहनीय भी। लोगों का मानना है कि इस कड़ी का आधार हैं उनकी धर्मपत्नी शांति जी।

205, मलयगिरी अपार्टमेन्ट्स, कौशांबी, गाजियाबाद

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

नन्दन की सृजन-दृष्टि में अर्थ का विस्तार

कन्हैयालाल नन्दन जैसे 'रेडिकल' कवि को अपने ढंग से समझने-बूझने और उस काव्य समझ का कुछ लेखा-जोखा बिठाने की कोशिश नए पाठक (इंफॉर्म्ड रीडर) के लिए एक जरूरी और दिलचस्प स्थिति है। उनकी कवि-मानसिकता का निर्माण कानपुर-इलाहाबाद के सर्जनात्मक परिवेश में होता है। कानपुर में रचनात्मक समस्याओं से साक्षात्कार और इलाहाबाद में रचना-कर्म का विस्फोट। बीसवीं शताब्दी के छठे-सातवें दशक के इलाहाबाद की हवा में इतनी नई सर्जनात्मक ऊर्जा थी कि उसने नयी कविता और चिन्तन का एक अविस्मरणीय इतिहास ही रच डाला। यह इतिहास 'परिमल' ग्रुप से जुड़े रचनाकारों ने निर्मित किया था। विजयदेवनारायण साही, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, केशवचन्द्र वर्मा जैसे नए साहित्य के सर्जक और सिद्धान्तकार वहाँ वाद-विवाद-संवाद में सक्रिय थे। इस 'परिवेश' और 'रचना-संवाद' से नन्दनजी जुड़े और उनकी कविताओं का प्रकाशन 'नयी कविता' पत्रिका के अंकों में हुआ। यहां पर जगदीश गुप्त और धर्मवीर भारती थे जिनकी छाया से नन्दन उधर गए बिना बच नहीं सकते थे। नन्दन के मित्र मोहन राकेश और कमलेश्वर भी नयी संवेदना की आग में पक रहे थे। यह आग नन्दन को नसीब होनी ही थी। इसी नयी संवेदना की आग को नन्दन ने 'नयी कविता' के अंकों में गीतों के रूप में ढाला।

नन्दन जी जिन दिनों आधुनिक संवेदना को गीतों में ढाल रहे थे उन दिनों की मनोभूमिका में एक फक्कड़ मस्ती है। इलाहाबाद से प्रकाशित दर्जनों पुस्तकों की साज-सज्जा में उनकी कल्पना रंग भर रही थी और चुनौतियों से भिड़ जाने का अरमान प्रबल था। वे 'निकष' नामक पत्रिका में एक चित्रकार के रूप में सामने आए। इलाहाबाद के अनुभवों की लपट लिए बंबई गए। कुछ दिन अध्यापक रहे, फिर संकल्पबद्ध होकर पत्रकारिता की ओर गए। नीलकंठ बने, धर्मवीर भारती और मोहन राकेश से टकराए और आगे बढ़े। चोट खाकर हँस पड़ना नन्दन का 'स्वभाव' था और यही 'स्वभाव' उनके कवि-कर्म की बुनियादी मनोभूमिका बना। पत्रकारिता ने नन्दन जी को 'धर्मयुग', 'पराग', 'सारिका', 'दिनमान', 'नवभारत टाइम्स' और 'संडे मेल' के अनुभव-जल से सींचकर सम्पन्न बनाया। इसी कसकती-करकती पत्रकारिता की यात्रा ने उन्हें उत्तर आधुनिकतावाद की उस मानसिकता का बीज भाव दिया जिसमें महाआख्यानकों (मेटा-नैरेटिव) के अंत की सूचना थी। ल्योतार की 'पोस्ट माडर्न कंडीशन्स' की भूमिका में नन्दन जी को उनकी परिस्थितियां ले गईं। उन्होंने अपने ढंग से 'विचारधाराओं का खोखलापन' महसूस किया और आजादी के बाद के मोहभंग का अंधेरा। इस तरह जीवन-जगत् के संघर्षों के अपराजेय संकल्प और अपराजेय विवशता का जो द्वन्द्व सक्रिय हुआ था, उसकी आंतरिक लय की गूँज यही थी कि युद्ध अभी खत्म नहीं हुआ है- युद्ध अभी जारी है और युद्ध से पलायन का प्रश्न ही नहीं उठता। एक विशेष आइडियोलाजिकल आग्रह के साथ लिखी गई कविता न अज्ञेय और बच्चन को रास आती थी न धर्मवीर भारती और नन्दन को। रघुवीर सहाय, साही और सर्वेश्वर भी किसी विचारधारा की गुलामी पसन्द नहीं करते हैं। गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त और प्रभाकर माचवे का हाल भी यही रहा कि वे विचारधारा की गुलामी नहीं कर सके। फिर नन्दन को अज्ञेय का यह विचार बहुत भा गया कि स्वाधीन व्यक्ति ही स्वाधीन चिन्तन कर सकता है और स्वाधीन भाव से अपने समय-समाज का काव्यात्मक भाष्य।

दरअसल, कन्हैयालाल नन्दन अपने समय और समाज की चिंताओं-प्रश्नाकुलताओं और समस्याओं को काव्य संवेदना में अर्थ निष्पत्ति देने वाले विशिष्ट ढंग के कवि हैं। वे न तो किसी 'वाद' या 'विचारधारा' की गुलामी स्वीकार करते हैं-न कोरी भावुकता, भावमयता और तात्कालिकता के पीछे भागनेवाले पार्टीबद्ध दलबद्ध दलदली रचनाकार हैं। हिन्दी कविता में विचारधारा की प्रतिबद्धता-आधुनिकता के नाम पर जो 'अकादमिक माफिया' गरीबवाद का झंडा लेकर शुरू हुआ है-नन्दन जी उसकी छाया-छूत से दूर रहे। उनके कवि-कर्म का स्वच्छन्द काव्य-मुहावरा कविता में रोमांटिक-क्लासिकल संवेदना का भेद भूलकर आगे आया है। वे अपने गीतों-कविताओं में लीक तोड़ते हैं और ठाकुर प्रसाद सिंह या रमानाथ अवस्थी जैसे किसी गीतकार का अनुकरण नहीं करते। उनके रचना कर्म का 'टेम्पर' कविता में बौद्धिक तेवर निर्मित करता है। ज्ञान-बोध और आत्म-बोध के बीच यहाँ न खाई है न दरार। वस्तु और रूप की एकाग्र एकात्मकता है-

आसमान टूटा।
उस पर टंके हुए/ ख्वाबों के सलमे सितारे/
बिखरे/ देखते-देखते दूब के दलों का रंग/ पीला पड़ गया/
फूलों का गुच्छा/
सूख कर खरखराया।
और यह सब कुछ मैं ही था।
यह मैं बहुत देर बाद जान पाया।

एक 'इन्हरेन्ट रीडर' या आन्तरिक पाठक के लिए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विपत्तियों का असामान क्यों टूटा? नेहरू युग की राजनीतिक-सामाजिक विफलता के कारण या औपनिवेशक साम्राज्यवादी गुलामी की मानसिकता के कारण? इन काव्य-पंक्तियों के 'पाठ' में 'अन्तर्पाठ' निहित है जो कथ्य को संकुचित नहीं करता।

अर्थ को उसकी अनन्तता में उजागर करने की शक्ति रखता है। सपने के सलमे-सितारे बिखर गए, यह तो समझ में आता है लेकिन पाठ के भीतर से जिज्ञासा हाथ उठाकर पूछती है-सपने क्या थे, क्यों थे और सपने बिखरे क्यों? सपने बिखरने पर 'फ्रैक्चर्ड मैन' जिसे नयी कविता के सिद्धान्तकार-कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने 'लघुमानव' कहा है-भीतर से टूटने की असहनीय पीड़ा का भागीदार बना। इस कविता का 'पाठ' अपने 'पाठक' को हेरता-घूरता है और विमर्श और विश्लेषण की स्थिति आने पर अपने केन्द्रापसारी अर्थ को बहुलार्थकता के अर्थ-आलोक से भर देता है। यहां पर प्रबुद्ध पाठक ही पाठ को नहीं पढ़ता-पाठ भी कई तरह से पाठक को पढ़ता है। ऐसा करने का परिणाम यह होता है कि पाठ के भीतर से पाठक एक नए अर्थ का सृजन करता है। पाठ अपने में स्वायत्त नहीं, उस पर पाठक की पढ़त प्रक्रिया का वर्चस्व है। नॉर्मन हॉलैंड ने 'दि डायनामिक्स ऑफ लिटरेरी रिस्पान्स' में कविता पर केन्द्रित बहस के बाद यह केन्द्रीय अवधारणा स्थापित की है कि साहित्य का 'पाठ' होता तो 'वस्तुनिष्ठ पाठ' है लेकिन रचनानुभव की दृष्टि से व्यक्तिनिष्ठ है। कारण यह है कि रचना अवचेतनपरक फन्तासी की कोख से जन्म लेती है। पढ़ने के दौरान रचना को हमारे अवचेतन-सामूहिक अवचेतन-मन के पांच पाठक पढ़ (फाइव रीडर्स रीडिंग) रहे होते हैं। फिर रचना की साहित्यिक पाठात्मकता ही सब कुछ नहीं है- उसका 'विमर्श' (डिस्कोर्स) आवश्यक है। विमर्श करने पर हम पाते हैं कि रचना का अर्थ शक्ति और सत्ता से संचालित होता है। अर्थ करने का अधिकार शक्तिवान को है-दुर्बल को नहीं। इसलिए रचना में निहित 'मौन' अर्थ के 'स्पेस' पर प्रकाश डालना और उसका विश्लेषण करना जरूरी है। फिर नन्दन की इन काव्य पंक्तियों में यह अर्थ खोलना भी जरूरी है कि फूलों के गुच्छे सूख कर खंखड़ क्यों हो गए। फूलों का सूखना मानवीयता पर चोट है, ऐसी चोट जो ऊपर से नीला करती है-भीतरी मन के संवेदनात्मक ज्ञान को लहू-लुहान करती है। पाठक का मानसिक पैराडाइम 'सब्जेक्टिव क्रिटिसिज्म' में खपा होता है इसलिए अर्थ की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। यदि मैं (पाठक) नन्दन की इस कविता का 'भाष्य' करूँ तो साठ-सत्तर पृष्ठ कम पड़ेंगे। केवल इतनी ही अर्थ-ध्वनि का संकेत करना चाहता हूं कि नन्दन व्यापक मानवीयता के कवि हैं। ज्ञान के 'पैराडाइम' में परिवर्तन हो गया है तो इस कविता का अर्थ सन्दर्भ 'उपस्थित' से ज्यादा 'अनुपस्थित' अर्थ की तलाश में मगन दिखाई देता है। खैर, इस कविता का विश्लेषण फिर कभी। उत्तर संरचनावादी साहित्यिक परिदृश्य के दृश्य पटल का 'भाष्य' अभी नहीं। 'सेमिओलाजी- और 'डि-कान्स्ट्रक्शन' विनिर्मितिवाद की भूमिका में देखने-समझने का प्रपत्र स्थगित करता हूँ। स्टेनले फिश का 'सेल्फ कन्स्यूमिंग आर्टिफैक्टस' में यह कथन याद रखना जरूरी है कि पाठक ही पाठ को रचता है- 'वी राइट दि टैक्स्ट्स वी रीड' अर्थात् नन्दन की कविता की काव्यानुभूति का अर्थ पाठ में तो सोया रहता है लेकिन जानकार पाठक उसे जगाकर उससे अपना बौद्धिक संवाद स्थापित कर सकता है। नन्दन की कविता 'मिशीगन का पतझर' अपने वक्तव्य की अन्तर्योजना में एक ऐसी एपोस्टोमालॉजी सामने लाती है कि हमें शब्दों के भीतर निहित उद्देश्य (मोटिव) और मनोभूमिका को टटोलना पड़ जाता है- कितनी ही सर्दियाँ आती हैं/ और चली जाती हैं। जिनके अन्दर आग गहरी है/ उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाती है। तुम अपनी आग को/ बाहर मत फेंको/ अन्दर पचाओ/ उसी की ऊष्मा के सहारे/ नंगे/ तनकर खड़े हो जाओ/ सच है कि सर्दी के आ जाने पर सिर्फ उसी की चलती है लेकिन यह भी सच है कि/ सर्दी हमेशा इसी अन्दरूनी आग से गलती है। जीवन के इस सच को पहचानो- नया हो या पुराना/ जो बचेगा अन्दर की आग से ही बचेगा। और उसी आग से/ वह फिर कुछ नया/ रचेगा।

कवि का अर्थ है-सृष्टि और दृष्टि से सम्पन्न अग्नि-धर्मा प्राणी, अंधेरी रात में अचानक भभक कर जलने वाला। परम्परा या परम्पराओं के धनुष को खण्ड-खण्ड करता हुआ मानव। मनन ने ही मानव को इतिहास-परम्परा का अतिक्रमण करने की शक्ति सामर्थ्य प्रदान की है। 'समय की दहलीज़' की क़विताओं का कवि नन्दन अपनी वैयक्तिकता को खोकर निर्वैयक्तिकता का सहजता से वरण करता है। टी.एस. एलियट की निर्वैयक्तिकता की दृष्टि ने विचार-विस्तार किया है और वह विचार-संवेदना नन्दन जी के काव्य का केन्द्रीय मुद्दा है। वह कबीराई मन उनके पास है जो चदरिया को विकृत किए बिना पावन मन से नयी पीढ़ी को सौंप देना चाहता है। उनका प्रिय प्रतीक है- आग। यह आग उन्हें सर्वेश्वर-भारती-साही-गिरिजा कुमार-रघुवीर सहाय के पास ले जाती है। वे इतिहास के अंधे वात्याचक्र से मानव को बचाकर रखना चाहते हैं। अस्तित्ववाद का अनास्थावादी काव्य-मुहावरा नन्दन को कभी नहीं भाया। वे जानते हैं कि संघर्ष से मनुष्य ने इतिहास को बदला है और उस आस्था से भरी जिजीविषा को पाया है जिसमें पराजय बोध कहीं नहीं है-

न सही इतिहास के वात्याचक्र का सुदर्शन
और राजपथों का जयघोष
मेरी पगडंडियों पर दूर्वादलों की पुलक है
हो जाती है जिसके सहारे अभियान की समूची यात्रा
फूल की तरह कोमल और नैवेद्य की तरह पावन
नहीं, मैं नहीं हूं अकिंचन।

प्रश्न उठता है कि नन्दन की कविताई में अकिंचनता का दीन-हीन विचार क्यों नहीं है? नैवेद्य की तरह पावन होने का मन

क्या ऋषिमन नहीं है। जिसमें हमारे पुरखे बोलते मिलते है? ऋत का दर्शन फूल की तरह खिला हुआ है दूर्वादल संस्कृति के प्रतीक-वे दीपक हैं जिनकी रोशनी में हमारी आस्था, परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, भूगोल का अर्थ खुलता है। अंग्रेजों ने इन दीयों का बुझाने का चालाकी से भरा खेल खेला लेकिन हमारे कवियों ने इन प्रतीकों को हर कीमत पर बचाया है। संस्कृति, जनमानस और वैचारिक स्वाधीनता की गाँधी-लय टूटने नहीं दी। नन्दन इसी जीवन-लय के कवि हैं जिनमें कालिदास और कबीर, भवभूति और तुलसीदास एक साथ बाँसुरी की तरह बजते हैं। अंग्रेज हमारी परम्परा को 'घायल' करते हैं, वी.एस. नायपाल को 'इंडिया-ए वूण्डेड सिविलीजेशन' दिखाई देती है लेकिन उसके मर जाने का भाव पास नहीं भटकता न जाने कितनी आँधियों में भी हम मृत नहीं हुए हैं-मौन हुए हैं लेकिन विचार-मंथन के लिए। गीत गाती चिड़िया का मन हमारी संस्कृति का मन है- प्रकृति का प्रकृत राग सौन्दर्य-

वृक्ष के तने से लिपटी एक लता/ अचानक उसमें फूल खिला/ किसी ने कुछ नहीं कहा/ न हवा ने/ न गंध ने/ न आकाश ने/ और न बगलवाले पेड़ ने/ किसी को न कोई शिकवा न गिला/ बगल से गुजरता हुआ एक आदमपुत्र/ देर तक उसे घूरता रहा/ लता अपने प्रेम में मदमाती रही। वृक्ष की डाल पर बैठी एक चिड़िया/ मिलन के इस महोत्सव में/ लगातार बधाई गीत गाती रही।

बधाई का गीत गाती चिड़िया के माध्यम से जो काव्यानुभूति का सत्य है, वह रचना की सत्ता में निवास करता है उसके बाहर नहीं। उसके बाहर तो अनुभव का भाष्य है जो अधूरा है। फिर रचना का पाठ (टैक्स्ट) हर पाठक के साथ बदलता है और पाठक ही उसे अर्थ देता है। ध्यान देने की बात है कि रचना का कोई स्थायी सत्य नहीं होता। उत्तर आधुनिक बुद्धिजीवियों के बीच यह बहुत विवादास्पद मुद्दा रहा है कि रचना का सत्य पाठक पाता कैसे है? रोलां बार्थ से लेकर देरिदा तक एक लम्बी बहस मिलती है कि रचना अपना जीवन स्वयं जीती है। आज 'थ्योरी' रचना पर अपना रोब गालिब करना चाहती है लेकिन रचना है कि वह उसे पास भटकने नहीं देती। रचना-कर्म के दौरान कवि नन्दन को लगातार यह अहसास रहा है कि आज के व्यवसायिक और बाजार युग में सबसे ज्यादा दूषित भाषा हुई है। भाषा की सर्जनात्मकता को बचाने के लिए इस कवि ने बहुत चौकन्नापन बरता है। वे शब्द और अर्थ की लय को लोकलय से उठाते हैं और उसमें जीवन के अन्तर्ध्वनित सत्य को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं।

छायावाद ने जिस अर्थ-भूमि का संकोच कर दिया था उस अर्थ-भूमि का विस्तार छायावादोत्तर कविता और गीतधारा के नन्दन जैसे कवियों ने किया। इन कवियों ने न तो अन्तर्जगत की दार्शनिकता को परोसा न अपने को किसी धर्म-पुराण के हवाले किया। हमारी लम्बी गीत यात्रा ने किया क्या? मानव की अन्तश्चेतना का विस्तार और उस उदात्त भाव-भूमि की सृष्टि जिसमें कोई पराया नहीं है। कविताओं-गीतों में निरन्तर संघर्षरत और बदलते हुए मानव के बिंब सृजित किए गए ताकि जीवन का प्रेम तत्व या सूफी भावभूमि का सौन्दर्य मलिन न पड़े। नन्दन ने अभी हाल ही में साहित्य अकादमी, दिल्ली से 'श्रेष्ठ हिन्दी गीत संचयन' का सम्पादन भारी श्रम और विचार-साधना के साधुभाव से किया है। यह नन्दन का अद्‌भुत कार्य है और यह पारखी भाव नन्दन जैसा गीतकार ही रख सकता था। इस चयन-सम्पादन की भूमिका में उमाकान्त और सोम ठाकुर हृदय संवाद करते मिलते हैं तो समारम्भ पर्व में मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा। नन्दन जी को भावबोध, भाषाबोध, लय-तुक-तान-छन्द और लोक संवेदना की परख और पकड़ के कारण यह समझ है कि छायावाद हिन्दी की गीत कविता का सवर्ण काल है। टी.एस. एलियट ने मैथ्यू आर्नल्ड की कविता पर विचार करते हुए एक फतवा दिया था कि वह 'एन एकेडेमिक पोएट इन द बेस्ट सेन्स आव द टर्म' है। इस बात को लेकर हिन्दी में कहा गया-प्रसाद जी विश्वविद्यालयों के कवि हैं। अज्ञेय ने कहा, 'निराला पढ़े जाएंगे, प्रसाद पढ़ाये जाएंगे और पन्त जी से सीखा जाएगा।' नन्दन ने अज्ञेय की लय-तान पर अपने को नहीं धकेला, न श्रीकान्त वर्मा की तरह बहकते हुए कहा कि छायावादी कविता शब्दों का खिलवाड़ है। उनमें निराला के प्रयोगों के प्रति गहरी आस्था है और प्रसाद के प्रति अपूर्व अद्‌भुत राग। जबकि उन्होंने कोई प्रबन्धकाव्य नहीं लिखा न किसी पौराणिक ऐतिहासिक मिथिकल लम्बी कविता में अपने नव प्रबन्ध स्थापत्य का परिचय दिया। जबकि उनकी मुक्त छन्द वाली कविताओं को पढ़ते हुए लगता है कि उनके पास प्रबन्ध कवि की विचार-सम्पदा है और बिना ठोकर खाए आगे बढ़ने का कवि साहस। ग.मा. मुक्तिबोध की तरह नन्दन को यह इलहाम है कि आधुनिक कविता में प्रसाद ही एक ऐसे कवि हैं जो अपने बाद की पीढ़ी को चुनौती-सी देते हैं। इस चुनौती का कारण है कि प्रसाद अपने भीतरी झंझावातों को सीध ा अभिव्यक्त नहीं करते हैं, बल्कि उसे अनवरत चिन्तन-मंथन से छानकर कविता रचते हैं। इसलिए उनकी कविता का अर्थ अनन्त होता जाता है और युग-यथार्थ का विस्तार। निराला मानते थे कि गीत-संगीत में वह अपार शक्ति है जो 'एक कर दे पृथ्वी आकाश'। इसी ज्ञानात्मक-भावात्मक संवदेना को मन-बुद्धि में धारण करते हुए नन्दन जी ने लिखा, 'अपार क्षमता वाली इस काव्य विधा की छबियाँ विविधवर्णी हैं, गीत कर्म का उद्‌बोधन है, प्रेम का आत्म निवेदन है, संवेदना की मानक छबि है, रागात्मकता का प्रतिफल है, विडम्बनाओं की प्रतिध्वनि है।' (श्रेष्ठ हिन्दी गीत संचयन, भूमिका,

पृ. 22) कवि नन्दन का मन गीत-विधा के आदिम स्रोतों में उतर कर पाता है कि 'आदि क्रम में अभिव्यक्ति नादात्मक रही होगी।' यह ऐसा कथन है जिसमें पादाचार्य अभिनव गुप्त और गिरिजाकुमार माथुर एक साथ बोलते मिलते हैं। माथुर ने नयी कविता के बहाने नाद सौन्दर्य पर एक लेख लिखा और नन्दन जी ने नाद सौन्दर्य के बहाने गीत-गग्मिा का भाष्य करती 'भूमिका'। ग.मा. मुक्तिबोध ा ने 'नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में कविता और गीत को लेकर जो राजनीति चालू रही थी-उसका विरोध करते हुए कहा कि नयी कविता का गीत से कोई विरोध नहीं है। वास्तव में, गीत तो नयी कविता की ही एक धारा है। फलतः नवगीत आन्दोलन को जो सिरफिरे नयी कविता के विरोध में पाते हैं उन्हें मुक्तिबोध के कथन पर ठंडे दिमाग से विचार करने की जरूरत है। नयी कविता और नवगीत का भाव-बोध एक स्वर से अन्याय के विरोध में खड़े होने का साहस है। उत्तर आधुनिकतावादी टोन उसमें यह है कि जो परिधि पर है उसे केन्द्र में लाओ। दलित नारी और गरीब की व्यथा को गाते हुए नव पूँजीवाद, नव साम्राज्यवाद के आतंक से मुक्त होने का भाव। उत्तर आधुनिक मानसिकता की काव्यानुभूति की पकड़ में नन्दन हैं और कहते हैं, 'नरपिशाचों का पलड़ा भारी है/ युद्ध बन्द नहीं हुआ/ युद्ध अभी जारी है।' यह युद्ध पश्चिमी पूँजीवाद की देन है और इस युद्ध में भारत की आवाज नक्कारखाने में तूती से भी कम है।

नन्दन जी का कविमन प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति से बना है। फूल, वृक्ष, नदी, वसन्त, चिड़िया, खेत-पर्वत हमारे मानवीय अनुभवों को टटोलते हैं। छायावादी काव्य-संसार नन्दन जी का पीछा कभी नहीं छोड़ता। विदेश में रची कविताएँ या विदेश को लेकर रची गई कविताएँ- इन सभी में भारतीय परम्परा और उसके सन्दर्भ अपने आपको पहचानते हैं। परम्परा, मिथक, अस्तित्व-अस्मिता और जीवन-यापन की हर समस्या उनके तईं रचनात्मक चिन्ताओं से गुंथी रही। नन्दन जी के पास एक ऐसा कविमन है-जो जीवन की प्रेरणा को लहू में अनुभव करता है। वे पूर्णमनः कवि हैं और व्यवसाय वृत्ति के लिए सम्पादक, समीक्षक, पत्रकार, संस्मरण लेखक, संकलनकर्त्ता। नए भाव-बोध की तलाश में उनका कविमन समय की सभी धाराओं से जुड़ता है और अनुभव अनुभूति के आन्तरिक उत्कर्ष को पाने के लिए बेचैन रहता है। चिन्तनशील कला और प्रश्नाकुल एकाग्रता ने इस कवि को अपने समकालीनों के बीच सम्माननीय स्थान दिया है।

एक्स-102/3, एस.एफ.एस, फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-17

संध्या छाया

अगले अंक में गुरु बचन सिंह

डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

विपदा हू भली

4 जुलाई, 99 को दोपहर बाद बड़ा जबरदस्त हार्ट अटैक हुआ, पसीने में डूब गया। परिवार तथा आस-पड़ोस के लोग पसीना पोंछते-पोंछते थक गये। डॉ. बी.के. मिश्रा को फोन किया। वे तुरन्त गाड़ी लेकर आ गये। पलक झपकते ही परिस्थिति की भयावहता को समझ अपने नर्सिंग होम ले गये। थोड़ी देर में यह बात परिचितों, मित्रों और रिश्तेदारों में जंगल की आग जैसी फैल गयी। दोनों बेटों को दिल्ली फोन कर दिया। सुनते ही दोनों भागे। बड़े बेटे का परिवार भी आ गया। दो-तीन डॉक्टर भी बुला लिये गये। रोग काबू में आ नहीं रहा था। जितने हितैषी, उतने सुझाव। किसी एक निर्णय पर पहुंचने में असमंजस। कुछ का दिल्ली ले जाने का आग्रह और कुछ की आशंका-इस दशा में ले जाना ठीक भी होगा? इसी पसोपेश में कई घंटे बीत गये। इलाज चलता रहा, डॉ. मिश्र अपने पूरे प्राण-प्रवेग से जूझते रहे। साढ़े तीन हजार का जीवन-रक्षक इंजैक्शन लगाने का निर्णय लिया। कुछ ही देर में इंजेक्शन लग गया। स्थिति कुछ-कुछ नियंत्रण में आती-सी लगी। रात को एक बजे लगा कि खतरा फिलहाल टल गया है। डॉ. मिश्र और उनका पूरा स्टाफ लगा रहा एक बजे तक। उन्होंने दोपहर का खाना तभी खाया, मालूम नहीं कितना और कैसे? पिछले चार वर्षों के सम्पर्क से वे मेरे ही नहीं, मेरे सारे परिवार और प्रियजनों के निकटतम हो गये थे। पहले भी दो-तीन बार उन्होंने एमरजेंसी में श्रीमती जी तथा मुझे भी भयानक रोग से उबारा था। जैसे-तैसे मेरे सभी आत्मीयों ने कुछ राहत महसूस की। मुझे नींद कब आयी, नहीं मालूम! दो दिन बाद डॉ. मिश्र ने नर्सिंग होम से घर भेज दिया। तीन-चार दिन तक काफी देखभाल रही मेरी। अनेक प्रतिबन्ध, चेतावनी एवं सुझावों की सुरक्षा में मुझे रखा गया।

पिता जी तथा बड़े भाई साहब के हृदयाघांत की खबर पाकर मेरे हाथ-पैरों की जान निकल जाती थी। घर पहुंचना कितना कठिन हो जाता था, उसकी याद करके मैं अपने दोनों बेटों और बहुओं के दुःख, चिन्ता और आशंकाओं की दाहकता का अनुमान लगा सकता हूं। दिल्ली से चलते हुए बीच-बीच में दो-तीन जगह से उन्होंने फोन किया। कहीं दिल्ली तो नहीं ला रहे मुझे? जो जितना अधिक आत्मीयता से जुड़ा रहा, वह उतना ही अधिक शंकालु और आशंकित हो उठा। अनेक दुराशाएँ उसे त्रस्त करती रहीं। ऐसे में अपने को संयत रखकर आवश्यक कार्य करना और कराना कितना कठिन होता है। इसका मुझे कई बार अनुभव हो चुका है। अतः दोनों बेटों और बहुओं के मानसिक उद्वेलन की मैं कल्पना कर सकता हूं। हृदय-रोग से ग्रस्त रोगी के विषय में क्या-क्या आशंकाएँ और चिन्ताएँ उसके आत्मीय को त्रस्त करती रहती हैं, इसे कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। रोगी को जब तक देख न लें, किसी भी आत्मीय को चैन पड़ ही नहीं सकता। यही बात मित्रों की है। सुनते ही समय-असमय दौड़ पड़ना, मिलने की चेष्टा करना। डॉक्टर और परिजनों के मना करने पर भी झलक देखने की कातरता और बात करने की लालसा-उत्कंठा कभी-कभी रोगी के लिए असुविधाजनक ही नहीं, हानिकारक भी हो जाती है, लेकिन मिले बिना, बोले और देखे बिना, उसके पास बैठे बिना, चैन नहीं पड़ता।

दो सप्ताह बाद फिर वैसे ही लक्षण बनने शुरू हुए। सुबह से पानी पड़ रहा था, बड़े जोरों से। गली में पानी भर गया था। बड़ी मुश्किल तक डॉ. मिश्र घर तक आ सके। अस्पताल से डॉ. आर. बी. सिंह को बुलाया। घनघोर वर्षा के कारण उनकी गाड़ी काफी दूर ही रुक गयी। बड़े आग्रह और चिरौरी से उन्हें पानी में पैदल चलकर आने के लिए विवश किया गया। इस बार भी दोनों बेटों को फोन किया गया। हृदयरोगी के आत्मीय हृदयाघात का नाम सुनते ही काँप उठते हैं। तो यह तो दूसरा आघात था। दिल्ली से मुजफ्फरनगर पकड़ना कितना त्रासद होगा उनके लिए, मैं समझ सकता हूँ। डॉ. सिंह ने तुरन्त अस्पताल या नर्सिंग होम में भरती करने को कहा और शीघ्रातिशीघ्र एंजियोग्राफी कराने के लिए आग्रह किया। बड़ा बेटा उसी दिन शाम को चला गया एम्स में बात करने के लिए। वहां पहुंचकर उसने डॉ. एस.के. शर्मा से सम्पर्क किया तथा 23 जुलाई को दिखाने की तिथि निश्चित हो गयी।

23 की सुबह एम्स में दिखाया। डॉक्टरों ने तीन-चार दिन बार फिर आने के लिए कहा। दवा लिख दी, लेकिन 23 की शाम को फिर वैसे लक्षण बनने शुरू हुए। दोनों बेटों को बुलवाया गया। उनके गाड़ीवाले मित्र को भी लिया और एम्स पहुंच गये। आपात्कालीन चिकित्साकेन्द्र में देखते ही डॉक्टर ने ज़ाँच-पड़ताल शुरू की। डेढ़-दो घंटे की प्राथमिक चिकित्सा के बाद बोले-'हमारे यहां बैड खाली नहीं है। कहीं और जाइए।'

'कहां?'

'कहीं भी, सफदरजंग, लोहिया या कहीं प्राइवेट।'

बेटों ने कातर प्रार्थना की। लेकिन उत्तर वही-'बैड ही खाली नहीं है। कहाँ लिटाएँगे इन्हें?'

विवशता में छोटा बेटा डॉ. शर्मा के निवास पर गया। रात के दस बज चुके थे। घंटी बजाने पर वे सोते से उठे। परिचय दिया, स्थिति बतायी। डॉ. शर्मा बोले, 'जब बैड ही खाली नहीं है, क्या हो सकता है?'

'डॉ. साहब! कुछ तो कीजिए। ऐसी हालत में पापा को कहाँ ले जाएँ।'

'बेटे, मैं क्या कर सकता हूँ?'

'एक स्लिप ही लिख दीजिए। आप सीनियर डॉक्टर हैं।'

अनमने भाव से उन्होंने स्लिप लिखी। उसे देखकर डॉक्टरों ने कहा-'बैड का प्रबन्ध उनसे करा लीजिए। हम इन्हें ले लेंगे।'

'बैड का प्रबन्ध तो आप ही करेंगे।'

'कहाँ से करेंगे भाई? एक बैड पर दो रोगी तो नहीं लेट सकते। बिना बैड के रोगी को कहाँ लिटाएंगे। नहीं सम्भव है। आप देर मत कीजिए।'

बेटे विवश। कहाँ ले जाएँ। सफदरजंग के बारे में धारणा कुछ ठीक नहीं है। राममनोहर लोहिया अस्पताल चलते हैं।

11 बजे रात को वहां पहुंचे। वहां भी आपातकक्ष में रोगियों की भीड़। छूटते ही डॉक्टर ने कहा-'अब तक कहाँ थे?'

'एम्स गये थे, वहां बैड खाली नहीं है।'

'अरे! वे अपनी बला इसी प्रकार औरों पर टालते हैं। बैड तो यहाँ भी खाली नहीं है।'

'डॉक्टर साहब, कुछ तो कीजिए, कैसे भी कीजिए।' दोनों बेटे और श्रीमती जी रुआँसी हो गयीं। डॉक्टर साहब को दया आ गयी-'चलो देखते हैं, एक बैड खाली होने वाला है।'

डेढ़-दो घंटे ट्राली पर ही मेरी चिकित्सा होती रही। साढ़े बारह-एक बज गया था। तब आपातकालीन विभाग में एक बैड मिला। चारों ओर अव्यवस्था और गंदगी का नजारा। खैर, चिकित्सा शुरू हुई। घंटे-भर बाद मेरा पड़ोसी रोगी चल बसा। उसको कृत्रिम साँस देने का प्रयास भी किया गया, लेकिन असफल। उसके साथ उसकी पत्नी और दामाद थे। मेरे बेटे ने कई बार मुझे उधर देखने के लिए मना किया। दो-एक बार मेरा मुंह उधर से फेर भी दिया। मैंने कहा-'मुझे मालूम है, क्या हो गया है यहाँ। आपातकालीन कक्ष में ऐसी घटनाएं होती रहती हैं, तुम घबराओ मत।'

बहुत दिन बाद मुझे बताया गया, जिस बैड पर आपातकालीन कक्ष में लिटाया गया था, उस पर भी लाश पड़ी थी। उठानेवालों के न आने से ही मुझे घंटों बाहर ट्राली पर रहना पड़ा था। मुझे तो यह सुनकर कुछ हुआ नहीं, लेकिन इन दोनों बेटों की मानसिक दारुण दशा का मैंने अनुमान लगाया कि उन पर क्या बीती होगी-मेरे साथ भी ऐसा हो सकता है, यह आशंका उन्हें कितना क्षत-विक्षत कर गयी होगी, अन्दर तक। रात-दिन भाग-दौड़, दवा के लिए, बैड पाने के लिए, डॉक्टर से मिलने के लिए, विभिन्न जाँच करवाने के लिए। इतनी भयंकर गरमी, कितनी भीड़भाड़ और उनकी यह मानसिकता। कितनी घातक आशंकाओं से लहूलुहान उनका मन। आज मैं सोचकर सिर्फ स्तब्ध रह जाता हूं कि कैसे उन्होंने यह सब सहा होगा, लेकिन सहा। सब कुछ अपने मन पर झेला। अत्यधिक दुख या आवेग के क्षणों में, कभी वाणी से फूट पड़ा होगा। उनके चेहरों पर सदा आशंका मंडराती रहती थी। श्रीमती जी को भी उन्होंने कई दिन बाद, मेरे स्वस्थ होने पर आपातकालीन कक्ष में मुझे इस प्रकार बैड मिलने की बात बताई थी।

> केरल की नवयुवती नर्सें सेवा-समर्पण, निष्ठा, कर्त्तव्य-परायणता की जीती-जागती मूर्तियां हैं। बारह घंटे काम करने के बाद भी कहीं कोई थकान, चिड़चिड़ाहट, खीझ मुझे खोजने पर भी नहीं मिली उनके चेहरे पर। हँसता हुआ, मुस्कराता हुआ चेहरा, केरलीय उच्चारण की हिन्दी और इंगलिश बोलते हुए। धवल वेश मुझे उनके अन्तस् की सेवा-भावना की पवित्रता का बाह्य आलोक जैसा लगा।

खैर, लोहिया अस्पताल में एंजियोग्राफी हुई। 'बाईपास का केस है और वह यहां होती नहीं है। कहीं भी जाइए। यहां से हम आपको डिस्चार्ज कर.रहे हैं, अभी।'

उधर एम्स में भाग-दौड़ चल रही थी, बैड के लिए, लेकिन कहीं कुछ आशा की एक क्षीण किरण भी दिखाई नहीं पड़ती थी, दूर-दूर तक। तब प्राइवेट में, अपोलो में जाने की बात आयी। अल्पना के ससुर अग्रवाल साहब के परिचित थे डॉ. मोदी, वहां उनसे मिले। कार्ड बनवाया चार सौ रुपये देकर। बोले-'आ जाइए।' खर्चे का अनुमान पूछा, डेढ़ लाख बताया। लेकिन इसके अलावा एक-डेढ़ और लग जाते हैं, ऐसा कई लोगों ने कहा। फाइव स्टार होटल जैसा है अपोलो अस्पताल तो। हर चीज के रुपये लगते हैं और काफी लगते हैं। पहले ही डेढ़-दो लाख जमा करा लेते हैं। इसीलिए वहां बताया गया, यदि इलाज कराना है तो जमा कराइए दो लाख रुपये। अग्रवाल साहब बोले-'इस समय रात में कोई इतना रुपया लेकर घूमता है क्या? सुबह बैंक खुलने पर जमा करा देंगे।' उधर लोहिया अस्पताल में मुझे डिस्चार्ज करने का आग्रह किया जा रहा था। उनसे भी यही कहा-'अपोलो में गये थे, वहां के लिए दो लाख का प्रबन्ध करना है। हम लोग बाहर से आए हैं। एकाध दिन तो लग ही जाएगा। आप परसों तक रहने की आज्ञा दे दीजिए, किसी तरह।' डॉक्टर पसीज गया। जीना चढ़ना मना था, दोनों बेटे दूसरी और साढ़े चौथी मंजिल पर रहते थे। मेरे लिए भूतल पर रहने के लिए कमरे के लिए दौड़-धूप कर रहे थे। अपने आसपास की कालोनियों में कई लोगों से पूछा। जब कोई प्रबन्ध नहीं हुआ मुझे तुषार के मित्र शेखर के यहां ले गये। दो दिन वहां रखा, फिर एम्स में दिखाया। वहां अभिन्न मित्र डॉ. राधेश्याम के सुपुत्र डॉ. सुमित का पता चला एक अन्य मित्र से। लेकिन वही समस्या बैड मिलने की। लेकिन तब तक नीचे की मंजिल पर एक कमरे का सूट मिल गया था, ढाई हजार रुपये महीने का, दो महीने का किराया एडवांस देने पर।

डॉ. सुमित की भागदौड़, आत्मीयता और निष्ठा से ओ.पी.डी.

में ही फिर एंजियोग्राफी हुई एम्स में। बाईपास का केस ही निश्चित हुआ, लेकिन बैड अब भी नहीं। अनेक प्रयास करने पर 16 अगस्त को बैड मिला। 19 को बाईपास सर्जरी हुई। अनेक आत्मीय मित्रों और रिश्तेदारों की भीड़ आपरेशन थिएटर के बाहर जमा रही। छह घंटे बाद मुझे आपरेशन थिएटर से निकलते समय अनेक नलियां मुंह में देखकर बड़ा बेटा घबराया। भर्राई आवाज में बोला-'पापा के तो आक्सीजन चल रही है।' आक्सीजन प्रायः अन्त समय में ही चलाई जाती है, ऐसा समझकर वह रो पड़ा। डॉ. सुमित तथा अन्य लोगों ने उसे आश्वस्त किया। सर्जरी करनेवाले डॉ. भान से पूछा तो बोले, सब कुछ ठीक हो गया है। रोगी की दशा सामान्य है। घबराने की कोई बात नहीं। इससे पहले उसने अपने घर फोन कर दिया, वहां बहू भी घबरा गयी। फिर डॉक्टर के द्वारा आश्वस्त किये जाने पर उसने फिर घर फोन किया, तब बहू को तसल्ली हुई।

आई.सी.यू. में केवल एक घंटा सुबह और एक घंटा रात को देखने के लिए बुलाते हैं रोगी के एक ही सम्बन्धी को। मुझे छत्तीस घंटे बाद मालूम पड़ा कि मेरा आपरेशन कल हुआ है। मैं समझता था कि आज सुबह आपरेशन हुआ है। आँख खोलने पर मैंने बड़े बेटे को देखा। उसने सिर हिलाकर पूछा, मैंने भी सिर हिलाकर ठीक होने का संकेत दिया। यहां आई.सी.यू. में तथा लोहिया अस्पताल में भी केरल की नवयुवती नर्सें सेवा-समर्पण, निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता की जीती-जागती मूर्तियां हैं। बारह घंटे काम करने के बाद भी कहीं कोई थकान, चिड़चिड़ाहट, खीझ मुझे खोजने पर भी नहीं मिली उनके चेहरे पर।

हँसता हुआ, मुस्कराता हुआ चेहरा, केरलीय उच्चारण की हिन्दी और इंगलिश बोलते हुए। धवल वेश मुझे उनके अन्तस् की सेवा-भावना की पवित्रता का बाह्य आलोक जैसा लगा। नर्सिंग के क्षेत्र में पूरे देश में ही नहीं, सुना है विदेशों में भी केरल की ये नर्स कन्याएँ अपनी कर्तव्यनिष्ठा, सेवा-भावना और समर्पण के कारण अन्य देशों और प्रदेशों की नर्सों में अपनी पहचान बनाए हुए हैं। रोगी का गन्दे से गन्दा, कठिन से कठिन काम करने में जरा हिचक नहीं, बड़ी आत्मीयता और सहजता से रोगी की सेवा और सुश्रूषा। ये अधिकांशतः ईसाई हैं। मुझे ये सब मदर टेरेसा की प्रतिरूप लगीं। मेरे यह कहने पर कि मैं दो बार त्रिवेन्द्रम हो आया हूँ, वे उच्छ्वसित हो उठतीं-'कैसा लगा हमारा केरल आपको?'

मैं कहता-'वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य, मानवीय सुषमा और सहज-सरलता की त्रिवेणी में स्नान करके मैं तो भीतर-बाहर से बड़ा समृद्ध हो गया।'

केरल हिन्दी प्रचार सभा के अनुवाद-पाठ्यक्रम की मौखिक परीक्षा लेने तथा फिर स्नातक कक्षा पढ़ाने वाले दक्षिण भारतीय और विशेषतः केरलीय स्त्री-पुरुष अध्यापकों के लिए पुनश्चर्या-रिफ्रेशर-कोर्स में दो भाषण देने के लिए डॉ. अय्यर की कृपा से केरल विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में जाने का अवसर मिला था। वहां दक्षिणी और विशेषतः करेलीय अध्यापकों की नयी पीढ़ी से साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी निश्छलता, सहजता, सरलता से कोई भी अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। खैर।

आपरेशन से पहले अभिन्न मित्र रमेश ने सचेत किया था, मेरी नास्तिकता को देखते हुए-'देखो, उसे भी याद कर लेना, जिसे तुम नकारते हो।'

मैं हँसकर रह गया था। यह अवसर विवाद का नहीं था। उसकी हित-कामना ने ही उसे यह कहने के लिए प्रेरित किया होगा। यह जानते हुए भी कि मैं ईश्वर से प्रार्थना क्या करूंगा, क्योंकि मैं तो उसे स्वीकारता ही नहीं। यही बात डॉ. जगदीश वर्मा ने पूछी-'कहो बन्धु, याद आयी क्या उसकी?'

मैंने कहा-'आयी भाई, झूठ नहीं बोलूंगा। एक तो दुर्बल और असहाय सिद्ध हुआ और ऊपर से झूठ भी बोलूं। हां भाई, याद आयी।'

'बस ठीक है।'

'नहीं-नहीं, पूरी बात सुन लो।'

'बात सुनने की आवश्यकता ही नहीं।'

'लेकिन मुझे तो सुनानी है। आपरेशन के छत्तीस घंटे बाद आई.सी.यू. में मुझे होश आया। एक नर्स मेरी ही परिचर्या में थी। बैड के ऊपर मानीटर लगा हुआ था हृदयगति को बतानेवाला। स्वतः चालित ब्लडप्रेशर नापने की मशीन चल रही थी। नर्स युवती संकोचशील, लज्जालु थी। बतरस-लोभी एक डॉक्टर ने उससे बात शुरू करनी चाही। उसने अनुकूल उत्तर नहीं दिया। वह बेचारी शर्माकर चुप हो गयी। डॉक्टर का अहं आहत हुआ। उसे त्रस्त करने के लिए उसने मेरे बैड के ऊपर लगे मानीटर को देखकर कहा-क्या कर रही हैं आप? देखती नहीं हैं? क्या हालत है रोगी की? ड्यूटी के समय रोगी की मौत हो जाने पर जमानत भी नहीं होती मैडम।

यह सब मेरे कान में पड़ गया। बेचारी नर्स भी विचलित। मैंने पलटकर मानीटर देखा। काफी ऊँचे-नीचे। मैं घबरा गया-हे राम, यह क्या हो रहा है? मुझे सर्दी लगने लगी। एयरकंडीशंड हाल था पूरा। शरीर पर केवल एक चादर थी। एयरकंडीशन में रहने का अभ्यास न होने से मुझे ठंड लगने लगी। मैंने कहा-सिस्टर, मुझे ठंड लग रही है। उसने टैम्परेचर लिया। कुछ बढ़ा हुआ आया। क्रोसीन की आधी गोली उसने दी। कम्बल दिया। थोड़ी देर में गर्मी लगनी शुरू हो गयी। गोली और कम्बल के कारण। मैंने कम्बल उतार दिया। केवल चादर ओढ़े रहा। कुछ देर बाद फिर ठंड, फिर कम्बल, फिर गर्मी...अजीब हाल हो गया। मैं बार-बार मानीटर देखूँ। ऊपर-नीचे जीवन-रेखा

देखकर मैं त्रस्त। ऐसे में क्या हो सकता है, एक बार मन में आया, कहूं, मेरे बेटे को बुला दो बाहर से।

क्यों? डॉक्टर पूछेगा। तब मैं क्या यह कहूं कि वह डॉ. सुमित से मिले कि वह डॉ. भान को बताये कि मेरी यह दशा हो रही है? ऐसे में डॉ. भान से सम्पर्क हो जाए, तब भी वे आई.सी.यू. में फोन करके इसी डॉक्टर से पूछेंगे। लेकिन क्या बेटे को बाहर से बुलाया जाएगा, सम्भवतः नहीं। मेरे जिद करने पर शायद वह बुला दे या तब भी न बुलाये। तब क्या होगा?

घबराकर मैंने डॉक्टर से कहा-डॉक्टर साहब, यह कंट्रोल तो हो जाएगा?

बोले-यदि यहां भी नहीं होगा, तो कहां होगा। मैं आपके पास ही हूं, निश्चिंत रहिए। मैं निश्चिंत तो क्या होता, विवशता में अवश्य चुप हो गया, लेकिन अन्दर ही अन्दर अनेक आशंकाओं से घिर गया। कोई और उपाय न देखकर मैंने सोचा-अब जो होगा, हो जाएगा। इसमें मैं कर भी क्या सकता हूं। बेकार दुःखी होने के अलावा। तभी मेरे मन में अर्द्धाली का यह अंश उभरा- होई है सोई जो राम रचि राखा। अब राम ने या किसी और ने या परिस्थितियों ने जो रच रखा है, या आकस्मिक रूप से या सहज रूप से जो होने जा रहा है, उसको अन्यथा करने का कोई उपाय भी तो नहीं है मेरे पास। इसलिए किसी अन्य पंक्ति के अभाव में यह पंक्ति मेरे मानस में उभर आयी और तभी न जाने कब के संस्कारों से वशीभूत होकर मेरे मानस में 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं' लहरा गया। दो-तीन पंक्तियां मैंने मन ही मन दोहरायीं और मुझे कब नींद आ गयी, मुझे नहीं मालूम।

बस इसी अनुभव को भाई लोगों ने मेरी नास्तिकता की पराजय और प्रच्छन्न या बलात्- बौद्धिकता से दबा दी गयी आस्तिकता का प्रमाण मान लिया और अब मान लिया तो मान ही लिया। मैं कर भी क्या सकता हूं? पहले भी मैं क्या कर सकता था नास्तिकता का प्रतिपादन करते समय?

इस लम्बी घातक बीमारी के बीच मुझे जिस अगाध स्नेह-सौजन्य, आत्मीयता, प्रगाढ़ता, हितचिन्ता के अगाध स्रोत का अहसास अपने कई सम्भावित और अप्रत्याशित जनों में मिला, उसकी स्मृति मात्र से मैं गद्गद् हो उठता हूं। यह प्रसंग आने पर या मेरे द्वारा उसका उल्लेख करने में कंठावरोध हो जाता है, रोमांच हो जाता है, अश्रु मेरी आँखों से छलक पड़ते हैं। मेरे लिए कौन, कितनी अधिक प्रगाढ़ता, स्नेह, वात्सल्य, आदर को संजोए हुए है, यह मुझे अभी पता चला और खूब पता चला। सामान्य शिष्टतावश ही हालचाल पूछनेवालों के अतिरिक्त कभी कोई आत्मीय पूछता तो मेरा स्वर कांप जाता। पहले भी मेरी हालत ऐसी हो जाती थी। कहीं से भी आत्मीयता का स्पर्श पाते ही मैं द्रवित हो उठता था और अब तो यह प्रायः होने लगता है। देखने-मिलने आनेवालों के स्नेह-सौजन्य, आत्मीयता का स्मरण करते ही मैं गद्गद्। कई दिन तक ऐसे लोगों के आते और जाते समय मैं भाव-विगलित। रोकने पर मेरी भाव-लहरी उद्दीप्त होकर बह निकलती मेरी आंखों के माध्यम से, मेरे स्वर-भंग और रोमांच से। पहले भी बेटे और विशेषतः बेटी से अलग होते हुए मैं अपने को संयमित नहीं रख पाता था। यहां तक कि अनेक इष्ट मित्रों और आत्मीयों से विदा लेना मुझे उद्वेलित कर जाता है। अनेक बार मैं ऐसे अवसरों पर जान-बूझकर उपस्थित नहीं रहता। अधीरता मेरे स्वभाव में बढ़ती ही जा रही है। हितैषियों द्वारा इसे मेरी दुर्बलता भी समझा जाता है।

बड़ा खर्चीला इलाज था यह। इतना प्रबन्ध अपने पास तो था ही नहीं, लेकिन अपने रिश्तेदारों की अयाचित कृपा से, बड़ी सरलता से यह हो गया। अनेक लोगों ने अनेक बार आग्रह करके देना चाहा, बड़ी मुश्किल से उन्हें विश्वास दिलाने का प्रयास किया गया कि प्रबन्ध हो गया। 'हमसे क्यों नहीं कहा?'

'अब कहेंगे, यदि आवश्यकता पड़ी तो।'

फिर भी लेने का आग्रह। यह प्रगाढ़ता, आत्मीयता किसे नहीं द्रवित करेगी! और मैं तो ठहरा वैसे भी अधीर! एक अभिन्न मित्र दुःख प्रकट कर रहे थे। उन्हें बड़ी ग्लानि थी और अब भी है कि उनके पास मुझे देने को कुछ नहीं था। कहीं से लेकर देने की दशा में भी वे नहीं थे। मैंने उनसे कहा-'आप दुःखी न हों। सब प्रबन्ध सरलता से हो गया है।'

बोले-'दुखी कैसे न होऊँ?'

मुझे उनके इस दुःख ने कितनी बड़ी तृप्ति का अहसास कराया, नहीं कह सकता। तब उन्हें मैंने चेखव की एक कहानी सुनायी-घनघोर शीत की रात रूस में। एक भिखारी रोता हुआ कह रहा था-'मुझे ठंड लग रही है, मैं भूखा हूं।' तभी एक व्यक्ति ने उसे रोका। भीख के लिए फैले हुए उसके हाथ को अपने हाथ में लेकर अपने ओवरकोट के अन्दर कर लिया और बड़े दुःख से बोला-'भाई, देने को मेरे पास कुछ भी तो नहीं है।'

'लेकिन जो यह गर्माहट सहानुभूति और करुणा की तुमने मुझे दी है, किसी भी दान से बढ़कर है।'

मैंने उन्हें आश्वस्त करने के लिए यह बात कही, लेकिन वे शायद ही आश्वस्त हुए हों। एक अन्य मित्र ने कहा-जब मेरी आवश्यकता हो, केवल फोन कर देना। बीस घंटों में मैं आपके पास आ जाऊंगा। ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिन्हें याद करके मैं अपने को परम सौभाग्यशाली समझता हूं। भला हो इस रोग का, जिसने मुझे ऐसी प्रगाढ़ता के अनेक स्पर्शों का अनुभव कराया, तभी तो रहीम ने कहा है-

रहिमन विपदा हू भली, जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में, जान पड़े सब कोय।।

186/12, आर्यपुरी, मुज़फ्फर नगर

सन्तोष गोयल

मैं जानूँ हूँ

"नमस्ते! अम्मा जी।"

"नमस्ते! जीत्ते रहो, बेट्टा।" सेटी पर बैठते हुए अम्मा जी ने कहा।

"कैसी है आप? दवा के बाद कैसा लग रहा है?"

"अरे! के बताऊँ बेट्टा। जिस दिन दवा ले ली गई थी, उस दिन तो फरक लगा था जरा-मड़ा...उस रात तो सोई भी थोड़ा...नींद आने के बाद कितना अच्छा लग रहा था...पर फिर वैसे का वैसा. ..अगले दिन से तो नींद भी न आई, न ताकत ही।"

"बिल्कुल फर्क नहीं पड़ा क्या?"

"पड़ा क्यों न। पड़ा, ज़रा-मड़ा-सा पर वो लगे ना है बेट्टा। इब कोई ऐसी दवा भी तो न हो सके है जो बुढ़ापे का इलाज बन जावै।"

"तो फिर, वही दवा दे दूँ...अगर थोड़ा-सा भी फर्क पड़ा हो तो, वही ठीक है।"

"हाँ, हाँ बेट्टा। वाई दे दे। पर कुछ और भी दे। ज़रा-सा दम आ जावै, ऐसी कुछ। डागदर हो तुम तो। कुछ ताकत की दवा भी होवेगी...वही और दे दो।"

"ठीक है अम्मा जी।"

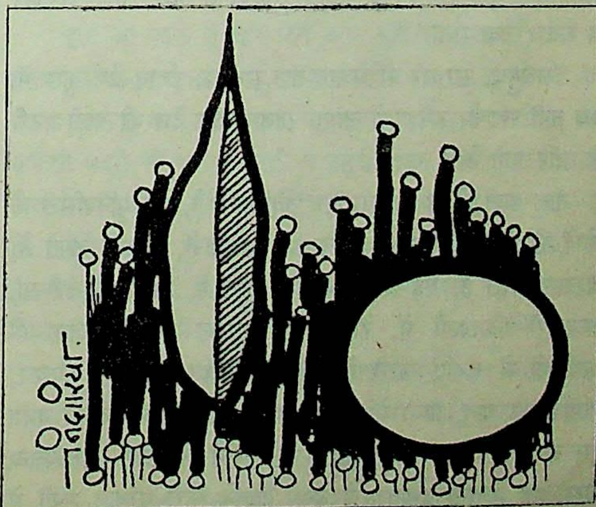
डॉ. कुमार के पास भीतर के कमरे में बैठी मैं यह बातचीत भी सुन रही थी और बाहर का जायज़ा भी ले रही थी। डॉ. कुमार मेरे लिए दवा बनाने में व्यस्त थीं। पिछले दिनों मेरी पीठ पर कोई जहरीला कीड़ा काट गया था। उसका जहर इस कदर फैला कि डॉक्टरों के पास जाने का तांता-सा बंध गया। जहर ऐसा फैला कि समूची पीठ फदफदा आई थी। दवाएं जाने क्या-क्या ली जा चुकी थीं...मल्हम लगाने के लिए, तेल खुश्की कम करने के लिए, एन्टीबायटिक खाने के लिए....विशेषज्ञों को भी दिखाया जा चुका था। ज़हर था कि अपना प्रभाव छोड़ ही न रहा था। अब तो पीठ से चलते हुए वे चेचक के से दाने शरीर के अन्य भागों में भी फैलने लगे थे, जिनमें निरन्तर खारिश होती रहती। तभी किसी ने सुझाया कि शरीर की बीमारियों के लिए 'होम्योपैथी' सबसे अच्छा इलाज है। बाहरी-भीतरी सभी बीमारियों को जड़ से काट देने की क्षमता है इन दवाइयों में। बस, शर्त यह है कि डॉक्टर अच्छा मिल जाये, जो बीमारी के मूल को पकड़ ले।

इन्हीं अनेक सुझावों के कारण तथा बीमारी की निरन्तर बढ़ोतरी से दुःखी होकर मैं घर के पास वाले 'होम्योपैथी क्लिनिक' में आ गयी थी। मुझे पता था कि मेरी पड़ोसन मित्र डॉ. कुमार वहीं प्रैक्टिस कर रही थीं, जो इन दिनों अपने बेटे के पास विदेश गयी हुई हैं, अतः उनसे मिलने को संभावना को त्यागती तथा दूसरे डॉक्टर गुप्ता जी के पास लगी मरीजों की लम्बी कतार में बैठ कर प्रतीक्षा करते रहने की मानसिक तैयारी के साथ मैं वहां चली गयी थी। क्लिनिक में घुसते ही डॉ. कुमार दीख गयीं तो बांछें खिल आईं। मरीज की तरह बाहर लाइन में बैठे रहने की तकलीफ से बच निकली थी, जिस पर डॉ. कुमार से इतने दिन बाद मिल सकने की खुशी भी थी।

डॉ. कुमार का नाम नीलिमा था, पर मैं उन्हें 'नीलू' बुलाती थी। नीलू मुझे भीतर के कमरे में ले गयीं, जहाँ वे बैठी थीं। असल में, वे सुबह के समय मरीज देखतीं, कुछ देर भीतर के कमरे में बैठ कर विशिष्ट मरीजों की बीमारियों के बारे में अधिक जानकारी लेतीं, आगे क्या दवा दी जाये, इस पर खोज-बीन करतीं, कुछ नयी दवाइयों के बारे में पढ़तीं और शाम होते-न होते चली जातीं। दोपहर बाद डॉ. गुप्ता क्लिनिक संभालते।

मैं दोपहर बाद पहुँची थी और नीलू का वही खाली समय था। नीलू के कमरे में ही बैठी थी, जब बाहर के कमरे की आवाज़ें सुन पड़ी थीं। आवाज़ के मैगनेट से खिंची मेरी निगाह ने दरवाज़े के शीशे से बाहर झांका।

वे एक बुजुर्ग महिला थीं। उम्र शायद पचहत्तर या फिर इससे ज्यादा ही हो सकती थी। पोपला मुँह झुर्रियों के कारण और अधिक पोपला लगता था। चेहरे पर खुश्की के कारण ढेर-सी रेखाएँ दीख रही थीं।। वे बार-बार इधर-उधर हाथ करतीं, बेचैनी से शरीर खुजा रही थीं...कभी गरदन, कभी माथा, कभी ठोढ़ी, कभी पल्लू के नीचे का पेट। उनके चेहरे पर ढेर-सी बोरियत बिखरी थी। इतनी कि कोई और भाव दीख ही न रहा था। "आँखें...आँखें दीखें तो. .." मैंने सोचा और अचानक उन्होंने भीतरी कमरे की ओर देख लिया।



उनकी आँखों में जो भाव थे, उससे ज़ाहिर था कि वे बेहद दुःखी हैं...शायद बीमारी से; बेहद नाराज हैं, शायद खुद से या लोगों से; बेहद बोर हैं, शायद जिन्दगी से। ये भी शायद जानती थीं कि अब उनकी बीमारी की कोई दवा नहीं है, फिर भी उनकी बोर दिनचर्या का ये भाग आदत की तरह अंजाम पाता था। वे ही नहीं, डॉक्टर भी जानते थे कि दवा एक खास उम्र के बाद कुछ असर नहीं करती। तब बीमारी की कोई वजह नहीं होती, उम्र स्वयं बीमारी होती है।

मुझे यूँ होम्योपैथी की इन छोटी-छोटी ग्लूकोस की गोलियों पर विशेष विश्वास न था। हमेशा लगता था कि इतने बड़े शरीर पर इन बित्ते भर की गोलियों का असर ही क्या होगा? तिस पर नीलू से बातचीत से यह जानकारी भी मिल चुकी थी कि होम्योपैथी चिकित्सा पद्धति 'कन्सण्ट्रेटड' तथा 'स्ट्रांग' दवा देने में विश्वास नहीं करती। उसके अनुसार 'स्लो एण्ड स्टेडी विन्स द रेस' (धीरे चलो और जीतो) वाला फार्मूला ही सही था। धीमी गति से चलने के कारण मेरी सहनशक्ति जवाब दे जाती और नीलू की दोस्ती भी उस इलाज को न बचा पाती।

अब की बार तो नीलू के न होने पर भी और अपनी सहनशक्ति की सीमा जानकर भी, बीमारी से बेहद दुःखी होकर मैं खुद से यह अहद करके कि दवा तब तक जारी रखनी है जब तक डॉक्टर ही मना न कर दें, क्लिनिक पहुँची थी। अचानक नीलू सामने पड़ गयी और बीमारी भूलकर मैं और वह पिछले दिनों की खाई भरने बैठ गये।

अस्तु! बात तो बाहर बैठी अम्मा जी की थी। नीलू टेलीफोन पर बातचीत में खोई थी और मैं अम्माजी की बातचीत सुनने में। नीलू की टेलीफोन की बात खत्म हुई। अब हम आमने-सामने थे। नीलू बोली, "और बताओ, यूनिवर्सिटी कैसी चल रही है?"

"यूनिवर्सिटी...अरे, उसका चलना क्या, बस, घिसट रही है... सारा ढांचा बुरी तरह बिगड़ गया है...ऊपर से नीचे तक... सरकार से बेकार तक सब।"

"सचमुच, सरकार से बेकार तक सब का ईमान-धर्म कुछ भी बच नहीं रहा है। हमेशा ये लगता रहता है कि देश की गाड़ी पटरी से उतर गयी है।"

नीलू रुकी तो मैं बोल उठी, "और पता है, हम यूनिवर्सिटी के लोगों की बड़ी मुश्किल ये है कि हम जानते हैं, समझते-बूझते हैं, डिस्कस करते हैं, बड़े-बड़े शब्दजाल बुनते हैं, लिखते हैं-ढेर-सा, अखबारों-पत्रिकाओं में, रेडियो व दूरदर्शन की 'बातचीत' के कार्यक्रमों में चर्चाएं करते हैं....है न सच।" थोड़ा-सा रुककर, "और एक बात, प्रायः ये लगता रहता है कि प्रत्येक बोलने वाला इस बात पर ज्यादा ध्यान देता है कि उसने जो कहा, जो वक्तव्य दिया, वह कितना प्रभावशाली बना, कितने भारी-भरकम शब्दों में उस बात को लोगों के सामने रखा जो यूं तो सभी जानते हैं, पर उन शब्दों में बंधी नहीं सुनते।"...मैं थोड़ा हँस पड़ी।

नीलू भी हस दी। बोली, "हमेशा मुझे लगता है कि शब्दों का महत्त्व इतना अधिक हो गया है कि उनमें के अर्थ खो गये है। अर्थहीन भारी-भरकम शब्द बोलते रहते हैं सब लोग....पता नहीं अर्थहीन जीवन का अन्त क्या होगा?"

तभी अम्मा जी आवाज़ सुन पड़ी। मेरा ध्यान फिर उनकी ओर चला गया।

"डॉक्टर साहब, एक बात तो भूल ही गयी बताना। कुछ खाने को मन न करे है, चिगलाती रहूँ हूँ मुँह में। गस्सा अन्दर ही न जावे। बहोत सोचूँ...खाया ही न जाये तो न खाऊँ...पर तब भी न चले। खाऊँ न तो करूँ भी क्या? समय ही न बीते...पहले तो रसोई में बीत जावे था। इब तो न रसोई में मन लगे है, न बच्चयाँ को मेरा पकाया पसन्द आवै है....क्या कहवें...नूडल्स, पीजा, बन, डोसा... उन्हें ये सब भावैं। वो भी बाज़ार का। पैले 'वे' थे न, उनके लिए बनाऊँ थी...बड़ी तारीफ करें थे।...पर अब तो मुझसे मेहनत ही न होवै, न बच्चे स्वाद से खावैं...जिनगी का मज़ा ही खत्म हो गया।"

अम्मा जी इससे कोई मतलब न था कि कोई सुन रहा है या नहीं, प्रतिक्रिया की भी इच्छा न थी, यहाँ तक कि हाँ...हूँ भी न सुनना चाहती थीं शायद।

"न खाना बना पाओ, न खा पाओ....ये भी कोई जीना हुआ। कोई दवा ऐसी दे द्यो डॉक्टर साहब कि खाने में ज़रा स्वाद आ जावे।"

पर्ची की ओर देखते डॉक्टर गुप्ता पर्ची पर कुछ और लिखने लगे।

अम्माजी के भीतर तो बहुत भरा था, या यूँ कहो कि भीतर इतना खाली था कि कितना भी भर लें, भरने में न आता था।

"ये खालीपन ज़िन्दगी के लिए कितना बड़ा शाप है, इसे कोई तब तक नहीं समझता जब तक खुद नहीं भुगतता। अपने पेट के जाये बच्चे तक नहीं समझते।" मैंने मानो खुद ही से कहा। नीलू की ओर देखते हुए पूछा, "ये अम्माजी कौन हैं, जो बाहर बैठी हैं?"

"यहीं पास में ही रहती हैं। एक बार में सिरफ चार दिन की दवा लेकर जाती हैं। लाख कहो कि एक-दो हफ्ते की ले जाइये। बार-बार आने, लाइन में लगकर इन्तज़ार करने से बच जायेंगी... मानतीं ही नहीं। कह देती हैं, पता नहीं लगेगी कि नाहीं...हाल बताने तो आना ही पड़ेगा ना।"

नीलू सामने रखे फ्रिज से पानी की बोतल निकालते हुए बोली थी। पानी सामने देखकर प्यास महसूस होने लगी थी। पर मैं थी कि अम्माजी पर से न निगाह हटाना चाह रही थी, न कान बन्द करना। गिलास में पानी डालते हुए नीलू ही बोली "ये अम्माजी हर पांचवें

दिन हाज़िर हो जाती है....बेनागा, समय भी नहीं बदलता, न पहले, न बाद में....एक घण्टा लाइन में बैठना पड़े तो भी। और पता है यहाँ जो मरीज़ आते है उनके घर-बार के बारे में यह हमसे ज्यादा जानती हैं...घरबार ही नहीं उनकी बीमारी का कारण, प्रभाव व दवा तक जानती हैं।...और एक मज़े की बात बताऊँ?''

''हूँ....ऊँ...ऊँ।'' मैं उत्सुकता से भर उठी थी।

''जितने मरीज़ यहाँ आते हैं, अपनी बीमारियों की चर्चा करते हैं, वे सभी बीमारियों इन्हें भी निकल आती हैं। कोई न कोई बीमारी इन्हें कभी न कभी हुई जरूर होती है। बस...फिर क्या? अपनी बीमारी का पूरा इतिहास-भूगोल ये वो चटकारे ले-लेकर सुनाती हैं, मानो बीमारी पुराण न हुआ, कोई मज़ेदार घटना हुई। दादी-नानी के नुस्खे भी बताती रहती हैं।''

अब तो अम्माजी मेरे 'अनुसंधान' का विषय बन चुकी थीं। 'वृद्धजन समितियों' के साथ जुड़ी तथा 'ओल्ड होम्ज' में समाज कल्याण कार्यकर्ता होने के नाते मैं अम्मा जी के अकेलेपन को भरने की योजना बनाने लगी थी। अतः उनके घरबार के बारे में नीलू से पूछा।

''है...भरा-पूरा घर है। चार बेटे-बहुएँ, पोते-पोतियाँ... भरा-पूरा परिवार है...खासा पैसे वाला। ढेर से नौकर-चाकरों वाला भी। घर में सारा दिन काम की चक्की चलती रहती हैं...हैं ही इतने लोग। जितने लोग उतना ही काम... पर...।''

नीलू रुकी तो मेरी प्रश्नभरी निगाह उस पर टिक गयी।

''पर क्या?''

''पर....इनके पास कोई काम ही नहीं है। वक्त ही वक्त है अम्मा जी के पास और वही घर भर के लोगों के पास नहीं है।''

''बेटे, पोते-पोतियां...?''

''हाँ, बेटे आते-जाते-कभी कभार ''अम्माजी कैसी हैं?'' की हाँक लगा जाते हैं। पोते-पोतियां...जब तक छोटे थे, तब तक बहुओं को वक्त-बेवक्त उन्हें अम्मा जी को सौंप कर अपनी मस्ती कर लेने की जरूरत का अहसास होता था, पोते-पातियाँ भी अपनी मम्मी से झिड़की खाकर दादी की गोद में छिपने आ जाते थे पर...अब सब बड़े हो गये हैं, स्कूल-कॉलिज जाने लगे हैं...अब न तो मम्मियों को जरूरत महसूस होती है, न ही उन्हें वक्त मिलता है।''

अम्माजी को दवा मिल गयी थी, पर शायद उनका मन न भरा था। ढेर-सी बातों के ढेर धागों से उनका मन उलझा रहता । जब तक उन्हें कोई बात याद आती, तब तक दूसरी भूल जाती।

दवा लेते-लेते उनके हाथ में जोर से खारिश हुई। दवा की शीशी मेज़ पर रखते हुए बोलीं, ''ये देख तो बेट्टा। कितनी खाज होवै है। खुजा-खुजा के खून निकल जावै है। कितनी मल्हम लगाओ, कितना तेल....वो किसी ने बताया था गोले के तेल में कपूर मिलाकर लगा लो तो...वा भी लगाया था...दवा कोई न लगे है....है तेरे पास कोई दवा या मल्हम बेट्टा।''

''अम्माजी, ये तो उम्र के साथ शरीर का तेल खत्म हो जाता है न, उसी के कारण खुश्की आ गयी है। ये खुश्की की खारिश है। आप पानी लगाकर तेल लगायें, फिर पानी मलें। शरीर में थोड़ी नमी रहे तो अच्छा है।''

''वो तो ठीक है। तुमने पहले भी बताया था पर...पानी लगै, हाथ गीले होंवें, तो बदन चीस मारे है...पर ठीक है बेट्टा। तू भी क्या करे। असल में तो ये उमर का रोग है...इसका इलाज तो हकीम लुकमान के पास भी न होवे। बस...यमराज ही इसका इलाज कर सके। वही तो भूल गया हैगा।''

कहते हुए उन्होंने दवा की शीशी उठायी। गठिया वाले पैर को पकड़ कर लंगड़ाते हुए चल दीं। मुझे हैरानी थी कि उन्होंने पैर के गठिया की बात न की।

तभी मैंने नीलू का हाथ थामा, बोली, ''चल ज़रा बाहर। कॉफी हाउस चल। अम्मा जी से भी मिल लें।'' कमरे से बाहर निकल रहे थे कि अम्मा जी से आंखें मिलीं। नीलू को देखते ही उनकी आँखों में परिचय की खुशी लहराई। तपाक से बोलीं, ''कैस्सी है बेट्टी। कहाँ चली गयी थीं? कब से नईं दिखीं।''

फिर बिना उत्तर की इन्तज़ार किये, मानो जवाब की अपेक्षा थी ही नहीं, वे बोलती रहीं ''कैस्सी डॉक्टर हो। मरीज़ों को इत्ते दिन छोड़कर चल देती हो। जानै है मैं तो तेरे बिना अधमरी हो गयी हूँ। तू दवा देवे थी तो लगै थी। शफ़ा है तेरे हाथ में। पर...सबसे बड़ी बात ये है कि तू बोल्लै थी, हाल-चाल पूच्छै थी। मैं तो भूलन लग गयी हूँ...तू याद करवा दे थी। इब देख...आज दवा बन गयी थी और मैं देह की खारिश के बारे में बताना भूल गयी। अच्छा...छोड़। बता कैसे हैं घर में सब? बाल-बच्चे ठीक हैं''

''हाँ अम्माजी, सब ठीक हैं। पर अम्मा जी...आज तो आप बहुत ठीक लग रही हैं...।''

''इहां आ जाऊं हूं चार दिन बाद, यहीं बोलचाल लूँ लोगां से और मन की बात कर लूँ हूँ, डॉक्टर साहेब से। ....तू थी तो दिल ज्यादा खोल दूं थी...चल अच्छा है। अब तू वापिस आ गयी है, अब अकेली बदरी-सी घर में घुटती न रहूंगी...मन करेगा तो तेरे पास आकर बरस लूँगी।...मैं जानूँ हूँ बेट्टी, मेरे लिए कोई दवा-दारू नईं है....मेरी दवा तो बस्स, उस भगवान के हाथ में है...वही देगा, जब उसकी इच्छा होगी...पर तुम लोगों के पास आकर मन की भड़ास निकल जावै है/...मैं जानूँ हूँ ये सच।''

और वे अच्छे मनोवैज्ञानिक की तरह अपनी बात कहकर चल दीं। हम दोनों खड़े देखते रहे। फिर झटके से कॉफी हाउस की ओर चल दिये।

125, इन्द्रप्रस्थ कालोनी, सेक्टर-30-33, फरीदाबाद

बचिन्त कौर

तिनके का सहारा

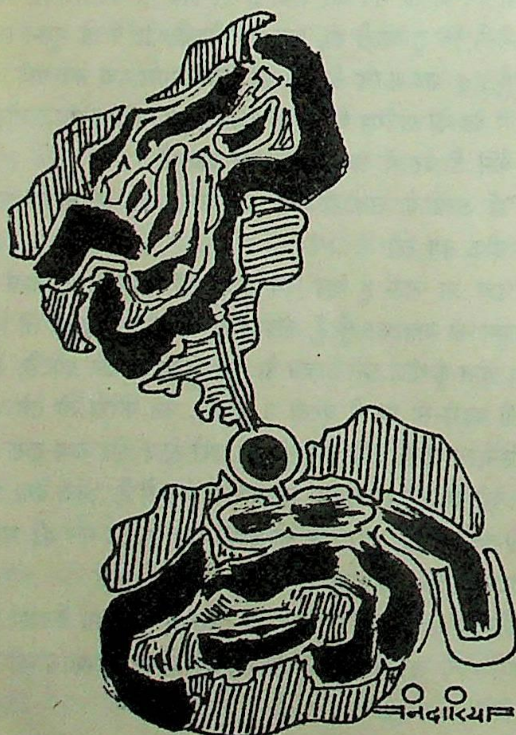
अपने दरवाज़े का ताला खोलते ही, मेरी नज़र अचानक ऊपर बालकनी के रोशनदान पर जा टिकी। यह क्या? सफेद कबूतरी अकेली? हाथ भर जगह पर कबूतरी इधर-उधर गुटर-गुटर करती हुई परेशान घूम रही थी।

उसको अकेले देखकर मेरा दिल दहल गया। कहीं किसी ने चीने कबूतर को पकड़ तो नहीं लिया? सामने के फ्लैट में रहने वाला लड़का बिट्टू कई दिनों से कबूतर को पकड़ने की कोशिश में था। जब कभी कबूतर उनकी छत पर लगे एंटीना पर बैठता, बिट्टू उसके पीछे पड़ जाता।

रसोई में चाय बनाते हुए भी मैं अभी भी उसके बारे में ही सोच रही थी। पिछले छः-सात वर्षों से यही सफेद कबूतरों का जोड़ा तो इस घर में मेरा साथी था।

जब से मेरा जीवन साथी गुजरा था, दिन तो मेरा किसी प्रकार मन्दिर या गुरुद्वारे जाकर गुजर जाता, पर रात इतनी काली और लम्बी होती जो काटने से भी नहीं कटती थी। अपने बिस्तर पर लेटे हुए, रोशनदान में बैठे कबूतरों के जोड़े को सामने देख, मुझे कुछ तो तसल्ली होती कि इस सूने घर में कोई तो मेरे पास है।

वैसे, प्रभु की कृपा से मेरे बेटे-बेटियाँ, पोते-पोतियाँ, सब हैं। पर



सब अपने-अपने परिवारों में व्यस्त हैं। किसी के पास समय नहीं कि कोई दो-चार दिन मेरे पास आकर रह सके। बेटा तो अपने परिवार के साथ सात समुद्र पार कनाडा में जाकर बस गया है। बहू ने अपने माँ-बाप को अपने पास बुला लिया है।

दोनों बेटियां भी अपने-अपने परिवार में सुखी हैं। उनकी तरफ से मुझे यही तसल्ली बहुत है। बड़ी बेटी इन्द्रजीत तो कभी-कभी साल-छः महीने में एक-दो रात आकर मेरे पास रह जाती है पर छोटी बेटी का पति अपनी ही मौज का है, वह इसीलिए चिट्ठी-पत्री से ही काम चला लेती है। बड़े दामाद और बेटी ने तो कई बार कहा भी है कि बीजी अब आप हमारे पास ही आकर रहिए, वह भी आपका ही घर है। हमारी आपके प्रति चिन्ता भी खत्म हो जाएगी।

मैं सोचती हूं जब बेटे का घर ही मेरे लिए बेगाना है तो बेटी का घर भला मेरा कैसे हुआ? फरीद की वाणी की यह पंक्ति लेटे-लेटे मेरे मस्तिष्क में अचानक आकर तैरने लगती है-

'बार पराए बैसना साईं मुझे न देह।'

पर अकेले भी तो वक्त नहीं गुज़रता। अब तो कई बार पानी का लोटा भी कोसों दूर लगता है। जोड़ों का दर्द भी तो दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। पैसे के बल पर डॉक्टर को टेलीफोन करके घर तो बुला लेती हूँ, पर कुण्डा तो उठकर मुझे ही खोलना होता है न। एक दिन पलंग पर लेटे-लेटे ही कूल्हे में बल पड़ गया था। डॉक्टर दरवाज़े को कितनी देर तक खटखटाता रहा। दरवाज़ा तो तभी खोलती जो उठ सकती। दर्द से कमर तो दोहरी हो रही थी। भला आदमी की जगह कभी पैसा काम आ सकता है?

बेटा पैसे तो ज़रूर भेज देता है पर आने का नाम नहीं लेता। पैसा अपनी जगह आदमी अपनी जगह...। लोग झूठ कहते हैं कि पैसा पास हो तो इन्सान कितने सारे सुख खरीद सकता है। यह सब झूठ है। आदमी की जगह आदमी और पैसे की जगह पैसा।

इसी सोच में डूबी मैं सूखी डबल रोटी का टुकड़ा चाय में भिगोकर पुनः अपने कमरे में पलंग पर आकर बैठ जाती हूं और मेरी नज़र बार-बार ऊपर रोशनदान में व्याकुल कबूतरी पर जा टिकती है। ये दोनों तो पिछले कई वर्षों से इस रोशनदान में इकट्ठे बैठते थे। भोर होते ही उड़ जाते और अंधेरा होते ही इकट्ठे रोशनदान में आ बैठते। क्या मजाल जो दूसरा कोई गोला कबूतर कभी इस रोशनदान में आ बैठे...। चीना कबूतर चोंच मार-मार कर उसको भगा देता और फिर दोनों आपस में किल्लोल करते न थकते। अपने कमरे के रोशनदान में इन दोनों को देखकर मुझे सदा यही लगता कि मैं यहां अकेली नहीं हूं, कोई और भी मेरे पास है।

पर आज यह, अकेली सफेद कबूतरी कैसी तड़प रही है? जैसे किसी ने गुलेल से इसका सीना बींध दिया हो। आखिर सफेद कबूतर

कहां रह गया...? ज़रूर सामने वाले लड़के ने उसको पकड़ लिया होगा।

मैं रोटी को गले से न उतार सकी। मेरा मन चाहा कि पहले बाहर जाकर बिट्टू को आवाज़ लगाकर कबूतर के बारे में पूछूं। हाथ में पकड़ा चाय का कप और चम्मच समेट प्लेट में रखकर मैं कमरे से बाहर आने की कोशिश करने लगती हूं, पर घुटने तो जैसे जवाब दे चुके थे। यह ठंड का मौसम ऊपर से संध्या। आज सुबह तो घुटने सत्संग में जाने से भी इनकारी थे। फिर भी ज़बरदस्ती मैं किसी तरह मंदिर पहुंच ही गई। घड़ी-दो घड़ी दिन तो शान्ति से निकले। खाली घर की दीवारें भी तो अब काटने को आती हैं। घर अब कैसा, मकान ही कहूं तो सही है। घर तो होते हैं परिवारों और बच्चों से। बच्चे तो जा बसे समुद्र पार। वैसे वे यहां मेरे पास आकर करें भी तो क्या? यहां आकर उन्हें मेरी भी फिक्र करनी पड़ती। मैं तो अब किसी को सुख देने योग्य नहीं हूं। भूलकर कभी बेटियां आ भी जाएं तो एक कप चाय भी खुद बनाकर पीती हैं। घर में कोई नौकर-चाकर भी तो नहीं रख सकती। समय जो खराब है। बाबू जी की पेन्शन के पैसों से मेरा गुज़ारा तो चल जाता है पर नौकर को पैसे कहां से दूं।

यदि मांगूं तो बेटा पैसा तो भेज दे पर मुझे फालतू पैसा करना भी क्या है...। बाबू जी सब कुछ यहीं छोड़ गए हैं, मैं भी छोड़ जाऊंगी।

वह ऊपर वाला मानो मुझे ले जाना भूल ही गया है। पूरे बारह वर्ष हो गए हैं बाबू जी को गुजरे हुए पर मुझे अभी तक मौत नहीं आई।

मेरा ध्यान कुछ क्षणों के लिए कबूतर से हटकर मेरे अपने अस्तित्व में उलझ जाता है। इस उलझन से निकलने के लिए मैं अचानक रेडियो चला देती हूं। पता नहीं कौन, किस प्रोग्राम में नवें गुरु का यह श्लोक पढ़ रहा था-

ज्यूं सुपना और पेखना तैसे जग को जान।।
इन में कुछ तेरो नहीं नानक साची मान।।

यह सुनकर मेरा मन और भी उदास हो जाता है। सोचती हूं यदि यह जगत सपने के समान ही है तो मैं इसको सच मानकर क्यों बैठी हूं? पर मन इस विचार को स्वीकार नहीं करता...।

मेरी निगाह फिर ऊपर रोशनदान में व्याकुल कबूतरी पर जा टिकी है। सफेद कबूतर अभी भी नहीं आया। यह कोई मनुष्य तो नहीं है जो किसी दुर्घटना में मारा गया हो बाबू जी की तरह। पर दुर्घटनाएं तो आसमान में भी होती हैं। अंधेरा पल-पल अपनी काली चादर चारो ओर फैलाता ही जा रहा है। ऊपर से ठंडी अंधेरी रात, वातावरण में भय ही भय भरता जाता है।

मैं जल्दी से रेडियो बन्द कर मुंह पर रजाई का पल्ला ले सोने का यत्न करती हूं। कमरे में जलती रोशनी को ज्यों की त्यों रहने देती हूं। कम से कम उस अंधेरे को यह मद्धिम रोशनी कुछ तो रोकती है। नहीं तो सुनसान वातावरण में दीवारें भी बोलने लगती हैं।

इस घर में कभी इतना शोर रहता था कि किसी की बात सुनाई नहीं देती थी। बाबू जी के गरजते बोल, रिचू की किलकारियाँ, इन्द्रजीत, कुकी और कमलजीत की तू-तू, मैं-मैं- तौबा! कितना शोर मचाते थे तीनों बहिन-भाई जब कभी इकट्ठे बैठते। मैं तो उन्हें चुप कराती ही थक जाती। पर तभी तो यह घर, घर था। अब...? आप ही सवाल, आप ही जवाब देती मैं फिजूल की सोच में उलझ जाती हूं।

दीवार-घड़ी पर देखते-देखते दोनों सुइयां बारह पर पहुंच गई हैं। बाहर चौकीदार की, दीवारों के साथ खड़कती लाठी, वातावरण को और भी डरावना और भयभीत बना रही है। रोशनदान में बैठी कबूतरी अब शांत हो गई। शायद निंदिया रानी ने अपना आंचल उसकी पलकों कपर डाल दिया था।

काश! यह निद्रा मेरी पलकों में भी आ जाती। रात अभी भी बहुत बाकी है। एक, दो, तीन- मेरे मोहल्ले के लोग भी तो छः-सात बजे से पहले नहीं जागते। यह नींद मुझे क्यों नहीं आ रही? नींद और मृत्यु में मुझे कुछ भी अन्तर नहीं लगता। मैं सोचती हूं कि नींद भी आरांम देती है और मृत्यु भी...। पर मुझे कब आएगी?

रोशनदान में बैठी कबूतरी अचानक घबड़ाकर फड़फड़ाने लगती है।

दीवार पर लटकी घड़ी की सुइयां अब एक दूसरे से...बहुत दूर जा चुकी हैं।

अचानक बाहर बालकनी में पड़े कूलर के ऊपर धड़ाम से गिरती किसी भारी चीज़ की भयानक आवाज़ सुनकर मेरी चीख निकल जाती है। भय से मेरा दिल धक-धक करने लगता है। डरती हुई मैं काँपते हाथों से धीरे से बालकनी का दरवाज़ा खोल बाहर अंधेरे में झाँकने लगती हूँ।

तेरा सत्यनाश, कलमुंही! तू कहां से आ मरी? मेरी आवाज़ मेरे गले में ही अटक कर रह जाती है, जैसे कांच का कोई गोला गले में अटक गया हो। अब मुझे सफेद कबूतरी की गर्दन बिल्ली के जबड़ों में लहूलुहान लटकती हुई नज़र आती है।

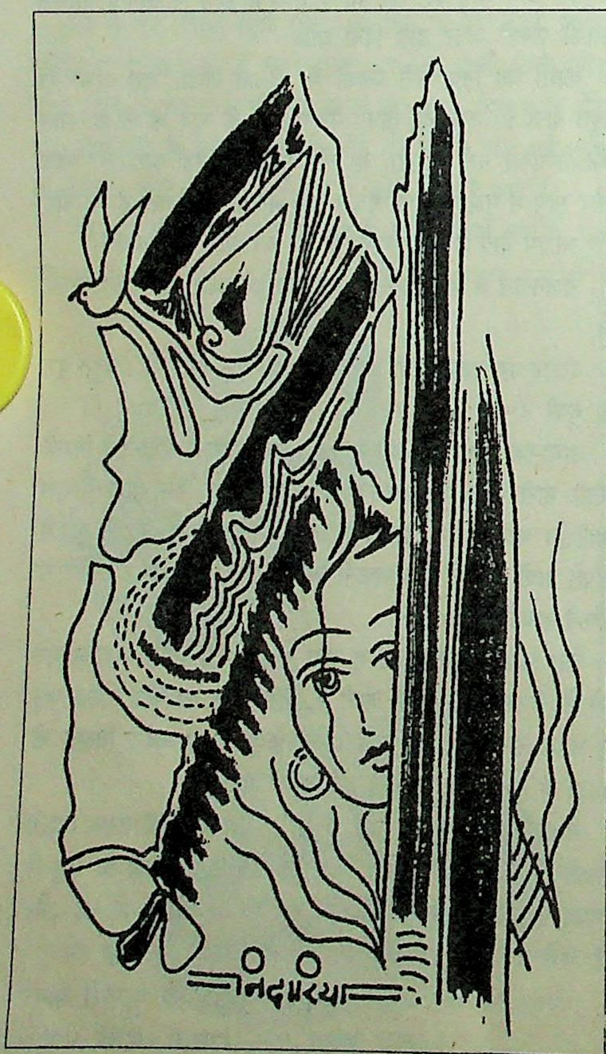
रोशनदान तक पहुंची कैसे? मैं ऊपर रोशनदान की तरफ देखती सोचती हूं। मेरी कोई भी सोच अब मेरा साथ नहीं दे रही है। लहू से लथपथ कबूतरी को घसीटती बिल्ली पल भर में ओझल हो गई और मेरे चारो तरफ दूर-दूर तक रेगिस्तान ही बिछकर रह गया था।

अनुवाद : सुशीला कुमारी कपूर
1/6033 काबल नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032

रामनाथ चव्हाण

उष:काल

अशोक के काम का पहला दिन था। सरकारी दवाखाने में हाज़िर होने की रिपोर्ट उच्च अधिकारियों को भेजनी थी। सुबह जल्दी ही दवाखाने में जाना चाहिए, इस विचार से उसने सामान का सूटकेस खोल दिया। काम के संदर्भ में सभी कागज़-पत्र बाहर निकाले। अखबार में समेट कर रखी हुई आम्बेडकर की तसवीर निकालकर गद्दी पर रख दी। तसवीर कमरे में लगाऊँ कि नहीं, यही प्रश्न उसके सामने था। आबासाहेब का स्वभाव और विचार देखते हुए तसवीर लगाकर यूं ही सिरदर्द न हो, उसके मन में आया। लेकिन कभी तो समझ में आ जायेगा, तब जो कुछ होना है वह हो जाएगा, सोच कर उसने तसवीर के ऊपर का कागज़ निकालकर कमरे में लगाने के उद्देश्य से तसवीर दीवार से टेककर रख दी। इतने में सावला दरवाजे में आकर खड़ा हो गया। अशोक का उसकी ओर ध्यान नहीं था।



वह कागज़-पत्रों की फाइलें छानने में मगन था।

आम्बेडकर का फोटो देखकर सावला को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बारीकी से फोटो को देखा। फोटो डॉ. आम्बेडकर का है ऐसा विश्वास हो जाने पर उसका चेहरा आनंद से खिल उठा। वह मन में विचार करने लगा, पाटील डॉक्टर मराठा समाज का, फिर बाबासाहेब का फोटो उसने अपने पास क्यों रखा होगा। ऐसा था तो कल ही उसने क्यों नहीं कहा? इन प्रश्नों के उत्तर डॉक्टर से ही प्राप्त करने चाहिए इसलिए साहस करके उसने अशोक से कहा,

"यानी कि तुम हममें से हो न!" सावला की आवाज़ से अशोक चौंक उठा। उसने पीछे मुड़कर देखा। सावला कंधे पर कंबल और हाथ में लाठी लिए खड़ा था। आम्बेडकर के फोटो की ओर वह प्रसन्न चेहरे से देख रहा था।

सावला को देखते ही अशोक ने स्मित किया और उसे अंदर बुलाया। सावला डरते-डरते अंदर गया। अशोक ने उससे पूछा,

"हममें से, यानी कि क्या?"

अशोक के इस प्रश्न से सावला थोड़ा-सा झुँझलाया।

हिचकिचाते हुए उसने कहा,

"तुम्हारे पास बाबासाहेब का फोटो है। इसलिए कहा कि क्या तुम हममें से हो? तुम्हारे कारण बाबा का दर्शन हुआ। बहुत अच्छा लगा। तुम्हें गुस्सा तो नहीं आया?"

बाबासाहेब के बारे में सावला के मन में आदर देखकर अशोक बहुत शर्मिन्दा हुआ। देहातों में ये भोले और अनाड़ी लोग स्वयं कितने प्रामाणिक होते हैं और हम? हम पढ़कर अक्लमंद होते हैं और खुद को फँसाने लगते हैं। अशोक बहुत समय तक चुपचाप था। सावला बड़ी आशा से उसकी ओर देख रहा था। उसे लग रहा था; अशोक एक ही बार कह दे कि "मैं तुममें से हूँ।" इसी की वह प्रतीक्षा कर रहा था। सच्ची जाति सावला से कहने का साहस अशोक को नहीं हुआ। उसने सावला से कहा,

"देखो सावला, आम्बेडकर केवल तुम्हारे समाज के नहीं थे, वे तो देश के महान नेता हैं। वे देश के गठन के शिल्पकार हैं। तब इस महान पुरुष का फोटो पास रखना कोई अनुचित नहीं है।"

अशोक ने अपराधी मन से शुद्ध भाषा में सावला को समझाने का प्रयत्न किया। उसके कहने से सावला लज्जित हुआ। हमारे देव का फोटो पाटील साहेब अपने पास रखते हैं यानी कि डॉक्टर साहेब कितने उदार मन के हैं! वह चुपचाप बाहर जाने लगा। लेकिन दहलीज के बाहर उसके पैर नहीं निकल रहे थे। पाटील साहेब निश्चय ही अपने जाति के होंगे ऐसा उसे लग रहा था। शहर में पढ़े हुए आदमी ऐसे ही जाति छुपाकर देहात में रहते हैं यह उसे मालूम था। वह वैसे ही कमरे में खड़ा था। उसका खड़े रहना उसे खटक गया। उसने सावला से कहा!

"सावला, और कुछ पूछना है?"

"नहीं, कुछ कहना चाहता हूँ।"

"क्या कहना है, कहो।"

"यहां सँभालकर रहो।"

सावला के बोलने का अर्थ अशोक ठीक से समझ नहीं पाया। इसलिए उसने पूछा!

"सँभालकर रहो यानी क्या?"

सावला अशोक के पास आया और बड़ी आत्मीयता से कहा, "साहेब, तुम अपने हो, इसलिए कहता हूँ- आबासाहेब स्त्रियों के विषय में बुरा आदमी है। तुम अकेले हो। इसलिए ठीक है। पत्नी को ले आने के झंझट में मत पड़ो।"

सावला ने अशोक को धोखे का इशारा दिया, लेकिन अशोक अपने मन में कह रहा थ, जब शादी का अता-पता ही नहीं तो पत्नी को ले आने का प्रश्न आता ही कहाँ है?

सावला ने धीरे से बाहर झाँककर देखा और अशोक के पास अदब से आकर बैठा। वह कुछ विशेष कहना चाहता था, यह अशोक के ध्यान में आया था। उसने सावला से कहा,

"सावला, इस गाँव में मैं नया हूँ। तुम्हारे बिना मेरा इस गाँव में किसी से परिचय नहीं है। तुम जो कुछ कहना चाहते हो वह कह दो।"

सावला उठा और फिर से एक बार दरवाजे में से झाँककर अशोक के पास आया।

"इतना ही कहना है कि संभलकर रहो।"

सावला फिर-फिर संभलकर रहने को क्यों कहता है, यह अशोक की समझ में नहीं आ रहा था। कोठी में निश्चय ही कुछ तो झंझट होगा, उसे लगा। तब उसने सावला से कहा,

"सावला, तुम मुझे अपना कहते हो। फिर मुझसे कुछ बातें छिपाकर क्यों रखते हो? तुमने मुझसे कहा तो मैं कहीं नहीं बोलूंगा।"

जब अशोक ने ऐसा कहा तब सावला में उत्साह आया। उसने दीवार पर के फोटो की ओर देखा और खुले दिल से कहने लगा,

"साहेब, तुमसे पहले इस कमरे में हममें से एक मास्टर जाति छुपाकर रहता था। वह तुम्हारे जैसा तरुण था। उसके साथ उसकी पत्नी भी थी। हल्दी जैसी पीली। नाक-आँखों से तरोताज़ा। बहुत सुंदर। वह गाँव में जाती तो गाँव के आदमी उसकी ओर एकटक देखते रहते थे। आठ-आठ दिन तक वह कमरे से बाहर नहीं आती थी। पति स्कूल में जाता था और बेचारी अकेली ही कमरे में रहती थी।"

कहते-कहते सावला रुक गया। इधर-उधर देखा। कोई आ तो नहीं रहा है, यह देखकर वह कहने लगा। अशोक ध्यान देकर सुनने लगा। लेकिन सावला ठिठकने लगा। उसे अगली बात कहने का साहस नहीं हो रहा था। बीच में ही उसने अशोक से कहा,

"बाबा साहेब की शपथ, तुम किसी से कुछ नहीं कहोगे न?"

अशोक हँसा और कहा।

"मेरे ऊपर विश्वास रखो। नहीं कहूँगा कहीं।"

"वैसे तो सभी गाँव को मालूम है न, लेकिन..."

"हाँ, कहो आगे, क्या हुआ आगे?" अशोक अगली बात सुनने के लिए उत्सुक हो उठा था। लेकिन सावला तो चुप हो गया था। उसे कहने में डर लग रहा था। अशोक उससे कहने का आग्रह कर रहा था। वह सावला से कह रहा था, "सावला, तुम मुझ पर विश्वास रखो। तुम जो कहोगे वह मैं किसी से नहीं कहूँगा।"

"डॉक्टर साहेब, तुम पर विश्वास कैसे रखूँ? तुम पाटील, ऊँचे कुल के किसान। गरीबों की स्त्रियाँ तुम्हें अपनी सम्पत्ति ही लगेंगी।" सावला ने कुछ गुस्से से ही कहा।

सावला अशोक को किसान समझा था। अब अशोक के ध्यान में आया। मास्टर का क्या हुआ यह जानना है तो अपनी सच्ची पहचान करा देनी चाहिए, नहीं तो सावला कुछ नहीं बताएगा। वह सावला की ओर देखकर हँसा और कहा, "सावला, तुम मुझे मराठा किसान समझते हो?"

"हाँ जी।"

"गलत है यह, मैं तुममें से हूँ।"

"क्या कहते हो? तुम हममें से हो?" सावला को आश्चर्य हो रहा था।

"हाँ।"

"सच कहते हो कि यूं ही मेरा मज़ाक उड़ाते हो?"

"सच कहता हूँ। बाबासाहेब की शपथ।" बाबा साहेब की शपथ लेने पर सावला को विश्वास हुआ। अपनी जाति बताने पर अशोक ने सावला से कहा,

"एक बात याद रखो, मेरी जाति किसी से न...समझे।"

"नहीं, मैं अपने आदमी को कैसे संकट में डाल दूंगा।"

अशोक अपनी जाति से है यह जानकर सावला को बहुत आनंद हुआ। उसने उसे बड़ी खुशी से रात के भोजन का आमंत्रण दिया। अशोक को भी अच्छा लगा। देहातों में अपने आदमी कितने अपनेपन से, कितनी आत्मीयता से बर्ताव करते हैं। सावला अब मास्टर के बारे में निश्चय ही बताएगा, अशोक को यकीन हुआ और उसने कहा,

"सावला, मास्टर का आगे क्या हुआ यह मुझे जानना चाहिए।"

डॉक्टर से सब कुछ कह देना चाहिए, सावला को लग रहा था। लेकिन आबासाहेब के डर से वह नहीं कह रहा था। यदि आबासाहेब के कान तक यह समाचार पहुंचा तो वे काम पर नहीं

रखेंगे, जिन्दा भी नहीं छोड़ेंगे। लेकिन अपने आदमी को अंधेरे में कैसे रहने दूंगा? उसे सतर्क करना चाहिए। ऐसा सोच कर सावला ने मुंह खोल दिया। वह अशोक से कहने लगा,

"दिन अमावस्या का था। रोज की तरह मास्टर सुबह स्कूल में गए थे। कमरे में उसकी पत्नी अकेली ही बैठी थी। कोठी की स्वामिनी खेत में गयी थी। वही समय आबासाहेब ने चुन लिया। वैसे तो पहले से ही उसकी आँखें उस पर लगी हुई थीं। कोठी में कोई नहीं है यह देखकर आबासाहेब कमरे में घुस गये और दरवाजा बंद किया। घंटे भर उसने मास्टर की पत्नी को नहीं छोड़ा। वह 'मुझे छोड़ो, मुझे छोड़ो' कहते हुए पुकार रही थी लेकिन भेड़िया बकरी को छोड़ता है क्या? शाम को मास्टर स्कूल से घर आये तो घर खुला। घर में उसकी पत्नी नहीं थी। उन्हें लगा कि गयीं होगी स्वामिनी के यहां। इसलिए उन्होंने कपड़े बदले और दरवाजे में कुर्सी रखकर आराम से बैठे गए। आधा घंटा हुआ, एक घंटा हुआ। सूर्यास्त हुआ, अंधेरा फैला तो भी पत्नी का पता नहीं था। अभी तक वह क्यों नहीं आयी, उसने पुकारा। लेकिन किसी ने भी उत्तर नहीं दिया। फिर स्वयं उठकर स्वामिनी के यहां जाकर देखा तो वहां भी नहीं थी। और भी एक-दो स्थान पर पूछताछ की लेकिन पत्नी का पता नहीं लगा। अब मास्टर बहुत डर गए। मास्टर को यह नहीं सूझ रहा था कि अब क्या करूं? जल्दी-जल्दी कपड़े पहनकर वे कोठी से बाहर निकल पड़े तब गांव में अफवाह फैली थी कि परसू नायक मास्टराइन को निकालकर ले गया। जो भी मिलता था यही बात मास्टर से कहता था। यह सुनकर मास्टर बहुत घबड़ा गए। फिर पंचायत में गए तो वहां आबासाहेब फौजदार के साथ बातचीत कर रहे थे। आबासाहेब को देखकर मास्टर रो पड़े। आबासाहेब ने उसे समझाया और कहा-'परसू ने जो किया वह अच्छा नहीं किया। तुम्हारे लिए ही साहेब को बुलाया है। मास्टर, तुम कुछ भी चिंता मत करो। कल सूर्योदय होने से पहले ही परसू को जेल में भेज दिया जाएगा।' देशमुख बोल रहे थे और सुनकर मास्टर स्कूल के बच्चे की तरह सिसक रहे थे।

"कल शाम तक स्त्री की खोज करके तुम्हें सौंप देंगे। तुम बेफिक्र रहो।" फौजदार ने वचन दिया तो आबासाहेब मास्टर को लेकर कोठी में आये। कोठी में आदमियों की भीड़ लगी हुई थी। हर कोई कह रहा था- 'परसू ने बहुत बुरा किया। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। किए हुए पाप की सजा उसे मिलनी चाहिए।'

"आबासाहेब ने जमे हुए लोगों को समझाकर अपने-अपने घर भेज दिया। उस रात मास्टर ने पानी तक नहीं पिया। एक कोने में बैठकर खुली आँखों से रात बितायी।

"दूसरे दिन सुबह गाँव में लड़के भागते-भागते आये और घबड़ाते हुए आबासाहेब से बोले- 'मास्टराइन भैरूबा के कुएँ में फूलकर ऊपर आयी है।'

"अच्छी कुलीन स्त्री थी। लेकिन आबासाहेब ने उसकी इज्जत को धूल में मिला दिया था। इसलिए उससे सहन नहीं हुआ। आखिर वह कुएँ में कूद पड़ी।" इतना कहकर सावला ने धोती का छोर आँखों से लगाया।

"आगे क्या हुआ?" अशोक ने पूछा।

"आगे क्या होगा? हमेशा की तरह पंचनामा हुआ। उलटा चोर कोतवाल को डाँटे। देशमुख छूटे और परसू को सजा हुई। यह कैसे हुआ, मैं नहीं कह सकता लेकिन हुआ तो यही। तब से परसू नाईक देशमुख पर गुस्सा प्रकट करता है।"

"अब मास्टर कहाँ है?"

"तब से मास्टर दिखाई नहीं देते। कोई कहता है कि वे पागल हो गए हैं, कोई कहता है कि वे पूना के मेंटल हॉस्पिटल में हैं। हॉस्पिटल में है कि मरा हुआ है बेचारा। भगवान जाने।" यह कहते हुए सावला की आँखें गीली हो गईं। घुटने पर हाथ रखकर सावला उठा और उठते-उठते उसने कहा,

'देहात में ऐसा ही है। तुम अब सँभलकर रहो।"

सावला कमरे से बाहर चला गया। अशोक जड़वत दीवार पर के फोटो की ओर देख रहा था।

थोड़े समय बाद उसने कपड़े बदले। हाथ में बैग लिया। उस समय देशमुख बाई तुलसी को पानी दे रही थी। उसका वह हर रोज का नियम था। उसकी ओर देखे बिना अशोक जल्दी-जल्दी बाहर जा रहा था।

'चाय पीकर जाओ...'' देशमुख बाई की आवाज खनक गयी। उसने ठहरकर बाई की ओर देखा। वह गाल में हँसी और थोड़ी सी लज्जित हुई। चाय टालने के उद्देश्य से अशोक ने कहा,

'नहीं, कुछ भी नहीं चाहिए। सुबह-सुबह मैं कुछ भी नहीं लेता।" कहकर वह झट-से कोठी के बाहर आ गया। वह पीठ पीछे उसकी आकृति की ओर देखती खड़ी थी। अशोक जब दृष्टि से ओझल हुआ तब उसने अपनी नजर दूसरी ओर घुमायी।

अशोक रास्ते पर चल रहा था। मन में तो कांबले मास्टर और उनकी पत्नी का विचार चल रहा था। फोटो में उसकी हँसी और संकोच उसे अस्वस्थ कर रहे थे। वह उसी विचार में तेजी से चला जा रहा था। उसी रास्ते से सामने से परसू नाईक आ रहा था। अशोक ने उसे देखा तो उसने हँसते हुए उसे राम-राम किया। अशोक ने चौंक कर उसकी ओर देखा।

"अहो डॉक्टर साहेब, हमारा गाँव अच्छा लगा कि नहीं?"

"अच्छा न लगने के लिए क्या हुआ? अच्छा ही लगा।" परसू के हाथ में पकड़ी फरसी कुल्हाड़ी की ओर देखते हुए अशोक ने कुछ डरकर कहा।

"डागदर साहेब, उसे दिन का सभी भूल जाओ और शाम को चाय पीने के लिए हमारे घर आओ। तुलसा की सगाई है।" परसू ने अशोक को सगाई का निमंत्रण दिया और फरसी कुल्हाड़ी हाथ में सँवारते हुए चला गया। अशोक को आश्चर्य हुआ। उस दिन का परसू और आज का परसू-इन दोनों में बहुत फर्क लगा। तब कड़ी धूप में गले में शराब की बोतल खाली करने वाला परसू, देशमुख का नाम लेकर गालियाँ देने वाला परसू यही है? उसने इतने अपनेपन से मुझे लड़की की सगाई का निमंत्रण दिया कैसे? परसू जिस तरफ गया, उस दिशा की ओर देखते हुए वह वैसे ही खड़ा रहा। देशमुख उसके पास आकर कब खड़े हो गए यह वह जान ही नहीं पाया। "क्या सोच रहे क्या हो डॉक्टर?"

देशमुख की आवाज़ से चौंककर अशोक ने पीछे मुड़कर उसकी ओर देखा और खुद को सँभालते हुए कहा,

"कुछ नहीं, परसू नाईक मिला था तो..."

परसू का नाम सुनते ही देशमुख भड़क उठा। अशोक की बात बीच में काटते हुए तिरस्कारते कहा,

"सयाने हो तो...परसू का साथ छोड़ो। तरुण स्त्रियों की इज्जत लूटने वाली औलाद है वह। शाम को कोठी में जल्दी लौटो तब सब रामायण कहता हूँ।"

यह कहकर वे गुस्से से चले गए।

सूर्य ऊपर आ गया था। कोमल किरणें अब कड़ी हो गई थीं। धूप तपने लगी थी। अशोक चलते-चलते चौपाल की ओर आ गया। पाकड़ के नीचे चार-पांच बूढ़े आदमी काम न होने के कारण गप्पें मारते हुए बैठे थे। पड़ोस में लड़कों ने ताश का दाँव लगा रखा था। अशोक ने चौपाल में झाँककर देखा था। दस-बारह तरुण इकट्ठे बैठकर चर्चा कर रहे थे। जान-पहचान का यह अच्छा अवसर है, सोच कर वह चौपाल में गया। सभी उसकी ओर प्रश्नार्थक चेहरे से देखने लगे। कोई शहर का मेहमान होगा, पता पूछने के लिए आया होगा, उन्हें लगा। अशोक ने जाते ही प्रसन्न मुद्रा में उन्हें 'जयभीम' किया, बैठे हुए तरुणों ने उसे 'जयभीम' कहकर प्रत्युत्तर दिया। उन्हीं में से है, जानकर उसके बारे में पूछा। अशोक ने उन्हें अपना परिचय दिया, "मैं अशोक पाटील, पूना का रहने वाला। मैं मलेरिया का डॉक्टर हूं। अब तुम्हारे गाँव में बदली हुई है। खास तौर पर परिचय के उद्देश्य से यहाँ आया हूँ।"

अशोक के ऐसे परिचय पर सभी तरुण एक दूसरे की ओर सशंक दृष्टि से देखने लगे। 'पाटील' उपनाम से उनके मन में संशय पैदा हुआ। उपनाम 'पाटील' और कहता है 'जयभीम'! इस पहेली में वे उलझ गए।

कुछ भी हो, 'जयभीम' किया है तो अपना समझकर गौतम मोरे ने उसे बैठने के लिए जगह दी। गौतम ने उसे स्वयं का और वहां बैठे हुए तरुणों का परिचय दिया। अशोक को कुछ आश्चर्य हुआ। चौपाल में बैठे हुए तरुण अलग-अलग जाति के और सुशिक्षित थे।

स्वयं गौतम साहित्य का स्नातक था। उसके पास बैठा हुआ मातंग समाज का शिवाजी सकट एस.एस.सी. पास था। उसके पास बैठा चर्मकार समाज का दामू पवार औरंगाबाद के मिलिंद कॉलेज में अंतिम वर्ष में पढ़ रहा था। इसके अलावा नायक जाति के तीन-चार लड़के और माली जाति का सावता भी शामिल हुए थे। अलग-अलग समाज के तरुणों को एक साथ बैठ चर्चा करते देखकर अशोक मन से संतुष्ट हुआ। मेरे अचानक आने से उनकी चर्चा में यूँ ही बाधा उत्पन्न हुई है लेकिन कभी तो सबसे मिलना चाहिए, ऐसा सोच कर वह बैठक में से उठा और कहा,

"ठीक है, चलता हूँ मैं।"

"बैठो, इतनी क्या जल्दी है?" कहते हुए सावला ने उसे बैठाया।

"अब मुकाम कहाँ है?' गौतम ने पूछा।

"देशमुख की कोठी में।"

"पाटील को तो देशमुख की कोठी में जगह मिलगी ही।"

शिवाजी सकट की बीच में ही की गई टिप्पणी से सभी लड़के हँसे। गौतम ने उसे नज़र से डाँटा तो शिवाजी चौंक पड़ा।

"देखो, देशमुख हो अथवा पाटील हो, अपना झगड़ा उपनाम से नहीं है, प्रवृत्ति से है। पाटील डॉक्टर देशमुखी प्रवृत्ति के हैं, ऐसा कृपा करके न समझें। पाटील स्वयं ही आपसे मिलने के लिए आये हैं। हमें उनका मान रखना चाहिए।"

गौतम के बोलने से सभी तरुण चौंक पड़े और शांत होकर बैठ गए।

"डॉक्टर साहेब, तुम आये, हमें आनंद हुआ। तुम्हारे कोठी में रहने पर हमें कोई हर्ज नहीं है। लेकिन संभलकर रहो।" गौतम ने अप्रत्यक्ष चेतावनी दी।

"अकेले हो कि परिवार के साथ?" शिवाजी ने खास तौर पर पूछा।

"नहीं, फिलहाल मैं अकेला हूँ।"

"फिर रहो निश्चिंत। हुई तो वह भी व्यवस्था हो जायेगी।" शिवाजी की बात पर अन्य लड़कों ने ध्यान दिया। गौतम ने उन्हें फिर डाँटा। सभी लड़के हँसी को रोकते हुए नीचे गर्दन कर के बैठ गए। बात को अलग मोड़ न मिले इसलिए गौतम ने मूल चर्चा का विषय डॉक्टर को बताना शुरू किया।

"क्या है डॉक्टर साहेब, पिछले पंद्रह वर्ष से गाँव का सब कारोबार देशमुख देखते हैं। विरोध के बिना वे सरपंच का चुनाव जीतते हैं। लेकिन गाँव में कोई सुधार नहीं है। तब इसमें कुछ बदल होना चाहिए। इसलिए हम विचार करने के लिए बैठे हैं। तुम्हें क्या

लगता है इस विषय में?''

''तुम जो कर रहे हो वह उचित है।''

अशोक का विचार सुनकर सभी को अच्छा लगा। इतने में उतावले शिवाजी ने जमीन पर मुट्ठी मारते हुए कहा,

''आनेवाले चुनाव में हम देशमुख को नीचे खींच लेंगे।''

तरुणों में जोश और नेतृत्व की परंपरा बदलने का उनका निश्चय देखकर अशोक मन में संतुष्ट हुआ। लेकिन पहली ही भेंट में अजनबी तरुणों में इतना घुलमिल जाना उचित नहीं होगा। इसलिए उसने उठते हुए कहा,

'ठीक है, तुम्हारी बैठक चलने दो। हम फिर से मिलेंगे...'' कहकर वह जाने लगा। इतने में सामने से तीस वर्ष उम्र का एक साँवला तरुण वहां आया। पाज़ामा, नेहरू कमीज़, दाढ़ी-बाल बढ़े हुए, नाम शबनम। आते ही उसने सबसे कहा-''देशमुखी परंपरा आज या कल बदलेगी। लेकिन अपनी भीतरी परंपरा का क्या? हम चमार बस्ती में नहीं जाते। शेष सालदार देशमुख की मुट्ठी में है। इन सबको एक करना चाहिए। क्यों मेहमान?'' उसने अशोक की ओर देखकर कहा।

उसने अशोक की ओर देखा तो गौतम मोरे ने उसकी पहचान करा दी।

''ये हमारे समाज के उत्साही कार्यकर्ता किरण कांबले हैं। उपाधिधारक हैं। अब पैंथर छोड़कर आर.पी.आई में कार्य करते हैं।''

अशोक ने कांबले की हाथ जोड़कर जयभीम किया। कांबले ने भी जयभीम किया और पूछा, ''आप आर.पी.आई के कि पैंथर के?

अशोक ने हँसते हुए कहा, ''नहीं, मैं दोनों में नहीं हूँ। फिर भी मैं दोनों ओर का हूँ।''

''अच्छा।''

''अपने गाँव में डॉक्टर बदली होकर आये हैं।''

''ऐसे! हमारी देशमुख बाई को गर्भिणी रहने के दिन आयें, ऐसी गोलियाँ दे दो यानी कि सरपंच पद के लिए वारिस तो तैयार होगा।'' किरण की इस बात पर सभी जोर से हँसे।

किरण ने अशोक से बैठने का आग्रह किया। अशोक फिर बैठ गया। किरण ने सबसे कहा, ''देशमुख का क्या करना है, वह हम आने वाले चुनाव में देख लेंगे। उसे सरपंच पद से कैसे नीचे खेंचना है वह हम समय आने पर करके दिखायेंगे। लेकिन उससे पहले गंदी परंपरा से हम कैसे मुक्त हो पाएंगे इस पर विचार करो।'' किरण द्वारा अचानक विषय को अलग मोड़ दिये जाने पर सभी उसके मुंह की ओर देखने लगे, तब उसने कहा, ''बबन्या की बूढ़ी अभुआयी। घर में वह इधर-उधर घूम रहा है। आते समय देखा। इसलिए कहता हूँ।''

''कौन से देव का है यह?'' शिवाजी ने बीच में ही पूछा।

''कलुआबीर!'' किरण का उत्तर सुनकर सभी लड़के बबन्या की ओर देखकर हँसने लगे। वह कुछ शर्मिंदा हुआ और बैठक में से उठकर चला गया। किरण की बात का समर्थन करने के लिए गौतम ने कहा, ''किरण जो कहता है वह सच है। बौद्ध धर्म स्वीकार किए तीस-पैंतीस वर्ष हो गए तो भी अपना अभी तक हिन्दू परंपरा से छुटकारा नहीं हुआ है। अभी भी देव-देहरा पूजना, अभुआना जारी है।''

''लेकिन अब यह रुकना चाहिए। नये विचारों की पीढ़ी को यह रोक देना चाहिए।'' किरण जोर-जोर से बोलने लगा था।

''हर एक को अपने घर से देवी-देवता के फोटो, देहरे फेंक देने चाहिए।''

किरण की बात से उनमें थोड़ा-सा शोरगुल हुआ। कुछ लोगों को उसकी बात पसंद नहीं आ रही थी तो कुछ को पसंद आ रही थी।

चौपाल में तरुणों का शोरगुल सुनकर पाकड़ के नीचे बैठे बूढ़े आदमी उनकी ओर घूरकर देखने लगे। इतने में शिवाजी के पिता बीड़ी पीते हुए बैठक में आए और कहा।, ''सूअरो, इतनी कड़ी धूप में क्या शोरगुल मचा रखा है?''

सभी शिवाजी की ओर देखते रहे। बैठक में आकर पिता ने सबको गाली दी, यह शिवाजी को खटक गया। वह चिढ़ा और पिता से कहा, ''तुम यहां क्यों तड़पने के लिए आये हो? जाओ वहाँ बीड़ी पीते हुए बैठो।''

इससे बूढ़ा और चिढ़ा और शिवाजी को गालियाँ देते हुए लौट गया।

पिता-पुत्र के गाली-गलौज से बैठक के रंग में भंग हो गया। आपस में कानाफूसी बढ़ गयी। पिता द्वारा अपमान किये जाने पर शिवाजी को गुस्सा आया। पिता से क्या कहूं यह उसे नहीं सूझ रहा था। गौतम को इसका ध्यान आया तो उसने कहा, ''अब यह बैठक यहीं स्थगित कर देंगे। अगले सप्ताह की बैठक में चर्चा करके निर्णय लेंगे।''

सभी तरुण जल्दी-जल्दी उठकर चौपाल से बाहर चले गए।

अब केवल अशोक और गौतम ही पीछे रह गए थे।

''ऐसा है डॉक्टर, अब तुम ही कहो, समाज में परिवर्तन होगा तो कैसे?''

''मोरे साहेब! हजारों वर्षों की परंपरा बदलनी है तो थोड़ा-बहुत ऐसा चलेगा ही। ठीक है, आता हूँ मैं।'' अशोक उठकर चलने लगा तब गौतम ने उसे रोका और चाय के लिए चलने का आग्रह किया। हाँ-ना करते अशोक ने उसे स्वीकृति दे दी। वे दोनों बातचीत करते हुए गौतम के घर आये।

हिन्दी अनुवाद : के.जी.कदम

-क्रमशः

शामा की तीन कविताएँ

बेटियाँ

कैसे-कैसे याद आ जाती हैं
बिछुड़ी हुई बेटियाँ
हँसती हुई माँओं को
बेजह रुला जाती हैं
माँ जाई बेटियाँ।।

भुलाना चाहकर भी,
भुलाई नहीं जातीं
दिल की धड़कन की तरह
दिलों में धड़कती हैं बेटियाँ।।
युगों से अन्तर जैसे खाली हो
तरसता है मन
भरने छवि उनकी
इतनी अपनी होकर भी
कितनी पराई हो जाती हैं बेटियाँ।

घोर विवशता के विरोध
अकुला देते हैं....
जब ममता की क्षमता
ऐसे विफल व्यथित पलों को
खुशबू का झोंका बन
सहला जाती हैं बेटियाँ।

यादों की इस कोहरे भरी घाटी में
नीलम नील झील-सी चमकती हैं
मलगज़ी सुबह की
सुनहली शबनमी बूँद बनकर
अपनी माँओं की आँखों में
दमकती हैं बेटियाँ

साईशा

हँसती-हँसाती साईशा
तितलियों के परों को
हाथ से सहलाती साईशा
बादलों-सी लहराती नदियों-सी गाती
गुनगुनाती साईशा
रोशनियों के शहर में
सितारों की .पगडंडियों पर
इतराती. इठलाती
सन्नाटों के खौफ को
किलकारियों से महकाती साईशा।
"नानी मां, नानी माँ" कहकर
दिल पर जमी कोहरे की परतों को
गलबहियों से पिघलाती
तोतली ज़बां से बहलाती साईशा
कोरों पर रुके अश्रुओं में
भोर किरण-सी चमचमाती
नन्हें-नन्हें हाथों से
मेरे आहत अहं को सहलाती
मैं जैसी हूँ वैसे ही अपनाती साईशा।
सहज सवालों की लड़ियों से
मेरे दिल के वरको को पलटती
खोई हुई सतरों को उलटती
आँखों में भोलेपन की रोशनाई भर
मुझे मेरी याद दिलाती साईशा

साँसों की लांछना

घायल है माँ
अपनी औलाद से
छिपाती है सूखी आँखों की नमी
कभी धुएँ के नाम कर
कभी उड़ती धूल के।
खिसियानी-सी जा खड़ी होती है
दरवाजे की ओट में
जब नहीं छिपाई जाती
आंख की सुर्खी।
चीर-फाड़ कर औलाद
व्यस्त है अपनी व्यस्तता में
नहीं रोक पाती अपनी
ज़बान की बर्बरता।
तोड़-फोड़ कर उनके शब्द तो खो जाते हैं।
पर माँ को अस्ति को
बौना करते...
मलबे के ढेर छोड़ जाते हैं।
लाचार मिमियाती माँ
उसी मलबे को
दूसरी आँखों से छुपाती,
पिघलते लावे-सी तपती
मथी जाती है
बची-खुची साँसों की
लांछना में।

बी-113, चितरंजन पार्क, नई दिल्ली-19

शोभा साहेबराव राणे की दो कविताएँ

वजूद

धरती की तरह
विस्तीर्ण मेरे अस्तित्व को
आच्छादित कर दिया है
तुम्हारे अस्तित्व ने
ऊपर फैले विस्तीर्ण
आकाश की तरह
तुमसे परे, तुमसे हटकर
तुमसे परे विलग होकर
क्या रह पायेगा
मेरा कोई अस्तित्व,
मगर
जितनी आश्रित मैं हूं
क्या, उतने तुम नहीं हो?
मेरे अस्तित्व से परे
तुम्हारे विशाल-विस्तीर्ण
आकाश का क्या कोई
होगा वजूद?

नींव का पत्थर

मेरे स्वप्न-पाषाणों को
यों न ठुकराओ
हो सकता है
ये वही हो
नींव का पहला पत्थर
जिस पर टिकी है,
तेरी गगनचुम्बी इमारत।

19, शारदा नगर, गंगापुर रोड, नासिक-422013

मजीद अहमद

भूतपूर्व की संक्षिप्ति

जैसे नींद में दूब की नोक पर
ठिठकी प्यास
जैसे बहती हुई गोमती में
उड़ते पक्षी की प्रतिच्छाया
जैसे अनुपस्थित की प्रतीक्षा में
दीवारों पर अंगुलियों की छाप

कितनी विवश और चुप है चाह
जैसे-जैसे-जैसे की वर्तुल लय
सुनती हुई...

भूतपूर्व चेहरे पर
अचानक बहुत सारा पा लेने की ललक
और लज्जा
काँपती है...अपने दुर्दिन की
स्वप्नकाल के अंधेरे में
सुख तक जाते हुए शोक!

द्वारा, श्रीदरगाहीलाल सियाराम, कछौना, हरदोई (उ.प्र.)

श्याम सुन्दर चौधरी

वह विराट सत्य

तुमने गढ़ तो लिए
अपनी सुविधाओं की खातिर
ढेरों बिन्दु
सोचा था तुमने
इन बिन्दुओं पर खड़े होकर
तुम छू लोगे
उस विराट सत्य को
किन्तु वह सत्य
तुम्हारी पहुंच से
दूर होता चला गया

तुमने फिर फिर कोशिश की
किन्तु बार-बार
उसने तुम्हारी ओर
दयार्द्र नेत्रों से देखा
और एक विनम्र परामर्श
तुम्हारे सामने परोस दिया
कि जिन बिन्दुओं को अपनी
सत्ता समझ बैठने का
तुम्हें भान है
कितनी कराहें, कितने क्रन्दन
उनमें से होकर
उसके कानों में बज रहे हैं।
और रक्त की सहस्र धाराएं
उनमें से फूटती
दिखाई दे रही हैं

उस तक पहुंचने की
प्रथम अनिवार्यता
तुम्हारा इन बिन्दुओं से
मुक्त होना ही है
किन्तु हर बार तुम्हें लगा
तुम्हारी सुविधाएं अनाथ हो जाएंगी
तुम्हारे भीतर का राक्षस
तुम्हारा दम्भ
हो जाएंगे अस्तित्वहीन
अपने पांवों को और दृढ़ता से
तुमने जमाये रखा
इन बिन्दुओं पर
रक्त की सहस्र धाराएं
बदलती रहीं
हजारों, लाखों, करोड़ों धाराओं में
और वह विराट सत्य
आज तुम्हारी आंखों से ही
ओझल हो चुका है।

एच-61/4, साहनी कालोनी, कैन्ट, कानपुर-208004

वीरेन्द्र कुमार वसु

नया संस्करण

नया संस्करण
इस पृथ्वी का
अब आने ही वाला है
इसमें होगा
सब कुछ नया-नया
किन्तु
इस आस में कि
इसका नया संस्करण
कैसा होगा, क्या होगा
उड़ने दें हम
अपनी कल्पनाओं के
पंखों को यूं ही
यह 'उड़ना' शायद
हो हमारी विवशता या बेचैनी
लेकिन
जब 'आशा से आकाश थमा है'
तब हम तो मनुष्य हैं,
जी रहे हैं आशाओं-आकांक्षाओं के
हाथ थामे,
कम-से-कम उन्हें तो हम
न होने दें विनष्ट
नहीं तो होंगे बहुत कष्ट,
इस उम्मीद में हैं हम सब कि
वर्तमान के कोटर से
खिलने को बेचैन हैं
भविष्य-कुसुम
सिंचन दे उन्हें हम,
क्योंकि
संभव है तब शायद
कि मिल जाये हम सबों को
एक नया क्षितिज
एक नया सूरज
एक नया फलक
जो कर दें उद्दीप्त-प्रद्दीप्त
हमारी पलती-बढ़ती
आशाओं और आकांक्षाओं को,
कर दें क्षरण
पृथ्वी के इस पुराने
संस्करण का
और प्रस्तुत कर डालें
इस पृथ्वी का कोई
नया संस्करण।

एल.के. कालेज, सीतामढ़ी-843302

डॉ. कमलेश सचदेव

बुनियादी बदलाव के दौर का चित्रण : 'अभी शेष है'

'अभी शेष है' के आरम्भ होने से पूर्व लेखक ने गुरु ग्रन्थ साहिब से गुरु नानक की वाणी की एक पंक्ति उद्धृत की है-'किउ वरणी किव जाणां' अर्थात् कैसे वर्णन करूँ, कैसे जानूँ। भारतीय समाज के जिस कालखण्ड को वह अपने उपन्यास में मूर्त करना चाहता है उस दौर में राजनीति से आदर्शों की समाप्ति की शुरुआत हो रही थी, समाज में व्यक्तिवाद और सुखोपभोग के मूल्य जड़ पकड़ने लगे थे, विभाजन-पूर्व के भाईचारे की नास्टेल्जिक स्मृतियों में जीने वाली पीढ़ी विदा हो रही थी, वैचारिक स्तर पर दो विश्वदृष्टियाँ मानव जीवन की समस्याओं का अचूक समाधान पा लेने का दावा करने के बावजूद मनुष्य को सुखी करना तो दूर, उसके लिए नई से नई यातनाओं का कारण बन रही थीं और ऐसे में व्यक्तिगत असुरक्षा भावना से ग्रस्त लोकतांत्रिक सरकार का नेतृत्व भी ऐसा तानाशाह बना कि हर कोई हर पल धर लिए जाने की आशंका में जीने लगा था। इस निस्तब्धता में भी कुछ सुगबुगाहट किन्हीं स्तरों पर चल रही थी। इस परिवेश को उसके समूचेपन में अभिव्यक्त करने का सकंट तो था ही। गुरु नानक ने अभिव्यक्ति के संकट को अनुभव किया था लेकिन इसके बावजूद बाबरवाणी के पदों में अपने समय को बेबाक और बेलाग अभिव्यक्ति दी जिनमें उन्होंने ईश्वर को भी उसकी खामोशी पर फटकार दिया-एती मार पई कुरलाने, तैं की दर्द न आया (लोगों पर इतना अत्याचार हुआ, वे तड़पे, तुझे क्या उनका दर्द महसूस नहीं हुआ?)। महीप सिंह ने भी स्थितियों की विद्रूपता को व्यक्त करने में किसी तरह के लाग-लपेट से काम नहीं लिया है।

इस उपन्यास का लोकेल दिल्ली और पात्र प्रमुखतः विभाजन के बाद पश्चिमी पंजाब से उखड़कर दिल्ली आ बसे लोग हैं। तीन कथाधाराएँ हैं। भाइया मानसिंह के परिवार की कहानी एक ऐसे संयुक्त परिवार को सामने लाती है जो विभाजन के दौर में लुट-पिटकर इधर आ बसा और अब तक उसने यहां अपने को अच्छी तरह स्थापित कर लिया है। इस मध्यवर्गीय व्यवसायी परिवार में एक ओर भाइया मानसिंह हैं जो विभाजन-पूर्व के अपने गाँव पंजाब की स्मृतियों में जीते हैं तो दूसरी ओर उनकी पोती मनजीत की पीढ़ी है जो आकाश में उड़ना चाहती है। भारतीय मध्यवर्ग की यह पीढ़ी अपने लिए अपने परिवार से नितान्त अलग स्वप्न देखने लगी थी और अपने फैसले स्वयं लेना चाहती थी लेकिन अभी उस पर परिवार का अंकुश था। डेरा सन्त निरंजन सिंह की स्थापना विभाजन से पहले पश्चिमी पंजाब के लायलपुर में हुई थी जो विभाजन के बाद दिल्ली के महरौली क्षेत्र में फिर से स्थापित किया गया। नवधनिक श्रद्धालुओं के दिलखोल चढ़ावे की बदौलत डेरे का व्यापक प्रसार होता गया और साथ ही उसमें तमाम तरह का भ्रष्टाचार एवं दुराचार भी पनपने लगा। धार्मिक आस्था के धन एवं राजनीति की खातिर दोहन को यह कथाधारा सामने लाती है। तीसरी कथाधारा के केन्द्र में निरवैर सिंह आनन्द है जो मुख्यतः सिख राजनीति पर आधारित अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र 'क्लैमर' चलाता है और जागरूक सम्पादक के तौर पर देश की समस्याओं तथा राजनीतिक घटनाओं पर सोचता तथा लिखता है। भाइया मानसिंह का परिवार मनजीत, जो उसकी छात्रा रही है, के माध्यम से और डेरा सन्त निरंजन सिंह सोहन सिंह तथा सन्त बीर सिंह के माध्यम से आनन्द से जुड़ता है।

उपन्यास में यों तो किसी चरित्र को उभारने की बजाय एक कालखंड में जीते समाज और बदलती राजनीति की समस्याओं एवं प्रभावों को टुकड़ों-टुकड़ों में घटनाओं और संवादों के जरिये व्यक्त करने का रुझान दिखाई देता है लेकिन भाइया जी और आनन्द के चरित्र विशेष रूप से उभरकर आए हैं। भाइया जी देश के विभाजन के कारण पश्चिमी पंजाब से अपनी पत्नी, बेटों और भतीजे के साथ दिल्ली आ गए थे। उनकी बहन का इस आपाधापी में कुछ पता नहीं चला और भाई, भाभी तथा एक भतीजे को दंगाइयों ने मार डाला। आज भाइया जी के बेटे और एक भतीजा यहां व्यवस्थित हो चुके हैं लेकिन भाइया जी दिल्ली में रहने के बावजूद जीते अपने छूट चुके गाँव पंजण में ही हैं।

विभाजन के दिनों की रक्तरंजित स्मृतियाँ तो कभी-कभार उन्हें खून के आँसू रुलाती हैं लेकिन वहाँ बिताए अच्छे दिनों की यादें और वहाँ के लोगों का प्यार तथा धरती की खुशबू हर पल उनके साथ रहती है। आज भी उन्हें वही अपना देश लगता है। भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान की हार पर जहाँ परिवार के अन्य लोग प्रसन्न हैं, भाइया जी सुन्न हो जाते हैं। उनकी प्रतिक्रिया है-"तुम्हारा देश जीत गया पर मेरा मुल्क हार गया।" देश विभाजन की अमानवीयता और अर्थहीनता को भाइया जी का चरित्र बड़ी हद तक प्रत्यक्ष कर देता है। एक स्तर पर भाइया जी एक युग का प्रतीक भी बन जाते हैं। एक ऐसा युग जिसमें कहीं कुछ आदर्श, कुछ भावुकता बाकी थी। उपन्यास में एक ओर इमरजेंसी की घोषणा होती है दूसरी ओर भाइया जी के न रहने की सूचना मिलती है यानी इमरजेंसी की घोषणा एक सर्वसत्तावादी और व्यक्तिवादी दौर की शुरुआत तथा मूल्यों पर आधारित राजनीति के अन्त की घोषणा है।

आनन्द एक युवा पत्रकार है जो दिल्ली की सिख राजनीति की उखाड़-पछाड़ को अपने साप्ताहिक पत्र का आधार बनाए हुए है और सिख नेताओं की आपसी स्पर्धा में से विज्ञापनों का जुगाड़ कर अपनी रोजी-रोटी चलाता है लेकिन उसके कुछ उसूल हैं, जैसे वह कभी किसी को ब्लैक मेल नहीं करता, कभी किसी का विज्ञापन छापे बिना उससे धन स्वीकार नहीं करता और जहाँ उसका जमीर न माने वह बड़े से बड़ा प्रलोभन ठुकरा देता है। इसीलिए पंजाब से आए अकाली नेता परमात्मा सिंह अपने एक लाख के चेक की पेशकश को आनन्द द्वारा बड़ी शिष्टता से अस्वीकार कर दिए जाने पर कहते हैं-"निरवैर जी, आपका हाथ तो

बहुत मुलायम है, पर मैं महसूस कर सकता हूँ कि अन्दर की हड्डियाँ इतनी मुलायम नहीं हैं।"

आनन्द अपने सम्पादन कर्म के साथ कोई समझौता नहीं करता। वह जनमत की लहर के साथ न बहकर हर मुद्दे को अपने विवेक की कसौटी पर कसता है और बेबाक सम्पादकीय लिखकर जनमत निर्माण का कार्य करता है। जिन दिनों राष्ट्रपति चुनाव में कांग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी एन. संजीव रेड्डी के विरुद्ध अपने निजी प्रत्याशी वी.वी. गिरि को जितवाकर, कांग्रेस को दोफाड़ कर अपने धड़े की सरकार को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सहायता से बचा ले जाने पर श्रीमती इंदिरा गांधी की वाहवाही हो रही थी, उनके करिश्मे से चौंधियाए सम्पादकीय आ रहे थे, उन दिनों आनन्द ने इस करिश्मे के पीछे छिपे तानाशाही के खतरे की ओर ध्यान आकर्षित करने वाला सम्पादकीय लिखा था। उसका यह सिलसिला उपन्यास के अन्त तक जारी रहता है। संजय गांधी की गैर-संवैधानिक सत्ता के उभरने, श्रीमती इन्दिरा गांधी के विरुद्ध हाई कोर्ट का निर्णय आने और आपातकाल में लेखकों की भूमिका पर वह खुलकर अपने सम्पादकीयों में टिप्पणी करता है, आपातकाल के दौरान चार मुर्गों और प्रभावशाली व्यक्ति की प्रतीकात्मक कहानी क्लैमर में प्रकाशित करता है, सरकारी दफ्तर से आई प्रचारात्मक सामग्री नहीं छापता और इन्दिरा गांधी के निकट हो चुके सिख नेता सोहन सिंह के द्वारा प्रलोभन और भय दिखाए जाने के बावजूद आपातकाल के समर्थन में कुछ भी नहीं लिखता और लिखवाता। इस सबकी कीमत भी उसे अदा करनी पड़ती है। गैर-संवैधानिक सत्ता के शक्तिशाली होते चले जाने के खतरे को उजागर करने वाला सम्पादकीय प्रकाशित होने के बाद उसे मिलने वाले सरकारी विज्ञापन बन्द हो जाते हैं और लेखकों की इमरजेंसी में भूमिका वाले सम्पादकीय के बाद तो उसे जेल जाना पड़ जाता है। वह अपनी कलम की आज़ादी को बनाए रखने की कीमत जानता है और हर पल उसे चुकाने को तैयार है। तभी वह अपनी सहयोगी सुनन्दा से कहता है-"सवाल है कि साँप को मारना है या अपनी लाठी को बचाना है? आपको अपनी लाठी इतनी ही प्यारी है तो साँप को अपना काम करने दीजिए। अगर आपको साँप का इस तरह खुलेआम घूमना अनुचित और खतरनाक लगता है, तो फिर उसे मारने के लिए अपनी लाठी का इस्तेमाल कीजिए। इस बात की चिन्ता किए बिना कि वह टूटेगी या बचेगी। हर काम में यह वणिक् बुद्धि मुझे पसन्द नहीं है।"

वणिक् बुद्धि को ताक पर रखकर वह सम्पादकों के प्रतिनिधि-मंडल के साथ संजय गांधी से मिलने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। छोटे और मझोले अखबारों के सीमित साधनों को देखते हुए उनके लिए सरकारी विज्ञापन दिए जाने की अलग सरकारी नीति की आवश्यकता को सभी सम्पादक अनुभव करते हैं और सरकार पर संजय गांधी के प्रभाव के कारण उनसे मिलकर अपनी बात कहना चाहते हैं लेकिन आनन्द उसकी कान्स्टीट्यूशनल अथारिटी की बात उठाता है। उसका मानना है कि पत्रकार होने के नाते हमारी कुछ जिम्मेदारियाँ भी हैं। संजय गांधी से मिलकर "क्या हम लोगों को यह संदेश देना चाहते हैं कि कोई व्यक्ति बिना किसी वैधानिक अधिकार के यदि सत्ता का सर्वेसर्वा बन जाए तो हमें आगे बढ़कर उसकी हुकूमत मान लेनी चाहिए और लोकतंत्र की सारी लंबी-चौड़ी बातों को छींके पर टाँग देना चाहिए?"

कुल मिलाकर आनन्द बुद्धिजीवी के तौर पर आदर्श लेकिन अपने अंतर्विरोधों में नितान्त मानवीय पात्र के तौर पर लम्बे समय तक याद रहने वाला पात्र है।

आनन्द-कोमल-सुनन्दा के त्रिकोण से स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का ऐसा रूप सामने आता है जो महानगरों के वातावरण का सामान्य अंग बन चुका है। क्लैमर में नाटकों पर आलेख लिखने के सिलसिले में आनन्द की सुनन्दा से मुलाकात होती है और क्लैमर वन मैन शो से टू मैन-वन मैन एण्ड वुमैन-शो में परिवर्तित हो जाता है। इस सम्बन्ध में सुनन्दा की परिस्थितियों की भी अहम भूमिका है। उसके माता-पिता की एक दुर्घटना में मृत्यु हो चुकी है, भाई अमेरिका में रहता है और पति कनाडा में व्यवस्थित होने के क्रम में वहीं से तलाक की एकतरफा डिग्री ले चुका है। सुनन्दा के पास अपना फ्लैट है और पिता को छोड़ा धन भी है। वह समय बिताने और कुछ सार्थक करने के लिए पत्रकारिता करती है। सुनन्दा की भावनाओं और समय का पूरा समर्पण आनन्द और क्लैमर के लिए है। आनन्द उसे पूरी तरह समझता है और उस पर पूरा विश्वास करता है। दोनों के भीतर कोमल को लेकर अपराध-बोध है। आनन्द कोमल से प्यार भी करता है और उसके प्रति उसके मन में एक तरह का सम्मान भी है। इस त्रिकोण की विशिष्टता कोमल और सुनन्दा के बीच की समझदारी में निहित है। कोमल इस सम्बन्ध के विषय में जानती है और सुनन्दा के इस आश्वासन के बावजूद कि "मैं आपको जीवन में कभी कोई नुकसान नहीं पहुँचाऊँगी, आपके सम्मान को कभी चोट नहीं लगने दूँगी।" मानसिक तौर पर असाधारण रूप से परिपक्व कोमल समझती है कि "लोग जो करना चाहते हैं, करते हैं। कोई हर वक्त किसी की चौकीदारी नहीं कर सकता।" उसकी परिपक्वता का एक आयाम यह भी है कि वह आनन्द को इस बात का पता नहीं चलने देती कि सुनन्दा के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में उसे जानकारी है। वह सुनन्दा से कहती है-"मैं उन्हें शर्मसार नहीं करना चाहती, उन्हें छोटा नहीं बनाना चाहती।" कोमल और सुनन्दा तथा आनन्द और सुनन्दा का पारस्परिक विश्वास-बन्धन ही उपन्यास के अन्त में आनन्द के जेल जाने पर इस परिवार पर आई मुसीबत का सामना करने का शक्ति-स्रोत बनता दिखाई देता है। सम्बन्धों के इस रूप को विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत कर पाना लेखक के विशिष्ट कौशल का ही परिणाम है।

'अभी शेष है' एक कालखंड की चेतना को मूर्त करने के क्रम में कई मुद्दे उठाता है। भाइया मानसिंह के परिवार के माध्यम से देश-विभाजन की अमानवीयता और व्यर्थता तथा अपनी धरती से बिछड़ने की पीड़ा के

साथ-साथ इंग्लैंड-अमेरिका में जा बसने की नई पीढ़ी की ललक से जुड़े खतरों को लेखक ने स्पष्टतः अंकित किया है। विदेश में रहने वाले अजनबी युवक की पृष्ठभूमि को अच्छी तरह जाने बिना विदेश बसने की इच्छा में शादी कर लेने वाली युवतियाँ प्रायः धोखे का शिकार हो जाती हैं। ऐसी युवतियों के लिए न वहां रहना आसान होता है न यहां लौटना। 'अभी शेष है' की मनजीत इसी नियति की शिकार है। सुन्दर, हँसमुख और स्नेहिल मनजीत का विवाह बहुत-सी डिग्रियों के स्वामी तथा एक अमेरिकी कम्पनी में ऊंचे पद पर कार्यरत अमेरिकी ग्रीनकार्ड-होल्डर मनमोहन सिंह से हो जाता है लेकिन मनजीत विदेश घूमने और वहां बसने की इच्छा पूरी हो जाने पर भी सुखी नहीं हो पाती क्योंकि मनमोहन अपनी कुरूपता एवं मनजीत की सुन्दरता को लेकर मन में ग्रन्थि पाल लेता है वियतनाम युद्ध में अमेरिकी नागरिकों की जबरिया भरती का भय भी उसके भीतर गहरे बैठ जाता है और वह सीज़ोफ्रेनिया जैसे मनोरोग का शिकार हो जाता है। भारत आकर मनजीत कई जगह उसके इलाज की कोशिश करती है और कोई लाभ न होने पर अन्ततः अपनी और अपने बच्चे की अमेरिकी नागरिकता बचाने की खातिर अमेरिका लौट जाती है जहाँ वह नौकरी करके बच्चे को पालने लगती है। अमेरिका में रहने का मोह उसे अपनी धरती से दूर अकेले जीने की राह में धकेल देता है। यह एक पीढ़ी के बहुत बड़े हिस्से की त्रासदी है।

मजदूरों के हक में बने कानूनों का एक पक्ष मानवीय है तो दूसरा पक्ष अमानवीय भी है। जब छोटे उद्योग चलाने वाले परिवारों पर मजदूर की गलती से ही मजदूर की मृत्यु हो जाने पर भी मुकदमे और भारी हरजाने का बोझ आ पड़े तो उसकी कहीं सुनवाई नहीं होती। मनजीत के पिता और चाचा की पुराने टायरों की रिट्रेडिंग की फैक्टरी में काम करने वाला एक मजदूर बीड़ी पीने की तलब को फैक्टरी के बाहर पूरा किए जाने की सख्त हिदायत के बावजूद फैक्टरी में ही बीड़ी पीने के दौरान आसपास बिखरी आग पकड़ने वाली चीजों पर चिनगारी छिटकने के कारण आग में झुलसकर मर जाता है। जनवादी रुझान वाले कानूनों का जनविरोधी पक्ष और श्रमिक हित के नाम पर चलने वाली यूनियनों के नेताओं का स्वार्थी और समझौतावादी रूप 'अभी शेष है' के इस प्रसंग से व्यक्त हुआ है।

डेरा सन्त निरंजन सिंह की कथाधारा धार्मिक स्थलों पर कालान्तर में पनप आने वाले भ्रष्टाचार और दुराचार को सामने लाने के साथ-साथ ऐसे डेरों के साथ जुड़ी अनुयायियों की बड़ी संख्या तथा धन के अजस्र प्रवाह के कारण इन पर कब्जा करने की सियासी चालों को भी उजागर करती है। सन्त निरंजन सिंह के प्रमुख शिष्य निधान सिंह और बीर सिंह डेरे के प्रबन्ध में रुपयों की हेराफेरी तो करते ही हैं, बड़े सन्त जी के बाद गद्दीनशीन होने की स्पर्धा भी पाले हुए हैं। इसी बीच एक काइयाँ धनाढ्य मुलखराज सन्त जी को प्रभावित कर डेरे की सम्पत्ति के प्रबन्ध के लिए ट्रस्ट बनवाकर उसका मैनेजिंग ट्रस्टी बनने में कामयाब हो जाता है। दिल्ली की सिख राजनीति के सबसे चतुर और प्रभावशाली नेता सोहन सिंह को भी इसका ट्रस्टी बनाया जाता है। सन्त निरंजन सिंह की मृत्यु के पश्चात् इन दोनों को उनका उत्तराधिकारी चुनने का मौका मिलता है तो ये बीर सिंह को चुनते हैं हालांकि वह निधान सिंह की अपेक्षा जूनियर है। उनकी कसौटी सोहन सिंह के शब्दों में यह थी-"देखिए लाला जी, हमें ऐसा व्यक्ति चाहिए जो हमारे कहने में रहे। हमें बहुत सच्चा-सुच्चा और उसूलों वाला बन्दा नहीं चाहिए। ऐसे लोग बहुत खतरनाक होते हैं। जब ये किसी बात पर अड़ जाते हैं तो इन्हें उससे हटाना आसान नहीं होता। बात-बात पर गुरुवाणी की मिसालें पेश करते हैं। ऐसे आदमी को सँभालना बहुत मुश्किल होता है।"

डेरा सन्त निरंजन सिंह में बीर सिंह-सतवन्त कौर प्रकरण से एक बार फिर इन्द्रिय-दमन के व्यभिचार में परिणत होने की बात सामने आती है। धर्मस्थलों द्वारा प्रकृति के प्रतिकूल जाकर आरोपित किया जाने वाला ब्रह्मचर्य मनोविकृतियों के साथ ही समाज में व्यभिचार को बढ़ावा देता है।

'अभी शेष है' में लेखक ने जिस कालखंड को चुना है, वह इस देश की राजनीतिक संस्कृति में बुनियादी बदलाव का समय था। व्यक्ति को नायक बनाकर पूजना तो हमेशा से इस देश का स्वभाव रहा है लेकिन उसके नायक सामान्यतः निःस्वार्थ भाव से देशसेवा के लिए स्वयं को समर्पित करने वाले दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति हुआ करते थे। गाँधी और नेहरू ऐसे ही व्यक्ति थे। नेहरू की मृत्यु के बाद लाल बहादुर शास्त्री के भी अल्प समय तक प्रधान मंत्री रहकर चल बसने के पश्चात् देश की बहुमत-प्राप्त कांग्रेस पार्टी में हुए सत्ता-संघर्ष ने यह संभावना ही समाप्त कर दी कि कोई नेता अपने वर्षों के सार्वजनिक जीवन में समर्पित काम और वरिष्ठता के आधार पर नायक बनकर उभर सकता है।

कांग्रेस के पुराने नेताओं ने आपस में किसी के बारे में सहमति न बनते देख नेहरू की बेटी इन्दिरा गाँधी को प्रधान मंत्री की कुर्सी पर बिठा दिया था-यह सोचकर कि राजनीति में नितान्त नौसिखिया इन्दिरा उनके इशारों पर काम करेंगी। धीरे-धीरे इन्दिरा गांधी ने अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाना चाहा तो उस राह में पार्टी संगठन का कद घटता गया, नेता के करिश्माई व्यक्तित्व ने पार्टी ही नहीं, देश की सभी लोकतांत्रिक संस्थाओं को अच्छादित कर लिया। पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध में विजय और बंगला देश के निर्माण से श्रीमती गाँधी का करिश्मा देवत्व की सीमा को छूने लग गया था और इसी के साथ देश की राजनीति में संजय गाँधी सुपर प्राइम मिनिस्टर के तौर पर उभर रहे थे। श्रीमती इन्दिरा गाँधी संजय को इतना असंदिग्ध भावी प्रधान मंत्री बना देना चाहती थीं कि उन्हें किसी भी प्रकार के विरोध का सामना न करना पड़े। इन्दिरा सरकार का बीस सूत्री कार्यक्रम और संजय गाँधी का पाँच सूत्री कार्यक्रम, सरकार तथा पार्टी में हर स्तर पर संजय गाँधी का इतना दबदबा इसी रणनीति का अंग था। इसके अतिरिक्त शायद कहीं यह उनके भीतर का असुरक्षा-बोध ही था जो उन्हें हर व्यक्ति को मित्र या शत्रु के खाँचे में

फिट करने पर मजबूर करता था। जो उनके साथ नहीं वह उनका शत्रु है-वह यह मानकर चलती थीं।

जे.पी. की दिल्ली के रामलीला ग्राउंड की रैली, आपातकाल और सेंसरशिप की घोषणा के साथ चले दमनचक्र ने जिस आतंक के वातावरण की सृष्टि की, उसी में यह उपन्यास समाप्त हो जाता है लेकिन श्रीमती गाँधी के एक कठपुतली से तानाशाह बनने तक की यात्रा को पूरी तरह बयान करता है। इसी के साथ-साथ सिख राजनीति की उन दिनों की उथल-पुथल का भी चित्रण है जिसने आगे चलकर पंजाब की राजनीति में दुःखद मोड़ लाने में निर्णायक भूमिका अदा की। दिल्ली की सिख राजनीति के एक धड़े का पंजाबी की अकाली राजनीति से भिन्न राह पकड़कर इन्दिरा गाँधी की निकटता प्राप्त करना और अकालियों का इमरजेंसी के खिलाफ स्वर्ण मन्दिर से जत्थे भेजकर गिरफ्तारियाँ देना सिख राजनीति की महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं।

तानाशाही के विरोध, लोकतंत्र के समर्थन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की हिमायत के अतिरिक्त 'अभी शेष है' पूरी ईमानदारी से यह परखने का प्रयास करता है कि क्या आपातकाल की घोषणा की कोई अनिवार्यता थी और क्या आपातकाल एवं सेंसरशिप दोनों ही अनुचित थीं या आपातकाल की घोषणा आवश्यक तथा सेंसरशिप लागू करना अनावश्यक था। उस दौर में बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग ने आपातकाल तथा सेंसरशिप की घोषणा को अनुचित माना था जबकि एक छोटे तबके ने इन दोनों का समर्थन किया था। इस उपन्यास में कुछ स्वर ऐसे भी हैं जो जे.पी. के आन्दोलन पर पुनर्विचार प्रतीत होते हैं। स्वयं को लोकतंत्र के हामी मानने वाले बुद्धिजीवियों ने तब जे.पी. के आन्दोलन का श्रद्धाभाव से साथ दिया था, उसमें कुछ अनुचित या गलत भी हो सकता है, ऐसा उन्होंने सोचना ही नहीं चाहा था। दूसरी ओर उन्होंने इमरजेंसी और सेंसरशिप की घोषणा की पूरी तरह भर्त्सना की थी। 'अभी शेष है' में पत्रकारों की चर्चा के बीच यह स्पष्टतः व्यक्त होता है कि जे.पी. का आन्दोलन भ्रष्टाचार सत्तालिप्सा, तानाशाही के विरुद्ध था लेकिन जे.पी. के पास कोई वैकल्पिक रूपरेखा नहीं थी। वह सामुदायिक लोकतंत्र, दूसरे शब्दों में निर्दलीय लोकतंत्र, चाहते थे जिसके व्यावहारिक रूप ले पाने की आशा इस देश में नहीं है। इसके अतिरिक्त दिल्ली के रामलीला मैदान में हुई रैली के तहत जे.पी. ने सेना और पुलिस से सरकार के गलत हुक्म मानने से इन्कार करने और जनता से सरकार को कर न देने के लिए कहा था। इस पर आपत्ति करते हुए 'अभी शेष है' में एक पत्रकार का कहना है, "देखिए, सरकार की किसी बात का विरोध करने के लिए जनता आंदोलन करे, जुलूस निकाले, धरने दे, यह तो ठीक है, लोकतंत्र में यह उसका अधिकार है, लेकिन जनता से यह कहना कि वह सरकार को कर देना बन्द कर दे, सैनिकों या सिपाहियों से यह कहना कि अगर सरकार उन्हें कोई गलत हुक्म दे, तो वे लोग उसे मानने से इन्कार कर दें, यह ठीक नहीं है। यह तो उन्हें बगावत करने के लिए भड़काना है। लोकतंत्र इसकी इजाज़त नहीं देता।" इसी प्रकार एक विचार यह भी उभरता है कि इमरजेंसी लगाना इन्दिरा गाँधी की मजबूरी बन गई थी। इम्तियाज़ कहता है, "मुल्क के हालात बहुत खराब हो गए थे। गुजरात और बिहार में तो जैसे कोई हुकूमत ही नहीं रह गई थी। सारे देश में जे. पी. सम्पूर्ण क्रान्ति लाने का ऐलान कर चुके थे। रामलीला मैदान की रैली में जो कुछ उन्होंने कहा था, वह तो खुला ऐलाने जंग था। ऐसी हालत में इन्दिरा जी के सामने और चारा ही क्या था?" वही इम्तियाज़ सेंसरशिप का विरोध इन शब्दों में करता है, "इमरजेंसी का तो कुछ हद तक हिमायती हूँ, लेकिन इस बात की ताईद नहीं कर सकता कि कोई एक शख्स मुल्क के करोड़ों लोगों की जुबान पर इस तरह ताला लगा दे। ऐसा काम तो हिटलर ही कर सकता था।"

भारतीय मुसलमान के मन की व्यथा को भारत-पाक युद्ध की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास भी इस उपन्यास में हुआ है। देश के विभाजन ने जहाँ भाइया मान सिंह जैसे पात्रों को द्विभाजित मानसिकता में जीने को मजबूर किया वहीं इम्तियाज़ जैसे मुसलमानों को भी फाँकों में बाँट दिया। उनके आधे परिवार सरहद के उस पार हैं तो आधे इधर। उस पर जब दोनों देशों में तनाव या युद्ध हो जाए तो इन्हें अपने देशभक्त होने के सबूत जुटाने जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। शक से भरी बेधती निगाहों के अनबोले सवालों का अनकहा जवाब देना पड़ता है। वह कहता है, "पाकिस्तान बनने से आखिर हमें क्या मिला? वहाँ हमारे सगे-संबंधी मुहाज़िर बन गए। हिन्दुस्तान में हम दूसरे दर्जे के शहरी बन गए।"

जिस प्रकार पाकिस्तान का बनना इस उपमहाद्वीप के सामूहिक मानस की स्थायी ग्रन्थि बन गया है, उसी प्रकार इमरजेंसी का दौर इस देश के सामूहिक मानस का स्थायी पश्चात्ताप-बिन्दु कहा जा सकता है जो उसे भविष्य में तानाशाह पैदा करने से रोकता रहेगा। इस बिन्दु पर उंगली रखने वाला शायद यह पहला हिन्दी उपन्यास है। इसकी सार्थकता इसमें भी है कि निराशा के घोर अंधकारमय क्षणों में भी अपने विश्वास के लिए जूझने का संकल्प इसके पात्रों में अभी शेष है।

उपन्यास बहुत गंभीर मुद्दे उठाता है लेकिन कहीं भी बोझिल नहीं होता। सहज-सरल भाषा, कहीं-कहीं हल्की-सी काव्यात्मकता का स्पर्श, छोटे-छोटे टुकड़ों में बढ़ती तीन कथाधाराएँ पाठक को बाँधे रखती हैं। शैली की दृष्टि से यह कोलाज के निकट है क्योंकि इसमें घटनाओं और प्रसंगों के कहीं कुछ लम्बे तो कहीं कुछ छोटे टुकड़े, जो परस्पर बहुत ही पतले सूत्र से जुड़े हुए हैं बल्कि कहीं-कहीं तो यह सूत्र भी गायब दिखाई देता है, मिलकर एक कृति का रूप धारण करते हैं और इसमें अन्विति का बिन्दु है एक कालखंड की मानसिकता की अभिव्यक्ति। 'किउ वरणी किव जाणां' के विनम्र संशय से प्रारंभ कर लेखक ने इस उपन्यास के रूप में एक महत् सृजनात्मक कार्य को सम्पन्न किया है।

सी-25, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026

डॉ. रजनी बाला

लम्बी कविता : नये विमर्श

डॉ. रमेश सोनी द्वारा संपादित आलोचना-पुस्तक 'लम्बी कविताएँ और नरेन्द्र मोहन' में एक ही कवि विशेष की रचनात्मक मानसिकता और उसकी तीनों लम्बी कविताओं के साथ काव्य की कुल मानसिकता को आलोचकों ने कई अलग-अलग लेकिन महत्वपूर्ण बिन्दुओं से जांचा-परखा है। संपादक ने बड़ी उदारता के साथ स्वयं को किसी खेमे में न बांधकर स्वतन्त्र किन्तु तार्किक आलोचना के बिन्दु उठाये हैं।

विभाजन, इतिहास, आत्मगत तत्व, व्यापक अर्थ की संभावनाएं, पहली कविता 'एक अग्निकांड जगहें बदलता' का दूसरी कविता 'एक अदद सपने के लिए' में और दूसरी कविता का तीसरी कविता 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में काव्य विकास कुछ ऐसे पहलू हैं जिन्होंने संपादक को इस सहयोगी कर्म के लिए प्रेरित किया होगा। दूसरे; नरेन्द्र मोहन ने लम्बी कविता पर सर्वाधिक चर्चा कर लम्बी कविता के आधारभूत तत्वों की चर्चा की और स्वयं तीन लम्बी कविताएं रची हैं। ऐसे कवि-आलोचक की लम्बी कविता के बहाने उसी के व्यक्तित्व की निर्मम जांच-पड़ताल तथा उसके आत्मगत के बहाने वास्तविक जीवनानुभव के कलानुभव में परिवर्तन की प्रक्रिया का आकलन संपादक की दृष्टि में जरूर रहा होगा, 'संपादकीय' एवं 'कवि के साथ संपादक की बातचीत' से ये तथ्य उभर कर आते हैं। संपादकीय में 'पहाड़' और 'झरने' का कवि और काव्य के साथ साम्य स्पष्ट करता है कि गहरा संवेदनशील कवि मानस डॉ. रमेश सोनी के साथ बराबर रहा है। उत्तर आधुनिकता का रवैया रचना और रचनाकार को अलग-अलग करने का है जबकि उनकी पूरकता कम-से-कम लम्बी कविता के लिए एक आधारभूमि है। संपादकीय इस ज़रूरत को सहजता से लेता है।

मोटे तौर पर देख सकते हैं कि आलोचनात्मक लेखों का प्रारूप तीनों कविताओं का अलग-अलग आकलन करता है या समग्र निरीक्षण (प्रताप सहगल का लेख), कहीं केवल एक विशेषता को लेकर एक अनुच्छेद में तीनों कविताओं की चर्चा है (डॉ. रमेश कुन्तलमेघ का लेख) तो कहीं लम्बी कविता के तत्वों को कवि की काव्य पंक्तियों से सिद्ध कर सूत्र स्थापना का प्रयत्न है, कहीं काव्य रूप को भी चर्चा का आधार बनाया गया है (डॉ. गुरचरण सिंह का लेख)।

'अनुभव की प्रक्रिया और कला कर्म' (खण्ड-2) में आम तौर पर नरेन्द्र मोहन के आत्मीय संदर्भों को यूसुफ, समरजीत, सतवन्त, सलमान में खोजा गया है। साथ ही घटनाएं भी कवि की अपनी भोगी कही गई हैं जैसे विभाजन, पेड़ को समूल जलते हुए देखना, नदी, खरगोश, बच्चे, कुआं, तलघर के बिम्ब। प्रश्न यह है कि इन आत्मीय स्मृतियों को अपने दीर्घकालिक तनाव का उपकरण कवि ने कैसे बनाया है? आत्मीय स्मृतियों का नरेन्द्र मोहन ने क्या किया? क्या उन्हें वास्तविक जीवनानुभव से जोड़ा है? आत्मीय स्मृतियों के संवेदनामक प्रभाव ने जीवनानुभवों के ज्ञान के आधार पर उन्हें किस धरातल मसलन ज्ञानात्मक संवेदना या संवेदनात्मक ज्ञान पर फैलाया/प्रसारित किया है? कवि के आत्मीय पहलू वास्तव में आत्मगत स्मृतियों को इतिहास में तानने की क्षमता के सूचक हैं।

'इतिहास की पुनर्रचना' (खंड-3) के अन्तर्गत आलोचकों ने विभाजन, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विघटन, हादसों और आतंक को केन्द्रीय मनोदशा के रूप में लक्षित किया है। डॉ. कीर्ति केसर और डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ तीनों कविताओं के मूल में हादसा मानते हैं जबकि डॉ. महेश्वर ने सांप्रदायिकता को रेखांकित किया है। डॉ. विश्म्भरनाथ उपाध्याय ने इन कविताओं में हैरतअंगेज हादसों की गहन अनुभूति महसूस की है।

इतिहास यहां पुलिन्दे के रूप में नहीं; स्मृति, सृजन और इतिहास के यौगिक रूप में आया है, इसीलिए युसूफ के बड़बड़ाते न बड़बड़ाते संवेदनशील पाठक स्वयं बड़बड़ाने लगता है। समरजीत और सतवंत इतिहास के साथ उन सबकी स्मृतियों के ताने-बाने में रचे-बसे हैं जो 84 के दंगों के भुक्तभोगी हैं या जिनकी संवेदना अभी तक उससे अभिशप्त है। सुचित्रा 21वीं सदी में भी पारिवारिक-सामाजिक दड़बों में बंद लड़की की आंखें नम कर सकती है। उत्तर आधुनिक युग की लड़की भी स्वयं को सुचित्रा समझ सकती है, सुचित्रा उसकी अंतरंग साक्षी हो सकती है, होती है।

कुछ विद्वान आलोचकों ने 'कोई और रास्ता नहीं है क्या' पंक्ति को आधार बनाकर नरेन्द्र मोहन की कविता में निर्णय का ठंडापन महसूस किया (प्रताप सहगल) तो किसी को सुचित्रा के चरित्र में नारी के प्रति कवि की सामंतवादी दृष्टि का प्रमाण मिला (डॉ. पवन माथुर)। प्रश्न यह है कि साहित्यकार से ही समाधान क्यों मांगा जाए? क्या यह कम है कि स्थिति की भयावहता, यथार्थ के प्रति बंद हमारी आंखों में वह प्रश्नों, विचारों, अनुचिंतन के छींटे मारता है और फिर किसी भी समस्या या तनाव का समाधान एक आदर्श समाधान के रूप में नहीं हो सकता। वास्तव में ये तीनों लम्बी कविताएं किसी एक कवि के एक ट्रेंड को नहीं वरन् लम्बी कविता के समकालीन इतिहास का ग्राफ सामने लाती हैं। समकालीन इतिहास के विभिन्न संदर्भ यहां उभरते हैं-आज़ाद भारत, आपातकाल के बाद का भारत और इन सबसे गुज़रते हुए आत्मा की ओर मुड़ने वाला सर्जक। भीतर से बाहर और बाह्य से आभ्यंतर की यात्रा कैसे और क्यों ज़रूरी हो जाती है, इस पूरे इतिहास को ये तीनों कविताएं दर्शाती हैं।

आलोचना के मानदण्ड सिद्धान्तों के बाड़े से नहीं, कृति की मूल संवेदना और कृतिकार की वास्तविक जीवन के प्रति वैचारिकता से निकलने चाहिए। फिर लम्बी कविता के लिए विचार और संवेदना की अनिवार्यता होती है जिसके आधार पर उसे जांचा जा सकता है जैसा कि डॉ. सादिक अपने लेख में मानते हैं कि लम्बी कविताओं के माध्यम से कवि नरेन्द्र मोहन ने अपने ज़मीर की आवाज़ बुलन्द कर जिस कवि साहस का परिचय दिया है वह आज की परिस्थिति में एक कारनामा है।

इतना तो साफ है कि नरेन्द्र मोहन की तीनों लम्बी कविताओं में

विभाजन, तनाव, सांप्रदायिक हिसांजन्य अराजकता है। डॉ. यश गुलाटी पहली दो कविताओं को परस्पर सम्बद्ध किन्तु तीसरी को उनसे पूरी तरह अलग और स्वतंत्र मानते हैं जबकि दूसरी ओर डॉ. सुभाष रस्तोगी तीनों लम्बी कविताओं में काफी कुछ साझा देखते हैं। वास्तव में तीनों कविताएं एक-दूसरे के काव्य विकास का माध्यम बनी हैं। उनका अलग होना स्थूल रूप में है सूक्ष्म रूप में नहीं। 'अग्निकांड...' का फलक व्यापक है क्योंकि भारत विभाजन से जुड़ा है जबकि 'एक अदद सपने के लिए' में क्षेत्रीयता है क्योंकि वह पंजाब से जुड़ा है जो 'खरगोश चित्र और नीला घोड़ा' में और भी संकीर्ण होकर आत्म की ओर मुड़ गया है। पहली कविता व्यापक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक संदर्भ से जुड़कर व्यापक लगती है, इसकी व्यापकता हमारी पूरी पीढ़ी से जुड़ी है। दूसरी कविता एक राज्य तक सीमित है लेकिन क्या आज हर तरफ असम, तमिननाडु, बिहार, उड़ीसा, कश्मिर में यही सब नहीं हो रहा? जबकि तीसरी कविता आत्म के माध्यम से व्यापक है क्योंकि यहां भोक्ता से द्रष्टा होने की प्रक्रिया मिलती है। पहली में भोक्ता दृष्टि है, दूसरी में भोक्ता दृष्टि के अनुसार परिस्थिति मिल जाती है और तीसरी में द्रष्टा दृष्टि है। इस प्रकार तीनों कविताएं सर्जना के धरातल पर कवि के भोक्ता से द्रष्टा होने की प्रक्रिया का परिणाम है और इन दोनों के बीच का जो महत्वपूर्ण तनाव क्षण है वह तीनों कविताओं के केन्द्र में है।

एक अच्छी आलोचना का जो रूप होना चाहिए वह इस संपादित पुस्तक में मिलता है जैसे डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने सभी लेखकों की लीक से हटकर साहचर्यों के ताने-बाने के आधार पर एक जैसे बिंबों का विकासात्मक विश्लेषण तीनों लम्बी कविताओं में साथ-साथ किया है। जबकि केवल एक ही बिम्ब 'आग' के बहुआयामी रूपों पर विचार करने की दृष्टि से डॉ. गुरचरण सिंह का लेख पूरी पुस्तक में विशिष्ट स्थान रखता है। दूसरी ओर डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का विचार है कि इस आग में हाथ जलाने होंगे, सेंध लगानी होगी तभी आलोचना भी सर्जनात्मक होगी। प्रताप सहगल ने तीनों कविताओं को साथ-साथ विश्लेषित किया है।

नरेन्द्र मोहन की तीनों लम्बी कविताओं पर विभिन्न लेखकों, कवियों, आलोचकों के स्वतंत्र लेख यही दर्शाते हैं कि एक अच्छी लम्बी कविता पर कितनी भी चर्चाएं हों, गोष्ठियां हों, संपादन की भिन्नता के अनुसार ऐसे प्रयत्नों के असंख्य द्वार खोलती रहेंगी। यह हो सकता है कि किसी को यह प्रयत्न लम्बी कविता की चर्चा की समाप्ति का आंगन लगे तो किसी को आंगन के पार फिर एक द्वार।

यह संपादित ग्रन्थ लम्बी कविता और लम्बी कविता संबंधी आलोचना पर पुनर्विचार की संभावनाएं बनाता है। लम्बी कविता शास्त्र को नया अर्थ देने की संभावनाएं खोलती है और लम्बी कविता के शास्त्र को बनाने के लिए यह आलोचनात्मक संपादन कार्य आधार हो सकता है जिसकी अनुगूंजें आगे भी सुनी जा सकेंगी।

पी-४ बी, बुद्ध विहार, फेस-१, दिल्ली-११००४१

डॉ. गुरचरण सिंह

विस्थापन की पीड़ा को झेलते लोग

सुदर्शन नारंग के सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'भूमध्य रेखा' के पात्र सिर्फ संवेदनशील ही नहीं हैं, बल्कि अतिसंवेदी हैं। वे अपनी जड़ों को तलाश रहे हैं। घर चाहे उन्हें अधिक हताशा या निराशा दे, पर वे अपने घर लौटना चाहते हैं।

देश विभाजन हुआ, साम्प्रदायिकता की आग भड़की, लोग अपनी जमीन से घरों से कट गये, उन्हें अपना घर वापस बुलाता है, पर वे वहां जा नहीं सकते-'जिस आदमी का कोई घर नहीं, देश नहीं होता, उसकी लाचारी का कोई हल नहीं होता।' (पृ. 11) करोड़ों लोगों का विस्थापन हुआ और वे उसकी पीड़ा को सह रहे हैं। पलायन में भय, अनिश्चितता और कुंठा छिपी रहती है, जिससे मुक्त होना सहज नहीं होता। विस्थापन एक देश से दूसरे में ही नहीं हो रहा, लोग अपने देश में भी विस्थापित हो रहे हैं। लेखक सन् 1984 तथा फरवरी-मार्च 2002 में हुए गुजरात दंगों को याद करता है। निष्कर्ष में वह कहता है-'अत्याचारियों का कोई धर्म नहीं होता। साम्प्रदायिक राजनीति करने वालों में कोई मानव अंश नहीं होता।' (पृ. 40) विस्थापन का यह सिलसिला निरन्तर चल रहा है-बंगलादेश, अफगानिस्तान, बर्मा, श्रीलंका और न जाने कहां-कहां लोग विस्थापित हो रहे हैं और शरणार्थियों का जीवन जी रहे हैं। सरबिया से जान बचाकर इरफान अफगानिस्तान पहुंचा था, पर वहां भी मौत का साया उसका पीछा कर रहा था। इरफान को लगता है कि उसके अन्दर एक दूसरा इरफान है जो सरबिया में पलकर बड़ा हो रहा है। एक तीसरा इरफान है जो अफगानिस्तान की गुफाओं में छिपकर बैठा है। एक चौथा इरफान है...अर्थात इरफान कहीं भी जाये वह सुख-शान्ति से नहीं रह सकता। उसे वहां भी विस्थापित होना ही है। इसी कारण परम्परा, संस्कृति, विरासत और उनकी सुरक्षा के प्रश्न आज अधिक उभर कर सामने आ रहे हैं। पर इनके जवाब बहुत उलझे हुए हैं। लोग कब समझ पायेंगे कि स्वार्थ, राजनीति, निजहित से कितनों को कष्ट पहुंचता है। लेखक स्वीकारता है कि जीवन एक यात्रा है और 'यात्रा अवरुद्ध होने पर आदमी कितना टूटता है।' यात्रा का अवरुद्ध होना और यात्री का वहीं रुक जाना पराजय का प्रतीक है। अवरुद्ध यात्रा संघर्ष से आगे बढ़ाई जा सकती है। इसी में व्यक्ति की जय छिपी होती है। यात्रा का अंत एक नयी यात्रा की शुरुआत को जन्म देता है। यात्रा की समाप्ति व्यक्ति को समाप्त कर देती है। विस्थापन को यदि यात्रा का अंत मान लिया जाये तो जीवन समाप्त हो जायेगा। इसी कारण विस्थापित व्यक्ति अपनी यात्रा को जारी रखने का प्रयास करता है और संघर्ष, श्रम, लगन से पुनः खुद को स्थापित करता है। पर उसके हृदय के किसी कोने में उसकी मिट्टी, उसकी जड़ें उसे पुकारती रहती हैं।

'भूमध्य रेखा' के मुख्य पात्र हैं- इरफान और रूबी। इरफान को अतीत पुकारता है, वह स्मृतियों में खो जाता है। उसे अपना गांव, अब्बा, अम्मी पुकारते हैं। वह अपने देश अपने घर वापस लौट जाना चाहता है, पर मार्ग में अनेक विवशताएं हैं जो उसे ऐसा नहीं करने देतीं। अकेलापन उसे सालता है। रूबी का साथ उसे अच्छा लगता है। वह दिन-रात उसी के सपने देखता है। इरफान को रूबी की शर्तों पर जीना अच्छा लगता है। रूबी अकेली नहीं है उसके सेल फोन की घंटी बराबर बजती रहती है। इसी कारण इरफान को भय है कि कहीं रूबी उसे छोड़ न दे। वह व्यावहारिक लड़की है और कम बोलती है।

इरफान का दृष्टिकोण मानवीय है। उसी की रक्षा के लिए वह प्रयत्नशील है। वह न तो अलकायदा, तालिबान की गतिविधियों का समर्थक है और न ही अमेरिका की नीतियों का। अमेरिका ने कैदियों के साथ जो व्यवहार किया वह अमानवीय तथा मानव अधिकारों के विरुद्ध है। इरफान ही नहीं बल्कि दुनिया के अधिकांश मुसलमानों की यह धारणा बनती जा रही है कि अमेरिका दुनिया से मुसलमानों को समाप्त कर देना चाहता है। इराक, ईरान, अफगानिस्तान,लीबिया उसके निशाने पर हैं। अमेरिका को लगता है कि मुसलमान आतंकवादी हैं, पर लेखक का मानना है कि 'दुनिया के समस्त आतंकवादी मुसलमान नहीं हैं, पर समस्त आतंकवादी मुसलमान हैं।' (पृ. 21) इन्हीं थोड़े से आतंकवादियों के कारण पूरी कौम को शक की नज़र से देखा जाता है, पूरी कौम को सजा मिल रही है और मुसलमान जिल्लत का शिकार हो रहे हैं। जिस जिहाद की बात ये उग्रवादी करते हैं उस पर प्रकाश डालते हुए इरफान के अब्बा कहते हैं-'जिहाद का मतलब है रूह से संघर्ष। हमारे अन्दर जो शैतान बैठा है उसका सफाया। इस्लाम के नाम पर खून-खराबा जिहाद नहीं है।'

इरफान ने कई देश देखे हैं। उसे शुरू से ही घर से बाहर रहना पड़ा है। कभी पढ़ाई की खातिर तो कभी अब्बा के देश-विदेश तबादलों के कारण। देशों का भ्रमण करते हुए उसने विश्व-प्रसिद्ध अजूबों को भी देखा है। वे देश जो कला और संस्कृति के केन्द्र थे, इन्सान के दुश्मन हो गये हैं। लेखक का मानना है कि 'फ्रांस दुनिया का एकमात्र सच्चा देश है। इंसान के खिलाफ इंसान से लड़ाई करने वाले किसी भी देश का उसने साथ नहीं दिया।'

इरफान इतिहास के हर दौर में अच्छाई के साथ खड़ा हुआ है गुरु नानक का मरदाना वही है, गुरु गोविंद सिंह का पहला शिष्य भी वही है। इरफान सभी जगहों पर है। वह कभी सराजिवो में है तो कभी बेलग्रेड में, कभी सिरीरामपुरा में है, तो कभी शेखूपुरा में, कभी अफगानिस्तान में तो कभी जिम्बाब्वे में, कभी इसराईल में तो कभी अमरीका या फिलिस्तीन में। इन देशों की समस्याएं उसे सोने नहीं देतीं। वह मानव मात्र को बचा लेना चाहता है। वह रूबी से कहता है-'तुमने सिर्फ एक इरफान देखा है। अफगानिस्तान की कन्दराओं में सिर छिपाते इरफान को नहीं देखा। सर्ब सैनिक के भय से मध्य रात्रि में पैदल भागते इरफान

को नहीं देखा।' उपन्यास में पूरा विश्व-परिदृश्य उभरता है। इतिहास, भूगोल, सभ्यता, संस्कृति का अद्‌भुत समन्वय एक तरफ है तो दूसरी तरफ हिंसा, युद्ध तथा आतंक है। लेखक की चिंता मानव है। स्वार्थ, भ्रष्ट राजनीति, शक्ति प्रदर्शन, वर्चस्व का भाव, आतंक, दहशत, भूख, अराजकता का यथार्थ चित्रण उपन्यास में उभरता है। ये समस्याएं किसी एक देश की नहीं, पूरे विश्व की हैं। शांति स्थापना तथा शांति भंग के प्रयास साथ-साथ चल रहे हैं। कथाकार ने लिखा है-'जहां कहीं भी प्रभु प्रार्थना के लिए छोटा-सा कमरा बनाया जाता है, शैतान पहले से ही सामने बड़ा घर खड़ा कर लेता है। शैतान के घर के सामने अनुयायियों की भीड़ लग जाती है।' इसके लिए हम सभी दोषी हैं। भूमध्य रेखा के इस पार रहने वाले भी और उस पार रहने वाले भी।

इरफान को बार-बार अपनी मां की याद आती है। नये स्थानों पर वह अकेला तथा तनाव-ग्रस्त रहता है, अधिक सोचता है और निराशा तथा हताशा बढ़ती जाती है। अवसाद उसे घेर लेता है। रूबी उसकी मनःस्थिति को समझती है-'तुम्हारे मस्तिष्क का यह जो भारीपन है, उसका कारण है तुम्हारा घर से दूर रहना, अपनों से दूर रहना।' (पृ. 65) इरफान जब बीमार होता है तो घर की याद उसे ज्यादा सताती है। वह खुद को मां की गोद में छिपा लेना चाहता है। वह बार-बार रूबी से कहता है-'मैं वापस जाना चाहता हूं, अम्मी के पास, स्वदेश। मित्रों के पास, बैलग्रेड के ठंडे मौसम में। मेरा अब यहां दिल नहीं लगता।' (पृ. 109) उसे लगता है कि अपनी मिट्टी से दूर आकर उसने भूल की है।

इरफान सामान्य व्यक्ति नहीं है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति की तरह न तो उसके पास घर है, न नौकरी और न ही आमदनी। उसने कुछ वर्ष न्यूयार्क में बिताये हैं, पर तब वहां इतने बन्धन नहीं थे। मुसलमानों को शक की नज़र से नहीं देखा जाता था, पर अब स्थितियां बदल गयी हैं। आज उसे चारो ओर आतंकवादी गतिविधियां नज़र आती हैं-श्रीलंका में तमिल समस्या, गाजापट्टी में फिलिस्तीनियों की समस्या, भारत-पाक की कश्मीर समस्या। वह सभी पर विचार करता है, पर समाधान नज़र नहीं आता। उसे लगता है कि संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं बचा है जहां पहुंच उसे राहत मिले। रूबी का भी ऐसा ही विचार है-'यह दुनिया ज्वालामुखी का मुहाना है। है कोई ऐसा कोना जहां अराजकता न हो। अराजकता राजनीति में, अराजकता धर्म में, अराजकता शिक्षा में, अराजकता उपचार में...।' (पृ. 55)

इरफान का मेल बलवन्त सिंह से होता है जो देश विभाजन तथा सन् 1984 के दंगों के प्रतिशोध-भाव से भरा हुआ है। इरफान उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयास करता है।

पिता की मौत के बाद वह फिर भारत आ जाता है, पर बेटी के जन्म दिवस के अवसर पर विस्फोट में रूबी तथा उसकी बेटी मारे जाते हैं। स्वदेश लौटने के अतिरिक्त उसके पास कोई विकल्प नहीं था-'अपना दुःख वह अपने साथ ही लिये जा रहा था। दुख से छुटकारा कहां है? शेखूपुरा लौटना न जाने कब हो।' यहीं उपन्यास का अंत होता है।

परिवेश में व्याप्त विसंगतियों का चित्रण लेखक ने मार्मिक तथा व्यंग्यपूर्ण ढंग से किया है। उपन्यास में चित्रित यथार्थ रोंगटे खड़े कर देने वाला है- जनता के धन पर मजे लेता नेता, निहत्थों पर वार करती, उनकी आवाज को दबाती पुलिस।

उपन्यास के प्रारम्भ में संकेत है कि इरफान के पिता समुद्र में डूबकर मरे थे। वे कैसे और क्यों मरे इसका रहस्योद्‌घाटन उपन्यास के अंत में होता है। वे सैन्य कमाण्डर थे। बहुत बड़े तैराक। एक सिविलियन की सहायता करने के कारण मंत्रालय ने उन्हें तलब किया था। वहां अपमानित होने से जलसमाधि लेना उन्होंने उपयुक्त समझा।

इरफान की मनःस्थितियों को खोलने के लिए लेखक ने फैंटेसी का प्रयोग बहुत ही खूबसूरती से किया है। उपन्यास में चरित्र, परिवेश, काल तथा कथा की निरन्तरता विषय-वस्तु के आधार होते है, पर इस उपन्यास का आधार उसका विशिष्ट शिल्प है। काल का सुन्दर उपयोग कथाकार ने किया है। पता नहीं चलता वह कब अतीत से वर्तमान या भविष्य में चला जाता है। भाषा पर लेखक का अद्‌भुत अधिकार है। उपन्यास में पठनीयता है। पाठक प्रारम्भ से अंत तक उपन्यास से बंधा रहता है।

'लक्ष्य वेध' इन्दिरा राय का पांचवां उपन्यास है। उपन्यास की पृष्ठभूमि में कृषि-विश्वविद्यालय का परिसर है। छात्रों की उद्दण्डता, अनुशासनहीनता से उपन्यास का प्रारम्भ होता है। छात्रों को किस प्रकार अनुशासित किया जाये जिससे अध्ययन-अध्यापन सुचारु रूप से चल सके, इस पर विचार-विमर्श हो रहा है। बैठक में हो रहे विचार-विमर्श को देखकर लगता है कि किसी भी निर्णय की स्थिति में नहीं पहुंचा जा सकता। यह स्थिति विश्वविद्यालय में ही नहीं है, अन्य सभी जगह भी है। कुलपति मनोरमा सक्सेना जानती हैं कि 'छात्र, प्राध्यापकों की आपसी राजनीति के मोहरे बन गये हैं। असली मोर्चा उन्हीं से लेना है।' वास्तव में प्राध्यापक वी.सी. को नीचा दिखाना तथा झुकाना चाहते हैं। मनोरमा ने इसी विश्वविद्यालय में अध्यापन किया है। जो लोग कभी उसके साथ थे, वी.सी. बनते ही उसके विरोधी हो गये। मनोरमा चाहती है कि छात्रों को भी दो गुटों में बांट दिया जाये जिससे हड़ताल समाप्त हो जाये, पर डॉ. चौधरी उसकी एक नहीं चलने देते।

जाति भेद की राजनीति के कारण विश्वविद्यालय में अशांति का माहौल बना दिया गया है। मनोरमा की जाति के लोग विश्वविद्यालय में कम हैं। मनोरमा को विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। जिन प्राध्यापकों ने छात्रों को हड़ताल के लिए भड़काया था एक दिन छात्र उन्हीं के विरोध में खड़े हो जाते हैं। डॉ. वर्मा की इतनी पिटाई होती है कि उन्हें कई दिन अस्पताल में रहना पड़ता है। डॉ. चौधरी के घर छात्र घुस आते हैं और तोड़-फोड़ करते हैं। पीयूष उन्हें इतना डरा देता है

कि वे सिर ऊंचा करने की हिम्मत नहीं कर पाते।

आलोच्य उपन्यास नायिका-केन्द्रित है और केन्द्र में है डॉ. मनोरमा सक्सेना, उसका संघर्ष तथा द्वंद्व। शेष सभी घटनाएं, प्रसंग मनोरमा से ही जुड़े हुए हैं। मनोरमा के माध्यम से लेखिका स्त्री की विभिन्न समस्याओं, संघर्ष तथा स्थितियों को उपन्यास में उभारती है। मनोरमा संघर्ष करना जानती है, खतरों से खेलना उसे आता है। वह पीछे हटने वाले लोगों में से नहीं है। इसी कारण विश्वविद्यालय की सभी समस्याओं से वह जूझती है, निर्णय लेती है और सफल होती है तथा अपने शत्रुओं को हर बार परास्त करती है।

डॉ. मनोरमा जानती है कि छात्र हड़ताल के पीछे डॉ. चौधरी का हाथ है। वह इस सम्बन्ध में कृषि मंत्री मधुकर से भी बात करती है, पर वे चौधरी के विरुद्ध कोई काईवाई नहीं करते। चुनाव सिर पर हैं और वे किसी को भी नाराज करने की स्थिति में नहीं हैं। मंत्री पर चौधरी के लिए दबाव भी है। वह भी कुलपति पद का उम्मीदवार था। मनोरमा मंत्री के उत्तर से निराश होती है। उसे इस बात का दुःख है कि स्थिति को सुधारने के लिए मंत्री सच का भी साथ नहीं दे रहा। मनोरमा जानती है कि 'राजनीति में सम्बन्धों का कोई मूल्य नहीं रह गया है। जो कुछ है वह अपने को बनाये रखने की कामना है।' कृषि मंत्री मधुकर मनोरमा का सहपाठी रहा हे और कभी प्रेम निवेदन भी किया था। मनोरमा मन में सोचती है-'मधुकर है क्या उसके सामने? एक पंक्ति भी सही नहीं लिख सकता।' जातिगत समीकरण और वोटों की राजनीति ने उसे इतनी ऊँचाई तक पहुंचा दिया कि लोग उसे शासक और भाग्य विधाता समझने लगे हैं। वह मंत्री है इसीलिए मनोरमा को उसके पास जाना पड़ता है।

मनोरमा अविवाहित है। परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसने समझा है। परिवार के विरोध के बावजूद उसने नौकरी की और आज तक अपने परिवार की सहायता कर रही है। मनोरमा स्त्री है, पर कमजोर और असहाय नहीं। उसकी कमाई के बल पर ही उसकी बहनों तथा भाइयों का विवाह हो सका, वे पढ़-लिख सके। फिर भी सभी उसे ही झुकाते और पुरुष दंभ दिखाते रहते हैं, जिसे वह इतने सालों से सह रही है। पर वह झुकी नहीं। उसने स्थितियों को अपने अनुरूप मोड़ा है।

मनोरमा ने निम्न-मध्यवर्गीय जीवन को भोगा है। अपने अथक परिश्रम तथा लगन से वह वी.सी. के पद तक पहुंची है। अगर कहीं जोड़-तोड़ करनी पड़ी है तो वह भी उसने खुद ही की है, बिना किसी की सहायता के। वह स्वावलम्बी तथा स्वाभिमानी स्त्री है। मनोरमा ने निर्धनता देखी है। बचपन में खिलौनों से खेलना उसे नसीब नहीं हुआ। टेबल की चौथी टांग ईंटें जोड़कर उसने खुद बनायी थी। खाने के साथ सब्जी के रूप में 'कटोरी में रखे एक-दो आलू के टुकड़े।' तभी उसने निर्णय लिया था-'मैं कमाऊंगी, रोज पूड़ी खाऊंगी, रबड़ी भी, मटन भी।' खाने के प्रति उसका मोह अभी तक बना हुआ है।

उपन्यास में मध्यवर्गीय लोगों की मानसिकता, उनके रीति-रिवाज, मूल्य उभरते हैं। उपन्यास के पात्र किसी-न-किसी रूप में गांव से जुड़े हुए हैं। इसलिए ग्रामीण मानसिकता का चित्रण भी उपन्यास में स्थान-स्थान पर हुआ है।

मनोरमा ने विवाह नहीं किया, पर देह की मांग को अब वह स्वीकारती है। उसकी दृष्टि में-'सब पुरुष एक जैसे, सब की निगाहों में औरत की देह है। मन, बुद्धि और चेतना पर उसकी कोई दावेदारी नहीं। इस बात को कैसे स्वीकार कर सकती थीं डॉ. मनोरमा सक्सेना? मनोरमा जो प्रत्येक परीक्षा में टापर और गोल्ड मेडलिस्ट रही है, कैसे अपने को कमतर मानकर समर्पित हो जाती।' देह की इस मांग के कारण उसके जीवन में में एक कमजोर क्षण आया था जब उसने कुशेश्वर के प्रस्ताव पर खुद को समर्पित कर दिया था। अविवाहित होने के कारण समाज की नज़र में वह 'बेचारी' है जबकि उसने परिवार के लिए इतना कुछ किया है कि कोई बेटा भी नहीं कर सकता।

लेखिका ने समाज में स्त्री की स्थिति पर विचार किया है। वह नारी की वेदना को गहराई से समझती है। आज भी लोग स्त्री को उन्नति करते नहीं देख सकते। पुरुषों के लिए अब भी उसका स्थान घर की चारदीवारी है। माली का यह कहना कि-'इतना भी नहीं जानतीं कि बिना कटाई-छटाई के लता पेड़ बन जायेगी। लता को लता जैसा ही रहना चाहिए।' माली का यह कथन स्त्री की स्थिति को स्पष्ट कर देता है-उसकी भी कटाई-छटाई होती रहनी चाहिए अन्यथा वह पेड़ बन जायेगी और पुरुष समाज के सामने तन कर खड़ी हो जायेगी। उपन्यास में कहीं लड़की को पढ़ने से रोका जा रहा है, कहीं छोटी आयु में विवाह किया जा रहा है, कहीं अभावों के कारण बेमेल विवाह किया जा रहा है। यहीं लेखिका ने दहेज की समस्या को भी उठाया है। परिवार वाले शिक्षित, सुन्दर लड़की के लिए भी दहेज के कारण अच्छा वर नहीं ढूंढ पाते, तो कहीं स्त्री पुरुषों की भूख का शिकार बन रही है। मनोरमा की बहन हेमा भी अपनी बेटी से नौकरी करवाना नहीं चाहती। उसका कहना है-'नहीं, मैं उसे आफिस नहीं भेजूंगी। आफिस के घाघ अफसरों की लार टपक जाती है लड़कियों को देखकर।' मनोरमा ने यदि वी.सी. के पद को प्राप्त किया है उसने बहुत कुछ झेला भी है-'स्वतन्त्र स्त्री के साथ सच्चे-झूठे स्कैंडल जोड़े जाना कोई बड़ी बात नहीं है।' जब औरत जीवन में कुछ बनना चाहती है तो उसे अपनी चमड़ी मोटी करनी पड़ती है। मनोरमा अविवाहित रही, पर उमर की ढलान पर अकेलापन उसे सालता है तथा वह किसी सहारे की आवश्यकता को अनुभव करती है। उषा का कहना है कि 'स्त्री के व्यक्तित्व को परिवार में विकसित नहीं होने दिया जाता है, बात-बात में उसके मनोबल को तोड़ा जाता है। इतने पर भी यदि वह कुछ बन जाती है तो परिवार के लोगों के लिए सहना कठिन हो जाता है। वे लोग ऐसी परिस्थितियां निर्मित कर देते हैं कि पुनः थक-हारकर उनकी मर्जी के अनुरूप चलना पड़ता है।'

उपन्यास में बेरोजगारी की समस्या भी उभरी है। नौकरियाँ कम निकलती हैं। इन्टरव्यू के समय 'फोन कॉल, सिफारशी पत्र, भेंट-मुलाकात, यहां तक कि रुपयों की थैली भी, राजनीतिक दबाव तो रहता ही है।' योग्यता का कोई स्थान नहीं रह गया है।

आज की भ्रष्ट राजनीति, सत्ता लोलुपता पर भी लेखिका ने कहीं कहीं सटीक व्यंग्यात्मक टिप्पणी की है-'आज की राजनीति और राजनेता। क्या योगदान है इनका देश के लिए? सत्ता के लिए वोट और वोट के लिए व्यक्ति को जाति, सम्प्रदाय और धर्म के खांचों में फिट करना।' एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं-'एक बार सत्ता मिली फिर तो मजे ही मजे, जनता के पैसे से ऐशोआराम की चीजें जुटाना, देश-विदेश घूमना, पूरे कुनबे की बीमारी का इलाज विदेशों में कराना और सात पीढ़ियों के लिए धन जुटाना।'

उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में वी.सी. की दूसरी टर्म पाने के लिए की जा रही भाग-दौड़ का चित्रण हुआ है। यहां मनोरमा का मानसिक द्वंद्व, तनाव, आपसी सम्बन्धों की पड़ताल उभरती है। उसे लगता है कि राजनीति, जान-पहचान, सम्बन्ध ही उसके मार्ग में बाधक हैं। कृषि मंत्री मधुकर से उसे उम्मीद थी, राज्यपाल भी परिचित है, पर डॉ. चौधरी ने जिस तरह से स्थितियों को अपने पक्ष में कर लिया है, मनोरमा को नहीं लगता कि उसे दूसरी टर्म मिलेगी। पर मधुकर मनोरमा को प्रेरणा-स्रोत स्वीकारते हैं। उन्हीं के प्रयत्नों से मनोरमा को दूसरी टर्म मिलती है। पर भाग-दौड़ तथा मानसिक तनाव से वह इतनी टूट जाती है कि मधुकर का फोन सुनने के बाद वह उसे ठीक तरह से धन्यवाद भी नहीं दे पाती।

कृषि-विश्वविद्यालय-परिसर के जीवन के साथ-साथ वहां की राजनीति, हथकंडे, छात्रों की अनुशासनहीनता, विभिन्न विभागों में काम करने वाले लोगों के आपसी सम्बन्ध, परिवार के बीच के तनाव के साथ-साथ मनोरमा के जीवन के संघर्ष, तनाव, उसकी उन्नति, सफलता को लेखिका ने कुशलता से चित्रित किया है। कथा में अद्भुत प्रवाह है जो पाठक को अंत तक बांधे रखता है।

नंद किशोर विक्रम की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'उन्नीसवां अध्याय' को उपन्यास कहने में मुझे संकोच है जबकि लेखक ने इसे विवेचनात्मक उपन्यास कहा है। इस पुस्तक में न तो कथा है, न ही पात्र। निरंतरता भी नहीं है। आलोच्य पुस्तक में कुछ सनातन प्रश्नों को उठाया है, जिन पर अनादि काल से विचार होता रहा है। ज्ञान के विस्तार के साथ-साथ इन प्रश्नों के उत्तरों में परिवर्तन आता रहा है। आज का युग विज्ञान का है। विज्ञान ने धार्मिक आस्थाओं, विश्वासों, परम्पराओं, मूल्यों को जड़ से हिला दिया है। यह हलचल इस पुस्तक में नज़र आती है।

पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में लेखक जीवन के कुछ मूलभूत प्रश्नों को उठाता है जिन पर वह ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करता है। इस तरह इन प्रश्नों के सम्बन्ध में हमें महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों-विचारकों के मतों को जानने का अवसर मिलता है। अंत में इन प्रश्नों पर लेखक तथा आधुनिक विचारकों-दार्शनिकों के मत प्रस्तुत किए गए हैं। पुस्तक के अधिकतर प्रश्नों का सम्बन्ध दर्शन से है। इस दृष्टि से इस पुस्तक को दर्शन की पुस्तक कहा जा सकता है। देश विभाजन की त्रासदी, विभीषिका, उसके प्रभाव पर भी पुस्तक में विचार हुआ है। इस दृष्टि से यह पुस्तक एक काल-खंड के इतिहास को हमारे सामने रखती है और उसका समाज-शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करती है। विभाजन का दर्द पूरी पुस्तक में बहता चला गया है जो चैन नहीं लेने देता। व्यथा, व्याकुलता, सहानुभूति, संवेदना, प्रश्न और संशय, विवेक और विश्वास, स्थितियों का मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, समाजशास्त्रीय अध्ययन आलोच्य कृति के केन्द्र में है। एक गहरी छटपटाहट, स्थितियों से उबरने की बेचैनी तथा नया संसार रचने की कामना दिखाई देती है। विभिन्न धर्मों के मूलभूत सिद्धान्त, ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक विषयक परिकल्पना भी पुस्तक में है। इस दृष्टि से इसे एक सेक्यूलर रचना भी कहा जा सकता है। अतीत तथा स्मृतियों के काव्यात्मक प्रयोग तथा आत्मकथात्मक दृष्टि से इस कृति का साहित्यिक मूल्य भी है। आलोच्य कृति में लेखक के विचार तथा सोच उभरती है। उसके जीवन सिद्धान्त विवेक, विवेचन, विश्वास के आसपास बुने गये हैं। वह तर्क, वैज्ञानिक प्रणाली तथा विवेक को महत्व देता है। इसी कारण वह किसी सिद्धान्त, धार्मिक मान्यता का अंधानुकरण नहीं करता।

पुस्तक का प्रारम्भ 'मैं कौन हूं' के काव्य पाठ से होता है। खुद को पहचानना सरल नहीं है। यह 'मैं' आदि से है। इतिहास की समस्त घटनाएं उसी की आंखों के समक्ष घटित हुई हैं। अच्छा-बुरा जो भी घटित हो रहा है उसे देखने तथा झेलने के लिए 'मैं' अभिशप्त है। यह 'मैं' संजय भी है और धृतराष्ट्र भी-'मैंने इन प्रकाशहीन आंखों से/महाभारत ही नहीं सैंकड़ों जंगें देखी हैं।' शायद उसे आखिरी युद्ध भी देखना पड़े जब सृष्टि नष्ट हो जायेगी-'और शायद उस वक्त कोई संजय नहीं बचेगा/ जो इस प्रलय रूपी युद्ध का विवरण बयान कर सके।' 'मैं' ने देखा है-'न्याय के नाम पर निर्दोष और निरपराध व्यक्तियों को/सूली पर लटकाया जाना/मानव का मानव द्वारा शोषण/धर्म के नाम पर निर्दोष इंसानों का अंधाधुंध नर संहार /गरीबी, महँगाई, अन्याय, भूख, अभाव/ चोरबाजारी, झूठ और छल-कपट का निरन्तर चक्कर।' इन्हें घटित होते हुए हम आज भी देख रहे हैं। पर हमारी संवेदना मर गयी है, तभी हम प्रतिक्रिया नहीं करते। स्थितियों को बिगड़ते हुए, घटनाओं को घटित होते हुए चुपचाप देख रहे हैं।

पुस्तक का प्रारम्भ 'अंत' तथा समापन 'अंतिम अध्याय' से होता है। लेखक अंत को प्रमुखता देता है। जीवन का अंत मृत्यु है। पुस्तक में मृत्यु जीवन, आत्मा, धर्म आदि पर गम्भीरता से विचार किया गया है। लेखक की पुनर्जन्म में आस्था है। विभिन्न धार्मिक मतों के अनुसार इनके

रूप को पहचानने का प्रयास किया गया है। लेखक का मानना है कि-'आदि काल से ही मृत्यु मानव पर भय और आतंक बन कर सवार रही है। और लाख चाहने पर भी वह उससे छुटकारा नहीं पा सका।' यदि संसार में 'मृत्यु और बीमारी का भय न होता तो इंसान ईश्वर की उपासना भी न करता।'

लेखक ने साम्प्रदायिक दंगों, देश विभाजन तथा व्यक्ति के विस्थापन को लेकर विचार किया है। वह लिखता है- 'साम्प्रदायिकता का भयानक दानव आज भी नग्न नृत्य कर रहा है और हजारों निर्दोष साम्प्रदायिकता, प्रदेशवाद, जात-पात, ऊंच-नीच के नाम पर बलि चढ़ाये जा रहे है और शायद चढ़ाये जाते रहेंगे। विस्थापन पर विचार करते हुए वह प्रश्न करता है-'कब तक ताकतवर शक्तियाँ इंसानों को उनके घर बार, उनके देश, उनकी जन्मभूमि से निकालकर उनकी पीड़ा और य़ातना का कारण बनती रहेंगी?'

स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़ी कुछ घटनाओं का जिक्र भी पुस्तक में हुआ है। लेखक के मामा जी कांग्रेसी थे। उन्हें पुलिस ने गिरफ्तार किया था। रणवीर की पुस्तक 'फांसी की कोठरी' लेखक ने बचपन में ही पढ़ ली थी।

इस पुस्तक में लेखक ने उन बुनियादी सवालों को उठाया है जो लोगों के जीवन के साथ गहराई जुड़े हुए हैं। इसी संदर्भ में वह युद्ध पर भी बात करता है। उसकी विभीषिका तथा परिणाम को जानते हुए भी हम युद्ध की तैयारी में निरन्तर जुटे हुए हैं। लेखक इन सवालों तथा इनके साथ जुड़ी बहसों में से सच को पहचानने का प्रयास करता है।

जन्म से लेकर अब तक लेखक ने जो कुछ भी देखा, सुना, सीखा है, उस पर दृष्टिपात करता है। व्यक्ति के विभिन्न रूप उसके सामने उभरते हैं। भगवद्गीता के अठारह अध्यायों के आगे लेखक का यह उन्नीसवां अध्याय है। जिस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्नों का तर्कसंगत उत्तर दे उसके मन को शांत किया था वैसे ही लेखक भी विभिन्न प्रश्नों पर हमारी जिज्ञासाओं को शान्त करता है। पुस्तक के शीर्षक को एक अन्य दृष्टि से भी देखा जा सकता है। इस पुस्तक में अठारह अध्याय है, उन्नीसवां अध्याय अभी लिखा जाना बाकी है, क्योंकि सनातन प्रश्नों का उत्तर रहस्य के गर्भ में है। उनका तर्कसंगत, वैज्ञानिक, प्रामाणिक उत्तर अभी भी हमारे पास नहीं है।

1. भूमध्य रेखा : सुदर्शन नारंग; सम्भावना प्रकाशन, हापुड़, सं. 2003, मूल्य 150 रुपये

2. लक्ष्यवेध : इन्दिरा राय; समय प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2002, मूल्य 150 रुपये

3. उन्नीसवां अध्याय : नंद किशोर विक्रम; पब्लिशर्ज एण्ड एडवर्टाइजर्स, दिल्ली-51, सं. 2003, मूल्य 170 रुपये

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

रामनारायण स्वामी

जटिल अनुभवों की सहज कविताएं

कहते हैं कि सहज भाषा की उपलब्धि जटिल अनुभवों से गुज़रने के बाद ही हो पाती है। राधेश्याम तिवारी का दूसरा कविता संग्रह 'बारिश के बाद' हमारे सामने ऐसा ही उदाहरण रखता है। इस संग्रह की कविताएं अपनी भाषा, विन्यास और सम्प्रेषणीयता में जितनी सहज हैं, इनके कथ्यों में पिरोया हुआ अनुभव संसार उतना ही संश्लिष्ट है-दैनन्दिन जीवन से लेकर सभ्यतामूलक प्रश्नों तक/ इस बात का एहसास हमें संग्रह की पहली ही कविता पढ़ने से हो जाता है, जिसकी पंक्तियां हैं-'बुरे समय के लिए/हमने बचा रखा है/ थोड़ा नमक/ थोड़ा आटा/ एक जोड़ी टूटी हुई चप्पल/ कुछ फटे हुए कपड़े/ बुरे समय के लिए हमने/ अपने स्वर्गीय ईमानदार पिता की/ यादें बचा रखी हैं/ और बीमार बूढ़ी माँ का आशीर्वाद भी/ बुरे समय के लिए/ कबीर/ तुलसी/ सूर/ मीरा/ निराला/ और गालिब की पंक्तियां भी बचा रखी हैं। बुरे समय के लिए हमने/डूबते सूरज से/ थोड़ी रोशनी लेकर/ अपनी ढिबरी में बचा रखी है/ बुरे समय के लिए हमने/ कुछ मित्र भी बचा रखे हैं/ लेकिन ठीक-ठीक नहीं कह सकता/ कि वे मित्र/ बचे ही रहेंगे/ और चीज़ों के साथ/ बुरे समय तक।'

यह विडंबना कि एक कविता-संग्रह का आरम्भ 'बुरे समय' की आशंका या पहचान से हो, नई नहीं है। मनु और मीर की किताबें ईश वन्दना या खुदा की इबादत से भले शुरू होती हों, दीवान-ए-गालिब का आरम्भ सभ्यता प्रश्न ही से हुआ है। प्रश्न है कि यह जो बुरा समय है, इसका क्षेत्रफल क्या है? यह इतिहास में कितना फैला हुआ है, वर्तमान में इसकी परिधि क्या है और भविष्य में इसके विस्तार की क्या आशंकाएं हैं? कविता की चिन्ता के केन्द्र में जो है वही उसके आरम्भ और अन्त में भी है। जीवन के लिए जितना आवश्यक नमक और आटा है, उतना ही प्रकाश और मित्रता भी, मनुष्य होने का सन्दर्भ भी। पर हम पाते हैं कि सभ्यता के नकारात्मक विकास के साथ-साथ ये तमाम सकारात्मक और बुनियादी सन्दर्भ छीजते और बेमानी होते जा रहे हैं। पदबन्ध 'स्वर्गीय ईमानदार पिता' का प्रतीकार्थ बड़ा है, जिसकी सिर्फ़ 'यादें' रह गई हैं। ये यादें किसी पिता की नहीं, पूर्व काल में पाई जाने वाली ईमानदारी की यादें हैं, जो अब इस समाज में नहीं रह गई हैं, क्योंकि यादों का सम्बन्ध अविद्यमानता से है। दूसरा पदबन्ध है 'बीमार बूढ़ी माँ का आशीर्वाद' अर्थात् नई पीढ़ी का शुभ चाहने वाली एक मरणासन्न इकाई। इसका प्रतीकत्व 'डूबते सूरज' से मेल खाता है जिसकी रोशनी अपनी 'ढिबरी' ही में सही, कवि ने बचा रखी है। इसका एक अर्थ है। जिन महान कवियों के नाम कविता में आए हैं, आज हम शायद उनकी तरह नहीं हो सकते, पर यह हमारे हाथ में है कि हम अपने होने को बचाए रख सकें।

प्रश्न है कि क्या यह भी अब सम्भव रह गया है? पुस्तक की अन्तिम कविता (शीर्षक कविता) में कवि नई पीढ़ी को सम्बोधित करते कनफेस करता है-"हम तुम्हारे लिए/ एक ऐसा समय छोड़ रहे हैं/ जिसमें बसन्त नहीं आएगा।...हम तुम्हारे लिए/ एक ऐसा रास्ता/ छोड़ रहे हैं/ जिस पर चलकर/ तुम कहीं/ पहुंच नहीं सकते/ यह राह/ तुम्हें एक ऐसी/ बीहड़ घाटी में/ ले जाएगी/ जहां तुम्हें/ अपने होने का/ अर्थ नहीं मिलेगा।" इन पंक्तियों में एक पूरी पीढ़ी का विफलता-बोध अभिव्यक्त हुआ है। पर कवि की काव्य-चेतना उसे मनुष्यता के बचे रहने की उम्मीद से जोड़े रखती है। इस उम्मीद को नई पीढ़ी के हवाले करते वह कहता है-"ऐसे में/ बिजली की कौंध में/ तुम्हें एक पगडंडी दिखाई देगी/ जो तुम्हें इस भीड़/ और अंधेरे से दूर/ उस नदी के पास/ ले जाएगी/ जिसके किनारे पर/ कमर-भर/ पानी होगा/ लेकिन तुम गर्दन तक/ नदी को ओढ़ लेना/ और उससे पूछना-क्या फिर लौटकर नहीं आओगी?/ नदी कुछ नहीं बोलगी/ लेकिन बारिश के बाद/ तुम्हें उसका उत्तर/ खुद-ब-खुद मिल जाएगा।"

इन पंक्तियों में कोई उपदेश या काव्य फंतासी नहीं, बल्कि भीड़ और कोलाहल भरे इस यंत्रजीवी समाज के अन्ध-अनुसरण से परे जाकर आसमान में चमकने वाली बिजली से लेकर धरती पर बहने वाली नदी तक प्रकृति सत्य से साक्षात्कार करते हुए अपने मूल रूप को देखने-समझने और सकारात्मक दिशा में अग्रसर होने की रचनात्मक अपील अभिव्यक्त हुई है। कवि पगडंडी की बात सिर्फ इसलिए नहीं करता क्योंकि उसका जन्म किसी देहात में हुआ है, बल्कि इस कारण कि वह सभ्यता के हाई टेक विकास की असलियत और तथाकथित विज्ञान की उपलब्धियों से भली-भांति अवगत है। वह जानता है कि महानगर का 'बसंत/ एक बाज़ारू माल है/ जिसके पॉकेट में रुपए हैं/ उसी की आंखों में हरियाली है।' उसे मालूम है कि माँ द्वारा भूखे बच्चे को दूध पिलाते समय या किसानों द्वारा खेतों में पकी फसलें काटे जाते समय कभी भी दुश्मन का विमान/गिरा सकता है। परमाणु बम।"

इस विषमतामूलक और विनाशकारी विकास से असहमति जताते हुए कवि विज्ञान की दार्शनिकता पर प्रश्न उठाते कहता है-"न्यूटन ने/ यह तो सोच लिया/ कि सेब/ पेड़ से नीचे/ क्यों गिरता है/ लेकिन/ यह नहीं सोचा/ कि नीचे गिककर भी/ वह नीचे के लोगों को/ क्यों नहीं मिलता है।" यह न्यूटन के साथ ज्यादती नहीं, बल्कि विज्ञान के सामाजिक सरोकारों पर उठाया गया सवाल है। एक ऐसा सवाल जिसका जवाब आज तक किसी वैज्ञानिक ने नहीं दिया। पर कवि की यह चिन्ता या प्रश्न एकांगी नहीं है। अपनी कविताओं में जगह-जगह वह हवा में उड़ने वाले रहनुमाओं, काग़ज़ी संवेदना को काव्य में सजाकर पेश करने वाले कवियों, मन्दिर-मस्जिद के झगड़ों में समाज को उलझाए रखने वाले कट्टरपंथियों और भविष्यहीनता में पल रहे उन लोगों से भी उनकी भूमिकाओं पर संवाद का इच्छुक है, जिनकी नियति बड़े लोगों के मुर्गे बनना रही है।

'बारिश के बाद' की रचनाएं पढ़ते समय यह महसूस होता है कि विद्रूप-विडम्बनाएं तथा अपमान और उपेक्षाएं कवि के जीवन में भरपूर रही हैं, पर वह निजी और सार्वजनिक हर स्तर पर तमाम तरह की नकारात्मकताओं को भूलकर सकारात्मक रूप में बची रह गई चीज़ों को सहेजने और उनका विकास करने का पक्षधर है। अब इन चीज़ों में चाहे 'बच्चा डॉक्टर' की जनधर्मी स्मृतियां हों या फिर कविता में बचे रह गए खेत-खलिहान और दूधिया मुस्कान। संग्रह में ग्राम्य और नगर जीवन के कई मर्मस्पर्शी और बोधक खण्डचित्र हैं तथा प्रकृति के रस, रंग और लालित्य को भी संजोया-उकेरा गया है। इससे विचार और संवेदना का सन्तुलन बना रहता है और इन कविताओं को पढ़ते पाठक कहीं भी स्वयं को बोझिल या चकित-विस्मित अनुभव नहीं करता। कहना होगा कि यह संतुलन और साधारणता आज के असन्तुलित और दबाव-भरे जीवन में किसी कवि के लिए एक असाधारण उपलब्धि ही है। उम्मीद की जानी चाहिए कि यह असाधारणता आगे भी बरकरार रहेगी और समाज को यह पसन्द भी आएगी।

सी-3/59, नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, दिल्ली-94

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ नई पत्रिकाएं

इस बार इस स्तंभ में कुछ ऐसी पत्रिकाओं की चर्चा है जिनका प्रकाशन या तो अभी-अभी शुरू हुआ है या प्रचार-प्रसार के अभाव में जो पहले हम तक नहीं पहुंची हैं। सर्वप्रथम 'अन्यथा' (सं. कृष्ण किशोर, 1371, सेक्टर 40 बी, चंडीगढ़) जो भारतीय अमरीकी रचनाकारों-पाठकों का सहयोगी प्रयास है, का प्रथम अंक अभी आया है। आकर्षक छपाई एवं महत्वपूर्ण रचनाओं से युक्त यह अंक सहज ही आकर्षित करता है। फिर कृष्ण किशोर ने संपादन में हिन्दी के चर्चित रचनाकारों का सहयोग लिया है, जैसे गद्यांश का संपादन गंगाप्रसाद विमल ने किया है और कवितांश का उपेन्द्र कुमार ने विमल ने विद्यासागर नौटियाल के रचना-संसार पर प्रकाश डाला है और साथ ही उनकी कहानियां और उपन्यास-अंश छापा है। ये रचनाएं प्रमाण है इस बात का कि नौटियाल की रचनाएं एक स्थानीय परिवेश का दस्तावेजी प्रमाण होते हुए भी व्यापक स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों के संकेत देने में समर्थ हैं। रतन कुमार सांभरिया की कहानी 'बात' सामाजिक विसंगतियों पर तीव्र प्रहार करती है। उर्मिला शिरीष, राजेश झरपुरे, सुदर्शन नारंग और सतीश जायसवाल की कहानियां भी पठनीय हैं। कवितांश में दो महत्वपूर्ण कवियों राजेश जोशी एवं मनमोहन की विशिष्ट कविताएं हैं, साथ ही तिलक उपाध्याय, हेमंत शेष, अनामिका आदि की भी कविताएं हैं। इसके अतिरिक्त पत्रिका में विभिन्न विधाओं का समावेश है- संस्मरण, शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, विज्ञान, सिनेमा आदि। अपने सम्पूर्ण रूप में यह पत्रिका आश्वस्त करती है कि सुरुचिपूर्ण पाठकों को एक अच्छी पत्रिका मिलती रहेगी।

प्रवासी भारतीयों को लेकर अक्सर हमारी चिंता जागृत होती रहती है। किन्तु उनके जीवन में झांकने का हमारे पास कुछ विशेष साधन नहीं है। संभवतः इसी कमी को दृष्टिगत रखते हुए 'प्रवासी संसार' (सं. राकेश पाण्डेय, 5/23, गीता कॉलोनी, दिल्ली-31) का प्रकाशन आरंभ हुआ है। इसका तीसरा अंक अभी आया है जिसमें स्व. महेन्द्र कार्तिकेय पर रत्नाकर पांडेय का श्रद्धांजलि लेख बहुत ही आत्मीय ढंग से लिखा गया है। कार्तिकेय को निकट से जानने-समझने वाले पांडेय जी ने स्मृतियों के सहारे जैसे कार्तिकेय को पुनः साक्षात् कर दिया है। विदेशों में हिन्दी और हिन्दी-भाषियों का क्या स्वरूप और जीवन है इससे संबंधित कई लेख यहां हैं। रामदेव धुरंधर, श्याम सिंह शशि, उषा राजे सक्सेना, वीरेन्द्र सक्सेना आदि के लेख इस संदर्भ में विशेष रूप से पठनीय हैं। कहानियों, लघु कथाओं, कविताओं आदि से सजी यह पत्रिका भी अपने उत्तम प्रकाशन पक्ष के कारण आकर्षित करती है।

विदेशों में बसे भारतीय बुद्धिजीवियों का ध्यान हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन पर है, यह एक शुभ संकेत है। अन्यथा की तरह ही एक दूसरी पत्रिका 'हिन्दी जगत' (सं. राम चौधरी, विश्व हिन्दी न्यास, 54 पैरी हिल रोड, ऑसवीगो, न्यूयार्क, यू.एस.ए.) का प्रकाशन भी अमेरिकी भारतीय मित्रों के सहयोग से हो रहा है। 'हिन्दी जगत' के नये अंक में, जो पांच वर्षों के बीच चौथा अंक है, भारती की सांस्कृतिक ऊर्जा के अक्षय स्रोत 'महाभारत' पर विशिष्ट सामग्री दी गई है। पं. विद्यानिवास मिश्र का लेख 'महाभारत का सत्य' महाभारत के मर्म को समझाने में सहायक है। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का पुराना लेख 'महाभारत : एक अनूठा ग्रंथ' और ओशो का 'भारत की सभ्यता का परम शिखर : महाभारत' अवश्य ही पठनीय हैं। इनके साथ धर्मवीर भारती की कृति 'अंधा युग' के कुछ अंशों का प्रकाशन भी संपादकीय सजगता का परिचायक है। वैसे धर्मवीर भारती के जीवन और रचनाओं पर विष्णुकांत शास्त्री और चंद्रकांत वांदिवडेकर के दो संस्मरण भी यहां उपलब्ध हैं और साथ में भारती की कुछ कविताएं भी। भारती के पाठकों के लिए यह विशेष संयोजन महत्वपूर्ण है। रचनात्मक स्तर पर पत्रिका काफी समृद्ध है, पर कष्टकर बात यही है कि पत्रिका नियमित नहीं है।

अनियतकालीन-अव्यावसायिक पत्रिका 'वितान' (सं. उत्तमराव क्षीरसागर, जागृति नगर, भरवेली, बालाघाट, म.प्र.) का प्रवेशांक कुछ समय पूर्व आया है। इस पत्रिका के प्रकाशन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए संपादक का कथन है-'जीवन की जटिलताओं और विसंगतियों से मुक्त होने के लिए मनुष्य रचनात्मकता का सहारा लेता है। भयमुक्त और बेहतर जीवन के लिए मनुष्य की रचनावृत्ति का संरक्षण अनिवार्य है। 'वितान' का लक्ष्य है-मनुष्य और मनुष्य की जिजीविष व अंतश्चेतना को मुखर करना।' संपादकीय इच्छा को कुछ रचनाएं अवश्य पूरा करती नजर आती हैं। अमिता प्रजापति का लेख 'आधुनिकता, संस्कृति और स्त्री', रमेश उपाध्याय की बतकही-प्यारे लाल और हिन्दी साहित्य का भविष्य', निरंजन महावर का 'भारतीय लोकनाट्य' तथा गिरीश रस्तोगी का 'रंगमंच निरंतर एक खोज है' आदि रचनाएं पत्रिका को महत्वपूर्ण बनाती हैं। कहानियां, कविताएं, संस्मरण, डायरी, कला अर्थात सब कुछ को समेटने की कोशिश भी नई पत्रिका के लिए बहुत आवश्यक नहीं है। कुछ ही विधाओं में अगर अच्छी रचनाएं हों तो उससे पत्रिका चमकती है। छोटी जगहों से प्रकाशित पत्रिकाओं के प्रकाशन पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता या उतने साधन उपलब्ध नहीं होते, इस बात को भी 'वितान'

के रूप-रंग को देखकर समझा जा सकता है।

अलीगढ़ से कई छोटी-छोटी पत्रिकाएं निकलती रही हैं, उन्हीं में एक नया नाम जुड़ा है 'वाङमय' का। वाङमय (सं.एम. फीरोज अहमद, ई-3, अब्दुल्लाह क्वार्टर्स, लाल बहादुर शास्त्री मार्ग, अमीर निशां, अलीगढ़-2) का अभी तीसरा अंक (अक्टूबर-दिसम्बर 2004) आया है जिसमें कई उल्लेखनीय आलेख हैं। प्रभा दीक्षित का 'हमारी साझा सांस्कृतिक विरासत के प्रतीक कैफ़ी आज़मी', सूर्य प्रसाद दीक्षित का 'कला कवि आचार्य कवि और महाकवि देव' तथा एम. षणमुखन का 'अधिनायक मनोवृत्ति का बेनकाब' की चर्चा होनी चाहिए। असगर वजाहत से आशिक बालौत और मेराज अहमद की बातचीत भी पठनीय है जिसमें साम्प्रदायिकता जैसे प्रश्नों पर भी असगर वजाहत ने खुलकर बात की है। अंक में सात कथाएं-लघु कथाएं हैं पर ज्यादा प्रभाव छोड़ने में कोई भी रचना ज्यादा समर्थ नहीं है। चर्चित लेखक भी छोटी पत्रिकाओं को अपनी अच्छी रचनाएं नहीं देते, यह एक दुःखद पहलू है।

'साहित्य परिक्रमा' (सं. योगेन्द्र गोस्वामी, ए-147, अशोक विहार फेज-II, नई दिल्ली-52) करीब पांच वर्षों से प्रकाशित होने वाली पत्रिका है किन्तु यथोचित प्रचार-प्रसार के अभाव में तथा अनियमित होने के कारण बहुत सीमित दायरे तक ही इस पत्रिका की पहुंच है जबकि रचनात्मक स्तर पर पत्रिका समृद्ध है। अक्टूबर-दिसम्बर-04 के अंक में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', रामानुज त्रिपाठी, कमल किशोर गोयनका, नरेन्द्र कोहली, दयाकृष्ण विजय, रमानाथ त्रिपाठी जैसे चर्चित रचनाकारों की रचनाएं उपलब्ध हैं। पुस्तक-समीक्षाओं के लिए काफी जगह है इस पत्रिका में जिस कारण चर्चित पुस्तकों का मूल्यांकन बहुत सही ढंग से हुआ है। अंक में दो कहानियां हैं किन्तु ये कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़तीं। कविताएं अवश्य पठनीय हैं, विशेष रूप से नीलकंठ की।

बिहार से 'समय-सुरभि' का प्रकाशन करीब सात वर्षों से हो रहा है और इस बीच इसके 28 अंक आ चुके हैं। इस दृष्टि से इस पत्रिका को नियमित ही माना जा सकता है। 'समय सुरभि' (सं. नरेन्द्र कुमार सिंह, शिवपुरी, पो. एवं जिला बेगूसराय-851101) के 28वें अंक में रामधारी सिंह दिनकर पर वीरेश कुमार का 'गद्यकार दिनकर' जहां एक पठनीय शोधात्मक लेख है वहीं स्वयं दिनकर द्वारा लिखित 'कविता का भविष्य' को पुनः-पुनः पढ़ा जा सकता है। दिनकर का मानना था कि चूँकि कवि ईश्वर और धर्म के बहुत समीप रहा था अतएव दोनों के साथ आज वह भी दंडित किया जा रहा है। इस अंक में तीन कहानियां एवं नरेन्द्र कोहली का उपन्यास अंश तथा रविरंजन का एक लघु नाटक पत्रिका के महत्व को बढ़ाने वाली रचनाएं हैं। आम तौर पर बिहार से निकलने वाली लघु पत्रिकाओं का प्रकाशन पक्ष बहुत ही कमजोर होता है, इस पत्रिका पर इस दृष्टि से भी ध्यान दिया गया है जो संतोषप्रद है।

राजस्थान से कई साहित्यिक पत्रिकाएं निकलती रही हैं, आज भी निकल रही हैं। 'अरावली उद्घोष' (सं. बी.पी. वर्मा 'पथिक', 448, टीचर्स कालोनी अम्बामाता स्कीम, उदयपुर) में दलित और पिछड़ी जातियों के उत्थान की चिंता ज्यादा नज़र आती है। संपादक का कहना है कि इस पत्रिका के माध्यम से पाठकों को ऐसा साहित्य परोसने का काम किया जाता है जो समाज की उन्नति और विकास में सहायक हो सके तथा उनकी सोच और चिन्तन को मजबूत बनाता रहे। परन्तु संपादक का यह भी मानना है कि ऐसा साहित्य पढ़ने की रुचि का हमारे लोगों में भारी अभाव है। इस कारण पाठकों की रुचि के अनुरूप सामग्री परोसनी पड़ती है। इसके बावजूद पत्रिका के नये अंक (जुलाई-सितम्बर 04) में कई महत्वपूर्ण लेख हैं जो सिर्फ पठनीय ही नहीं, विचारणीय भी हैं। 'धर्मवाद, बाजारवाद और शिक्षा' (गिरिजाशंकर मोदी), 'व्यवस्था परिवर्तन के अवरोध और उनका निराकरण' (साहू रामलाल गुप्त), 'आदिवासी साहित्य के प्रामाणिक दस्तावेज' (मस्तराम कपूर) और 'अवर्ण संस्कृति में नारी' (प्रभा दीक्षित) ऐसी ही रचनाएं हैं। दलित-विमर्श को स्पर्श करती कहानियां और कविताएं भी इस अंक में पर्याप्त मात्रा में हैं।

और अंत में झारखंड से प्रकाशित 'साहित्यम्' (सं. अशोक वर्मा, 1/एफ, सरस्वती नगर, टुइलाडुंगरी, गोलमुरी, जमशेदपुर) के कहानी अंक की चर्चा भी अनिवार्य है। झारखंड बहुत छोटा प्रदेश है परन्तु वहां रचनाकारों की कमी नहीं है। 'साहित्यम् 2004' में झारखंड के कहानीकारों को एकत्र किया गया है। इस अंक के अतिथि संपादक वासुदेव हैं और इस विशेषांक को निकालने में निश्चित रूप से उन्होंने मेहनत की है। अशोक प्रियदर्शी, गुरुबचन सिंह, रतन वर्मा, सी. भास्कर राव, जयनंदन जैसे प्रतिष्ठित लेखकों के साथ ही अनेक नये लेखकों की कहानियां अपनी थीम और भाषा के कारण हमें आकर्षित करती हैं। वासुदेव ने अपने संपादकीय में इस क्षेत्र में उभरे कथाकारों के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है जो निश्चित रूप से काफी जानकारी प्रदान करती है। अपने सीमित साधनों के कारण इस क्षेत्र के अनेक कथाकारों की, विशेष रूप से नये कथाकारों की, कहानियां इस अंक में नहीं जा पायी हैं, परन्तु जितना कुछ है उससे भी झारखंड की प्रतिभाओं का पता चलता है और भविष्य के प्रति उम्मीद जगाता है।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-220085

आनंद अस्थाना

पैट में एक जेब रहती थी

इस महान देश में मेरे जैसे तुच्छ जीव का पैदा होना एक दुर्घटना ही कही जायेगी। मां कहती थी कि तू मूलों में पैदा हुआ था तभी कोई सीधी बात तेरे मगज़ में नहीं घुसती। 64 सालों का होते-होते माँ-बाप सब काल में बिलाय गये पर मूल अभी तक शांत न हो सके। दरअसल मेरे मूल में बैठा था एक अदना-सा लेखक जो गाहे-बगाहे खुजली पैदा करता रहता है। जो हमें दिखाया जाता है, उन चीज़ों को अपने नज़रिये से देखना हमारी फ़ितरत में है। कठिनाई बस यहीं से हमारे साथ चस्पां हो जाती है। खुजली भी मुख्यतः तीन प्रकार की होती है- पहली 'अक्लन खुजली' जिस केटेगरी में हम लोग यानी कि 'सो कॉल्ड बुद्धिजीवी वर्ग आता है, दूसरी 'शक्लन खुजली' जो युवा वर्ग की होती है जिसे वे मनीषा कोइराला या माधुरी दीक्षित की फिल्मों से प्राप्त करते हैं और तीसरी यानी कि 'नस्लन खुजली' यह स्पेशल खुजली हमारे नेतागण देश की पब्लिक को, कई पीढ़ियों से लगाते आये हैं।

मुझे पहली खुजली सोलह-सत्रह साल की उम्र में हुई, जब एक प्रेम-कथा अधूरी ही थी कि पापा के हाथ पड़ गई और फिर मेरी ऐतिहासिक धुनाई-सफाई की गई और यह समझा जाने लगा कि लौंडे की अभी मसें भी नहीं भीगी हैं और खुराफ़ात में पड़ गया। इस आयु तक हम निकर और कमीज़ पहन कर स्कूल जाते थे। जेबें अपनी जगह पर मुकम्मल थीं और अक्सर उनमें लेमनचूस या मूंगफलियां अथवा काजू और किशमिश या चिलगोजे भरे रहते। क्या जमाना था वो। कमीज़ में भी एक जेब हुआ करती थी जिसमें कि पार्कर-52 का फाउंटेनपेन हमारे 'स्टेटस सिंबल' की नुमायश करता था (अब तो खैर पान वाले तक मोबाइल रखते हैं)। जिस पेटी बुर्जुआ वर्ग में पैदा हुआ था वहां डिसिप्लिन, ऐटीकेट व मैनर्स आदि शब्दों की अनुगूंज आज भी सुनाई पड़ती है। मित्र बनाने में भी आचार संहिता का ध्यान रखा जाता था। मेरी कमीज में माँ को कभी बीरबहूटी मिलती या चम-चम करते जुगनू। अक्सर समझाती कि पापा देखेंगे तो बुरा-भला कहेंगे पर मेरे भीतर उनके खिलाफ एक 'रिबेल' उठ खड़ा हुआ था जो आज उनके न होने पर भी, उनकी जैसी मानसिकता वाले व्यक्ति के प्रति मेरे मन में रहता है।

समय बीतते मैं लेखकनुमा व्यक्ति बन चुका था। फारेस्ट अफसर की हैसियत से मेरी पहली पोस्टिंग मालवा के जंगलात में हुई। एक बार जीप पर निष्प्रयोजन शिप्रा पदी के किनारे जा रहा था कि देखा एक बेहद खूबसूरत नाक-नक्श वाली महिला निर्वस्त्र हो नदी में पैर डाले नहा रही है। सौंदर्यबोध कसमसाया-चलो कैमरे से एक ठो फोटो खींच लें। पास ही पेड़ की टहनी जो नीचे लचक आई थी, उस पर कुहनी टिकाये पत्तियों के झुरमुट में कैमरा छिपाये फोटो खींच ही रहा था कि वह टहनी टूट गई। मेरा कैमरा जमीन पर आ गिरा और कुछ खरोंच मुझे भी आई। तभी देखा कि तेज धार में वह युवती बीचोबीच हाथ हिला रही है। मैं चिल्लाया-बचाओ-बचाओ! क्योंकि मुझे तैरना नहीं आता था। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने सिर उठाकर देखा, वह सामने ही खड़ी थी-आधा धड़ मछली का और आधा मानव का। मैं घबराया पर वह बोली-"मैं महाराजाधिराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की सिंहासन बत्तीसी की अंतिम पुतली हूं। तुम लेखक होना चाहते हो न?"

"सो तो है पर....।"

"टोको मत! केवल सुनो। तुम मुझसे पांचवर्षीय अनुबंधित विवाह कर लो। चाहना तो 'रिन्यू' करना वरना जैसी मर्जी। स्वीकार है?"

'पर मैं आपके साथ संतानों से वंचित रह जाऊंगा।"

"वो तो तुम कहीं भी, किसी से भी पैदा कर सकते हो। देश के कई जागरूक नेता यही कर रहे हैं।"

"लेकिन यह तो अनाचार हुआ-मैं तो दलितों, महिलाओं के विरुद्ध अत्याचारों पर जमकर लिखता हूं तो यह कैसी दुभांति?"

"देखो! मेरा जाने का समय हो रहा है...बोलो मेरी शर्त स्वीकार है?"

"हां"

"तो ठीक! मैं तुम्हारी जेब में रहूंगी, तुम्हें जब कुछ पूछना हो तो मन में पूछना-तुम्हें उत्तर मिल जायेगा।"

देखते-देखते वह इतनी छोटी हो गई कि अदृश्य-सी हो गई। मन में बोल उठी कि मैं सुरक्षित हूं-अब तुम अपने दैनंदिन के कार्य करो। तब से यह मेरे साथ रही।

एयरकंडीशंड प्रथम श्रेणी में दिल्ली आने के पूर्व एक सेठनुमा यात्री बोला-"यार, कितनी गंदगी करते हैं ये लोग? तभी विदेशी लोग कहते हैं कि युअर कंट्री अ वास्ट लैट्रिन।" रिमोट सिग्नल मेरे होंठों को निर्देश देने लगा-"नो सर, मैं आपसे सहमत नहीं! हर विदेशी या कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू खैरा कोई बात कहे तो क्या हमें मान लेना चाहिए?"

"तो आप कहना क्या चाहते हैं?" वह सज्जन कुपित होकर बोले।

"साहेब पहले तो यह कि आपकी मेहतरों पर निर्भरता समाप्त हो जाएगी, दूसरे यह कि आपके फेफड़ों को सुबह की विशुद्ध आक्सीजन मिलेगी, तीसरे इस धरती को आप बिल्कुल नेचुरल 'मैन्योर' या खाद देते हो और अंतिम बात यह कि हमारे ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएं इस समय विशेष में बतिया लेती हैं तो बुराई क्या है?" यह मैं नहीं, कोई मन में बोल रहा था।

मालवा की सुबह बेहद दिलकश होती है। सुबह की सैर मेरा नित्य कर्म था। एक जर्मन शेफर्ड कुत्ता, विशालकाय कोठी के द्वार पर खड़ा मिला। कुत्ता वाकई बहुत खूबसूरत था। वैसे कुत्ते खूबसूरत ही होते हैं जब तक काटते नहीं हैं। मेरे मित्र अमोलक नाथ कहते हैं कि कुत्ता और नेता कब काट खाये, कब दुम हिलाये-पता ही नहीं चलता-मोस्ट अनप्रिडिक्टिबिल। मन में टेलीप्रिंटर बोलने लगा-"सुनो, यह कुत्ता इस कोठी के मालिक का नहीं है, इसे वह अपनी अल्शेसियन कुतिया को 'क्रास' कराने लाया है। एक सप्ताह भर खाता-पीता रहा, मोटा भी हो गया पर उससे कुछ करते-धरते न बन

सका-अतः मालिक ने इसे घर का रास्ता दिखा दिया।"

"पर देखने में तो हट्टा-कट्टा है, फिर?"

"क्यों, भारत क्या दिखने में तुम्हें कमज़ोर दिखता है? यह कमबख्त इतने दिनों कुतिया के साथ सी-सी और लूसी खेलता रहा जैसे हमारा शीर्ष नेतृत्व पाकिस्तान के साथ खेलता रहता है।"

"नहीं-नहीं, ऐसा मत कहो, हम भारतवासी अहिंसक व संवेदनशील प्राणी हैं। तभी जब देश आतंकवादी हमले होते हैं तो हमेशा कहा जाता है कि हमारे संयम की परीक्षा न ली जाए-जिस दिन यह टूट गया तो प्रलय आ जायेगी।"

"जी हां-मालूम है। जब-जब आपके नेताओं का धीरज व संयम चुकने लगता है तभी उसकी एक बड़ी खेप अमरीका-ब्रिटेन से आयातित हो जाती है...और अगली वारदात होने तक हम प्रसन्नचित्त रहते हैं।"

"तुम्हारे सोच का तरीका गलत है...यह चुप्पी हमें आत्मचिंतन के लिए समय देती है कि हम स्वमूल्यांकन करें।"

इस पुतली का नाम हमने शिप्रा रख दिया था। बेहद तमक कर बोली-"क्यों नहीं, एकांतवास लेकर सागर के किनारे किसी संन्यासी की तरह चिंतन करना, देश के बारे में सोचना असाधारण काम है। मुझे तो एक गाना याद आ रहा है-मैं रोऊँ सागर के किनारे, सागर हँसी उड़ाये..."

'शिप्रा, यह तुम्हारी दुष्टता है कि तुम नेतृत्व का मखौल उड़ा रही हो। दरअसल गांधी जैसा पुरुष तुम्हारे युग में हुआ ही नहीं। तुम तो सिर्फ युद्ध की भाषा को जानती हो, सम्राट चंद्रगुप्त की विजय पताकाओं के लहराने और करतल ध्वनियों और सर्वत्र जयजयकार का स्वर सुनने की तुम अभ्यस्त हो गई हो लेकिन उसके पीछे का रोदन और विलाप डेढ़ हजार साल बाद गांधी ने सुना...तुम्हारे समय में युद्ध था, विचार नहीं था।"

"खैर यह बड़ी-बड़ी बातें मैं न समझ सकूंगी।"

"तुम क्या जानो कूटनीति क्या होती है? इसके चलते ही युद्ध टला है और सारी दुनिया में हमारा पक्ष तैयार हुआ है। यह सामान्य युद्ध नहीं था वरन आर्थिक युद्ध था जिसने शत्रु राष्ट्र की कमर तोड़ दी- क्या तुम्हें नहीं लगता कि नेतृत्व की दूरदर्शिता के चलते लाखों जानें बच गईं।"

"नतीजा क्या निकला? वहीं नौ दिन चले अढ़ाई कोस! तुम लेखक हो न, क्या तुम्हारी समझ में नहीं घुसता कि तुम्हारा मसला युद्ध के बिना निपट नहीं सकता?"

"सुनो शिप्रा, मैं एक धांसू किस्म का नॉवेल लिखना चाहता हूं। मेरी समझ में नहीं आता कि कहां से सिरा पकड़ूं? चीज़ें आती हैं पर हाथ से फिसल जाती हैं।"

"नहीं, परेशान होने की जरूरत नहीं। आजकल प्रेम-उपन्यास नहीं के बराबर लिखे जा रहे हैं पर याद रखना कि सतही, नंदा-शर्मा टाइप नहीं वरन् मार्क्सवादी सौंदर्य-शास्त्र से सज्जित और आक्रोश एंव फंतासी से लथपथ होने चाहिए। उपन्यास में जितनी अमूर्तता होगी, लोगों के सिर पर से उड़ने की प्रवृत्ति होगी उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा।"

"सब तो सध गया पर फंतासी पकड़ ही में नहीं आती।"

"इसे समझने के लिए गोगोल पढ़ो, नीत्शे पढ़ो, काफ्का पढ़ो और इन्हें पढ़ने के बाद जो समझ में न आए वही फंतासी होती है।"

"मेरी समझ में तो तुम्हारी ही बात नहीं आ रही...मेरे लिए तुम ही फंतासी से कम नहीं हो।"

"देखो-कमीज की जेब में रखो अपनी बत्तीसी, सौजन्य, नमन और आदरसूचक भाव-भंगिमा। जहां भी किसी आलोचक को देखो और खासकर वह सुविख्यात-नामवर हो तो क्या कहने! सारी की सारी जेब उसके चरणों पर उलार दो।"

"उससे क्या होगा?"

"यह आलोचक नाम का रिक्शा तुम्हें पुरस्कारों की संकरी गली में बिना फंसे उतार देगा। हो सकता है तुम्हारे उपन्यास में ही लिख दे कि यह उत्कृष्ट उपन्यास तो विश्व-साहित्य के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में पांक्तेय होने के योग्य है।"

"रुको नहीं, बोलती रहो, मुझे समझ आने लगी है।"

"रूपवादी-कलावादी सोच को घर की अल्मारी में बंद कर देना-हाँ, दायीं पेंट की जेब में दो-चार टुकड़े अभिव्यंजना, शैली-शिल्पा, रस सिद्धांत आदि के डाले रखना। एक बात का खास ध्यान रखना कि बायीं जेब में क्या है, यह किसी को पता न चले।

"उसमें ऐसा क्या है?"

"उसमें रखना तथाकथित वामपंथी सोच, आक्रोश के गहने और साहित्यिक राजनीति की समझ।"

"अब सभी जेबें भर गईं तो मैं अपना पान का बटुआ, पर्स और फुटकर रेजगारी कहां रखूंगा?"

"तुम फुटकर के फुटकर ही रहोगे। अरे, पेट से लगी, पैंट के भीतर की एक जेब में यह फजूलियात डाले रहना। अब जो बात मैं बता रही हूं इसे जीवन-पर्यंत याद रखना-अपने पृष्ठभाग में, मेरा मतलब है पैंट की पिछली जेब में विचार रखना-अधिकांश नेता और अफसरान सारे विचार वहीं सुरक्षित रखते हैं जैसे स्विस बैंक में अपने खाते। तुम लेखकों की यही वाहियात आदत है कि अपने विचार सबसे पहले प्रकट कर देते हो। यह नहीं जानते कि चीजों और मुद्दों का विचाराधीन होना कितना श्रेयस्कर होता है। अपनी रणनीति निर्धारित करने का समय मिल जाता है, दूसरे अन्य लोगों की काट का भी जुगाड़ चलता रहता है और उससे बढ़कर आपकी अर्थवत्ता में चार चाँद लग जाते हैं।"

मुझसे अनायास ही एक बड़ी गलती हो गई। अनुबंध का आखिरी दिन था-मैंने कॉन्ट्रैक्ट रिन्यू नहीं कराया और वह इतने सालों का साथ छोड़ गई। नॉवेल तो छपा परन्तु उसके न होने से वह मुहल्ले के साहित्य में ही पांक्तेय हो पाया। आप तो उसका हुलिया जानते हैं-यदि कहीं मिल जाये तो मुझे फोन अवश्य कर दीजियेगा-कुछ पत्रम्-पुष्पम् भी भेंट कर दूंगा...।

महत्मा गांधी मार्ग, हरदोई (उत्तर प्रदेश)

कथासंग्रह 'माफिया' का विमोचन

पिछले दिनों हिमाचल प्रदेश के मुख्यमंत्री वीरभद्र सिंह ने कथाकार एस.आर. हरनोट के अंग्रेजी में अनूदित कहानी संग्रह 'माफिया' का विमोचन किया। सुप्रसिद्ध लेखिका सरोज वशिष्ठ ने हरनोट की कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

दारोश तथा अन्य कहानियों से बेहद चर्चा में आए हरनोट को इस पुस्तक के लिए वर्ष 2003 का अंतर्राष्ट्रीय कथा सम्मान भी दिया जा चुका है।

अनुवादिका सरोज वशिष्ठ राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर के पुरस्कारों से भी सम्मानित हो चुकी हैं। सरोज वशिष्ठ ने साहित्य अकादमी के इंडियन लिटरेचर में हिमाचल के लेखों और कहानियों का अनुवाद भी किया है।

इस अवसर पर विधानसभा के उपाध्यक्ष धर्मपाल, सुन्नी-कुमारसैन जनसंघर्ष मंच के अध्यक्ष डॉ. प्रमोद शर्मा, प्रसिद्ध लेखक एवं कलाकार केशव, सुदर्शन वशिष्ठ, डॉ. ठाकुर दत्त शर्मा आलोक, डॉ. कर्म चंद आर्य, डॉ. कुल राजीव पंत, बद्री सिंह भाटिया, नेम चंद अजनबी, शेखर भट्टाचार्य व सुश्री ईश भी उपस्थित थे।

पता

'टूटने से पहले' पर गोष्ठी

श्री बी. तुलसी राव के आवास पर आयोजित घरेलू कथा-गोष्ठी में इस बार वरिष्ठ लेखक गुरु बचन सिंह के सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'टूटने से पहले' पर विस्तृत एवं गंभीर चर्चा हुई।

बी. तुलसी राव ने चर्चा का प्रारम्भ करते हुए कहा जमशेदपुर पर लिखा गया यह एक अनूठा उपन्यास है। उपन्यास का नायक चरण एक साधारण स्वाभाविक व्यक्तित्व वाला नायक है। आम आदमी की तरह उसके अंदर भी मानवीय दुर्बलताएं हैं। उसके भी आदर्श हैं, अन्याय के विरुद्ध लड़ने की इच्छा है। लेकिन अपने अंदर की मानवीय दुर्बलताओं के कारण वह इसे अमली जामा नहीं पहना सकता। कथाकार व उपन्यासकार कमल ने कहा कि जमशेदपुर के मजदूरों का दुःख-दर्द बढ़ते हुए समूचे विश्व के मजदूरों का दुःख-दर्द बन जाता है जो इस उपन्यास की बड़ी सफलता है। एक बड़े कलेवर को समेटता गुरुबचन सिंह का यह उपन्यास भी उनकी अन्य कृतियों की तरह ही पाठकों के बीच खासा लोकप्रिय होगा।

गोष्ठी में कथाकार शंकर, डॉ. सी. भास्कर राव, प्रेमचंद पाण्डेय, योगिता मिश्रा, बी. कौर आदि उपस्थित थे।

प्रस्तुति : बी. तुलसी राव

डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल का षष्ठिपूर्ति समारोह

साहित्यकार डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल की जीवन-यात्रा के साठ वर्ष पूर्ण होने पर बिजनौर के मधुर मिलन सभागार में भव्य साहित्यिक अनुष्ठान का आयोजन तथा डॉ. अग्रवाल को समर्पित ग्रंथ 'सफ़र साठ साल का' का लोकार्पण किया गया।

आयोजन के मुख्य अतिथि डॉ. आर.पी. सिंह (कुलपति, चौ. चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ) ने अपने संबोधन में डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अभिनंदन करते हुए कहा कि जिस व्यक्ति के कार्यों से संस्था, नगर, देश एवं समाज गौरवान्वित अनुभव करे, वह व्यक्ति निश्चितरूपेण आदरणीय एवं सम्मान के योग्य हो जाता है। इस साहित्यिक आयोजन की अध्यक्षता कर रहे सुप्रसिद्ध कवि श्री सोम ठाकुर ने कहा कि जीवनयात्रा में 50 वर्ष का समय संघर्ष और समस्याओं का होता है और उसके बाद की यात्रा में व्यक्तित्व-कृतित्व का मूल्यांकन होता है। डॉ. कुँअर बेचैन ने ग़ज़ल-यात्रा के पड़ावों को रेखांकित किया और स्पष्ट किया कि डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल हिन्दी-ग़ज़ल के महत्वपूर्ण पथिक हैं। रुड़की से आए प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' ने कहा कि जिस व्यक्ति ने हारना, रुकना, झुकना नहीं सीखा, उस व्यक्ति का नाम डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल है, किन्तु इस दृढ़ व्यक्तित्व की पहचान उनकी विनम्रता भी है। सुप्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य कवि डॉ. अशोक चक्रधर ने डॉ. अग्रवाल के कृतित्व एवं व्यक्तित्व से अभिभूत होकर कहा कि कोई भी व्यक्ति बिना निरंतरता के गिरिराज नहीं बन सकता। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री निश्तर ख़ानकाही ने आशान्वित होकर कहा कि साहित्य की कोई ऐसी विधा नहीं है, जिसमें डॉ. गिरिराजशरण अपनी रचनाधर्मिता प्रस्तुत न कर सके हों। डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली के प्रबंध निदेशक श्री नरेन्द्र कुमार ने भी इस अवसर पर डॉ. अग्रवाल को शुभकामनाएँ दीं। डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल ने अपने सम्मान से अभिभूत होकर कहा कि षष्ठिपूर्ति के आयोजन के अवसर पर शुभचिंतकों एवं साहित्यप्रेमियों ने जो सम्मान दिया है, वह उनकी आत्मीयता का सूचक है।

प्रस्तुति : डॉ. अशोक कुमार

राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी का 17वां सम्मेलन

राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी, कलकत्ता एवं रूपाम्बरा द्वारा महात्मा गांधी की 135वीं जयंती के अवसर पर 2 से 4 अक्टूबर तक 17वां अखिल भारतीय राजभाषा सम्मेलन पुरी में आयोजित हआ। सम्मेलन के उद्घाटन सत्र के प्रधान अतिथि उड़ीसा के पूर्व मुख्यमंत्री तथा वर्तमान विधानसभा के विपक्ष के नेता श्री

जानकी वल्लभ पटनायक थे। विशिष्ट अतिथि डॉ. प्रसन्न कुमार पारसाणी, सांसद लोकसभा; सुप्रसिद्ध ओड़िया लेखिका एवं 'दैनिक समाज' की प्रधान संपादक श्रीमती मनोरमा महापात्र एवं हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एवं आलोचक डॉ. रमेश चंद्र शाह थे। इस अवसर पर श्रीमती मनोरमा महापात्र को 'फकीर मोहन सेनापति राष्ट्रीय सम्मान', डॉ. शाह को 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी राष्ट्रीय साहित्य सम्मान' तथा श्री पटनायक को 'बंकिमचंद्र चटर्जी राष्ट्रीय साहित्य सम्मान' से सम्मानित किया गया।

अकादमी के अध्यक्ष स्वदेश भारती ने बताया कि सन् 1989 में स्थापित अकादमी हिन्दी के प्रचार-प्रसार के साथ ही अन्य भारतीय भाषाओं के विकास में भी सहयोग दे रही है। तमिल, तेलुगु मलयालम, कन्नड़, नेपाली, बांग्ला की समकालीन कविताओं का अनुवाद कर हिन्दी में 'काव्य भारती' काव्य संकलन प्रकाशित किए गए हैं। डॉ. रत्नाकर पांडेय (पूर्व सांसद एवं मानद अध्यक्ष राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी) ने कहा कि अब हिन्दी के साथ कोई नाटकबाजी नहीं चल सकती। आजाद ी के बाद अब तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा मिल जाना चाहिए था लेकिन जो कुछ लोग अंग्रेजी का वर्चस्व स्थापित करने के लिए दिन-रात लगे रहते हैं और ऊंचे पदों पर आसीन हैं, उनके द्वारा हिन्दी को दूसरी श्रेणी में रखा जाता है। यह हमारी आजादी के प्रति अन्याय है।

सम्मेलन कई सत्रों में बंटा रहा और अनेक विषयों पर लगातार चर्चाएं होती रहीं जिसमें साहित्यकारों के साथ-साथ विभिन्न सरकारी- गैर-सरकारी संस्थानों के प्रबंधकों और प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया, 'भूमंडलीकरण-वैश्वीकरण और हिन्दी का स्वरूप' सत्र में साहित्यकारों की सहभागिता ज्यादा रही। सुरेन्द्र तिवारी, बटुक चतुर्वेदी और विद्या केशव चिटके ने अपने आलेख पढ़े जबकि राजेन्द्र जोशी, तुलसी रमण, नारायण कुमार, रुक्माजी राव अमर, रमेश चन्द्र शाह, स्वदेश भारती, रत्नाकर पांडेय, भगवती प्रसाद व्यास आदि ने अपने-अपने विचार रखे।

सांध्यकालीन सत्र में डॉ. रमेशचंद्र शाह की अध्यक्षता तथा राजेन्द्र जोशी के संचालन में 'राष्ट्रीय कवि सम्मेलन' आयोजित किया गया जिसमें नये-पुराने कवियों ने उपस्थित श्रोताओं को आनन्द विभोर कर दिया।

सम्मेलन का समापन पूर्व रेल मंत्री श्री कान्हू चरण लेंका ने यह कहते हुए किया कि हिन्दी भारतीयता और राष्ट्रीयता की प्रतीक है और भविष्य में भी रहेगी।

प्रस्तुति : सौरभ

सहगल के उपन्यास के निमित्त अनूठा प्रयोग

पिछले दिनों 'सरोकार' संस्था, बीकानेर की ओर से सुप्रसिद्ध कथाकार हरदर्शन सहगल के घर 'संवाद' में उनके सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'कई मोड़ों के बाद' पर विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। कॉलोनी के लोगों ने भी इसमें शिरकत की।

नन्हें बच्चों गर्विता तथा वीरेश, ने आगंतुकों का स्वागत किया। वरिष्ठ कथाकार यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में 'कई मोड़ों के बाद' को नैतिक मूल्यों के द्वंद्व एवं संघर्ष की संस्कारित औपन्यासिक कृति बताया तथा कहा कि इस उपन्यास के चरित्र अमर्यादित नहीं होते जबकि जीवन काफी मर्यादाओं को भंग कर चुका है। वरिष्ठ उपन्यासकार से.रा. यात्री ने मुख्य अतिथि के रूप में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि उनकी आशाओं के अनुकूल सहगल ने संश्लिष्ट चरित्रों को लेकर प्रभावी उपन्यास कथा साहित्य को अर्पित किया है। कवि शिक्षाविद् भवानी शंकर व्यास 'विनोद' ने कहा कि ऐसे चरित्र लेखक के भीतर बुनियादी बेचैनी के बिना कदापि सृजित नहीं हो सकते। डूंगर कॉलेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. उमाकांत का कहना था कि बाज़ार में स्त्री विमर्श को वस्तु की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। ऐसे दौर में यह उपन्यास आश्वस्त करता है। व्यंग्य लेखक बुलाकी शर्मा ने उपन्यासकार सहगल को 'शुद्ध शाकाहारी लेखक' बताते हुए कहा कि उनके कथा चरित्र आधुनिक होते हुए हुए भी संस्कारों से पूर्णतः आबद्ध रहते हैं। शिक्षा से जुड़ी समाज सेविका अलका डोली पाठक, कथा लेखिका ममता सिंह, सुश्री कंपन, रुचिरा, कमला, बलविंदर कौर, अंश, कमलेश आदि ने भी उपन्यास पर अपने विचार प्रस्तुत किए। गोष्ठी में डॉ. आदर्श सक्सेना, अनिरुद्ध उमट, मुरली मनोहर समेत अनेक लोग उपस्थित थे। 'सरोकार' के सचिव नवनीत पाण्डे ने आभार व्यक्त किया।

प्रस्तुति : कमलेश गुप्ता

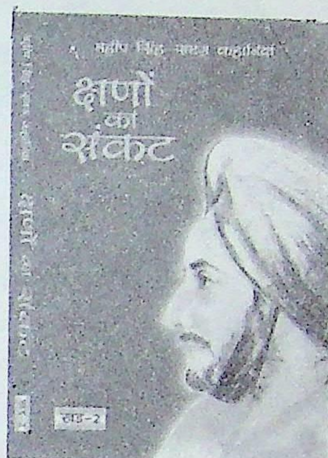
डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को निराला सम्मान

पिछले दिनों भारती परिषद, उन्नाव के 51वें काव्य समारोह में कवि-साहित्यकार एवं ओएनजीसी के मुख्य प्रबंधक (राजभाषा) डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को 'निराला सम्मान' से अलंकृत किया गया। इस अवसर पर उन्हें भारती परिषद के पदाधिकारियों द्वारा सरस्वती की प्रतिमा भेंट की गयी और सुप्रसिद्ध कवि-शायर पद्मश्री बेकल उत्साही द्वारा प्रशस्ति पत्र अर्पित किया गया। समारोह के संयोजक श्री नीरज अवस्थी ने डॉ. मिश्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय दिया तथा प्रबंध समिति के अध्यक्ष श्री मुन्ना सिंह 'अवधूत' ने शाल ओढ़ाकर सम्मान किया।

प्रख्यात कथाकार महीप सिंह की

तीन खंडों में समग्र कहानियाँ







सुबह की महक	300.00
क्षणों का संकट	300.00
संबंधों का सन्नाटा	300.00

महीप सिंह की कहानियाँ महानगरीय मध्य वर्ग के जीवन की धड़कनों को बड़ी गहराई से हमें महसूस कराती हैं। इसका कोई भी पक्ष उनकी कथा-दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। समकालीन जीवन में व्याप्त अन्तर्विरोध, तनाव और छद्म भी अपनी समूची विडम्बना के साथ इन कहानियों में मूर्त हो उठे हैं। कथा-शिल्प के भी कितने ही रंग उनके कथा-संसार में उभरे दिखाई देते हैं।

मनुष्य की सोच को सचेतन रखने के प्रस्थान-बिंदु से चले अपनी पीढ़ी के अत्यन्त समर्थ कथाकार के विकास क्रम को दर्शाता उसकी रचना-यात्रा का दस्तावेज़।

विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और कथा-रसिकों को

900 रु. का पूरा सेट केवल 500 रु. में।

अभिव्यंजना

का एक गौरवशाली प्रकाशन

एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026

फोन : 25222888

मूल्य : रु.15

पूर्णांक 170

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

सन्ध्या छाया

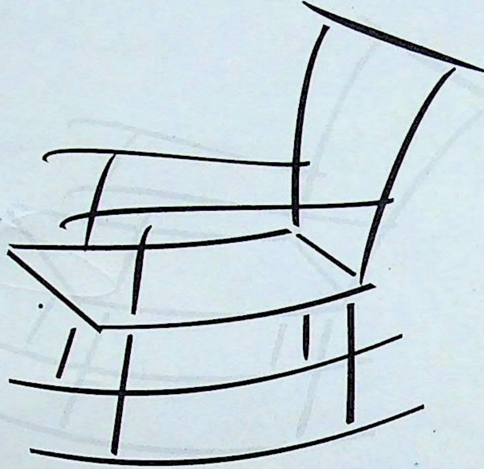


ढ़लता सूरज गढ़ता भोर
अनिरुद्ध त्रिपाठी 'अशेष'

कल्पना कितनी सुन्दर है
गुरुबचन सिंह

गुरुबचन सिंह से विनोद शरण और देवेन्द्र कुमार चौबे की बातचीत

जीवन का साधारण सुख, हो सकता है संभव



यदि आप अपनाएं
पी एण्ड एस बैंक आवास-ऋण योजना

हमारा पूर्ण प्रयास है कि कम से कम कागज़ी कार्यवाही करते हुए न्यूनतम औपचारिकताओं के साथ आवास-ऋण संवितरित किया जाए, ताकि शीघ्र ही प्रसन्नता आपकी मुट्ठी में हो। आपके सुखद घर के लिए आपके ही मित्र पी एण्ड एस बैंक की प्रत्येक शाखा में आवास-ऋण उपलब्ध है।



50 लाख रु. तक ऋण • कम ब्याज दर • सरकारी/सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के कर्मचारियों हेतु कोई संसाधन शुल्क नहीं • दैनिक घटते हुए बकाया पर लिया जाने वाला ब्याज • 20 वर्षों तक की लचीली अदायगी • नए निर्माण, नवीकरण-वर्धन हेतु ऋण- व्यक्तियों को अथवा पात्र समितियों को • कोई गुप्त लागत नहीं।

प्रति वर्ष ब्याज दर		
निम्न अवधि तक चुकाए जाने वाले ऋण	10 लाख रु. तक की ऋण राशि हेतु	10 लाख रु. से अधिक के ऋणों हेतु
2 वर्ष	पी.एल.आर. से 4.00 % कम परंतु न्यूनतम 7.50 %	पी.एल.आर. से 3.50 % कम परंतु न्यूनतम 8.00%
7 वर्ष	पी.एल.आर. से 3.25 % कम परंतु न्यूनतम 8.25 %	पी.एल.आर. से 2.75 % कम परंतु न्यूनतम 8.75%
20 वर्ष तक	पी.एल.आर. से 2.75 % कम परंतु न्यनुतम 8.75 %	पी.एल.आर. से 2.25 % कम परंतु न्यूनतम 9.25 %

समूह ऋणियों को 0.25% की छूट स्वीकार्य है जिसके अन्तर्गत कम से कम 5 खाते होना अनिवार्य है।



पंजाब एण्ड सिंध बैंक

(भारत सरकार का उपक्रम)
www.psbindia.com

पी एण्ड एस बैंक - जहाँ सेवा ही जीवन-ध्येय है।

रांष्ट्र को समर्पित सेवा के 100 वर्षों की ओर अग्रसर

संचेतना

पूर्णांक 170, वर्ष 34, अंक 4
दिसम्बर-2004
(प्रकाशित मार्च-2005)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
राजेश सिंह

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे(जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-26, फोन-25222888 (मो.) 30970062

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
सुमन प्रिन्टर्स
पीरागढ़ी, दिल्ली-110035
में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित

भाषाओं में तालमेल : एक और पक्ष

आज मैंने संचेतना के अंक 169 में संपादकीय पढ़ा-'कैसे बने हिन्दी संवाद की भाषा'। प्रो. कृष्णमूर्ति जैसे विद्वान भाषाविद का हिन्दी में बात न करना एक ज़िद सी लगी, एक बचकाना हठ, जैसे वे हिन्दी से सख्त नाराज हों, रूठे हुए।

लेकिन उनका यह गुस्सा कुछ हद तक हमें यह सोचने पर मजबूर करता है कि हम उत्तर भारत में बसे लोग दक्षिण भारत की कोई भी भाषा नहीं सीखते। आपकी बात सही है कि वे भाषाएँ हमें आजीविका कमाने में सहायक नहीं होतीं। पर हिन्दी हमारी राजभाषा है, विभिन्न भाषाओं को जोड़ने का काम करती है।

मेरी मातृ-भाषा पंजाबी है। देश विभाजन के समय मैंने तीन कक्षा ही पास की थीं-पंजाबी के माध्यम से। विभाजन के बाद में पंजाब में बहुत कम यानी कभी-कभार ही रही हूँ। मेरा अधिक समय बीता बम्बई और दिल्ली में। लेकिन मैंने अपनी मातृभाषा का दामन नहीं छोड़ा। हमारे परिवार में संवाद की भाषा सदेव पंजाबी ही रही। हिन्दी की मैंने कोई परीक्षा पास नहीं की। मेरे भापा जी बम्बई में मुझे कहीं घुमाने ले जाते (तब बम्बई में ट्रामें बहुत थीं) तो रास्ते में बोर्ड पढ़-पढ़कर मुझे हिन्दी सिखाते।

बम्बई में रहकर मराठी और गुजराती भी समझ में आने लगी हालांकि बोलने की कभी कोशिश नहीं की थी जबकि मेरे छोटे भाई-बहनों ने तो ये भाषाएँ बोलनी भी सीख ली थीं। मेरी बीजी जब घर में काम करने वाली बाई या पड़ोसियों से बात करतीं तो उनकी भाषा होती पंजाबी, हिन्दी तथा मराठी का मिश्रण! कई बार सुनकर हम भाई-बहन हँस भी पड़ते।

बीजी कहतीं, 'हाँ हाँ हँस लो। मैं ठहरी अनपढ़।' यूं हमारी बीजी अनपढ़ नहीं थीं। वे अपने समय की तीन क्लास पास थीं। धोबी के कपड़े लिख लेती थीं। पंजाबी की पत्रिकाएं तथा पुस्तकें पढ़ लेती थीं। वे मेरे भाइयों की और मेरी छपी सभी कहानियाँ पढ़ती थीं।

जब कभी हम भाई-बहन बीजी से कोई बात छिपाना चाहते तो परस्पर अंग्रेजी में बात करते। बीजी बात का सार समझ जातीं और कहतीं- "मैं सब समझ गई हूँ! तुम जितना मर्जी मेरे से छिपाओ।"

मेरे माता-पिता को छोटे भाई-बहनों ने अमेरिका बुलाया। भापा जी तो अपने समय के मैट्रिक पास थे और गोल्ड मैडलिस्ट थे। वह जिला गुजराँवाला (पाकिस्तान) में फर्स्ट आए थे। उन्हें अंग्रेजी बोलने-समझने में खास दिक्कत नहीं थी। मेरे भाई मोहन की पत्नी फिलिस अमरीकन है। उसने पांच-दस शब्द पंजाबी के सीख लिए थे और बीजी को पांच-दस शब्द अंग्रेजी के समझ आ जाते थे। बाकी संकेत की भाषा से दोनों बढ़िया काम चला लेतीं। भाई-भाभी दोनों काम पर चले जाते तो पीछे से फोन की घंटी बजने पर बीजी ही फोन उठातीं। बात यदि कोई अंग्रेजी में बात करता तो वे कह देतीं- "नो इंगलिश" और रिसीवर रख देतीं। फिलिस का आफिस घर से दूर नहीं था। उसने अपना फोन नम्बर बीजी-भापाजी को लिखकर दिया हुआ था। एक दिन घर में एक समस्या आ गई। गर्म पानी का नल बंद ही नहीं हो रहा था। माँ ने फिलिस को फोन किया-

"फिलिस वाटर....वाटर।"

बीजी की आवाज की घबराहट से वह समझ गई कि कुछ गड़बड़ है।

"बीजी कमिंग! डोंट वरी।"

अब बीजी 'कमिंग' का अर्थ समझती ही थीं। सो समस्या का समाधान जल्दी ही हो गया।

मेरा विवाह हुआ तो मैं बम्बई से मध्य प्रदेश के 'खंडवा' नामक शहर में आ गई। यहां भी सारा परिवार अपनी मातृ-भाषा पंजाबी में ही बात करता। मेरी सास बिल्कुल पढ़ी-लिखी नहीं थीं। वह भी किसी गैर पंजाबी से बात करतीं तो पंजाबी-हिन्दी की दिलचस्प खिचड़ी भाषा में। यह बात अलग है कि यहाँ मैं हँसने की जुर्रत नहीं कर सकती थी।

खंडवा में हमारे पड़ोस में चार-पाँच सिंधी परिवार रहते थे। मेरी सास उनसे शुद्ध पंजाबी में बात करतीं और वे लोग शुद्ध सिंधी भाषा में। मुझे सिंधी भाषा का एक शब्द भी पल्ले न पड़ता। लेकिन वे लोग लम्बे समय तक परस्पर बातें करते रहते। मुझे ताज्जुब होता।

1964 में मैं अपने पति के साथ दिल्ली आ गई। हमारी बिल्डिंग में मराठी, तमिल, बंगाली, पंजाबीभाषी परिवार रहते हैं। यहां आकर मुझे इस बात से बहुत आश्चर्य हुआ कि पंजाबी जोड़े परस्पर तो पंजाबी में बात करते लेकिन अपने बच्चों के साथ हिन्दी में बोलते। उनका तर्क था बच्चे अपनी मातृ-भाषा तो स्वयं ही सीख जाएंगे लेकिन स्कूल जाने पर हिन्दी समझने में उन्हें समस्या आएगी। जबकि मेरा विचार था कि बच्चों से अपनी मातृ-भाषा में ही बात करनी चाहिए। शेष भाषाएँ तो वह स्कूल में स्वयं ही सीख लेंगे। आज मनोविज्ञान ने भी यही सिद्ध किया है कि आरम्भिक वर्षों में बच्चों का मानसिक विकास उसकी 'माँ-बोली' में ही सम्भव है।

हमारे शेष पड़ोसी-चाहे मराठीभाषी हों या तमिलभाषी, सब अपने बच्चों से अपनी-अपनी मातृ-भाषा में ही बात करते। मुझे अपने पंजाबी पड़ोसियों पर कभी शर्म आती, कभी झुंझलाहट होती और कभी...खैर।

2005 तक मेरे पंजाबीभाषी पड़ोसी दादा-दादी, नाना-नानी बन चुके हैं। न तो उनके बच्चों ने कभी पंजाबी में बात की और न ही उनके पोते-पोतियों या नाती-नातिनों ने। लेकिन मेरे मराठी-गुजराती-तमिलभाषी पड़ोसियों की अगली पीढ़ी बड़ी अच्छी तरह से अपनी-अपनी मातृ-भाषा बोलती है। हिन्दी-अंग्रेजी तो वे सब सीख ही रहे हैं।

कोई 18-19 वर्ष पूर्व मुझे अमेरिका जाने का अवसर मिला। मेरी छोटी बहन के बच्चा होने वाला था। मेरी बहन ने अमेरिका में एक तमिलभाषी लड़के से शादी कर ली थी। लड़का पैदा हुआ। एक दिन सहज रूप में ही मैंने कहा कि इस बच्चे को तो चार भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी। अमेरिका में रहकर अंग्रेजी तो सीखेगा ही, फिर अपने पिता की भाषा तमिल, माँ की पंजाबी और भारत की राजभाषा हिन्दी।

इतना कहने की देर थी कि मेरी बहन का पति कड़क उठा-

"मेरा बेटा हिन्दी बिल्कुल नहीं सीखेगा। आप लोगों ने दक्षिण भारत की कोई भी भाषा सीखी है क्या? वह क्यों सीखे?" उसका चेहरा गुस्से से तमतमा रहा था।

बात करती हूँ आज की-

उस तमिलभाषी बाप के बेटे ने पंजाबी तो फर्राटेदार बोलनी सीख ली है। हिन्दी मैंने उसके

मुँह से कभी सुनी नहीं और तमिल के पाँच-दस शब्द ही सीख पाया है।

लेकिन बात गम्भीर हो गई है मेरे अपने परिवार में। दिल्ली में मेरे बड़े बेटे की दो बेटियाँ हैं-एक दस वर्ष की और दूसरी चार की। दोनों घर में और घर से बाहर हिन्दी ही बोलती हैं। मेरा बेटा, बहू और मैं सब पंजाबी में बात करते हैं लेकिन वे दोनों हिन्दी में उत्तर देती हैं। हम बड़ी कोशिश करते हैं कि वे पंजाबी बोलें लेकिन सफलता नहीं मिलती उलटे हम स्वयं बात करते-करते हिन्दी पर आ जाते हैं। अब मुझे स्वयं पर शर्म आती है, गुस्सा आता है...बेबसी....।

अभी बात खत्म नहीं हुई। मेरे छोटे बेटे का विवाह भी एक पंजाबी परिवार की लड़की से हुआ। वह देहरादून की है। तब देहरादून यू.पी. का हिस्सा था। बहू के मायके में परिवार के सभी सदस्य आपस में हिन्दी में संवाद करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दी में बात करके ही वे अपनापन महसूस करते हैं। वैसे घर में सबको बहुत अच्छी पंजाबी बोलनी आती है। मेरे परिवार के साथ वे लोग पंजाबी में ही बात करते हैं। लेकिन...अब मेरे घर में स्थिति कुछ और ही है। बेटा और बहू परस्पर हिन्दी में बात करते हैं। मैंने बेटे से कहा, "तुम पंजाबी में बात किया करो, बहू स्वयं तुमसे पंजाबी में बोलने लगेगी।" परन्तु बदलना तो एक को ही था। मेरा बेटा बदल गया है। वह अब उससे हिन्दी में ही बात करता है। अब उनका बेटा कौन-सी भाषा सीखेगा!

मेरी पहचान का एक मुलतानीभाषी परिवार है और मेरे दूर के एक रिश्तेदार 'झंग (पाकिस्तान) जिले के हैं। उन दोनों परिवारों के बुजुर्ग तो मुलतानी और झाँगी में बात करते हैं लेकिन उनके बेटे-बेटियाँ हिन्दी में। उनकी अगली पीढ़ी तो अपनी 'माँ-बोली' न बोल सकेगी न समझ सकेगी।

किसी पत्रिका में पढ़ा था कि वैश्वीकरण के कारण अगले 20 वर्षों में विश्व की 6000 विश्व भाषाओं में से केवल 20 जिंदा रहेंगी।

वैश्वीकरण के कारण अब हमारे देश में कॉल सेंटर खुलते जा रहे हैं-उनसे अंग्रेजी का प्रभुत्व बढ़ता ही जा रहा है। फिर आज कम्प्यूटर का युग है। बाकी आपका सुझाव सही है कि भारतीय भाषाओं के मध्य 'सौहार्द' होना चाहिए। यदि उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाओं में अधिक तालमेल बढ़े तो शायद हिंग्लिश और पिंग्लिश (पंजाबी-इंग्लिश) की तरह एक नई भाषा का विकास सम्भव हो। इस सबके बावजूद आज भी मेरी हसरत यही है कि मेरे पोते-पोतियाँ पंजाबी में बातचीत करें।

राजिन्दर कौर

एच-355, नारायणा विहार, नई दिल्ली

मानसिक दिवालियापन

जिन्हें हम विद्वान भाषाविद् वगैरह-वगैरह की उपाधियों से महिमामंडित करते हैं, वे दरअसल हैं क्या? कुछ किताबी ज्ञान और डिग्रियां या पद हासिल कर लेने से कोई 'बड़ा' नहीं बन सकता, जब तक कि उसमें व्यावहारिक सोच न हो। अपनी प्रांतीय भाषा से मोह होना तो समझ में आता है किन्तु विदेशी भाषा को कपड़ों की तरह ओढ़े रखना मानसिक दिवालियापन नहीं तो क्या है। प्रो. कृष्णमूर्ति हमसे बेहतर जानते होंगे कि बहुत सारे मुल्कों के लोग अंग्रेजी से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। बिना अंग्रेजी के उनका काम मज़े से चल रहा है। प्रचलन की भाषा ही ज़िंदा रहती है। मेरे परम आदरणीय प्रो. रामेश्वर दयालु अग्रवाल तेलुगु समेत कई देसी-विदेशी भाषाओं के ज्ञाता थे किन्तु उन भाषाओं में उनसे संवाद करने वाला कोई न था तो वे भाषाएं शिथिल पड़ गईं। संस्कृत भी अब विश्वविद्यालयों, अकादमियों की भाषा होकर रह गई है। जिनको इससे रोटी मिल सकती है उन्हीं की होकर रहेगी ही।

हरदर्शन सहगल

5/ई/9, 'संवाद', डुप्लैक्स कालोनी, बीकानेर-334003

आत्मबल और साहस का परिचय

'संचेतना' की प्रति मिली। 'संध्या-छाया' में कवि-पत्रकार डॉ. कन्हैयालाल नन्दन का आत्मकथ्य उनके आत्मबल और साहस का परिचय देता है, क्योंकि एक ऐसा वर्ग भी है जो अब तक सिर्फ़ 'झाड़े रहौ कलट्टरगंज' से ही परिचित रहा है। अपनी विसंगति के बावजूद, स्मृति में कुछ चित्र साफ-सुथरे भी हैं-गीतकार विजयकिशोर मानव के साथ प्रकाश मनु ने 'सण्डे मेल' के ऑफिस में आकर दो दिन में थोड़ा-थोड़ा लिखते हुए नन्दन जी का इण्टरव्यू किया, जो 'हिन्दुस्तान' के रविवासरीय में छपा। हालांकि नन्दन जी का साक्षात्कार मुझे भी करना था। मैंने 'नन्दन' जी से अपनी बात कही। वे बोले-'तत्काल दूसरा इण्टरव्यू छपेगा कहाँ?' 'माधवकांत मिश्र से बात हो गयी है'- मैं बोला। उन्होंने कहा-'तो ठीक है, बैठो।' मैंने टेपरिकार्डर आन किया और आध घण्टे में बातचीत हो गयी।

मर्केटाइल हाउस के सिक्स्थ फ्लोर से भू-तल तक आते हुए नंदन जी जब कभी अकेले मिल जाते तो वे मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कुछ न कुछ विशिष्ट बोलते। मैं भीतर से बहुत समृद्ध हो जाता। कभी-कभी सुबह देखते कि लिफ्ट आने में यदि देर है तो वे बिना समय गँवाये सिक्स्थ फ्लोर तक जीने की सीढ़ियों से चढ़ते चले जाते। उस समय हम लोगों के लिए यह निश्चय ही कौतुक का विषय था। ऐसी तमाम बातें हैं, जो पत्र में सम्भव नहीं।

मजीद अहमद

द्वारा दरगाहीलाल सियाराम, कछौना, हरदोई (उ.प्र.)

सन्ध्या छाया को बाहर भी निकालें

संचेतना का ताज़ा अंक मिला। संध्या छाया स्तंभ सार्थक है। श्री देवेन्द्र इस्सर व रामदरश मिश्र के आत्मकथ्यों ने मेरे भीतर कई द्वन्द्व उत्पन्न कर दिये। हाँ, निवेदन है कि इस स्तंभ को दिल्ली की चारदीवारी के बाहर निकालिए।

आपका सम्पादकीय यह सोचने को विवश करता है कि हिन्दी की दशा विदेशों में कोई खास अच्छी नहीं। इस ओर सरकार को गम्भीरता से विचार-विमर्श करना चाहिए तथा ईमानदार लोगों का इसका दायित्व सौंपना चाहिए। सुरेन्द्र तिवारी का स्तंभ सदा की तरह अच्छा है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

आशालक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर (राजस्थान)-334004

सार्थक रहने की अनवरत जिज्ञासा

एक वर्ष पूर्व हमने संचेतना में सन्ध्या छाया नाम से एक नया स्तम्भ प्रारम्भ किया था। इससे पहले लगातार दस वर्ष तक हम किसी एक मुद्दे पर संचेतना के प्रत्येक अंक में सुधी चिंतकों के मत आमंत्रित करते थे और उन्हें प्रकाशित करते थे। इस आपाधापी के युग में संवाद ही एक ऐसा माध्यम है जो विभिन्न मतों और विचारों के मध्य ऐसी भूमि की तलाश करता है जहाँ समझ और सहमति के कुछ झरोखे खुलते हैं। संचेतना मार्च 2004 (अंक 166) में हमने मुद्दों की पूरी सूची और भागीदार चिंतकों के नाम प्रकाशित किए थे, जिन्होंने उन मुद्दों को अर्थवान बनाया था। हमारी यह मान्यता है कि संवादहीन समाज अपनी गतिशीलता खोकर संकुचित दायरों में सिमटता जाता है। संवादहीनता से समाज के विभिन्न घटकों के मध्य भ्रम उत्पन्न होते हैं जो अनेक प्रकार के विग्रहों को जन्म देते हैं।

एक बात हमें लगातार महसूस होती रही है। हिन्दी के विशाल सृजन संसार में कुछ लोग अपने चातुर्य, पद अथवा अन्य साहित्येतर कारणों से अपना कद बड़ा करके ऐसी स्थिति बना लेते हैं, जिसमें उनकी बात ही साहित्य की बात समझी जाने लगती है। यह स्थिति साहित्यिक कम, व्यावसायिक अधिक होती है। वर्चस्व स्थापित करने की होड़ में ऐसे कुछ लोगों का एक माफिया तंत्र उभर आता है जो अपने आपको स्थापित रखने के लिए अवहेलना, उपेक्षा और नकार के अस्त्र अपने हाथों में लेकर सम्पूर्ण साहित्यिक परिदृश्य को आंतकित करता रहता है। संचेतना के मार्च-जून तथा सितम्बर-दिसम्बर 1998 के अंकों में हमने यह मुद्दा उठाया था जिसमें 20 से अधिक लेखकों ने भाग लिया था।

इस माफिया तंत्र के शिकार वे लेखक भी होते हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन साहित्य को समर्पित रहता है। जो साहित्य को अपने सृजन से तो समृद्ध करते ही हैं, अपने चिंतन से उसे जागरूक बनाते हैं, उसे दृष्टि देते हैं।

सन्ध्या छाया स्तम्भ के लिए हमने यह निश्चय किया है कि सत्तर वर्ष की आयु पार किए हुए उन लेखकों की चर्चा करेंगे जिन्होंने सही अर्थों में साहित्य को सृजन और चिंतन से समृद्ध किया है। वर्ष 2004 में प्रकाशित चार अंकों में देवेन्द्र इस्सर, रामदरश मिश्र, कन्हैया लाल नंदन और गुरुबचन सिंह को लिया गया। प्रत्येक अंक में लेखक के निजी अनुभव, सृजन-यात्रा, यात्रा के अवरोधों और खट्टे-मीठे संस्मरणों पर आधारित उसका आत्मकथ्य संजोने का कार्य हुआ। इसी के साथ उसकी साहित्यिक उपलब्धियों पर एक-दो सुधी आलोचकों के लेख तथा लेखक के अंतरंग जीवन की एक-दो झांकियों को देने का निश्चय किया गया। गत चार अंकों में चार लेखकों के सम्बन्ध में प्रकाशित सामग्री के आधार पर इस बात की परख की जा सकती है कि अपने कार्य में हम किसी सीमा तक सफल हुए हैं।

इस स्तम्भ के लिए लेखकों के चयन की कसौटी क्या है? यह प्रश्न अनेक मित्रों और पाठकों ने हमसे किया है। इस स्तम्भ के लिए हम उन लेखकों को नहीं ले रहे हैं, जिनकी साहित्य जगत में बहुत चर्चा-अचर्चा हो चुकी है या होती रहती है। इस स्तम्भ के लिए लेखकों के चयन की कसौटी नितान्त हमारी है। हम उन लेखकों की बात करना चाहते हैं जिन्हें किन्हीं कारणों से उनका प्राप्य प्राप्त नहीं हुआ या जो निरन्तर उपेक्षा और पूर्वग्रहों की मार सहते रहे हैं। इस संदर्भ में गुरुबचन सिंह का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। जमशेदपुर जैसे स्थान पर रहकर वे आधी सदी से अधिक समय से साहित्य-साधना करते आ रहे हैं। एक समय हैदराबाद से प्रकाशित होने वाली 'कल्पना' में उनकी अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। देश की सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित होती रही हैं। उनके अनेक कहानी संग्रह और उपन्यास आज प्रकाशित हैं जो पाठकों द्वारा बहुत सराहे गए हैं। किन्तु साहित्य के स्वनामधन्य पुरोधाओं ने उन्हें जमशेदपुर की सीमाओं से कभी बाहर नहीं निकलने दिया। हिन्दी में ऐसे लेखकों की बड़ी संख्या है जो देश-विदेश के अनेक भागों में फैले हुए हैं। इस स्तम्भ में हम ऐसे लेखकों की बात करना चाहते हैं।

संचेतना की अपनी सीमाएँ हैं। वह अपनी प्रकाशन अवधि के चार दशक पूरे कर रही है। आज हम उसकी उपलब्धियों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। उसके प्रकाशन की जितनी भी अवधि अभी शेष है, उसमें वह सार्थक बनी रहे हम यही चाहते हैं।

गुरुबचन सिंह

कल्पना कितनी सुंदर है

पढ़ने का शौक तो था ही। पर यह समझ नहीं थी कि क्या पढ़ा जाए। किस लेखक को पढ़ा जाए। लेखकों के बारे में कुछ खास नहीं जानते थे। बस पुस्तक होनी चाहिए चाहे हिन्दी में हो, उर्दू में हो या फिर पंजाबी आदि में। अध्ययन के चक्कर ही में उन दिनों एक ऐसी पुस्तक हाथ लगी जिसमें जादू-टोने और टोटके के बारे में लिखा गया था। मज़ेदार किताब थी। थी भी हिन्दी में। मुझे लगा, इस पुस्तक में जो चमत्कारी बातें लिखी गई हैं, यदि उन पर अमल किया जाए तो ऐसा कमाल का आदमी जरूर बना जा सकता है जैसा कि बाजार में मजमा लगाकर कुछ लोग अपना चमत्कार दिखाते हैं। एक व्यक्ति दूसरे पर बाण चलाता है, मुँह में गुनगुनाता है, हाथ को हरकत देता है, जैसे पत्थर मार रहा हो। सामने वाला, यानी मुखालिफ वाण खाकर चकराता हुआ नीचे गिर जाता है। पहला व्यक्ति काफी देर तक असंतुलित रहता है। यों उसकी वाह-वाह होती है। तालियाँ बजती हैं। उसे चवन्नी-अठन्नी और रुपया भी इनाम में दिया जाता है। मज़े का खेल था। कमाल का कमाल और माल का माल।

इसमाईल जो मेरे बचपन का दोस्त था उसके बारे में कुछ विस्तार से 'लोकमत' में लिख चुका हूं। उसे पुस्तक पढ़ने का बहुत शौक हुआ करता था। प्रायः वही मुझे पुस्तकें लाकर पढ़ने को दिया करता था। उससे मैंने चमत्कारी पुस्तक के बारे में मशविरा किया और कुछ करने की योजना बनाई।

खाड़काई नदी अयोध्या से लगभग आध किलोमीटर की दूरी पर बहती है। एक-दो घाटों को छोड़, बाकी नदी का किनारा ऊबड़-खाबड़ और बीरान हुआ करता था। नदी का वह किनारा जो हमारी बस्ती की ओर पड़ता था, वहां हरिजन अपने मुर्दे गाड़ा करते थे या फिर वह मरे हुए ढोर-डंगरों की भी आरामगाह थी जहां गिद्धों का जमाव होता।

एक दिन संध्या डूबने से कुछ पहले मैं उस वीराने में गया और एक कब्र से मुर्दे की एक खोपड़ी और हड्डी का लम्बा टुकड़ा थैले में डालकर घर ले आया। माँ ने मुझे वह खोपड़ी और हड्डी छिपाकर रखते हुए देख लिया। बहुत नाराज हुईं।

रात को जब मेरे पिताजी शिफ्ट करके दस बजे के बाद घर लौटे तो माँ ने उन्हें मेरी करतूत के बारे में सब कुछ बता दिया। पिताश्री ने आव देखा न ताव, खींचकर एक थप्पड़ मेरे मुँह पर मारा। इसके बाद छड़ी से पीटा। हुक्म हुआ मैं अभी फौरन खोपड़ी और हड्डी वहीं छोड़कर आऊँ जहाँ से उठा कर लाया हूँ। माँ के बीच-बचाव करने पर कि रात के समय में नदी के किनारे कब्रगाह में अकेला कैसे जाऊँगा, यह काम सवेरे भी हो सकता है, मुझे छुटकारा मिला।

दूसरे दिन सवेरे मुँह अंधेरे में वह सामग्री नदी किनारे छोड़ आया। उसके चमत्कारी प्रभाव का अनुभव मुझे हो गया था। यह भी जान गया था फालतू किताबें पढ़ने का क्या नतीजा निकलता है। व्यर्थ की पुस्तकों को पढ़ने का शौक जाता रहा था। इस घटना को साठ-सत्तर साल बीतने को आए। इसे भूल नहीं पाया। जिस सड़क से होकर नदी की तरफ जाया जाता था, उस सड़क को लक्ष्य में रखकर मैंने 'दो फर्लांग' शीर्षक लम्बी कहानी लिखी थी जो उस समय की उर्दू की एक प्रसिद्ध पत्रिका 'नया दौर' में प्रकाशित हुई थी। पत्रिका मुमताज़ शीरीं के सम्पादन में बंगलौर से प्रकाशित होती थी। कहानी में उक्त घटना की चर्चा नहीं है।

जिस माहौल में मैंने लिखना आरम्भ किया था, उसका भरपूर चित्रण मेरे उपन्यास 'टूटने से पहले' (प्रकाशक : यात्री प्रकाशन) में हुआ है। जिस नदी के किनारे की चर्चा की है, वहां आसपास आज एक्साईज डिपार्टमेंट के फ्लैट खड़े हैं। बिजली है, पानी है और पार्क जैसा भी कुछ है। जिस सड़क के बारे में कहा है, उसके किनारे कभी कहीं-कहीं किरासन तेल से जलने वाले लैम्प पोस्ट हुआ करते थे। देखते-देखते या यों कहें जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गई, मेरे लेखन के परिवेश में परिवर्तन आता गया। जैसा कि मैं पहले अपने कुछ आत्मकथ्य आदि में कह चुका हूं, मैं औद्यगिक जगत की पैदावार हूं। और इस पर लिखना आंचलिकता के दायरे में नहीं आता। जमशेदपुर एक कॉस्मोपोलिटन टाउन रहा है और अब नगर बन जाने के बावजूद वैसा ही है। जहाँ प्रत्येक धर्म और जाति के लोग रहते हैं, विभिन्न भाषा-भाषी, विभिन्न प्रांतों के लोग भी, वहां मिलीजुली संस्कृति होता है बस्तियों में। मेरा लेखन यहां के औद्योगिक वातावरण से प्रभावित हुआ- बस्तियों और क्वार्टरों में रहने वाले कर्मचारियों तथा आम लोगों से, तो सुविधासंपन्न बंगलों में रहने वाले अफसरों के रहन-सहन से भी। शोर मचाती मशीनों, धुआँ उगलने वाली चिमनियों को देखा, ट्रेड यूनियन के असली-नकली नेताओं की आवाज़े सुनीं- वह किसी न किसी रूप में लेखन में समा गया। कहीं कहानियों में, कहीं 'मुंदी पलकों के सपने' जैसे उपन्यास में तो कहीं 'टूटने से पहले' जैसे बड़े उपन्यास में।

जो आम आदमी की कहानी है जिसके पात्र समाज से जुड़े हुए हैं, उनका चेहरा, उनका रूप 'नीम की निबौलियां,' 'युग और देवता', 'बुझी हुई राख', 'आसमान दूर है' आदि छः-सात कहानी संग्रहों में अंकित है। इधर चार-छः वर्षों में जो नई कहानियां पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं, वे पुस्तक रूप में नहीं आ सकीं।

मेरी एक और यानी तीसरी दुनिया है जो जंगल, पहाड़, नदी-नालों और ग्राम तथा छोटे-छोटे खेतों से भरी पड़ी है। उसमें लोहे, कोयले, तांबा, अबरक, मेगनीज़ आदि की खदानें हैं और

बनवासी, आदिवासी और अन्य लोग। इस परिवेश पर लगभग चालीस वर्ष पहले मैंने एक सौ सवा-सौ पृष्ठ का उपन्यास लिखा था 'बनपाखी'। शोधकर्ताओं को इसकी जरूरत पड़ती है। इसी परिवेश पर समय-समय पर लिखी गई कहानियों का संग्रह प्रकाशिता हुआ 'हे अरण्य कुछ कहो'।

नगार्जुन जी ने इसकी प्रत्येक कहानी पर टिप्पणी लिखी!

मैंने जो इन तीन परिवेशों की चर्चा की, लेखन यहीं तक सीमित नहीं रह गया जो नगर पहले कभी कुछ छोटे-छोटे गांवों का समूह, कस्बा या टाउन कहलाता था, जहां जंगल जैसे पेड़-पौधे, छोटी-छोटी पहाड़ियां और टीले नज़र आते थे और छोटे-बड़े नाले वह समय पाकर भव्य नगर में तबदील हो गया जो किसी बड़े शहर जैसा है। तभी 'गिटार वाला पीटर', 'आंख क्यों रोने लगी' और 'उंगलियों पर टिका हुआ आदमी' जैसी अनेक कहानियां बन पड़ती हैं। कई कहानियों के नाम भूल रहा हूं।

'काला पानी' में यदि कोयले की खदान में बसने वाले एक पंजाबी परिवार की बेबसी का चित्रण है तो 'बुझी हुई राख' में एक मास्टर की अंतर्वेदना का जिसका इंजीनियर लड़का एक केरली लड़की से प्रेम विवाह कर लेता है। जब अमरीका जाकर बस जाता है तो वहां उस लड़की को त्यागकर अमरीकन लड़की से विवाह कर लेता है। मास्टर को चिंता है यदि उसकी हिन्दुस्तानी बहू ने किसी दूसरे आदमी से विवाह कर लिया तो उसकी क्या इज्ज़त रह जाएगी।

लेखक आडिटिंग के सिलसिले में एक कोयले की खदान में दस हजार फीट की गहराई में उतरा है। लोहे की खदान में उसकी ऊपर की सतह पर लोह पर्वत की छाया में खड़े होकर वहां आसपास के जंगलों को निहारा है जहां साँप बहुत होते हैं और 'मवाली' आदि कहानियां लिखी।

बालीवुड में कुछ दिन एक प्रोड्यूसर-डाइरेक्टर के यहां उनके खर्च पर गया और वहां रहा। जिस गेस्ट हाउस में ठहराया गया था, वहां एक कहानी ने जन्म लिया था, 'बादाम का पेड़'-

मैंने तब तक सागर नहीं देखा था, जब कहानी 'सागर और लहरें' लिखी थी! और जब आडिटिंग के सिलसिले में उड़ीसा के भुवनेश्वर गया, और एक दिन भुवनेश्वर से घूमने की खातिर पुरी गया, और सागर तट पर जाकर सागर को आँखों से देखा तो मन पुलकित हो उठा। सागर पूछ रहा था- कहो गुरुबचन सिंह वशिष्ट, मुझसे मिलने का अवसर तुम्हें आज मिला। और मैंने अनुभव किया लहरों के बिना सागर कितना अधूरा है।

एक समय काश्मीर से लौटकर, जब वहां आतंकवादी घटनाएं नहीं घट रही थीं, मैंने एक उपन्यासिका कहानी लिखी थी, 'मुट्ठी भर राख' जो सरस्वती प्रेस, श्रीपत राय द्वारा पुरस्कृत हुई थी।

मैं भारत में बहुत कम घूमा-फिरा हूं। विदेश यात्रा पाकिस्तान छोड़कर कभी नहीं की। अवसर मिलने पर बहानों से टालता रहा। मैंने नौकरी में अवसर मिलने पर भी कभी वयुयान से कहीं की यात्रा नहीं की।

मैं सीधी और सपाट बातें करने का आदी हूं। मुझे काफी लोग जानते हैं यानी मेरा पाठक वर्ग काफी बड़ा है। मेरी कुछ कहानियों का मराठी, गुजराती, कन्नड़ और उड़िया में अनुवाद हुआ। मुझे कुछ पत्र आए। उर्दू में तो मेरी दो-तीन कहानियों को आलमी अदब यानी विश्व स्तर पर स्थान मिला। हिन्दी की कई कहानियों ने वर्ष की श्रेष्ठ कहानियों के संकलन में स्थान पाया, परन्तु यह देख कर आश्चर्य होता है कि जब नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कहानियों का संकलन प्रकाशित होता है, तो वहां मुझे या मेरे जैसे कुछ और लेखकों को भुला दिया जाता है। विस्तार में न जाकर यह कहा जाएगा कि यह सम्पादन का दोष है, और एक तरह की राजनीति। कमाल की बात तो यह है कि यहां दस हिन्दी भाषी प्रांतों को मिलाकर विशाल हिन्दी प्रांत के सपने देखे जा रहे हैं।

डूबते सूरज और अगले दिन उगते भानु को अर्घ्य अर्पित करने वाले दिवस 'छट' की मेरी पैदाइश है। सात-आठ दशक बीत गए, एक दुबला-पतला बीमार रहने वाला बच्चा जिसे माता-पिता ने झाड़फूंक, दवा-दारू हर हीले से बचाने का प्रयत्न किया और अंत में भगवान के आसरे छोड़ दिया। ईश्वर चाहेगा तो बच जाएगा और वह सच में बच गया। समय की गति ने उसे वहां उस मंजिल तक पहुंचा दिया जहां तन डोलता है, पांव लड़खड़ाते हैं, आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है। 'धूल फाँकने वाले' कहानी जो 'हंस' में प्रकाशित हुई थी, उसमें पिता पुत्र से कहता है-

'मुखतार बेटे आ गया...?'

'जी बापू, अब आपकी तबीयत कैसी है?'

'जैसा हूं तुम्हारे सामने हूं! बाबा शेख फरीद ने कहा है न-
फरीदा दरियाव कंडे बगुला बैठा केल करे
केल करिंदे हंस नू अचिंत बाज पये।'

'बापू बस! मैं आ गया हूं। बाज़ के झपटने (मृत्यु) का ख्याल मन से निकाल दें।'

'होनी को कोन टाल सकता है...।'

कहानी का पात्र एक बुजुर्ग है। वह सरल शब्दों में कुछ बोलने की अपेक्षा, सरल और प्रतीकात्मक शब्दों में अपने भाव दर्शाता है! कारण : उसके संस्कार ऐसे हैं कि परिस्थितियां उसे किसी विषय समस्या को गंभीरता से लेने को बाध्य करती हैं।

लेखक को विभिन्न धर्म ग्रंथों, दर्शन, इतिहास आदि के अध्ययन में रुचि रही है। अब जो एक पांडुलिपि 'भया दीवाना साहु का' तैयार हो रही है, इसमें लगभग सात वर्ष लग चुके हैं। प्रकाशित होने के पश्चात यह फैसला पाठक वर्ग ही करेगा कि यह कोई कविता है,

इतिहास है, तुलनात्मक दर्शन है, धर्मग्रंथ है या कि उपन्यास की शैली में लिखी गई जीवन गाथा जो सर्वधर्म-समन्वय और मानवता के दृष्टिकोण को अपने अंक में समेट लेती है।

वर्षों पहले लेखक के नगर (जमशेदपुर) में उर्दू लेखकों या साहित्यप्रेमियों का एक संघ चलता था अंजुमने तरक्की पसंद मुसनफीन अर्थात प्रगतिशील लेखक संघ। हिन्दी में इस नाम की कोई संस्था नहीं थी। अंजुमन की बाकायदा एक साप्ताहिक गोष्ठी होती थी। उसमें रचनाकार कहानी, कविता, लेख आदि पढ़कर सुनाते थे। उस पर बहस होती थी, उसमें कोई ईर्ष्याद्वेषभाव और अहं का पुट नहीं होता था। पार्टी प्रतिबद्धता नहीं थी। प्रगतिशील विचारों को स्थान मिलता था। इस गोष्ठी में प्रायः बंगला तथा हिन्दी के लेखक भी शामिल हो जाते थे क्योंकि इनका अलग से ऐसा कोई संघ नहीं हुआ करता था। इस अंजमुन का मैं छः-सात वर्षों तक ज्वायंट सेक्रेटरी रहा। नये लेखक-लेखिकाओं को अजुंमन अपनी ओर आकर्षित करती थी। आज भी कुछ ऐसा ही है। आज अंजुमन का लोह नगरी में नाम नहीं है। प्रगतिशील लेखक संघ के अतिरिक्त जनवादी लेखक संघ भी है। किसी भी साहित्यकार, चाहे वह कथाकार हो, कवि हो, उपन्यासकार, समीक्षक या आलोचक हो, लेखन ही साबित करता है, वास्तव में वह क्या है और जनता या समाज के कितने निकट है।

एक समय के एक प्रगतिशील की चर्चा दिलचस्पी से खाली नहीं होगी। क्योंकि वह अपने समय का शुद्ध या खांटी तरक्कीपसंद था। और दूसरों को दूसरे दर्जे का साहित्यकार समझता था। वह इतना शुद्ध और असली था कि उसने अपने उपनाम नश्तर के साथ 'मार्क्सी' भी लगा रखा था। जब वह कविता पढ़ता तो दांत यों किटकिटाता जैसे शब्दों को चबा रहा हो। संयोगवश वे अभी जीवित हैं। उन्होंने दाढ़ी बढ़ा रखी है, लुंगी के साथ लम्बा सा काले रंग का कुरता, कीराना लिबास- झाड़फूंक का काम करते हैं। गंडा-ताबीज बेचना, रोजी-रोटी का साधन है।

किसी भी भाषा की किसी भी साहित्यिक संस्था में ऐसे कुंठाग्रस्त लोगों की कमी नहीं होगी।

मुझे कृत्रिमता से चिढ़ है। दफ्तर की नौकरी में जिन्दगी बिताई है। वहां अंत तक गुटबाजी और अफसरों से संघर्ष चलता रहा। लेखक के जीवन का एक अहम पहलू अन्याय के प्रति आवाज़ उठाना और आक्रोश व्यक्त करना भी है। नारेबाजी से परहेज रखता हूं। 'लोहे के देवता' उपन्यासिका मजदूर आंदोलन, हड़ताल और सरकारी सख्ती और मालिकों की लापरवाही पर आधारित है, पर इसे ऐसे ढंग से पेश करने की कोशिश की गई है जिसमें नारेबाज़ी नहीं है। इसे भाई श्रीपत राय और श्यामू संन्यासी ने 'उपन्यास' पत्रिका में छापा था।

मुझसे मेरे लेखन के संबंध में अनेक प्रश्न किए गए। कई साक्षात्कार पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए।

एक प्रश्न किया गया -

'पत्नी घर में प्रेयसी मन में' को ध्यान में रखे हुए कृपया अपने उन प्रेम प्रसंगों के विषय में कुछ बताएँ जिन्होंने आप की सृजनशीलता को प्रोसाहित किया।

उत्तर : इसमें शक नहीं कि अनेक साहित्यकारों की तरह मैंने कुछ रोमानी तबीयत पाई है। मेरा प्रथम उपन्यास 'रेखाएं' (प्रकाशन 1956) कुछ-कुछ मेरी मनोव्यथा को प्रकट करता है। परन्तु मेरे समग्र जीवन या लेखन को प्रेम प्रसंगों ने ही प्रभावित किया हो, ऐसा मैं कुछ नहीं मानता! कुछ मामलों में मैं स्वभाव का कड़ा और सहज ही स्पष्ट हो जाने वाला व्यक्ति हूं। मुझमें बिछोह और दुःख को सह लेने की शक्ति है। क्योंकि इसमें भी नशे जैसा आनंद है।

जमशेदपुर में रहकर बहुत सारी बोलियां और भाषाएँ सुनने का अवसर मिला है। प्रत्येक भाषा का अपना इतिहास है। अपनी माटी की गंध है। अपनी संस्कृति की मिठास है उसमें। मैं किसी भाषा की निंदा नहीं सुनना चाहता। मेरे विचार में किसी भी लेखक को कम से कम तीन-चार भाषाएं सुननी, पढ़नी और समझनी चाहिए।

जितना जानने और पढ़ने का शौक था मुझे, परिस्थितियां उतनी ही मेरे प्रतिकूल थीं। अपने समय के टाटा स्टील के एक उच्चतम अधिकारी महोदय ने मुझे सलाह दी थी कि मैं लेबर रिलेशन में एम.ए. कर लूं। यद्यपि वह डॉक्ट्रेट की डिग्री नहीं थी, फिर भी उसमें डिसर्टेशन लिखनी ही पड़ती थी। इससे लाभ यह होता कि मुझे पर्सनल ऑफिसर का पद मिल जाता। यों इस पद पर प्रायः सरकारी और गैर सरकारी अफसरों या मिनिस्टर आदि के लड़कों-लड़कियों की बहाली होती थी। इसमें लगभग तीन वर्ष लग जाते। नौकरी और पढ़ाई इसके अतिरिक्त थे। लेखन से मुझे संन्यास लेना पड़ता। मैं असमंजस में था, क्या करूं। लेखन मुझसे नहीं छूट सकता था। मैंने पढ़ाई का इरादा त्याग दिया। पर्सनल ऑफिसर बनने का सपना त्याग दिया। रहा बाबू का बाबू। इस संबंध में दो-तीन व्यक्तियों के सिवा कोई कुछ नहीं जानता। वे जमशेदपुर में शायद हैं भी नहीं। मैंने पहली बार मुंह खोला है केवल यह दर्शाने के लिए कि इस लेखन के पीछे पड़कर मैंने बहुत कुछ त्यागा है।

एक उपन्यास लिखा है। यह पंजाबी कवि वारिस शाह के जीवन पर है। वारिस का अपना जीवन कुछ हीर के प्रेमी रांझे जैसा है जिस पर उसने काव्य-ग्रंथ रचा जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। वारिस अपनी एक ही रचना से अमर हो गया। कुछ विद्वान उसे अंग्रेजी साहित्य के चासर जैसा मानते हैं।

इसकी भनक प्रोड्यूसर-डायरेक्टर मनोज कुमार को शमा-सुषमा परिवार के जनाब यूनिस दहलवी द्वारा पहुंची। मनोज ने मुझे एक पत्र लिखा और पांडुलिपि लेकर बम्बई आने को कहा।

मैं गया। उन्होंने जहां मेरे रहने की व्यवस्था की थी, वहां दस-पंद्रह दिन उनका मेहमान बनकर रहा। परिवार के लोग मधुर स्वभाव के मिलनसार व्यक्ति। पांडुलिपि कुछ विचार-विमर्श के बाद उन्होंने मुझसे ले ली। पुस्तक को प्रकाशित करने या करवाने के अधिकार मेरे पास हैं। परन्तु कुछ कारण से अब तक न फिल्म बनी, न पुस्तक प्रकाशित हुई।

जमशेदपुर में बैठा ख्याली घोड़े दौड़ाता हूं। प्रकाशक को लिखा। कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। चालीस वर्ष पहले मैंने भावविभोर हो श्री गुरु गोविंद सिंह पर श्री दशमेश नाम से एक पुस्तक लिखी थी। उसकी पांडुलिपि लेकर कोलकाता गया। शायद कहीं छप जाए। यों प्रकाशकों का जमावड़ा तो दिल्ली और कुछ इलाहाबाद और बनारस में था। वहां एक सज्जन से भेंट हुई। उन्होंने एक नज़र पांडुलिपि देखी और बोले यह तो एक प्रकार का शोध ग्रंथ जैसा है। यहां इसे परखने और छापने वाला कौन है। चाहें तो मैं इसके प्रकाशन की व्यवस्था दिल्ली में कर दूंगा! उन्होंने एक बड़े प्रकाशक का नाम भी लिया।

मैंने पूछा, पुस्तक कब तक छाप देंगे?

उन्होंने कहा था छः महीने लग सकते हैं। अधिक समय भी ले सकते हैं।

मैं सुनकर निराश हुआ। क्योंकि मैं चाहता था पुस्तक गुरु देव की तीन सौवीं जन्मतिथि के अवसर पर बीस-तीस दिनों में प्रकाशित हो जाए। माँ ने मुझे पैसे दिए और पुस्तक कोलकाता के पुराने प्रसिद्ध छापाखाने रचनाकार प्रेस में छपी। मालिक थे उमादत्त शर्मा जिन्होंने मुझे भरपूर सहयोग दिया। अपनों जैसा स्नेह। एक बंगाली कलाकार ने प्रेम से पुस्तक का कवर डिजाइन बनाया। पुस्तक बहुत पसंद की गई। मुझे आत्मबल तब मिला जब डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की और अपने अधीन एक शोधकर्ता को, जो दशमग्रंथ पर शोध कर रहा था, श्री दशमेश को पढ़ने की सलाह दी। शोध छात्रों ने मुझसे पुस्तक मंगवाई। यह चालीस-बयालीस साल पुरानी बात है।

मेरे छोटे भाई रतन सिंह और उनके साथी बृज नंदन ने अपने संपादन में यहां से नई दिशा नाम की पाक्षिक पत्रिका का संचालन किया था। मेरा कमरा ही उसका दफ्तर था। पत्रिका समाजवादी विचारधारा की पक्षपाती साहित्यिक रंगत लिए हुए थी। अर्थाअभाव के कारण चल नहीं सकी। भाई मजदूर आंदोलनों में पड़कर संघर्षरत रहा। मुझे अपनी कहानियों विशेषकर उपन्यास के लिए जो पात्र चाहिए थे, ने वे मेरे आसपास, कुछ घर में ही मिल जाते रहे।

कविताएं लिखनी छूट गई थीं। उसका स्थान रेडियो नाटकों ने ले लिया। इसके लिए कतार सिंह दुग्गल जो उन दिनों अकाशवाणी राँची के सहायक निदेशक के पद पर थे, मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। एक समय तक मैं रेडियो नाटककार के रूप ही में जाना जाता रहा।

जीवन का काफी समय नौकरी में बीता। कहां साहित्य और कहां एकाउंट्स, जोड़-तोड़ और गणित इंटरी, बैलेंस शीट, स्टाक चैकिंग, वाणिज्य और नफा-नुकसान। इतने किस्म के काम है कि जिन्दगी भर उन्हें पूरी तरह से सीखा नहीं जा सकता। एक नहीं कई शुभचिंतकों ने पूछा- भाई तुम साहित्य कैसे रच लेते हो? दो तरह के कामों में कोई तालमेल नहीं। उत्तर था, मजबूरी। नौकरी छोड़ी नहीं जा सकती। अंतिम ग्यारह वर्ष आडिटर के पद पर रहा। कुछ राहत मिली। सम्मान और वाह-वाह भी। आदर होता था। और भाई सतर्क भी रहते थे- जाने कहां नुक्ताचीनी और पूछताछ हो जाए।

जो सज्जन पूछते थे कि तुम कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक आदि कैसे लिख लेते हो, उन्हें कैसे बताता कि जब जंगल, पहाड़, नदी, नाले और पलाश के फूल मुझे अपनी ओर आकर्षित करते हैं तो मैं 'नशा', 'कन्यादान' और 'भूखा सूरज' जैसी कहानियां लिखता हूं।

जब धुआं उगलने वाली चिमनियों, ढलते हुए फौलाद और कन्वर्टरों से निकलने वाले राख मिले धुएं की लाली से आकाश रक्तरंजित हो जाता है, थके-हारे श्रमिक को ड्यूटी से लौटते हुए देखता हूं तब 'मुंदी हुई पलकें, 'टूटने से पहले', 'लोहे के देवता' जैसे उपन्यास रचे जाते हैं। बस्तियां खुद अपनी कहानी कहती हैं। जब झारखंड और विशेषकर बिहार के किसान या बेकार लोगों रोज़ी-रोटी की तलाश में पंजाब में रिक्शा चलाते, गांव में मजदूरी करते देखता हूं तो 'नाव पुर का वटू' लिखना पड़ जाता है।

जब मैंने 'सागर और लहरें' कहानी लिखी थी अपनी आंखों से समुद्र नहीं देखा था। पर कहानी बड़ी सजीव और प्यारी बन पड़ी थी। जब आडिटिंग के सिलसिले में भुवनेश्वर गया, और वहां से पुरी जाकर सागर देखा तो पाया सागर शांत, सुंदर और आकाश की तरह पाक साफ़ है। मैंने जिन पात्रों को गढ़ा था वे भी उतने ही प्यारे थे। मेरी कल्पना कितनी सुन्दर थी।

पर आज हाल ही में 'सुनामी' लहरों से जो विध्वंस हुआ है, उसे जान-सुनकर इस लेखक का मन अति दुःखी और चिंतित है। वह शांत कैसे रह सकता है। उसे कुछ लिखना ही पड़ेगा।

यह संसार बहुत बड़ा है। समय बहुत कम है। अब मुझे जादुई हड्डी और चमत्कारी खोपड़ी पर विश्वास नहीं है। विश्वास है स्नेह, प्रेम, दया और धर्म पर। दया धर्म का पुत्री है और पुत्र भी।

9/ए, पंजाबी लाइन, रोड नं.-2, राम दास भट्टा, जमशेदपुर, झारखंड

अनिरुद्ध त्रिपाठी 'अशेष'

ढलता सूरज गढ़ता भोर

पावस अपनी तरुणाई पर था। इस ऋतु में पहाड़ी नदियों का दर्प नियंत्रण में नहीं रहता। क्षुद्र व्यक्ति सम्पदा प्राप्त कर उन्मत्त हो उठते हैं। यही हाल इन पहाड़ी नदियों का है। पूरे साल तटों की बाँहों में दुबक कर रेंगनेवाली खरकाई नदी आज अपनी औकात में नहीं थी। कगारों का उसके समक्ष तनकर खड़े रहना उसे बिल्कुल सुहा नहीं रहा था। फेन उगलती क्रोधोन्मादिनी लहरें दहाड़ती हुई किनारों पर टूट पड़ी थीं। ऐसा लग रहा था, मानो आज वे उन अक्खड़ तटों को अपने चरणों में झुकाकर ही चैन की साँस लेंगी।

स्कूल में 'रेनी डे' की छुट्टी थी। बालकों का दल बाढ़ का आनंद लेने के लिए खरकाई के किनारे आ डटा था। उन्हें नदी की ओर जाता देख, माँ से पूछे बिना ही वह भी उनके साथ हो लिया था। माँ से पूछता तो कदापि उसे नदी जाने की अनुमति नहीं मिलती। बुरा हो उस पंडित का, जिसने माँ से कह दिया था कि उसके इस लड़के की मृत्यु पानी में डूबने से होगी। बालकों के उस झुण्ड में लड़के-लड़कियाँ दोनों थे। स्वभावतः उसे लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के साथ रहना-खेलना अधिक पसंद था। इसलिए वह लड़कों से पृथक् लड़कियों के साथ खड़ा होकर जल के तीव्र बहाव के साथ बहती वस्तुओं को देखने में तल्लीन था। जड़ सहित उखड़े छोटे-छोटे पेड़, झाड़ियां, लकड़ियों के बल्ले, तख्ते, चारपाई, टिन, प्लास्टिक के डिब्बे आदि नाना प्रकार की चीजें बाढ़ के प्रवाह में बहती हुई दिखाई दे रही थीं। हर-हर गड़-गड़ करता नदी का शोर मन में कौतूहल उत्पन्न कर रहा था।

अचानक उसे किसी घर का उजड़ा हुआ छप्पर जल में बहता हुआ दिखाई दिया जिसके ऊपर एक गिद्ध बैठा था। वह रह-रहकर अपने पंख फैलाता और उड़ान भरने की व्यग्र कोशिश करता, किन्तु उड़ नहीं पा रहा था। वास्तव में उड़ान भरने के लिए उसे अपने पैरों के नीचे कोई ठोस धरातल चाहिए था, जो नहीं था। इसलिए वह ज्यों ही उड़ान भरने के लिए जोर लगाता, पानी में बहता हुआ पुआल का छप्पर धँसे-सा जाता था और उसकी शक्ति कमजोर पड़ जाती थी। बार-बार के प्रयास से वह स्वयं भी काफी थका हुआ लग रहा था। ऊपर से, पानी में डूबकर मर जाने के भय ने उसे तोड़कर रख दिया था। बड़ा करुण दृश्य था।

बालकों का दल जहाँ खड़ा था, नदी वहाँ से हल्का-सा मोड़ लेती थी। नदी की धार में मोड़ आया तो छप्पर सहित गिद्ध किनारे की ओर आ गया। वह अपने पंख फड़फड़ाकर और मुँह से कुछ स्वर निकालकर सहायता की आशा लिए करुण दृष्टि से भीड़ की ओर देख रहा था। किन्तु उसे तट के करीब आया देखकर लड़कों ने शोर मचाना और पास पड़े ढेले उठा-उठाकर उस पर बरसाना शुरू कर दिया। कुछ ढेले एक साथ गिद्ध के थके हुए शरीर पर लगे। वह अपना संतुलन खो बैठा और पानी में गिर पड़ा। कुछ क्षण तक तो वह जल के तीव्र प्रवाह में बहता-उतराता रहा, फिर सदा के लिए जल के अगाध उदर में समा गया। लड़कों का दल ताली पीटकर हँस पड़ा, मानो उसने कोई समर जीत लिया हो।

किन्तु उसका हृदय इस अमानवीय दृश्य को देखकर करुणा से आर्तनाद कर उठा। उस दिन सारी रात वह सो नहीं सका। रह-रहकर उसकी आँखों के सामने नदी का वह करुण दृश्य उपस्थित हो जाता। ऐसा लगता, मानो अपने पंख फड़फड़ाकर वह बेबस असहाय पक्षी सजल नेत्रों से अब भी उसकी ओर देख रहा है। वह चाहकर भी उसकी रक्षा नहीं कर सका था। उसका हृदय क्षोभ, ग्लानि और असहनीय वेदना से भर उठा। वह बिस्तर से नीचे उतरा और कमरे में चहलकदमी करने लगा। फिर न जाने क्या हुआ, उसने कलम उठाई और उस निरीह गिद्ध की करुण कथा को शब्दबद्ध करने लगा, जिसमें कथा के साथ कविता का अंश भी समाहित था। और इस प्रकार एक असहाय, निराश्रय, लाचार तथा मूक मानवेतर प्राणी के प्रति उत्पन्न करुणा ने जमशेदपुर की धरती पर उर्दू-हिन्दी साहित्य के अमर कथाकार गुरुबचन सिंह को उस सहृदय बालक के रूप में जन्म दिया, जिसने आगे चलकर अपनी अप्रतिम लेखन प्रतिभा से उक्त दोनों भाषाओं को विपुल कथा-वैभव और समृद्धि प्रदान की।

कथा पूरी हो गई और छोटे भाई को दे दी गयी कि वह उसे अपने स्कूल मैगजीन में अपने नाम से छपवा ले। किन्तु मैगजीन के सम्पादक झा सर ने उसके भाई को सार्वजनिक रूप से डांट-डपट कर, कहानी छापने से यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि उसने वह कहानी स्वयं न

एक कारखाने का कर्मचारी होने के नाते आपने श्रमिक-जीवन के कटु यथार्थ को अत्यन्त करीब से देखा है, उनके साथ किए जा रहे अन्याय और शोषण को जिया और भोगा है। अतः उनके साथ हो रहे अत्याचारों के प्रति आपके अन्दर का रचनाकार तब मूक कैसे रह सकता था? विरोध करता तो नौकरी चली जाने का डर था। घर की आर्थिक स्थिति को देखते हुए नौकरी अत्यन्त आवश्यक थी किन्तु अन्याय का विरोध उससे भी आवश्यक था। अतः आपके समक्ष अपने धर्म का पालन करने के लिए छद्म नाम से लिखने के अलावा और कोई सुगम मार्ग नहीं था। फलतः लोकैषणा जैसी दुर्जेय एषणा को तिलांजलि देते हुए आपने छद्म नाम से अनेक कहानियाँ लिखकर लोगों को अन्याय, अत्याचार, दमन और शोषण के विरुद्ध कटिबद्ध होने की प्रेरणा दी।

लिखकर, किसी प्रतिष्ठित लेखक की किसी कहानी की पूर्णतः नकल की है। यह घटना बालक गुरुबचन सिंह के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि थी। कहानी भले नहीं छापी गई हो किन्तु एक बात तो स्वीकृत हो ही चुकी थी कि उस बालक के रूप में एक महान कथाकार का जन्म हो चुका है तथा उसने जो लिखा था वह कहानी ही थी और सफल कहानी थी।

पचास वर्षों से अनवरत लेखन कार्य में संलग्न गुरुबचन सिंह ने उस समय से लेकर अब तक की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में लिखा। उस समय की प्रगतिशील कही जाने वाली 'नया साहित्य', 'हंस', 'प्रवाह' आदि पत्रिकाओं के अतिरिक्त आपने 'कल्पना', 'लहर', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'कहानी', 'कहानीकार', 'उपन्यास', 'माध्यम', 'संचेतना', 'रविवार', 'सम्बोधन', 'सारिका', 'भारतीय साहित्य', 'नीहारिका', 'परिवार', 'कादम्बिनी', 'पाटल', 'रानी' (सं. यशपाल), 'विश्ववाणी', 'जनवाणी' आदि पत्रिकाओं में भी निरन्तर लिखा है।

आपके प्रकाशित कहानी-संग्रहों की संख्या सात है। आठवां कहानी-संग्रह भी इस वर्ष प्रकाशित हो जाने की स्थिति में है। इनके अतिरिक्त आपके छः उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। एक उपन्यास प्रकाशन से पूर्व, फिल्म प्रोड्यूसर तथा अभिनेता मनोज कुमार ले चुके हैं। चार कथा-संग्रह तथा दो उपन्यास अप्रकाशित हैं। लगभग एक हजार पृष्ठों को अपने अंक में समेटने वाला एक विशालकाय उपन्यास जो साहित्य, इतिहास, धर्म और दर्शन से सम्बन्धित तथा अफगानियों के पतन एवं मुग़लों के आगमन-काल से अनुबंधित है, सम्प्रति प्रसव की स्थिति में है।

आप जिस परिवेश में पैदा हुए थे तथा जिस वातावरण में साँसें लेते रहे हैं, उसका विस्तार जमशेदपुर जैसे शहर से लेकर झारखण्ड के आदिवासी गाँवों सहित पंजाब के तमाम गांवों तक था, जिसमें गँवई संस्कृति-संस्कार, जंगली महुओं, फलों, कदम्ब और साल-पुष्पों की सुगंध के साथ कारखानों के धुएँ, चूने, कोयले, गैस सहित मजदूरों के पसीने की अजीब-सी गंध घुली थी। आपके आवास के पूर्व में आकाश की ओर मुँह किए हुए आग उगलती चिमनियाँ खड़ी थीं तो पश्चिम की ओर खरकाई नदी के उस पार अपने विशाल आँगन में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों सहित नाना भालू, हाथी, शेर और हिरणों का उन्मुक्त जीवन संभाले हरे-भरे जंगल विद्यमान थे। यह सब कुछ शायद आपके लिए ही था और आपने इस सबसे प्रभाव भी ग्रहण किया था। यही कारण है कि आपकी कहानियां आम आदमी, औद्योगिक परिवेश तथा आदिवासी अथवा वनवासी जन-जीवन, तीनों को समान अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई दिखाई देती हैं।

जिस समय प्रगतिशील आन्दोलन शिखर पर था, आपने अनेक कहानियाँ लिखीं जो प्रगतिशील कहलाई जानेवाली पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई थीं। आपने जनवादी पत्रिकाओं में भी लिखा। जब 'नयी कहानी' की चर्चा का दौर चला था, तब भी आपने बहुत-कुछ लिखा। इसी प्रकार आपने 'सचेतन कहानी', 'आम आदमी की कहानी' तथा 'समांतर कहानी' आदि की चर्चा करनेवाली पत्रिकाओं में भी कहानियां लिखीं। किन्तु, आपकी ये कहानियाँ किसी 'वाद' या 'विचारधारा' से प्रेरित नहीं थीं, वे महज़ कहानियाँ थीं। शायद यही कारण था कि यद्यपि आप समकालीन लेखकों के साथ लिखते रहे थे, किन्तु जितने भी 'वाद' या 'दौर' चले, उनके नेताओं ने आपको स्वीकार नहीं किया। आपने उनकी स्वीकृति पर ध्यान भी नहीं दिया।

इस संदर्भ में आपने 'मेरी रचना प्रक्रिया' शीर्षक के अन्तर्गत खुद लिखा है-

"मै किसी वाद के चक्कर में नहीं था। मेरा उद्देश्य था समय के साथ चलना। जो समय के साथ नहीं चलता, वह स्वयं रुक जाता है।" आपने आगे लिखा है-

"क्या यह जरूरी है कि दो-चार व्यक्ति मिलकर एक 'वाद' को जन्म दे दें और हम उसके पिछलग्गू बन जाएँ? वे एक गुट बना लें और हम उनकी ओर ताकते रहें? कहानी तो समय के साथ स्वयं बदलती है। भाषा, अभिव्यक्ति और प्रस्तुति में भी अन्तर आता है। सफल लेखक स्वयं पहचान में आ जाता है।"

कथाकार गुरुबचन बचन सिंह का रचना-संसार अत्यन्त विस्तृत, वैविध्यपूर्ण और बहुआयामी है। उसमें उपर्युक्त तीनों प्रकार के परिवेश और जन-जीवन के दुःख-दर्द, शोषण, अन्याय, वर्ग-वैषम्य वर्ण-वैषम्य सहित नारी-विमर्श, कुंठा, व्यक्तिगत जीवन के अन्तर्विरोध, रेत होती संवेदना, खोखले होते रिश्ते, टूटते-बिखरते नैतिक मूल्यादर्श, श्रमिक-उत्पीड़न, निजी और सरकारी अधिष्ठानों में व्याप्त भ्रष्टाचार और अपराध में नेताओं सहित सरकारी अधिकारियों की सक्रिय भागीदारी आदि समस्याओं पर विभिन्न कोणों से सूक्ष्मावलोकन, अध्ययन तथा उन्हें समग्रता में देखने-परखने की ईमानदार और सफल कोशिश परिलक्षित है। समकालीन यथार्थ के सम्मुख खड़ी अनेक कहानियों में लेखक का व्यक्तिगत संस्पर्श सहज ही दिखाई पड़ जाता है। हर कथा जीवन के यथार्थ और तत्सम्बन्धित व्यक्तिगत अनुभूतियों के ताने-बाने पर बुनी गयी है।

वास्तव में, लेखक को बचपन में गिद्ध के प्रति उमड़ी जिस करुणा-भावना ने कहानी लिखने को प्रेरित किया था, उसका प्रभाव आज भी क्षीण नहीं हुआ है। एक प्रश्न के उत्तर में स्वयं गुरुबचन सिंह ने इन पंक्तियों के लेखक से कहा है-

"मानव-जीवन का करुणा-पक्ष मेरे जीवन को सदैव प्रेरित करता है और, इसीलिए मैं सदैव अन्याय तथा असमानता के विरुद्ध खड़ा दिखाई देता हूँ।"

और, यह भी विचित्र संयोग ही है कि उनका जीवन बचपन से आज तक नाना प्रकार के झंझावातों, अंधड़-तूफानों और चक्रवातों से आहत एवं पीड़ित होता रहा है और स्यात् इसीलिए उनकी कहानियों की जमीन

आज भी उन तमाम करुण घटनाओं से गीली बनी हुई है, जिन्हें वे अब तक भूल नहीं पाए हैं और जो आज भी 'गर्दिश के दिन' जैसे संस्मरण-लेखन का विषय बनने अथवा साक्षात्कार या वार्तालाप क्रम के दौरान उनके ओठों से अनायास ही छलक पड़ने से मुक्त नहीं रह पाती है। ये घटनाएँ ही उनकी सृजनशीलता की अनुप्रेरक रही हैं, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार करते हुए लिखा है-

"ये घटनाएँ शायद दूसरों के लिए कोई महत्त्व न रखें लेकिन इनका मेरे जीवन और लेखन पर जो असर पड़ा, मेरी लेखनी को जो गति मिली, उसे मैं ही समझ सकता हूँ। मेरा विश्वास है, जिस लेखक के जीवन में जितनी अधिक करुण, मार्मिक घटनाएँ घटती हैं, उतना ही उसका लेखन प्रखरता से गति पाता है।"

गर्दिश के दिन (आत्म-रचना-32) सारिका, नवम्बर-1976

आपकी कहानियों में परिवेशगत विडम्बनाओं और विसंगतियों, सामाजिक जीवन की स्थितियों, पारस्परिक संबंधों तथा कटु यथार्थ को प्रमुखता एवं स्पष्टतापूर्वक चित्रित किया गया है। पात्रों के चरित्र का विकास इतने नैसर्गिक ढंग से हुआ है कि पढ़ते समय ऐसा लगता है, मानो वे पात्र किसी कल्पना-लोक से नहीं, बल्कि हमारे अगल-बगल से चलते हुए स्वयं ही कहानी में प्रवेश कर गए हैं। यथार्थ का समर्थक होते हुए भी, अन्य साहित्यकारों की तरह आपने भी कल्पना का आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु आपने कल्पना का सहारा यथार्थ की कुरूपता पर सौन्दर्य और शिवत्व की सृष्टि करने के लिए लिया है, ताकि वह रचना लोक-मंगल की हित-सिद्धि के अनुकूल आकार ले सके। और, शायद यही कारण है कि कोलकाता के सोना गाछी की यात्रा करने के बाद भी वहाँ की वेश्याओं की जीवन-व्यथा को, चाहते हुए भी आप अपने उपन्यास का विषय नहीं बना सके। समझदारी की इसी ऊर्जा के कारण आपकी रचनाओं में कहीं भी हमें यथार्थ के नाम पर नग्नता की प्रस्तुति देखने को नहीं मिलती।

रचनाकार केवल यथार्थ घटनाओं का आकलन ही नहीं करता, उनका विश्लेषण भी करता है। तथा समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभावों के विषय में भी चिन्तन-मनन करता है और तब कहीं वह उन्हें साहित्य की किसी विधा-विशेष में ढालने की चेष्टा करता है। यदि वह अपने देखे अथवा भोगे हुए यथार्थ को यथावत् रख देता तो साहित्य-सृजन और पत्रकारिता-कर्म में अन्तर ही क्या रह जाता? गुरुबचन सिंह के लिए जीवन के यथार्थ का हर रूप न तो ग्राह्य है और न ही उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव है। इसलिए आप साहित्य को यथार्थ की छाया बताते हैं और, यही कारण है कि आपके द्वारा लिखित 'हफ्ते के दिन', 'ठीकरियाँ', 'इन्सान बनते हैं', 'भेड़िया', 'लावारिस', 'धूल फाँकनेवाले', 'महापुरुष का आगमन', तथा 'लोहे के देवता' (लघु उपन्यास) आदि कृतियों में सामाजिक जीवन की स्थितियों, सरोकारों तथा कटु यथार्थ को ईमानदार अभिव्यक्ति दी गई है और वे आज भी सर्वग्राह्य और सर्व-पठनीय बनी हुई हैं।

वास्तव में गुरुबचन सिंह उन समर्थ और सफल रचनाकारों में से एक हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से जीवन में न्याय, समता, प्रेम, त्याग, सत्य आदि मानवतावादी आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया है तथा परिवेशगत विद्रूपताओं को उजागर करते हुए अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष के लिए भी जन-सामान्य को प्रेरित किया है। एक कारखाने का कर्मचारी होने के नाते आपने श्रमिक-जीवन के कटु यथार्थ को अत्यन्त करीब से देखा है, उनके साथ किए जा रहे अन्याय और शोषण को जिया और भोगा है। अतः उनके साथ हो रहे अत्याचारों के प्रति आपके अन्दर का रचनाकार तब मूक कैसे रह सकता था? विरोध करता तो नौकरी चली जाने का डर था। घर की आर्थिक स्थिति को देखते हुए नौकरी अत्यन्त आवश्यक थी किन्तु अन्याय का विरोध उससे भी आवश्यक था। अतः आपके समक्ष अपने धर्म का पालन करने के लिए छद्म नाम से लिखने के अलावा और कोई सुगम मार्ग नहीं था। फलतः लोकैषणा जैसी दुर्जेय एषणा को तिलांजलि देते हुए आपने छद्म नाम से अनेक कहानियाँ लिखकर लोगों को अन्याय, अत्याचार, दमन और शोषण के विरुद्ध कटिबद्ध होने की प्रेरणा दी। 'लोहे के देवता' नामक लघु उपन्यास भी आपके इसी रचनात्मक अभियान का एक अंश था, जिसे आपने 'चित्रगुप्त' के छद्म नाम से छपवाया।

यदि आपकी कहानियों का आकलन तमाम मतभेदों, वादों, विचारधाराओं, गुटों और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर किया जाए तो यह स्वयं स्पष्ट तथा सहज सिद्ध हो जाता है कि आपकी रचनाधर्मिता की जड़ में आपका सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन, समग्र परिवेश और अनुभव-जगत रहा है जिसे अपनी रचना का आधार देकर अपनी समाज सापेक्ष दृष्टि द्वारा समता और न्यायमूलक समरस मानव समाज की स्थापना के लिए जनगण मन को निश्चित तथा स्पष्ट दिशा देने का सार्थक प्रयास किया है।

गुरुबचन सिंह ने अपना लेखन उर्दू पत्रिकाओं से आरम्भ किया और उर्दू भाषा को विपुल कथा सम्पदा प्रदान की। किन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने उर्दू की तुलना में, हिन्दी कथा-साहित्य को कहीं अधिक समृद्ध किया है। कई ऐसे लेखक हैं, जो हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में लिखते रहे हैं। मुंशी प्रेमचंद, सुदर्शन एवं अश्क आदि ने भी उर्दू में लिखा था। बाद के लेखकों में कृष्ण बलदेव वैद तथा भीष्म साहनी आदि का नाम भी जोड़ा जा सकता है। लोकैषणा को तो वे बहुत पहले ही जीत चुके हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि जो श्रेय नहीं लेना चाहता, उसे श्रेय से वंचित भी नहीं किया जा सकता। और वैसे भी, लोकैषणा तथा सम्मान-प्राप्ति की चिन्ता खद्योतों को होती है, सूरज को नहीं। गुरु बचन सिंह हिन्दी कथा-साहित्याकाश के सूरज हैं। यह सूरज आज ढलान की ओर उन्मुख है। किन्तु यह ढलान किसी पड़ाव की ओर लौटना नहीं, नई भोर गढ़ने की संकल्प-यात्रा है, ताकि कल के सूरज को नया आकाश मिल सके।

के-6/1, टेल्को कॉलोनी, पो. टेल्को वर्क्स, जमशेदपुर-831004

गुरुबचन सिंह से विनोद शरण की बातचीत

'मिट्टी से जुड़कर लिखी रचना ही सफल होती है'

जमशेदपुर के हिन्दी-उर्दू के वरिष्ठ कथाकार/उपन्यासकार वयोवृद्ध गुरुबचन सिंह न केवल जमशेदपुर के बल्कि पूरे देश के साहित्य जगत में एक जाने-माने हस्ताक्षर हैं। अस्सी वर्ष के होने के बाद भी उनका कथा-उपन्यास लेखन अनवरत चल रहा है। जब यह पत्रकार उनसे मिलने उनके आवास पहुंचा, तो वे कहानी लेखन में ही तल्लीन थे। गुरुबचन सिंह वर्षों से साहित्य साधना में लगे हुए हैं। यही कारण है कि साहित्य जगत के लोगों के बीच वे भीष्म पितामह कहे जाते हैं। इनकी रचनाएं देश के सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और विशाल पाठक वर्ग में असीम लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी हैं। इनके कथा साहित्य पर शोध कार्य भी हुआ है, जो इनकी उपलब्धियों में एक उल्लेखनीय कड़ी के रूप में है। गुरुबचन सिंह अपने कथा लेखन के बल पर कई बार सम्मानित भी हो चुके हैं। प्रस्तुत हैं उनसे बातचीत के मुख्य अंश-

साहित्य आज किस मुकाम पर खड़ा है? आज आप इसे कहां खड़ा पाते हैं?

देखिए, मैं तो इसे दोराहे पर खड़ा पाता हूँ। पिछले तीन दशकों से देख रहा हूँ कि साहित्य में कई उतार-चढ़ाव आए। चूंकि मैं कथाकार हूँ, इसलिए मैं कथा के बारे में कह सकता हूँ कि इसमें कई परिवर्तन आए-नयी कहानी, सचेतन कहानी और आम जीवन की कहानी, इसके ऊपर एक और अकहानी का भी दौर रहा। प्रगतिशील लेखक संघ तथा जनवादी लेखक संघ की दो अलग-अलग धाराएं भी रहीं। हालांकि मैं इस मामले में खुशकिस्मत रहा कि मेरी कहानियां लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं। आज मैं अस्सी वर्ष का हो गया हूँ। जमशेदपुर में ही पैदा हुआ तथा यहां पला-पढ़ा और टिस्को में अंकेक्षक के पद से सेवानिवृत्त हुआ। मेरा साबका प्राकृतिक छटा से पड़ा, तो कारखानों की चिमनियों से भी पड़ा। मेरी कहानियों में इसके रंग देखे जा सकते हैं। परिवेश का असर तो साहित्य पर पड़ता ही है। मैं यह मानता हूं कि आज कथा-साहित्य में काफी काम हो रहा है और प्रगति पर है। अच्छी-अच्छी लघु पत्रिकाएं निकल रही हैं। गम्भीर पत्रिकाएं निकल रही हैं। हालांकि यह भी लगता है कि जितना काम होना चाहिए, उसका अभाव है। इसका कारण है कि अध्ययन की कमी आ गई है। कहानी लेखन ने एक फैशन का रूप ले लिया है। मिसाल के तौर पर गांव पर प्रेमचंद भी लिखते थे, आज भी लिखा जाता है। लेकिन प्रेमचंद के गांव और आज के गांव में काफी अंतर आ गया है। इस बात को कथाकारों को समझना होगा। इसका बारीकी से अध्ययन करना होगा। लोग लकीर पीट रहे हैं। आज कथा को बिगाड़ने का काम कथाकार से अधिक कहीं वे लोग कर रहे हैं, जो कथा पर लिखते हैं, इनसे कथा का नुकसान हुआ है।

आपके कथा-उपन्यासों में पात्र संघर्ष करते दिखते हैं। इसके क्या कारण हैं?

इसके पीछे सीधा कारण है कि हमने लगातार संघर्ष किया है। जीवन के आरम्भ से लेकर आज तक संघर्ष किया है। यही कारण है कि पात्र भी संघर्ष करते दिखते हैं। लेकिन पात्रों में विद्रोह भी है, करुणा भी है।

पहले जो कहानी लिखी जाती थी और आज जो कहानी लिखी जा रही है, दोनों में आप क्या अंतर पाते हैं?

काफी अंतर है। पहले कथाकार कहानी लिखने के पहले पीछे की कहानियां पढ़ते थे। उन पर चर्चा करते थे और तब अपनी कथा लिखते थे। दूसरे वे कथा को जीते भी थे। जिस परिवेश की कथा है, उस परिवेश से वे जुड़ते थे। यही कारण था पहले की रचनाएं कालजयी हुई हैं। आज इसका अभाव पाया जाता है। जब बुनियाद ही कमजोर होगी, तो महल कहां से खड़ा हो पाएगा। कहानी लिखने के लिए काव्यात्मकता, नाटकीयता, कथानक व भाषा का होना जरूरी है। बगैर इसके कथा सही मायने में कथा नहीं हो सकती, वह ताकतवर नहीं हो सकती, वह प्रभावशाली व दिल को छू लेने वाली नहीं हो सकती।

क्या आपको नहीं लगता कि शब्दों की ताकत कम हो रही है? वे पहले जैसे प्रभावशाली नहीं रहे?

हां, यह बात तो है। इसके पीछे कारण है जिस मिट्टी पर कथाकार लिखता है, वह उससे जुड़ता नहीं है या उसका उस मिट्टी से परिचय कम होता है। कथा अथवा कोई रचना तभी सफल होगी, जब मिट्टी से जुड़कर लिखी जाएगी। प्रेमचंद में यह बात थी। फिर रचना में कल्पना का सम्मिश्रण भी होना चाहिए, क्योंकि इसके अभाव में रचना नहीं बन सकती। अगर सीधे तौर पर लिखेंगे, तो वह खबर होगी, कथा नहीं।

आप अपनी किस रचना को श्रेष्ठ मानते हैं?

देखिए एक कथाकार के लिए उसकी सभी रचनाएं श्रेष्ठ होती हैं, उसके लिए यह बताना कठिन होता है कि कौन श्रेष्ठ है। लेकिन एक कथा के बारे में मैं जरूर बताना चाहूंगा। 'बबलू के पापा' बच्चों की कहानी थी, जब यह पत्रिका में छपी, तो एक बच्ची ने पत्र लिखा और कहा कि अंकल आप इस प्रकार की कहानियां क्यों लिखते हैं, जिसको पढ़कर मैं काफी रोयी। उस पत्र को मैं आज भी सहेजकर रखे हुए हूँ।

उदारीकरण का साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?

उदारीकरण को साहित्य ने अपनाया ही नहीं है। साहित्य लेखन पर इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा है। हालांकि उदारीकरण आज के दौर में एक जरूरी चीज है। इसके बगैर देश पिछड़ जाएगा।

इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने साहित्य को कहां तक प्रभावित किया है?

इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने साहित्य पर बहुत ज्यादा प्रतिकूल प्रभाव तो नहीं डाला है लेकिन गुमराह अवश्य किया है। साहित्य-पुस्तकों की बिक्री पर प्रतिकूल असर डाला है। इससे फायदा कम और नुकसान अधिक हुआ है। अगर दोनों का सामंजस्य व संतुलन ठीक हो, तो इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। जरूरत है इस पर विचार करने की। आज का जो दौर है, उसमें हम इलेक्ट्रोनिक मीडिया से दूर भी नहीं हो सकते।

झारखंड सरकार साहित्य के विकास की दिशा में क्या कर रही है?

अब तक तो कुछ नहीं दिख रहा है, लेकिन नई झारखंड सरकार से काफी उम्मीदें हैं कि यह साहित्य-संस्कृति को एक नई दिशा देने का काम करेगी। देखना यह है कि यह काम कब शुरू होता है। सही मायने में झारखंड के जो साहित्यकार हैं, उन्हें सम्मानित करें, उनके संर्वधन का काम करें।

जमशेदपुर में साहित्यिक गतिविधियों पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

जमशेदपुर में साहित्यिक गतिविधियां तीव्र हैं। पुस्तकों का विमोचन हो रहा है। कुछ का विमोचन हमने भी किया है। काफी कुछ लिखा जा रहा है। कवि-साहित्यकार जन्मदिन भी समरोहपूर्वक मना रहे हैं। यह सिलसिला चल रहा है। जमशेदपुर में नई प्रतिभाएं भी साहित्य जगत में आई हैं, जिनसे उम्मीद बंधती है कि वे आगे चल कर साहित्य जगत में अपना नाम रौशन करेंगी और हमारा भी मन बढ़ाएंगी। फिर नए लोग नहीं उभरेंगे, तो हमें कौन पूछेगा।

नए लेखकों को क्या संदेश देना चाहेंगे?

हम सबसे पहले यह कहना चाहेंगे कि नए रचनाकार जमकर अध्ययन करें। पुरानी कहानियां पढ़ें, फिर उन्हें ही लिखें तो उन्हें उनकी गलतियों का पता चलेगा। वे कितने पानी में हैं, इसका पता चल जाएगा। छपास के रोगी नहीं बनें। झूठा प्रोपेगंडा नहीं करें। वैसे मैं कथा को बड़ा-छोटा मानता हूं, कथाकार को नहीं और इसी आधार पर कथाकार का आकलन भी करना चाहिए।

आपके प्रिय कथाकार कौन-कौन हैं?

मेरे प्रिय कथाकार विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, नागार्जुन आदि हैं। ये नाम मैंने मोटे तौर पर लिए हैं। नई पीढ़ी के कथाकार भी बेहतर कर रहे हैं और चर्चित हो रहे हैं।

गुरुबचन सिंह से देवेन्द्र कुमार चौबे की बातचीत

'परिवर्तन ही मेरा आदर्श रहा है'

आप एक लम्बे समय से कथा लेखन के केन्द्र में रहे हैं। लेकिन सबसे पहले मैं आपको आपके लेखन के प्रारंभिक दौर में ले जाना चाहता हूँ। जिस समय आपने लिखना शुरू किया था उस समय साहित्यिक माहौल कैसा था? आप किन लोगों से प्रभावित थे और क्या आदर्श थे आपके सामने?

लिखने का शौक मुझे स्कूली जीवन से ही रहा है। शिक्षकों के प्रोत्साहन से स्कूली पत्रिकाओं में लिखता था। वहां का साहित्यिक माहौल नहीं के बराबर था। आसपास सामान्य तबके के लोग रहते थे। उनके बीच मुझे क्या साहित्यिक माहौल मिलता? हाँ कभी-कभार उर्दू के मुशायरे हो जाया करते थे।

बचपन से मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय, प्रेमचंद और बाद में मैक्सिम गोर्की के लेखन से प्रभावित था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भावनात्मक कहानियों ने मुझे काफी प्रभावित किया है इसलिए मैं उन्हें कवि की अपेक्षा एक श्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ। विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय ने जनजीवन के चित्रण के साथ ही प्रकृति का जितना सुंदर चित्रण किया है वैसा मुझे भारतीय भाषाओं के किसी साहित्य में नहीं मिलता है। प्रेमचंद के साधारण स्तर के पात्रों ने मुझे प्रभावित किया क्योंकि जैसे वे थे ठीक वैसे ही लोगों को मैं अपने आसपास देखता था। मेरा परिवेश मजदूरों का था, इसलिए गोर्की से मैं प्रभावित था। सबसे अधिक उनके विद्रोही पात्रों ने मुझे प्रभावित किया है। किसी पार्टी से मेरा संबंध नहीं है लेकिन प्रगतिशील काफी रहा। यही कारण है कि मैं रचनात्मक यथार्थ का कायल रहा हूँ। परिवर्तन ही मेरा आदर्श रहा है।

तो क्या मैं मान लूं कि यही व्यक्ति आपके लेखन के आदर्श रहे हैं?

नहीं ऐसी बात नहीं है। मैं उनसे प्रभावित जरूर हूँ पर वही मेरे आदर्श नहीं रहे हैं। मैं रचनाकार की अपेक्षा रचनाओं को महत्व देता रहा हूँ क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि हर लेखक की प्रत्येक रचना श्रेष्ठ हो।

आपकी पहली प्रकाशित रचना कौन-सी है और उसका प्रकाशन कब हुआ?

मेरी पहली प्रकाशित रचना 'देवता' नामक कहानी है, जिसका प्रकाशन 1948 में 'नया समाज' (कोलकाता) में हुआ। बाद में रवीन्द्र नाथ ठाकुर के सचिव आचार्य गुरु देव मल्लिक ने उसका अनुवाद अंग्रेजी में किया।

यह तो बड़ी अच्छी बात है कि आपकी पहली प्रकाशित रचना को इतना सम्मान मिला।

हाँ यह तो पाठक की पसंद की बात है। वही तो रचनाकार का सबसे बड़ा आलोचक होता है।

लेखन मानसिक प्रक्रिया का अंतिम स्वरूप है जिसमें चेतन और अवचेतन मन का निरंतर संवाद चलता रहता है जब इस संवाद को भाषा मिल जाती है तो लेखन प्रक्रिया पूरी मानी जाती है और लेखन भी लेखक से पृथक और स्वतंत्र हो जाता है। आपका क्या अनुभव है?

यह बात सही है कि लेखन मानसिक प्रक्रिया का अंतिम स्वरूप है। लेकिन मैं यह नहीं मानता हूँ कि चेतन और अवचेतन के संवाद को भाषा मिल जाने के बाद लेखक अपने लेखन से पृथक और स्वतंत्र हो जाता है। वस्तुतः लेखन प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद रचनाकार के अपने मन में कहीं-न-कहीं जरूर रहती है जिसकी चर्चा वह बार-बार करता है।

यदि गौर किया जाए तो आज का संपूर्ण लेखन आम आदमी को लेकर है। लेकिन जिस आम आदमी के बारे में आप लिख रहे हैं उसे कष्टों, पीड़ाओं से मुक्ति दिलाना चाहते हैं-वह आपका नाम भी नहीं जानता है। और शायद वह आपकी कृति से अपरिचित ही रह जाता है। तो क्या ऐसी स्थिति में साहित्य की निरर्थकता का सवाल नहीं पैदा होता है?

मेरे लेखन की जमीन मेरा परिवेश रहा है। मैंने आसपास जैसा देखा, सुना, महसूस किया उसी को लिखा है। मेरे आसपास के लोग साधारण तबके के हैं। तो मैं उनके विषय में नहीं लिखता तो और किस प्रकार लिखता? इसकी भी क्या गारंटी है कि जिसके विषय में मैं लिखूं वह मेरे साहित्य को पढ़ेगा ही? इसलिए यहां साहित्य की निरर्थकता का सवाल पैदा नहीं होता है क्योंकि जो बात मन को छुई नहीं उस पर लिखा भी कैसे जा सकता है? सत्तर करोड़ के इस देश में आज भी आम आदमी अशिक्षित है। इस हालत में यह आशा भी कैसे की जाए कि वह मेरे साहित्य को पढ़ेगा ही? कबीर ने भी अपनी साखियों में जनसामान्य की स्थितियों का वर्णन करते हुए एक रचनात्मक दृष्टिकोण दिया है, दिशा दी है, यदि कोई उनकी सीख को नहीं मानता है तो इसका मलतब यह नहीं कि उनका संपूर्ण लेखन निरर्थक है।

मैं तो उसी लेखन को सार्थक मानता हूं जिसमें ईमानदारी के साथ अनुभूतियों को व्यक्त किया जाता है। एक कहानीकार के रूप में भी मैंने यही किया है। उनमें मैंने अपने परिवेश को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त किया है, उसे एक रचनात्मक दिशा देने का प्रयास किया है। इसीलिए मैंने बार-बार कहा है कि मैं रचनात्मक यथार्थ का कायल रहा हूँ।

हिंदी में 'शहर के साहित्य' और उत्पादक वर्ग के साहित्य का बड़ा अभाव रहा है जबकि ग्रामीण साहित्य भरा पड़ा है। यह सिमटी हुई रचनाशीलता कथा साहित्य को कितना आहत करेगी? आपकी क्या राय है?

मुझे तो लगता है हिंदी में ग्रामीण साहित्य की ही कमी है। उसकी अपेक्षा शहर के साहित्य का बाहुल्य है। अब आप ही देखिए न, आज आम जीवन की जो भी कहानियाँ लिखी जा रही है, चाहे वह मध्यम वर्ग की ही क्यों न हों, वे शहरी परिवेश से जुड़ी हुई हैं। कम ही कहानियां ग्रामीण जीवन से संबंधित है। आज मधुकर सिंह, मार्कण्डेय, विवेकी राय आदि के अलावा अधिकांशतः कथाकार शहरी जीवन का ही चित्रण कर रहे हैं।

रचनाशीलता के स्तर पर अपने समकालीनों में किन रचनाकारों को आप याद करना चाहेंगे और क्यों?

मेरा जुड़ाव कई भाषाओं और साहित्य से है। पर हिंदी के समकालीन रचनाकारों में मैं विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नागार्जुन, कमलेश्वर आदि की कद्र करता हूँ। इनकी रचनाएं मन को छूती हैं। बनावटीपन इनमें कम है। अनुभवजन्य स्थितियों का उन्होंने बड़ी ईमानदारी से आकलन किया है।

हर लेखक अपने सम्पूर्ण लेखन में कोई बात बार-बार कहना चाहता है जो उसकी हर रचना से जाहिर होती है और वह बात उसका पूरा निचोड़ होती है। आप अपने लेखन के माध्यम से ऐसी क्या बात कहना चाहते हैं?

मेरे लेखन पर मेरे परिवेश का गहरा असर है। आसपास के मजदूरों की दयनीय हालत देख मैं भावुक हो जाया करता था। उनके रहन-सहन के स्तर, आपसी संबंध और रोज-रोज की बकझक से मैं पूरी तरह आक्रांत था। मैं सोचता था कि ये क्यों नहीं आपस में मिलजुलकर रहते हैं? यही हालत आदिवासियों की भी है, पर पर्व-त्योहारों के अवसरों पर उनका आपसी प्रेम देखते ही बनता है। धीरे-धीरे यही मानव प्रेम की भावना मेरे लेखन में आती गई और यही मेरा मूल लेखन रहा है। इसी का मैंने मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

मतलब आसपास के जनजीवन ने आपको काफी प्रभावित किया है?

अब देखिए न जहाँ मैं रहता हूं (जमशेदपुर) उसके आसपास

के गाँवों में एक मिश्रित संस्कृति है। वहां के कुछ लोग हो भाषा बोलते हैं और कुछ नहीं। अब उनकी वह भाषा धीरे-धीरे अपनी पहचान खोती जा रही है। लोग अपनी संस्कृति, अपनी भाषा को भूलते जा रहे हैं। यह सब देखकर बड़ा दुःख होता है कि ज़मीन से कटकर आदमी की अस्मिता ही कहां रह जाती है? जिस ज़मीन ने आपको पाल-पोसकर इतना बड़ा किया एवं संस्कृति दी, सम्मान दिया, उसे खोकर आखिर आप पाना क्या चाहते हैं?

आज देश में भाषा को लेकर बहुत सारे विवाद उठ रहे हैं। क्या इस संबंध में आप कुछ कहना चाहेंगे?

देखो भाई, सारा भाषाई विवाद, राजनीतिज्ञों का स्टंट है। उनको लड़ने के लिए तो कोई मुद्दा चाहिए। तो बस कुछ-न-कुछ लेकर वे हल्ला-गुल्ला करते रहते हैं। रचनाकारों के साथ यह बात नहीं है। कई भाषाओं के रचनाकार सम्मेलनों में मिलते हैं। आपस में बात करते हैं।

आज दक्षिण भारत में हिंदी विरोध की जो लहर है, वह सारी राजनीतिज्ञों द्वारा पैदा की गई है। आज भी अन्य भाषाओं का लेखक यह चाहता है कि उसकी कृतियों का अनुवाद हिंदी भाषा में हो, एक बहुत बड़े पाठक समुदाय से उसका परिचय हो।

लेकिन इस हालत में रचनाकारों का भी तो कोई दायित्व है कि वे व्यर्थ के इस भाषाई आंदोलन का विरोध करें।

रचनाकार का दायित्व जरूर है पर आज लेखक राजनीतिज्ञों पर नहीं, राजनीतिज्ञ लेखकों पर हावी हैं। इस हालत में रचनाकार कर ही क्या सकता है? हाँ, इस बात की आलोचना होनी ही चाहिए और लोग कर भी रहे हैं।

एक कथाकार के रूप में भाषा की विविधता का निर्वाह आपको करना पड़ता है या सब एक ही भाषा में चल जाता है?

भाषा का प्रयोग विषयानुसार किया जाता है। उदाहरण के लिए तुम राम-लक्ष्मण को ले लो। यदि इन पात्रों का चित्रण पौराणिक संदर्भों में किया जाएगा तो उसकी भाषा अलग होगी और यदि उनका चित्रण आज के संदर्भ में किया जाए तो उसकी भाषा अलग होगी। मेरे पात्र जो 'हो' भाषा के हैं, उनके लिए वही भाषा उपयुक्त है। 'मुर्गों की लड़ाई' शीर्षक कहानी में मैंने मुर्गे लड़ाने वालों की भाषा का कुछ प्रयोग किया है, इसलिए लेखन में भाषा की विविधता का निर्वाह तो करना ही पड़ता है।

युवा लेखन के संदर्भ में आप क्या कहना चाहेंगे?

यह ठीक है कि आज के युवा लेखन में हताशा, कुंठा, बिखराव आदि की भावनाएं अधिक हैं। पर यह भी तो सच है कि आज का परिवेश ही वैसा हो गया है। जिन कठिनाइयों का सामना आज के युवा कर रहे हैं, वह उनके लेखन में नहीं आयेगा तो और क्या बात आएगी। जरूरत है उन्हें प्रोत्साहित करने की। मैं तो यह समझता हूं कि आज का युवा लेखन ही साहित्य को एक नया आयाम दे सकता है वे अच्छा लिख रहे हैं, उनसे मुझे काफी आशाएं हैं।

एक पंजाबी रचनाकार के रूप में पंजाब के लेखक बाहर के पंजाबीभाषी लेखकों के विषय में क्या धारणाएँ रखते हैं?

इसमें कोई संदेह नहीं कि पंजाब के बाहर के पंजाबीभाषी लेखक अच्छा लिख रहे हैं पर ऐसा लगता है कि पंजाबवासी लेखक पंजाब के बाहर के लेखकों के विषय में अधिक जानकारी नहीं रखते हैं। उनका लेखन भी काफी पिछड़ा हुआ है। अब देखिए न, हाल ही में सुरेश सेठ ने अपने एक लेख में मोहन राकेश को छोड़कर उपेन्द्रनाथ अश्क, महीप सिंह और मेरा कहीं जिक्र नहीं किया है। इससे साफ पता चलता है कि पंजाबवासी लेखकों की पंजाब के बाहर के पंजाबी लेखकों के विषय में अच्छी धारणा नहीं है या सही जानकारी नहीं है।

आप पिछले चालीस वर्षों से लिखते आ रहे हैं पर लगता है आलोचकों ने आप पर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना कि देना चाहिए। इस संदर्भ में आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

हाँ, यह सही है कि मुझे समझने की सही कोशिश नहीं हुई है। मैं एक ऐसे पिछड़े इलाके में हूं जिस पर आलोचकों की कम ही नज़र पड़ती है पर यह मानता हूं कि पाठक ही मेरा सही समीक्षक है और उसने मुझे निराश नहीं किया है।

आजकल आप क्या लिख रहे हैं, भविष्य की योजनाओं के संबंध में कुछ जानकारी देंगे?

आजकल मैं एक उपन्यास लिख रहा हूं 'स्वर्ग का सुख'। इसके लिए मैंने उत्तराखण्ड की यात्राएं की हैं। आध्यात्मिक और राजनीतिक संदर्भ की घटनाएं इसका मूल विषय हैं। आशा करता हूँ यह उपन्यास एक-दो वर्षों में पूरा हो जाएगा।

सन्ध्या छाया

आगामी अंक में

यादवेन्द्र चन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

डॉ. कृपाशंकर सिंह

ऋग्वेद के कुछ काव्यात्मक स्थल

ऋग्वेद विश्व की प्राचीनतम साहित्यिक कृति है। उसमें ऐसे स्थलों की कमी नहीं है, जिन्हें उत्कृष्ट काव्य के रूप में माना जा सकता है। ऐसी ऋचाएँ भी हैं जो शुद्ध रूप से भावात्मक दृष्टि से कही गई हैं, और ऐसी ऋचाएँ भी हैं जो प्रकृति के रहस्यात्मक दृश्यों के अद्‌भुत लोक में झांकने को प्रेरित करती हैं। पर ऐसी ऋचाओं की अधिकता है जो मनुष्य जीवन के लिए प्रकृति की उपादेयता को चित्रित करती हैं। ऐसे काव्यात्मक सूक्तों में से कुछ ऋचाओं की काव्यात्मकता की ओर यहां संकेत भर किया गया है।

उषा- ऋग्वेद में जो सुन्दर और मनोहारी काव्यात्मक अंश हैं उनमें उषा से सम्बन्धित सूक्तों की ऋचाएँ भी हैं। ऋग्वेद में ऐसी काफ़ी ऋचाएँ हैं जो उषा को लेकर कही गई हैं। जाहिर है उषा का जो मनोहारी रूप प्रातःकाल में दिखाई देता है, ऋग्वेदिक ऋषि उसके इन्द्रजाल में खो गये होंगे। अंधकार का विलीन होना और प्रकाश का क्रमशः फैलना उनमें आश्चर्यमिश्रित आनंद की सृष्टि करता रहा होगा। ऋग्वेद में तीन सौ से अधिक ऋचाओं में उषा का उल्लेख है।

ऋग्वेद के पहले मंडल के सूक्त 124 की तीसरी ऋचा में है-

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति।।

वहाँ पूर्व दिशा में द्युलोक की दुहिता ज्योतिर्वसन धारण करके प्रकट हो रही है। वह ऋत के मार्ग का अनुसरण करते हुए कहीं भी दिशाओं का व्यतिक्रम नहीं करती।

इसी सूक्त की चौथी ऋचा का भाव है-निकट से वह ऐसे दिखाई दे रही है, जैसे दैदीप्यमान वक्ष हो। वह मधुरता को प्रकट करती है, जैसे कोई नया गायक सुमधुर गान गा रहा हो। वह सोने वालों को निद्रा से जगा रही है मक्खियों की भिनभिनाहट की तरह। पुनरागमन करने वाली वह अधिक सच्ची और शाश्वत है।

उषा अपने रथ पर आरूढ़ है, जैसे कि वह धन प्राप्ति के लिए प्रस्थान कर रही हो। वह भ्रातृहीन स्त्री की तरह है जो पुरुष को ढूंढ़ रही हो। या पति के प्रेम में पगी पत्नी की भांति, स्मित बिखेरती सुंदर परिधान से सुसज्जित उषा अपना सौन्दर्य अनावृत करती है। (1.124.7)

पहले मंडल का सूक्त 48 भी उषा सूक्त है। इसकी पांचवीं ऋचा में कहा गया है, उषा सत् स्त्री के समान सब कुछ भोगती और गमनशील प्रणियों को जीर्णावस्था प्रदान करती और पक्षियों को उड़ाती हुई आती है।

हे सुनयनी उषा, विश्व के सभी प्राणियों का जीवन तुम्हीं में विद्यमान है, क्योंकि अंधकार को मिटाने वाली तुम ही हो। हे उषा, तुम वृहत् रथ पर आरूढ़ होकर हमारे पास आओ और हमारा आह्वान सुनो। (10)

जैसे चरवाहा गायों और दूसरे पशुओं को चरने के लिए बिखरा देता है, उसी प्रकार उषा के तेज का फैलाव सब ओर दिखाई देता है, और जैसे अति वेगवती नदी का जल धरती पर शीघ्र फैल जाता है, वैसे ही उषा समस्त विश्व को प्रकाशित करती है, और उसके साथ सूर्य की रश्मियां दृष्टिगोचर होती हैं। (1.92.12)

सूर्य की जननी श्वेतवर्णी तेजस्विनी उषा प्रकट हो रही है, काली रात्रि ने उसे अपना स्थान सौंप दिया है। उषा और रात्रि दोनों एक दूसरे के पीछे आती हैं और एक दूसरे को समाप्त करती हुई आकाश में विचरती हैं। (1.113.2)

पुरुरवा और उर्वशी

ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 95 की अट्‌ठारह ऋचाएँ पुरुरवा और उर्वशी के आपसी संवाद के रूप में कही गई हैं। इनमें पुरुरवा उर्वशी से अपने पास ही रह जाने की मनुहार करता है और उर्वशी बिछुड़ने की नियति को देखते हुए लौट जाने की बात कहती है। दोनों अपने-अपने आग्रह को बार-बार दुहराते हैं। यह संवाद ऋग्वेद के अत्यंत मार्मिक स्थलों में से है। ऋग्वेद के इस तरह के काव्यात्मक स्थलों को देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ऋग्वेद विश्व की प्राचीनतम अनुपम साहित्यिक कृति भी है। पुरुरवा कहता है-

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृष्ठावावहै नु।
न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन्।।
(10.95.1)

हे जाया, हे घोरे (निष्ठुर), तुम ठहरकर अनुरागपूर्ण मन से मेरे समीप रहो। हम आपस में बातें करें। हमारी ये बातें यदि आज भी अनकही रह गईं तो आने वाले दिन सुख देने वाले नहीं होंगे।

उर्वशी ने कहा-

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुष सामग्रियेव।
पुरुरवः पुनरस्तं परेहि युरापना बात इवाहमास्मि।। (2)

तुम्हारी इन बातों को मैं क्या करूं? व्यतीत हो चुकी उषाओं की भांति मैं भी तुम्हारे पास से जा चुकी हूं। हे पुरुरवा, तुम अपने घर लौट जाओ। मैं वायु की भांति दुष्प्राप्य हूं।

पुरुरवा इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे कतौ वि दविद्युतन्नौरा न मायुं चितयन्त धुनयः।। (3)

तुम्हारे बिना मैं युद्ध नहीं कर पाता। मुझसे तरकस से बाण नहीं निकाले जाते। मैं सैकड़ों गायों को शत्रुओं से छीन नहीं पाता। राज्य व्यवस्था में सामर्थ्यवान नहीं बन पाता।

मैं मानुष पुरुरवा जब अमानुषी अप्सराओं के सम्मुख गया तो

वे भयभीत होकर इस तरह दूर भाग गईं, जैसे व्याध को देख हिरनियां भागती हैं, या जैसे रथ में जुते अश्व भागते हैं। (8)

पुरुरवा- सुदेवो अद्य प्रवेदतनावृत् परावतं परमां गन्तवा उ 1
अधाशयीत निर्ऋते रूपस्थेघैनं वृका रमसासो अद्युः।।

यह सुदेव (पुरुरवा) तुम्हारा प्रेमी, मैं आज ही गिर पडूंगा, और फिर कभी नहीं उठ पाऊंगा। आपदाओं की गोद में मर जाऊंगा और खूंखार भेड़िये मुझे खा जाएंगे।

उर्वशी - पुरुरवो मा वृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवासउक्षन्।
न वे स्मैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।। (15)

नहीं, हे पुरुरवा! तुम मत मरो, धरती पर मत गिरो, न अशिव भेड़िये तुम्हें खाएं। स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती। स्त्रियों का हृदय सालावृकों (भेड़ियों) के हृदय की तरह होता है।

नदी सूक्त - तीसरे मंडल के तैंतीसवें सूक्त में, इस सूक्त के रचयिता विश्वामित्र और व्यास तथा सतलुज नदियों के मध्य बातचीत का वर्णन है। विश्वामित्र दोनों नदियों से थोड़े समय के लिए थाहवाली बन जाने की प्रार्थना करते हैं, जिससे संग्राम में जाने वाले, गायों के इच्छुक भरतजन दोनों नदियों को पार कर लें। विश्वामित्र और नदियों के बीच का संवाद ऋग्वेद के अत्यन्त खूबसूरत काव्यात्मक अंशों में से है। पर्वतों की गोद से निकलने वाली दो उन्मुक्त घोड़ियों की तरह हिनहिनाती हुई या बछड़ों को चाटने की इच्छुक शुभ्र गायों की तरह विपाशा और शतुद्रि समुद्र से मिलने की इच्छा से तेज-तेज बहती हैं। (3.33.1)

विश्वामित्र - हे इन्द्र द्वारा प्रेरित दोनों शुभ्रे, तुम दोनों आपस में प्रवाहित होते, लहरों से उच्छलित एक दूसरे को साथ लेकर चली जा रही हो। (2)

नदियाँ - हम दोनों अपने इस जल के द्वारा तृप्त होती हुई समुद्र की ओर बहती हैं। हमारे बहने का तो कोई अंत नहीं होगा। फिर यह ब्राह्मण हमें किस अभिलाषा से पुकार रहा है? (4)

विश्वामित्र - हे जल से आपूर्ण नदियो! मुहूर्त भर के लिए रुक कर मेरा सौम्य वचन सुन लो। तुम्हारी कृपा का आकांक्षी मैं कुशिक पुत्र विश्वामित्र बड़ी लालसा से तुमसे प्रार्थना कर रहा हूं। (5)

नदियाँ - वज्रबाहु इन्द्र ने नदियों को रोकने वाले वृत्र को मारा और हम दोनों नदियों को खोदा था। सुपाठी सवितादेव हमें ले आये। उन्हीं की आज्ञा मानती हुई हम जल से भरी हुई बहती हैं। (6)

(ऋग्वेद के विश्वामित्र और वसिष्ठ का रामायण के विश्वामित्र और वसिष्ठ से कोई सम्बन्ध नहीं है।)

विश्वामित्र - हे बहिनो, मुझ कवि के वचनों को सुनो, मैं दूर से तुम्हारे पास बैलगाड़ी और रथ की सहायता से आया हूँ, थोड़ा नीची हो सरलता से पार करने योग्य बन जाओ। हे नदियो, तुम मेरे रथ के धुरे से नीची हो जाओ। (9)

नदियाँ - हे कवि, तेरे वचनों को हम सुनती हैं, तुम शकट और रथ से दूर से आये हो। जिस तरह बच्चे को स्तन पिलाने वाली माता झुकती है, या पति को आलिंगन करने वाली युवती झुकती है, उसी तरह हम भी तुम्हारे लिए नीची हो जाती हैं।

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचैते। (10)

विश्वामित्र - हे प्यारियो, इन्द्रप्रेरित और गायों के इच्छुक भरतवंशी तुम्हें पार कर जाएं तो इसके लिए मैं तुम्हें यज्ञ की पात्र मानकर तुम्हारी स्तुति करूंगा। (71)

गायों की इच्छा करने वाले भरत जन पार पहुंच गये, मेधावी मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ। अन्न उत्पन्न करती हुई तथा शोभन धन से भरी-पूरी तुम दोनों अन्य नदियों को भरती हुई शीघ्र जाओ। (12)

वायु : ऋग्वेद के अधिकतर देवी-देवता जीवनोपयोगी और समाजोपयोगी आयामों को जोड़ते हुए दिखाई देते हैं। जल, पृथ्वी, वायु आदि इसी तरह के देवता हैं। ऋषि अपने कल्याण की कामना करते हुए इन देवताओं का आह्वान करते हैं। उनका काव्यात्मक मूल्य उनके कहने के अन्दाज में निहित रहता है।

सातवें मंडल में कहा गया है कि कल्याणकारी दिनों को लाने वाली उषाएँ अंधकार को मिटाएँ और वायु की कृपा से प्रकाश पाकर दीप्तिसम्पन्त हों। अंगिराओं ने वायु की स्तुति करके गोधन प्राप्त किया। (7.90.4)

मैं उस वायु की महिमा का बखान करता हूं जो रथ के सदृश बहुत वेग से दौड़ने वाला है। वह वायु वृक्षों तथा दूसरे वनस्पतियों को कंपाता हुआ चलता है। वह सभी स्थानों पर गुंजायमान होता है। आकाश को छूता है और सब ओर लालिमा फैलाता हुआ तथा पृथ्वी की धूल उड़ाता हुआ बहता है। (10.168.1)

वायु को कभी भी आराम नहीं मिलता, वह अंतरिक्ष के मार्गों पर चलता ही रहता है। वह वर्षा का मित्र है। वही सबसे पहले पैदा हुआ। लेकिन कहाँ जन्मा और कहाँ आया? (10.168.3)

चौथी ऋचा में उस वायु की स्तुति है जो देवताओं की आत्मा (सांस) है, और जो भुवन के गर्भ में इच्छानुसार विचरण करता है। चलने की उसकी आवाज तो सुनाई देती है, पर उसका रूप दिखाई नहीं देता। उसी वायु की स्तुति हवि से मैं करता हूं। (10.168.4)

रात्रि : ऋग्वेद के दसवें मंडल में रात्रि का वर्णन है। इस मंडल के सूक्त 127 में सुंदर काव्यात्मक ढंग से रात्रि के अंधकार को चित्रित किया गया है।

आती हुई रात्रि देवी के आवरण का विस्तार चतुर्दिक फैल रहा है, और उस आवरण से झाँकते हुए झिलमिलाते नक्षत्र शोभा को प्राप्त हो रहे हैं। (10.127.1)

रात्रि देवी अमर है और प्राकृतिक नियमों को अपनाने वाली है, उसने सब कुछ को अपने आवरण में ढँक लिया है। सभी दिशाओं में उसका विस्तार फैल गया है। पर आकाश में फैली चाँदनी से अंधेरापन कुछ कम हो गया है। (2)

आती हुई रात्रि देवी ने बहिन उषा को उसका प्रकाश वापस देकर उसका कर्ज लौटा दिया। कुछ अंतराल के बाद रात्रि का अंधेरा भी दूर चला जाता है। (3)

चौथी ऋचा है - सा नो अद्य यस्या वयं नि ते या मन्नविक्ष्महिं वृक्षे न वसतिं वयः।।

हमारे लिए सुखदायिनी रात्रि आ गई है। उसके पास आने पर हमें उसी तरह विश्राम मिलता है, जैसे पक्षी वृक्षों पर अपने घोसलों में सो जाते हैं।

सभी ग्रामवासी अपने अपने घरों में वापस आ गये हैं। पैरों वाले और पंखों वाले शिकारी बाज़ (श्येन) भी सब सो रहे हैं। (5)

हे रात्रि, तुम हिंसक वृकों (भेड़ियों) को, वृकी को और चोर को हमसे दूर करो, जिससे रात्रि हमारे लिये सुखदायिनी हो। (6)

यह जो काला और गाढ़ा अँधेरा मुझे दबाता जा रहा है, और जिसके आवरण में सब कुछ ढँक गया है, हे उषा! तुम ऋण के सदृश हमारे पास से इसे हटा दो। (7)

अंतिम ऋचा में है- उप ते गाइवाकरं वृणीश्व दुहितर्दिवः।

रात्रि स्तोत्रं न जिग्युषे।।

हे रात्रि, तुम द्युलोक की पुत्री (आकाश कन्या) हो, मुझ विजयी का यह स्तोत्र स्वीकारो। गायों के समान यह स्तुति तुम्हें भेंट करता हूं, इसे स्वीकार करो।

मन : ऋग्वेद के दसवें मंडल में मन को देवता कहा गया है। यहां बड़े काव्यात्मक ढंग से मन को विभिन्न स्थानों से हटाकर इसी संसार में लगाने के लिए कहा गया है।

जो तुम्हारा मन विवस्वान के पुत्र यम के पास चला गया है तो उसे मैं यहां तुम्हें लौटाता हूं, जिससे तुम सुख से इस संसार में जियो। (10.58.1)

तुम्हारा मन जो आकाश और पृथ्वी में लग गया है तो तुम्हारे मन को मैं तुम्हें लौटाता हूं, यहां बसने के लिए और सुख से रहने के लिए। (2)

जो तुम्हारा मन चारों दिशाओं में चला गया है, उसे मैं लौटाता हूं, तुम इस संसार में सुखपूर्वक निवास करने के लिए जीते हो। (4)

पाँचवीं ऋचा है - यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्।

तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।

जो तुम्हारा मन दूर लहरों से आपूरित समुद्र में भटक गया है, उसे तुम्हें लौटाता हूं, यहां बसने और जीने के लिए।

यत्ते मरीची : प्रवतो मनो जगाम दूरकम्।

तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।। (6)

जो तुम्हारा मन मरुमरीचिका की तृष्णाओं में दूर जाकर भटक गया है, उसको यहां सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए तुम्हें लौटाता हूं।

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।

तत्त आ वर्तयाम सीह क्षयाय जीवसे।। (12)

जो तुम्हारा मन दूर अतीत में या अनागत भविष्य के विषयों में भटक रहा है तो उसे तुम्हारे पास वापस बुलाता हूं, वर्तमान में सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए।

उत त्वः पश्यन्त ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्ये नाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि स्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।
(10.71.4)

कुछ लोग वाणी को जानकर भी नहीं जानते, कुछ उसे सुनते हुए भी नहीं सुनते। अर्थात पढ़ने-लिखने के बाद भी मूर्खता उनका साथ नहीं छोड़ती। और किसी-किसी के लिए भाषा अपनी काया को इस प्रकार खोल देती है, जैसे पति के लिए शोभन वस्त्रों वाली प्रेयसी पत्नी अपने को अनावृत करती है।

जल : मनुष्य जीवन के लिए जल के महत्व से कौन इंकार कर सकता है? हमें जिन्दा रखने के लिए जल की जो अपरिहार्यता है, उसका अहसास जिस तरह हमें आज है, कुछ उसी तरह का अहसास ऋग्वेदिक ऋषियों में भी दिखाई देता है। इसीलिए उन्होंने जल को देवता कहा। ऋग्वेद के दसवें मंडल के दो सूक्तों - नौ तथा तीस - की ऋचाएँ जल देवता को सम्बोधित हैं। बड़े काव्यात्मक ढंग से जल की स्तुति की गई है। सूक्त नौ की दूसरी ऋचा है-

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।

उशतीरिव मातरः।।

हे जल, पुत्र समृद्धि को चाहने वाली माताएं जिस तरह उसे दूध देती हैं, उसी तरह तुम अपना सुखदायी रस हमें प्रदान करो।

इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि।

यद्वाहम भिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम।। (9.8)

हे जल शरीर पर जो मल लिपटा है उसे दूर बहा दो, और मेरे अन्दर के तमोगुण को भी दूर कर दो। मेरे अन्दर के द्रोह और क्रोध को भी समाप्त करो। मैंने जो असत्य कथन किया हो उसे भी दूर करो।

हे ऋत्विजो, जिस प्रकार कल्याणी युवती पत्नी के संग पुरुष हर्षित और प्रसन्न होता है, उसी प्रकार उन जलों को लाओ जिन

जलों से मिलकर सोम आनंदित होते हैं। और उन्हीं जलों से सोम को धोओ। (10.30.5)

जिस प्रकार युवा पुरुषों की प्राप्ति के लिए युवतियाँ नम्र स्वभाव अपनाती हैं, और जिस प्रकार कामना से भरा हुआ पुरुष कामनामयी स्त्रियों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार हे ऋत्विजो, जिन जलों को पाकर सोम प्रसन्न होते हैं, उन्हीं जलों को लाओ। (10.30.6)

अम्बयो यन्त्यध्वमिर्जामयो अध्वरीयताम्!।
पृञ्चतीर्मधुना पयः।। (1.23.16)

हम जो यज्ञ करने की इच्छा करते हैं, उनके लिए जल माता के समान है। वे जल हमारे लिए कल्याणकारी बंधु हैं, वे दूध में मिठास घोलते हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं ऋचाओं में कहा गया है कि हे ऋत्विजो, तुम उत्साहपूर्वक जल की प्रशंसा करो जिसके भीतर अमृत है, और जो औषधियों से परिपूर्ण है। सोम ने भी जल में औषधियों की बात कही है। उसमें अग्नि है, जिससे संसार सुखी है।

स्नान करने के लिए आज मैं जल में प्रवेश करता हूं। आज जल के रस से मेरा शरीर सिक्त हो गया है। हे जल के भीतर की अग्नि! आओ और मुझे अपने तेज से भर दो। (1.23.23)

आपः पृणीत भेषजं बरुथं तन्वेमम। ज्योक् च सूर्यंये दृशे।।
(1.23.21)

हे जल, औषधियों से परिपूर्ण जल मुझे दो, जिससे मैं बहुत काल तक सूर्य का दर्शन कर सकूं।

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनिभिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था या शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु।।
(1.49.2)

जो शुद्ध जल अंतरिक्ष से चूते हैं, या खोदने से निकाले जाते हैं, जो अपने आप उत्पन्न हुए हैं, या समुद्र के लिए हैं, अथवा जो पवित्र हैं और पवित्र करने वाले हैं, वे देदीप्यमान जल इस संसार में मेरी रक्षा करें।

वाणी : ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त इकहत्तर की ऋचाओं का देवता ज्ञान है। इन ऋचाओं में वाणी की महत्ता का अत्यन्त काव्यात्मक रूप में बखान किया गया है। इस सूक्त की दूसरी ऋचा में कहा गया है-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अभा सखायः सरव्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वात्ति।।

छलनी से सत्तू को छानने की तरह ही विचार वाणी को शुद्ध करते हैं, और शुद्ध भाषा बोलते हैं। भाषा से विद्वान लोग सामाजिकता की पहचान करते हैं, और वाणी में कल्याणकारी शोभा निहित रहती है।

उत त्वः पश्यन्त ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्ये नाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि स्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। (10.71.4)

कुछ लोग वाणी को जानकर भी नहीं जानते, कुछ उसे सुनते हुए भी नहीं सुनते। अर्थात पढ़ने-लिखने के बाद भी मूर्खता उनका साथ नहीं छोड़ती। और किसी-किसी के लिए भाषा अपनी काया को इस प्रकार खोल देती है, जैसे पति के लिए शोभन वस्त्रों वाली प्रेयसी पत्नी अपने को अनावृत करती है।

ये जो लोग न ब्रह्मज्ञानी है, न कर्म करने में प्रवीण हैं, ऐसे लोग वाणी प्राप्त होने पर भी ज्ञानहीन ही रहते हैं। ऐसे लोग वाक् का दुरुपयोग करते हैं और षड़यंत्र बुनते रहते हैं। (10.71.9)

दसवें मंडल के सूक्त 125 की ऋचाएँ भी वाक् से ही सम्बन्धित हैं। ये ऋचाएँ वाक् के कथन के रूप में हैं।

वाक् का कहना है - मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरती हूं, मैं आदित्यों और विश्वेदेवों के साथ विचरती हूं, मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूं, मैं इन्द्र और अग्नि, मैं अश्विनी कुमारों को धारण करती हूँ। (10.125.1)

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषो प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थामां भूयविशयन्तीम्।। (10.125.3)

मैं संगठन करने वाली, राष्ट्र की शक्ति हूं। मैं धन देने वाली हूं, ज्ञान देने वाली हूँ। यज्ञ योग्य पदार्थों में सर्वोत्तम हूं। मैं बहुत स्थलों और रूपों में व्याप्त हूं, उस मुझ बहुत शक्तिशालिनी को देवताओं ने धारण किया है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टे देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये ततमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषि तं सुमेधाम्।। (10.125.5)

देवताओं और मानवों द्वारा सेवित व्यक्ति को मैं ही उपदेश देती हूं। जिसे चाहती हूं उसे बलशाली और उन्नत करती हूं, उसे ब्रह्म, उसे ऋषि, उसें श्रेष्ठ बुद्धिवाला बनाती हूं।

मैं इस लोक के ऊपर पिता द्यौः (आकाश) को जन्म देती हूं। मैं जल में समुद्र के भीतर निवास करती हूं। सब भुवनों में मेरी अलग-अलग व्याप्ति है। और इस द्युलोक को मैं अपने शरीर से छूती हूं। (10.125.7)

अहमेव वातइव प्रवाभ्यारभमाणा भुवनानि विश्वां।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सं बभूव।। (8)

मैं ही वायु के समान सबमें व्याप्त हूं, सब भुवनों का निर्माण करती हुई। इस आकाश के पार, इस पृथ्वी से भी पार, मैं इतनी महिमा से सम्पन्न हूं।

इन काव्यात्मक ऋचाओं से ऋग्वेदिक ऋषियों की असाधारण काव्य-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

सी-4/86/2, सफ़दरजंग विकास क्षेत्र, हौजखास, नई दिल्ली-16

डॉ. शत्रुघ्न कुमार

रोमानिया और भारत : सांस्कृतिक सम्बन्धों की दिशा

यूरोप के अन्य देशों के विद्वान जिस प्रकार भारतीय दर्शन की ओर आकर्षित हुए, उसी प्रकार रोमानिया के विद्वान भी भारतीय चिंतनधारा को आत्मसात् करने के लिए बढ़े। वैसे मैं भारत-रोमानिया के संबंध को बहुत पुराना मानता हूँ। यह संबंध केवल दर्शन के स्तर पर ही नहीं बल्कि सामाजिक स्तर पर भी गहरा और पुराना है। मैं इस संदर्भ में यह अवश्य कहना चाहूंगा कि हजारों वर्ष पहले जो भारतीय यूरोप की ओर चले और वहाँ पहुँचकर विभिन्न यूरोपीय देशों में बस गए उनसे हमारा संबंध एकदम समाप्त नहीं हो गया। यद्यपि समय के अन्तराल के कारण जो चिह्न बच गए वे एकदम वैसे नहीं रहे लेकिन बहुत कुछ जरूर ऐसा बच गया जिसके सूत्र को पकड़ कर हम प्रमाणित कर सकते हैं कि ये संबंध टूटे नहीं बरकरार हैं। रोमानिया और अन्य यूरोपीय देशों में बसे रोमानी लोगों में आज भी भारतीय संस्कृति की छाप स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। यद्यपि इस क्षेत्र में कार्य हुआ है किन्तु बहुत कुछ नए सिरे से करने की आवश्यकता है।

रोमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में हिन्दी भाषा के अध्ययन-अध्यापन का लगभग तीस वर्ष का लम्बा इतिहास है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा जो भी विद्वान यहां हिन्दी पढ़ाने आए या उनसे भी पहले यहां जिन विद्वानों ने किसी न किसी रूप में हिन्दी के अध्यापन का कार्य किया उन सभी विद्वानों के संस्मरणों को पढ़कर स्पष्ट हो जायेगा कि रोमानियन लोगों का भारत के प्रति गहरा लगाव और आकर्षण है। मेरा भी पिछले तीन वर्षों का अनुभव यही बताता है कि इस देश के लोगों में भारत के प्रति एक जादुई आकर्षण है। यहां राह चलते लोगों को यह पता चल जाए कि आप भारत से हैं तो वे आपसे भारत के बारे में बहुत कुछ जानना चाहेंगे, मसलन भारत में देवी-देवता हैं? क्या भारत में जादू से सब कुछ पल-भर में मिल जाता है? आदि-आदि। भारत आज भी इनके लिए एक विस्मय से भरा रोमांचकारी देश है। कुछ लोग भारत को जादू का देश मानते है तो कुछ को यह पता चल चुका है कि भारत समता, बंधुत्व तथा तर्क शैली के जनक शाक्यमुनि (गौतम बुद्ध) का भी देश है। राम-कृष्ण तथा हाथी के सिर वाले गणेश आदि विभिन्न देवी-देवताओं की विस्मयकारी छवि की वजह से भी रोमानियावासी निश्चय ही भारत के प्रति आकर्षण रखते हैं।

भारत के इन्हीं गुणों एवं चरित्रों तथा ज्ञान, दर्शन के प्रति रोमानिया के विद्वान आकर्षित होते रहे। रोमानिया के भारतविदों के नाम की शुरुआत करना चाहें तो सबसे पहला नाम यहाँ के राष्ट्रकवि मिहाई ऐमिनस्कु का आता है। कवि ने वर्षों पहले भारत के बारे में अध्ययन किया और भारतीय दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि उनकी रचनाओं में भी भारतीय दर्शन का पुट समा गया। मिहाई ऐमिनेस्कु का (1850-1989) वियाना और बर्लिन में अध्ययन करते हुए भारतीय दर्शन के प्रति झुकाव हुआ। फिर संस्कृत का अध्ययन कर उन्होंने बौद्ध ग्रंथों तथा ऋग्वेद का आलोड़न किया। उनकी रचनाओं में भारतीय दर्शन की छाप दिखाई देती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

जब अव्यक्त या तब असत् था
यद्यपि प्रत्येक सत् उसमें निहित था
तब तम से तम लिपटा हुआ था
क्या वह गह्वर था या गुफा थी
मात्र जल का अनन्त विस्तार था।

इस कवितांश से ऐसा लगता है कि कवि जल प्लावन का वर्णन कर रहा हो जिसके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में चारों ओर जल का ही विस्तार था।

ऐमिनेस्कु के समकालीन दो और रोमानियन कवि हुए जिनकी रचनाओं में भारतीय दर्शन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। ये कवि है उध्यान ब्लागा (1860-1890) तथा महाकवि कोश्बुक (1866-1918)।

भारतीय चिंतनधारा से प्रभावित होकर कई रोमानियन कवियों ने अनुवाद द्वारा भारतीय-साहित्य तथा दर्शन को रोमानिया के जनमानस तक पहुंचाने का प्रयास किया। ऐसे ही एक रोमानियन कवि थे गे कोश्बुक। इन्होंने महाभारत के कुछ खण्डों तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम और ऋग्वेद का रोमानियन भाषा में अनुवाद किया । क्लासिकल फिलोलाजी के एक अन्य विद्वान कांस्टेटिन्टन ज्योर्जियान (1850-1904) ने भानुदत्त की रचना 'राजमंजरी', 'नल उपाख्यान', तथा 'सावित्री उपाख्यान' का रोमानियन भाषा में अनुवाद किया जिसे पढ़कर रोमानिया के लोगों ने संस्कृत की इन अमर कृतियों का आनंद उठाया। संस्कृत भाषा का गहन अध्ययन कर भाषावैज्ञानिक की पदवी पाने वाले बोगदान पेत्रियेस्कु हश्देव ने संस्कृत भाषा और व्याकरण के अलावा भारतीय अध्यात्म पर अनेक लेख लिखे।

बीसवीं शताब्दी में भी यह परंपरा कायम रही। 1926 में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की रोमानिया यात्रा से भारत-रोमानिया के संबंध को एक नया आयाम मिला। हाल ही में (1999) दानियाला नियाक्षु द्वारा संपादित एक पुस्तक का यहाँ से अंग्रेजी एवं रोमानियन भाषा में एक साथ प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक के

अध्ययन से पता चलता है कि गुरुदेव की रोमानिया यात्रा मानो भारतीय दर्शन के झंझावात के साथ हुई और रोमानियावासियों को स्तब्ध कर गई। रोमानिया के भारतविदों में पुनः एक हलचल हुई और वे तेजी से भारतीय दर्शन को जानने-समझने के लिए अग्रसर हुए। इसी क्रम में यहां के कई भारतविदों ने न केवल भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन बल्कि उस पर शोध भी किया और कई महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना भी की। मिर्चा इलियादे (1907-1986) ने कई बार भारत की यात्रा की। इन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय में प्रो. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के निर्देशन में भारतीय दर्शन पर पीएच.डी. का कार्य सम्पन्न किया। सन् 1954 में इन्होंने रोमानियन भाषा में पुस्तक लिखी। शीर्षक था 'भारतीय योग : अस्तित्व और स्वतंत्रता'। इसके प्रकाशन के बाद रोमानिया के लोगों को भारत संबंधी एक नए तथ्य का ज्ञान हुआ। मिर्चा इलियादे भारतीय तंत्र विज्ञान के विद्वान थे। पेरिस तथा शिकागो विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर कार्य करते हुए इन्होंने भारतीय दर्शन से संबंधित अनेक विषयों पर लेख लिखे।

श्री सर्ज्यु-अल-जार्जे यद्यपि पेशे से डॉक्टर थे लेकिन भारतीय दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि एक बार उसमें पैठे तो पैठते ही चले गए। स्वाध्याय द्वारा ही उन्होंने संस्कृत भाषा पर पकड़ बनाई। इनका जन्म 13 सितंबर 1922 में ट्रंस्लवानिया के तरगुमोरेश नामक स्थान पर हुआ। पिता श्री बासीले अल जार्जे की धार्मिक वृत्ति का बेटे पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् 1948 में उनकी पहली पुस्तक फ्रेंच भाषा में 'दि मिथ ऑफ आत्मा एण्ड दि क्रिएशन ऑफ एब्सोल्यूट इन इण्डियन थॉट' प्रकाशित हुई।

श्री जार्जे ने अपने पिता की याद को बनाए रखने के लिए एक अनोखा कार्य किया। इसके लिए पिता की स्मृति में 'श्रीमद्भगवद्गीता' का रोमानियन भाषा में पद्यनुवाद किया। इसके अलावा उन्होंने भारत के इतिहास का भी रोमानियन भाषा में अनुवाद किया।

सन् 1957 में उन्होंने 'ओरियंटल स्टडीज एसोसिएशन' की स्थापना की तथा इसके माध्यम से भारतीय संस्कृति पर शोधकार्य करने वालों को प्रोत्साहित किया। रोमानिया के भारतप्रेमियों ने न केवल अध्यात्म एवं दर्शन बल्कि अन्य कई क्षेत्रों में भी अपने प्रेम को दर्शाया है।

यहां श्री आर्येन रोसो का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने आयुर्वेद का गहन अध्ययन किया तथा रोमानियन भाषा में एक पुस्तक की रचना की जिसमें यह वर्णन किया गया है कि भारतीय जड़ी-बूटियों से किस-किस प्रकार की औषधि का निर्माण किया जा सकता है।

172, मदनलाल ब्लॉक, खेल गाँव, नई दिल्ली-110049

डॉ. सेवा सिंह से तरसेम गुजराल की बातचीत

औपनिवेशिक संस्कृति के दूरगामी परिणाम

कमीज-पतलून की आधुनिक वेशभूषा और यूनिवर्सिटी (गुरु नानक देव) कैम्पस में रहने वाले इस शख्स को यदि मैं आधुनिक कहूंगा तो हो सकता है कि आप मुझ पर लट्ठ लेकर बरस पड़ेंगे और कहेंगे कि यह आदमी कहां से आधुनिक लगता है? प्राचीन काल के आदिम समाजों की मातृ व्यवस्था के पितृतन्त्र में रूपांतरण के कारणों में डूबा, तन्त्रवाद पर जनजातियों की विचारधारा के सारत्व का विश्लेषण करने वाला, बात-बात में शैव, पाशुपत, कापालिक, शाक्त, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों को उद्धृत करने वाला कहां का आधुनिक है भाई! मूड आता है तो अमृतसर से बस या गाड़ी पकड़ते हैं बिना बुकिंग, बिना किसी सूचना के दिल्ली जा पहुंचते हैं, जिससे मिलना था वह मिलता नहीं तब ख्याल आता है कि क्यों न निकलने से पहले फोन पर तय कर लिया, कैसे आधुनिक कहेंगे इनको?

यदि मैं इनको पुरातनपंथी कहूंगा तब भी करीब से जानने वाले छोड़ेंगे नहीं। कहेंगे मार्क्सवादी चेतना से लैस, बंगाल में पुनर्जागरण की पहली लहर के साथ भारत में इण्डियन कौंसिल एक्ट के साथ बात शुरू करने वाले, स्वतंत्रता संग्राम और भारत में गांधी के महत्व पर साधिकार बोलने वाले, स्त्री-स्वतंत्रता और दलितों के उत्थान के लिए किसी भी हद तक जाने वाले इस आदमी को पुरातनपंथी कहकर आप अपनी रूढ़िवादिता और पोंगापंथ का परिचय ही दे रहे हैं।

लगभग एक दशक से सुन रहे हैं कि डॉक्टर सेवा सिंह का कपूरथला में अपना घर बन रहा है। जिसे एक दशक समीक्षा एवं दर्शन यात्रा कहा जा सकता है।

हुआ यह कि एक बार विनोद शाही डॉ. सेवा सिंह के साथ वेदांत पर चर्चा करते-करते कपूरथला पहुंच गए। एक दरवाजे को लेकर डॉ. सेवा सिंह और भाभी साहिबा में सतर्क बहस शुरू हो गई। दोनों अपने-अपने पक्ष में तर्क देने में लाजवाब। विनोद शाही की दशा बैडमिंटन कोर्ट में खड़े दोनों तरफ गिरती-उड़ती चिड़िया देखने की रही। बहस आधे घण्टे से ज्यादा चली। खत्म भी शायद इसलिए हुई कि उन दोनों को विनोद शाही की वास्तविक दशा का अनुमान हुआ होगा। बाद में डॉ. साहब ने कहा-अब तो आपको पता चल गया होगा कि मेरी तर्कशक्ति कितनी विकसित है। शाही बेचारे कहते-कहते रह गए कि यह भी पता चल गया कि वह कैसे विकसित हुई है।

उन पर गंभीरता से सोचते हुए मैंने और विनोद शाही ने उनके रचनात्मक व्यक्तित्व को दो हिस्सों में बांटकर देखा था। पहला सामाजिक और दूसरा वैचारिक पक्ष।

निःसन्देह वह प्रखर मार्क्सवादी रहे हैं। मुखौटा या कृत्रिमता उनमें कहीं नज़र नहीं आई। पहले दिनों में उनके आर.एस.एस. से सम्बन्ध रहे हैं, इसके चलते हिन्दूवादी विचारधारा को करीब से देखा है उन्होंने। जसबीर जौहल के प्रति उनकी गहरी निष्ठा रही है। कांग्रेस के साथ जुड़ाव रहा है। अकाली विचारधारा के लोगों से भी अच्छी मित्रता। समझौतापरस्त वह नहीं हैं। सुविधा जुटाने के लिए कोई पॉलीमिक्स उन्होंने नहीं खेली। किसी राजनैतिक पार्टी के कठघरे से बँधकर नहीं रहे। ऊपर से सभी के साथ दिखते हुए भीतर से आम आदमी के साथ जुड़ाव पर सही उतरते रहे। इसलिए अम्बेडकरवादी ग्रुप के साथ नुमायाँ तरीके से चलते रहे। व्यक्तित्व के विविध पक्ष हो सकते हैं परन्तु सामाजिक सरोकारों के प्रति कहीं गहरे समर्पित हैं इसीलिए सामाजिक आन्दोलनों बेखटके पूरे साहस के साथ कूद पड़ते हैं।

मुझे याद है, वह गुरु अर्जुन देव का शहीदी दिन था। पंजाब में आतंकवादी ग्रुपों का काम हिट था। जालंधर में बुद्धिजीवियों ने आतंकवाद का विरोध प्रकट करने के लिए मौन जुलूस निकाला था। अग्रिम पंक्ति में बैनर एक तरफ से सेवा सिंह ने थामा था दूसरी तरफ से विनोद शाही ने।

जन आन्दोलन के साथ, मित्रों के साथ पूरी ईमानदारी से खड़े होने वाले वह खास तरह के सामाजिक प्राणी हैं। उनका वैचारिक पक्ष भले ही इस क्षेत्र में वह मौलिक चिंतक वैसे नज़र न आए परन्तु वह भारतीय संस्कृति की कहीं अधिक गहराई से शनाख्त करते हैं। वेदों से लेकर उपनिषद, गीता, बौद्ध दर्शन, तांत्रिक, शाक्त, शंकर सभी की मूल धाराओं का गहरा अध्ययन किया और प्रामाणिकता के साथ उल्लेख किया। सामन्ती जीवन पद्धति के प्रचार-प्रसार को समझा और जनजातीय अस्मिता को सामने रखा। इन प्रयासों के साथ उन्होंने जैसा कि उनके मित्र शाही कहते हैं कि 'हिन्दुस्तान की जड़ों तक उतर जाने का प्रयास किया'। दर्शन के इतिहास में उनकी गहरी पैठ है। जहन और चक्षु खुले रखते हैं। खिड़कियां-दरवाजे बंद नहीं करते। दृष्टि धूमिल नहीं होती। शायद यही उनके व्यक्तित्व का वह पहलू है जिसने आकर्षित किया है उनसे कुछ प्रश्न पूछे जाएँ।

हिन्दी में इतनी धाराओं का सम्मिश्रण आम तौर नहीं नजर आता जैसा इनमें है। इरफान हबीब इतिहास वेत्ता हैं सामाजिक आन्दोलनों से इतना सीधा जुड़ाव नहीं। निर्मल वर्मा दर्शन और क्रिएटिव समीक्षा में प्रखरता से बात उठाते हैं परन्तु सामाजिक सरोकारों पर बहुत आगे नहीं आते। ऐसे बहुपक्षीयव्यक्तित्व सम्पन्न शख्स से बात कर किसे खुशी नहीं होगी।

कबीर को ज्यों ज्यों पढ़ते गये, कबीर इन्हें बदलते चले गये। हममें से कौन है जो घर फूंक कर कबीर के साथ चल सकता है। कोई ऐसा कच्ची मिट्टी का भी नहीं कि बदलने को तैयार रहे। कच्ची मिट्टी का होने के लिए भी पहले कई राग-अनुराग, रंग-बिरंग, इच्छा-आकांक्षा का त्याग जरूरी है।

उनकी कुछ पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं-

1. माया और मायाबद, 1984 में प्रकाशित
2. भगवद्‌गीता : प्रचलित सरोकारों के विरुद्ध प्रगति का विस्तार, 1995
3. मोक्ष और लोकायत, 1996
4 कबीर का स्त्री दृष्टिकोण, 1997

प्रस्तुत है उनसे एक लम्बी बातचीत-

एक वक्तव्य में विज्ञान के सुप्रसिद्ध अध्यापक प्रो यशपाल ने कहा कि गाँधी भारत में जल्दी आ गये उनकी जरूरत तो अब हमें थी। क्या आप इस बात से सहमत हैं भारत की इस समय की जटिल परिस्थितियों को देखते हुए?

ब्रिटिश दासता को औपनिवेशिक अवधारणा के तौर पर, एक विशिष्ट तन्त्र के रूप में देख पाने की सामर्थ्य के साथ, गाँधी आजादी की लड़ाई के सांस्कृतिक मोर्चे पर तैनात थे। अन्तर्निहित सूक्ष्म द्वन्द्वात्मक विवेक दृष्टि के कारण औपनिवेशिक अर्थ-तन्त्र के 'आधार' के ऊपर गठित औपनिवेशिक संस्कृति के गहरे और दूरगामी परिणामों की उन्हें अद्भुत समझ थी। इसलिए वे मूलभूत सांस्कृतिक रूपांतरण के बिना, आजादी पाने की व्याकुलता को, मात्र सत्ता हस्तान्तरण में, एक जोखिम देख रहे थे।

भारत विभाजन की त्रासदी में हमें यही जोखिम ढोना पड़ा है। इस प्रकार सांस्कृतिक रूपांतरण के मुद्दों को अनदेखा करते रहने पर, अन्ततोगत्वा धर्म पहचानों का औपनिवेशिक विभाजकत्व गठन, दो राष्ट्रों के सिद्धांत में फलतिभूत हुआ है, और इस बात की निरन्तरता में अधिक जटिल होकर गहराता जा रहा है।

हमारे पास एक गाँधी है, सांस्कृतिक क्रान्ति के द्वार पर जिसकी दस्तक अब भी सुनी जा सकती है।

क्या आप समझते हैं कि हिन्दी के औसत बुद्धिजीवी ने न मार्क्स को ठीक समझा और न गाँधी को?

मार्क्स और गाँधी को साथ-साथ रखकर देखना वाजिब नहीं है। औपनिवेशिक भारत में मात्र एक गाँधी हैं जो औपनिवेशिक संस्कृति का अतिक्रमण करते हैं। गाँधी संस्कृति के औपनिवेशिक आयाम को सबसे अधिक समझ पाये हैं। उपनिवेशवाद के मूल आधारों पर वे सीधा प्रहार करते हैं और इसके साथ वे सर्वभौम मुक्त मानवीय अस्मिता की स्थापना के लिए एक नयी सांस्कृतिक संरचना का अभियोजन प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत यहां इस दौर की शेष सभी विचारधारात्मक संरचनाएं, भारतीय मार्क्सवादियों समेत, औपनिवेशिक मायाजाल से ग्रस्त हैं, इसलिए उनकी भारतीय मुक्ति के संघर्ष में अनेक स्तरों पर अन्तर्विरोधी भूमिका रही है। औपनिवेशिक सत्ता के प्रति स्वयं मार्क्स के प्रारंभिक पर्यवेक्षणों से भारतीय मार्क्सवादी छुटकारा नहीं पा सके। जबकि मार्क्स ने स्वयं, ऐंगल्स ने और अन्य प्रबुद्ध मार्क्सवादियों ने इस बात को बार-बार स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जहाँ तक गाँधी को पढ़ने-समझने का प्रश्न है, गाँधी पढ़ने समझने का अकादमिक मसला नहीं हैं। कबीर की तरह गाँधी जीवन अनुभव की तीखी धार पर चलने की हिम्मत वालों को आत्मसात होते हैं। गाँधी को समझना और जीना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। औपनिवेशिक संस्कृति की निरन्तरता को बनाये रखे हुए शिक्षण संस्थानों का भारतीय औसत बुद्धिजीवी जब तक औपनिवेशिक संस्कृति की दुभिसंधियों को नहीं खोलता तब तक गाँधी उसकी समझ में नहीं आ सकता। इसके विपरीत भारतीय जन, कबीर की तरह, औपनिवेशिक 'मसि कागद' से सुरक्षित होने के कारण गाँधी के अधिक निकट है, गांधी को अधिक समझता-बूझता है।

निलम्बित सांस्कृतिक रूपांतरण के कारण (जिसके आर्थिक आधार हैं) स्वातन्त्र्योत्तर भारत में औपबनिवेशिक संस्कृति की जड़ें गहरे में मजबूत होती गयी हैं। औपनिवेशिक सत्ता का सांस्कृतिक गठन अब अधिक सशक्त होकर विभाजकत्व मानसिकता को पल्लवित-पोषित कर रहा है। यह दृष्टि भारतीय जनजीवन के हर क्षेत्र में बहुआयामी होकर अन्तर्व्याप्त है। इतना ही नहीं, अब जब पुनः 'ग्लोबेलाइज्ड' उदारीकरण के छद्म में भारत का अर्थ-तन्त्र नये उपनिवेशीकरण का शिकार हो रहा है, हम एक अधिक जटिल आर्थिक दयनीयता की स्थिति में फंस कर 'हाईटेक' की गिरफ्त में अधिक पिछड़े हुए और अपढ़ बने रहने के लिए विवश किये जा रहे हैं। इस नये औपनिवेशिक दोहन का कोई ओर-छोर दिखाई नहीं दे रहा। कभी हम राजनीतिक पार्टियों के बेबुनियाद टूटने-बनने के सिलसिले को मुंह बाये देख रहे हैं, कभी रसातल में जाते हुए संस्थानों को थामने की नाकाम कोशिश पर खीझ रहे हैं, कभी नीतियों की दोहरी-तिहरी परतों पर हैरान हो रहे हैं। क्या इस स्थिति में गाँधी के आत्मानुभव का सत्य हमारा अवाम्बन नहीं हो सकता?

क्या हमारे आधुनिक आलोचक ने भारतीय चिंतन को कम और पाश्चात्य चिंतन को ज्यादा समझने-समझाने की चेष्टा की है?

इस बात पर विचार करने से पहले एक अन्य पहलू पर ध्यान देने की जरूरत है। ब्रिटिश सत्ता के काबिज़ होने के साथ जिस वर्ग का नयी आर्थिक संभावनाओं के साथ उदय हुआ था। उसने अपने संघटित मूलाधार को मजबूत करने के लिए दो स्रोतों से शक्ति प्राप्त की है। जाहिर है कि यह वर्ग औपनिवेशिक रूपांतरण को एक नये जागरण के रूप में देखता। कहा गया कि ब्रिटिश पूर्व भारत अन्धकार युग में था, औपनिवेशिक दखल ने ब्रिटिश पूर्व अन्धकार को तोड़कर भारत को आधुनिक युग में प्रवेश दिलाया है। देखने की बात है कि परम्परा में तार्किक बौद्धों का विपुल साहित्य विद्यमान था, जिसका विश्व कोटि के दार्शनिकों द्वारा निरन्तर अध्ययन किया जाता रहा है। इसके साथ जैसे दार्शनिक थे- पारिणामवादी सांख्य दार्शनिक थे, परमाणुवादी न्याय वैशेषिक दार्शनिक थे। इतना ही नहीं, पूर्व समीमांसकों का शब्द-विचार,

बौद्धों को अपोह सिद्धांत विश्व कोटि की दार्शनिक उपलब्धियां रही हैं। प्राचीन भारत के दार्शनिक संवाद, पाणिनि का व्याकरण, सुश्रुत संहिता, चरकसंहिता आदि औषधि विज्ञान, दशमलव का सिद्धांत, ब्रह्म गुप्त आदि के बीजगणितीय अध्ययन, चाणक्य का अर्थशास्त्र आदि जैसे ढेरों ग्रंथों थका मनन अब तक विश्व के उच्च संस्थानों में किया जाता रहा है। इसके विपरीत यह अद्भुत बात है कि परम्परा से, इस वर्ग की जरूरतों के तहत अपौरुषेय रूप में वेद को और मनु आदि वर्ण समर्थित समाज शास्त्रीय विचारधारा के सामने घुटने टेकने वाले 'वेदांत' का चयन किया गया, और हिन्दू की एक नयी विभाजकत्व धर्म पहचान के प्रयास में वर्ण भेद समर्थित गीता को केन्द्रीय भूमिका प्रदान की गयी।

स्पष्टतया वेदांत का दार्शनिक संघटन पतनोन्मुख सामन्तीय स्थितियों की देन है। 8वीं शताब्दी के शंकराचार्य ने धर्म के आधिकारिक ग्रंथों के रूप में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता के प्रस्थानत्रयी ढांचे में मनु आदि वर्ण-व्यवस्था समर्थित समाजशास्त्रियों के सामने घुटने टेकते हुए वेदांत की दार्शनिक भित्ति तैयार की थी। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी और ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच किसी समय रचित गीता का उल्लेख शंकराचार्य के पहले अन्यत्र सुनने में नहीं आया। ईसा की दूसरी शताब्दी के बादरायण का ब्रह्मसूत्र भी शंकराचार्य से पहले उल्लेखनीय ग्रंथ नहीं है। इसके आसपास गौड़पादाचार्य का माण्डूक्योपनिषद् भाष्य है, जिसमें बौद्ध शून्यवादियों, विज्ञानवादियों के प्रभाव को आत्मसात करते हुए अजातवाद का प्रतिपादन किया गया। शंकराचार्य में यही अजातवाद विवर्तवाद के रूप में प्रस्तुत हुआ है। लक्ष्य किया जा सकता है कि इस जड़ता को तुर्की आक्रमणों के बाद कबीर आदि संतों की निर्गुण भक्ति ने तोड़ा है। उत्तर भारत में तुर्कों के आने से हुए दूरगामी परिवर्तनों के फलस्वरूप भक्ति आंदोलन में निचले तबकों की शमूलियत ने भक्ति पर से वेदांत का खोल उतार कर पुनः पारिभाषित करते हुए भक्ति को नया विचारधारात्मक आलम्बन प्रदान किया। यह एक बड़ा आंदोलन था। जिसमें पहली बार निचले तबकों की, अखिल भारतीय स्तर पर एक विशाल शमूलियत दिखाई दी है। इस आंदोलन को पृष्ठभूमि में धकेल कर ब्रिटिश पूर्व भारत को अन्धकार युग सिद्ध करते हुए ब्रिटिशों को भारत के आधुनिक विकास का जनक सिद्ध किया गया। भौतिक, तकनीकी और दार्शनिक उपलब्धियों को नज़रदांज करते हुए भारत के नाम पर आध्यात्मिक गुरु होने की मोहर ठोंक दी गयी। इस दृष्टि का जनक, औपनिवेशिक रूपांतरण की प्रक्रिया में भरपूर लाभ उठाने वाला एक वर्ग था, जिसके हित ब्रिटिशों के साथ गहरे जुड़े हुए थे। इस वर्ग के अपने दार्शनिक थे, जो एक विशिष्ट विभाजकत्व धर्म की नयी उद्भावना के साथ हिन्दू धर्म को सार्वभौमिक मानकर चल रहे थे। वेदांत को समग्र भारतीय बौद्धिक उपलब्धियों का सारतत्व मान लिया गया। मैकाले की शिक्षा पद्धति में परम्परा में नाम पर मात्र आध्यात्मिकता को ग्रहण किया गया। पाठ्य पुस्तकों में शेष सब भाषा, दर्शन, तकनीक, संस्कृति औपनिवेशिक था। नया शिक्षित व्यक्ति सहज ही मान लेता था कि भारत की आध्यात्मिकता का अर्थ घोर बौद्धिक दयनीयता के सिवा कुछ नहीं है। मान लिया गया कि पश्चिम का बौद्धिक विकास तर्कसम्मत, वैज्ञानिक और आधुनिक है और इसी से भारत का उद्धार हो सकता है। मान लिया गया और कहा जाने लगा कि पश्चिमी ज्ञान भारत को एक वरदान की तरह प्राप्त हुआ है। पश्चिमी ज्ञान की उत्कृष्टता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव इतना गहरा था कि हम भारतवासी अब तक गोरी चमड़ी को, अंग्रेजी भाषा को, अंग्रेजी में लिखे हर कूड़ा-करकट को सिर आंखों पर धारण किये हैं। इससे भारतीय बौद्धिकता कुंठित होकर किसी मौलिक चिंतन में अपना योगदान नहीं दे पा रही। इससे पश्चिमी चिंतन का भी हित नहीं हुआ। यहां की गहरी सूक्ष्म दर्शन प्रणालियों से पश्चिम अब तक केवल सतही तौर पर कुछ ले पाया है, अन्यथा दर्शनों का स्वस्थ सम्पर्क विश्व दर्शन को अधिक गौरवमंडित कर सकता था।

इस समय भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम दूसरे मुल्क नये किस्म का उपनिवेशवाद झेलने को विवश है? युनाइटिड नेशन ने इस अमानवीय कृत्य को रोकने के लिए क्या किया?

युनाइटिड नेशन विश्व बैंक आदि सभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान 'ग्लोबेलाइज्ड' नव-उपनिवेशवाद की सूत्रधार वर्चस्वी शक्तियों की मुट्ठी में हैं। विश्व बैंक उन्हीं के हितों की पूर्ति करता है, इसमें अधिकांश आर्थिक अंशदान भी उन्हीं का है। अन्य देश इससे ऋण लेने वाले देश हैं। ऋण प्राप्त करने की शर्तें बहुत अपमानजनक होती हैं। यहां तक कि ऋण के इस्तेमाल पर भी विश्व बैंक की पूरी निगरानी होती है। ऋण देकर विश्व बैंक के सूत्रधार ऋणी देशों के धुर अन्दरूनी मामलों में पूरा दखल बनाये रखते हैं। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका इतनी है कि वर्चस्वी देशों की व्यापारिक मंडियों में किसी भी शर्त पर शान्ति बनाये रखी जाये। इसी के तहत तय होता है कि किस देश के किस क्षेत्र में किस सीमा तक आतंकवाद बढ़ा दिया जायेगा या दबा दिया जायेगा। पंजाब के आंतकवाद के अवसान का बिल्कुल वही समय है जब भारत उदारीकरण के द्वार खोलने पर राजी हो गया था। बोसनिया आदि में भी यही हुआ है। अमेरिका पुलिसमैन के रूप में तैनात है। विश्व-भर में फैलाये जा रहे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बाज़ारों पर कभी सीधे, कभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों के माध्यम से लगातार चौकसी बनाये रखता है। बाज़ारों की अबाध सुरक्षा के लिए राजनीति, शिक्षा, भाषा, संस्कृति, शोध संस्थानों आदि पर पकड़ बनाये रखने की दुरभिसंधि बड़ी सूक्ष्मता से काम करती रहती है। यहां तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ के कायदे-कानून इस नव-उपनिवेशवाद को वैधता प्रदान करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय वैधता के बल पर वर्चस्वी शक्तियों का दमन-चक्र अबाध गति से चल रहा है।

46, हरबंस नगर, जालंधर

जसवन्त सिंह विरदी

दर्द की दवा

मैंने दूर से ही उसे देखा-

वह बिल्कुल नंग-मलंग था।

उसने केवल एक लंगोटी पहन रखी थी और उसके हाथ में एक लाठी थी...

हाँ, उसने ऐनक भी लगा रखी थी...

संध्या का समय था और वह महात्मा होने का भ्रम पैदा कर रहा था...कैसा आश्चर्य था।

वह बुत नहीं, व्यक्ति था, मगर बहुत मोटा था। शायद ठिगना होने के कारण ही मोटा दिख रहा था। मगर वह मोटा ही था, इसलिए वह महात्मा नहीं हो सकता था। महात्मा तो पतला-सा मगर इस्पात जैसा, दृढ़संकल्प था। उसके तन-मन में लोगों लोगों के लिए दर्द भी था। इसीलिए वह इस देश के आम लोगों की तरह रहता था।

मगर वह मोटा लाठी वाला?

यह कौन था?

उसे निकट से देखने के लिए मेरे मन में उत्सुकता भर गई और मैं रुककर उसे देखने लगा-

'शायद पहचाना हुआ ही हो...'

संध्या थी, इसलिए भ्रम हो रहा था। वैसे भी जो लोग सुबह के समय पहचाने हुए लगते है, संध्या को भूल जाते हैं...

संध्या का समय था और वह चौक में खड़ा बहुत ही रहस्यमय दिख रहा था...

मैं उसकी तरफ बढ़ा तो मैंने देखा कि उसके एक हाथ में भिक्षा पात्र भी था और वह लोगों को कुछ कह भी रहा था...

मैं उससे काफी दूर थां, इसलिए सुन न पाया कि वह क्या कह रहा था...इसलिए और आगे बढ़ गया।

जो लोग उसके भिक्षा पात्र में कुछ सिक्के फेंक देते थे, उन्हें देखकर वह छटपटाने लगता-

'बदतमीज़।'

'क्यों?'

'और क्या?'

'किस कारण..?

'मुझे...?

'तुझे भिक्षा दे रहे हैं और बदले में तू हमें गाली देता है?'

'और क्या करूं?'

'हमारा आभार मान...!'

'नहीं...'

'क्यों....?'

'मैं तो कुछ और...

'वह क्या?'

'तुम नहीं समझ सकते!'

'तू मंगता नहीं...?'

'मंगता ही हूं...'

'फिर?'

'तुम नहीं समझ सकते।'

'क्या?'

'देखो...मेरे मन में...'

और वह लोगों के सामने एक विज्ञापन पट्टिका प्रस्तुत कर देता, जिस पर लिखा हुआ था-

'अपने आप में एक शक्तिशाली संस्था...

लोग पूछते-'कैसी संस्था?'

'चालीस वर्षों से।'

'क्या?'

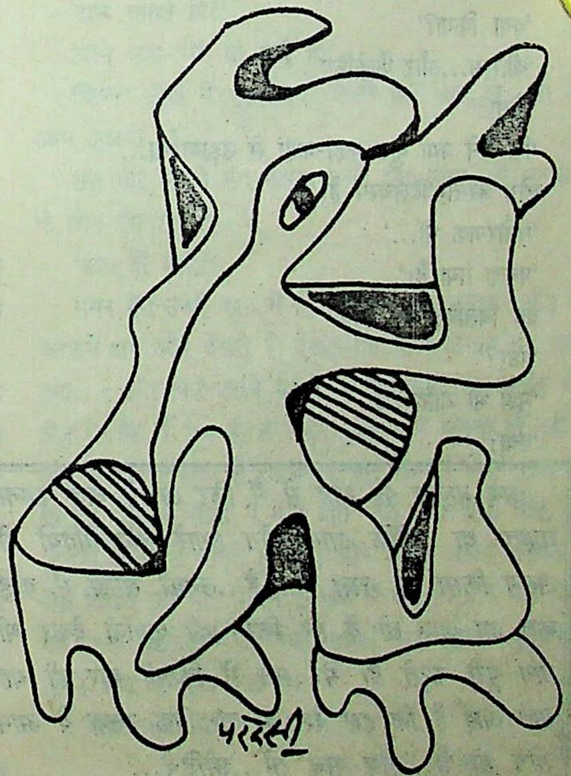
'विनम्र।'

'और?'

'गौरवमय...।'

'फिर?'

'निरन्तर...'



'क्या, संस्था?'

वह छटपटाहट से कहता-'साहित्य का गौरव...कितनी ही संस्थाओं ने...मुझे...'

लोग पूछते-'क्या किया?'

'जनहित में...'

'वस्त्र दे दिये?'

'नहीं'

'तो फिर?'

'संघर्ष।'

'स्वतंत्रता के लिए?'

'तीसरी आजादी के लिए!'

'वह कहां है?'

'अभी दूर है...'

'क्यों?'

'लोग मुझे नहीं समझते।'

'तुम समझते हो?'

'किसे?'

'आज़ादी को?'

'हां, मैं चाहता हूं कि केवल मुझे ही लिखने की...आज़ादी...'

'मगर तू तो नंगा होने जा रहा है!'

'विश्वविद्यालय ने....'

'क्या किया?'

'थीसिस...और फैलोशिप...'

'कैसा?'

'कि मैंने क्या कुछ कहां-कहां से उड़ाया था...'

लोग हंसते-'दिलचस्प है।'

'मनोरंजक भी...'

'पगला गया है।'

वह बिलबिलाया- 'नहीं'

'फिर?'

'मुझे भी चाहिए...।'

'क्या?'

अब बाज़ार की भीड़ में मैं फिर अपनी बात कहना चाहता था क्योंकि आम लोग हमारे बुद्धिजीवियों से अलग किस्म की नस्ल होते हैं...उनकी समझ में कोई बात आ जाए तो वे हर किस्म की कुर्बानी देकर भी मांग पूरी करते हैं। मेरे मन में कितनी बार ही यह बात आई है कि इस देश के वास्तविक रक्षक ये आम लोग ही हैं...शेष सब तो...छोड़िये...

'मैं साहित्य-मार्ग का खामोश यात्री रहा इसलिए...'

'इसलिए क्या?'

'गले में।'

'ढोल...?

लोगों ने पूछा तो वह चुप रहा। लोग जाने लगे तो वह भाषण करने लगा- 'मैंने पुरस्कार लिए, कोठियां बनाई, पहाड़ पर बंगला और राजधानी में फ्लैट...।'

लोग रुक गए-'फिर भी नंग का नंग?'

'मेरे बारे में लिखा गया, समझे।'

'क्या?

'निन्दा प्रचार।'

'कैसा?'

'उपन्यास! और कविताएं...'

'किसने?'

'एक छोकरे ने!'

'क्यों?

'उसने मेरी छवि धूमिल कर दी।'

'मगर अब तो संध्या भी नहीं रही।'

'फिर भी।'

'घर जाओ और वस्त्र पहनो...।'

'मगर मुझे चाहिए...।'

'बेचारा...इसे एक-एक रुपया दो...' कहकर भीड़ के लोग फिर उसे पैसे देने लगे-

'बेचारा...तरस का पात्र है...'

वह फिर बिलबिलाया-'नहीं...मैं नहीं...'

'क्यों?'

'मुझे....नहीं समझे...'

'तू मंगता नहीं?'

'मुझे कुछ और चाहिए...'

'वह क्या?' लोगों ने पूछा तो वह आंखें निकालने लगा-'तुम्हारे पास है?'

लोग भी आंखें निकालने लगे-'क्या चाहते हो', बताओ?'

'तुम नहीं दे सकते...मुझे...'

'क्यों?'

'अनाथ हो।'

'क्या कहा?'

'हांSS'

'लंगोटी उतार देंगे...कमीने।'

'कोई बात नहीं।'

'शर्म न आएगी?'

'कैसी शर्म? 'बाज़ार' में...?'

'तो तुम...?

'चुप रहिए....बकवास मत करिए।'

कुछ लोग उसे पीटना चाहते थे, मगर कुछ और लोगों ने कहा-'यतीम है...मर जाएगा...'

वह चीखने लगा-'नहीं, मेरे फ्लैट हैं, दुकानें हैं, होटल हैं...'

किसी और ने कहा-'बीवी भाग गई होगी।'

वह फिर चिल्लाया-'नहीं भागी।'

'फिर?

'अगले चौक में खड़ी है'

'क्यों?'

'मेरे लिए...केवल मेरे लिए...'

'वह भी कुछ मांगती है?'

'हां ऽऽ'

'क्या?'

'जो मैं मांगता हूं...'

'तू क्या मांगता है?

'तुम्हारे पास नहीं है।'

'क्यों?'

'नहीं है...कह दिया...'

'अच्छा मज़े कर....'

'क्या?'

'मज़े...'

वे लोग भी हँसते हुए आगे बढ़ गए। अब तक चौक और बाज़ार की बत्तियां जलने लगी थीं...

रोशनी को देखकर वह चहकने लगा-'यह मेरा ही प्रकाश है, मगर मैं अन्धेरे में हूं...हाय दुनिया वालो।'

तब तक मैं भी उस लंगोटी वाले के बिल्कुल निकट पहुंच गया था, मगर उसने मुझे पहचानने से इंकार कर दिया तो मुझे आश्चर्य हुआ- 'क्या इसके नेत्र...?'

फिर मेरे मन में आया-'शायद रात के कारण...' मुझे याद आया कि एक गोष्ठी में मुझे उसके बारे में बोलने के लिए कहा गया तो मैंने कहा था-'और सब कुछ ही इसे मिल गया है, बस एक ही कमी खटकती है...'

गोष्ठी में बैठे हुए लोग चिल्लाए थे-'वह क्या है?'

'तमाशबीन।' मेरे मन में आया, मगर उनसे मैंने कहा-'आप दे सकते हैं?'

उन लोगों ने पूछा-'क्या?'

'जो इसे चाहिए...।'

गोष्ठि के लोग गुर्राए थे-'इसे क्या चाहिए?' मगर तब तक वहां इतना शोर मच गया था कि लोग मेरी आवाज़ न सुन पाए...फिर कुछ लोगों ने कुछ कहा तो इतना ही -

'कमीना मज़ाक करता है।'

मैंने पूछा-'कौन?'

'पता नहीं...'

'क्यों?'

'तुम चुप रहो।' की आवाजें कांपने लगीं-

'हम सब कुछ ही दे सकते हैं। हम लोग हैं...'

मगर मैं उठकर बाहर आ गया था, नहीं तो बुद्धिजीवी लोग मुझे पीट देते...वे शब्दों से पीटते हैं...

अब बाज़ार की भीड़ में मैं फिर अपनी बात कहना चाहता था क्योंकि आम लोग हमारे बुद्धिजीवियों से अलग किस्म की नस्ल होते हैं...उनकी समझ में कोई बात आ जाए तो वे हर किस्म की कुर्बानी देकर भी मांग पूरी करते हैं। मेरे मन में कितनी बार ही यह बात आई है कि इस देश के वास्तविक रक्षक ये आम लोग ही हैं...शेष सब तो...छोड़िये...अब रात्रि के अन्धकार में मासूम लोग उस मोटे ठिगने से पूछ रहे थे-

'दरवेश जी, तुम पैसे चाहते हो?'

उसने कहा-'नहीं'

'तुम लेखक हो?'

'हांऽऽ दिखता नहीं?'

'दारू चाहते हो?'

उसने कहा-'मैंने पी रखी है।'

'फिर?' लोगों ने पूछा-'क्या चाहते हो? बता दो, इस देश के आम आदमी को...'

उस मोटे ठिगने नंग-मलंग ने जो कुछ मांगा उसे सुनकर भीड़ के लोग दंग रह गए-

'कहा से लाएँ?'

मगर मैंने उनसे कान में जो कुछ कहा उसे सुनकर भीड़ के लोग चहकने लगे और देखते ही देखते वह मोटा ठिगना नंग प्रसन्न हो गया...। और फिर उसने मुझसे भी कुछ कहा, मगर भीड़ में इतना शोर था कि मैं सुन ही न सका...शायद मैं सुनना ही नहीं चाहता था...बुद्धिजीवी कौन से रहस्यवादी होते हैं। मेरे लिए इतना ही बहुत था कि भीड़ के लोगों ने मेरी बात मान ली क्योंकि भीड़ में से दो आदमी जल्दी से भागते हुए गए और वापस आकर उन्होंने महात्मा जैसे दिखते उस मोटे ठिगने के हाथ में एक लालटेन थमा दी जिससे वह तुरन्त आलोक में आ गया, सबको दिखने लगा...कुछ समय पूर्व उसने भीड़ से यही कहा था-

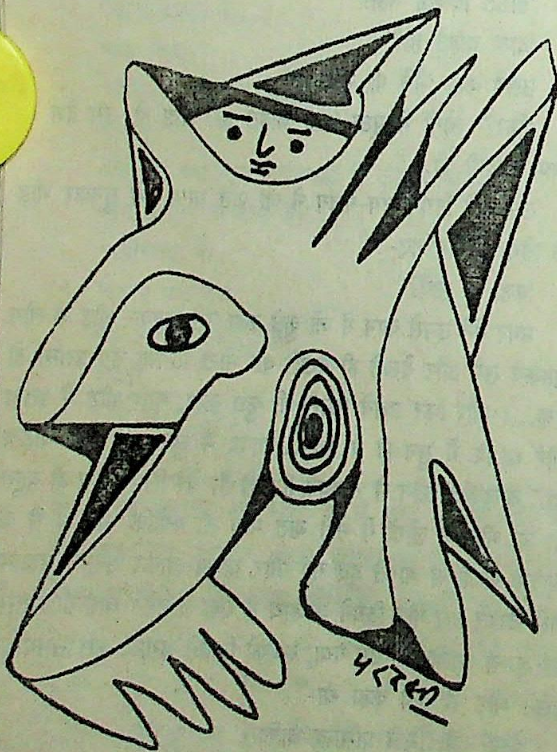
'पैसा नहीं...मुझे प्रसिद्धि चाहिए।'

96, गोल्डन ऐवेन्यू-1, जालन्धर-144022

इंतज़ार हुसैन

दायरा

मुझे जैसे कोई उकसा रहा है कि यह वक़्त है राख को कुरेदने का। इस उकसावे में आकर पचास बरस पहले की राख कुरेदने बैठ जाता हूँ। जुस्तजू के लिए अब वहां क्या रखा है, मगर राख कुरेदने की लत जो हुई। कुछ गर्द आलूद गलियां, कुछ उजले-मैले चेहरे, कुछ आवाज़ें, कोई काही लगी मुंडेर, कोई शिकस्ता बुर्जी, कुछ दरख़्त, कुछ चिड़ियां, बस यही कुछ तसव्वुर में उभरता है। धीरे-धीरे एक नक़्शा निखरकर सामने आता है। एक दुकान का थड़ा, थड़े पर बैठे हँसते-बोलते कुछ लोग, दुकानदार जो कढ़ाव में उबलते दूध को करछे से चलाये जा रहा है। अरे, यह तो मेरी पहली कहानी का मंज़र है। अब याद आई है इस एहसास के साथ कि यह तो बहुत तिश्ना है। बल्कि यह तो वह कहानी है ही नहीं जो मैं लिखनी चाहता था। सबसे बड़ी बात ये है कि इसमें से केन्द्रीय पात्र गायब है। क़यूमा तो उस कहानी का मुख्य पात्र नहीं था। वह तो दूसरा शख़्स था। जाने उस वक़्त कहानी लिखते हुए मैं उसे कैसे भूल गया। अब याद आया है, पचास बरस बाद। बल्कि अब तो उस थड़े पर बैठी हुई वह पूरी टोली, वे सारे पात्र ज़्यादा तफ़्सील से याद आ रहे हैं। उन दिनों तो मेरा हाफ़िज़ा (याददाश्त) काम ही नहीं कर रहा था। हाफ़िज़ा ने बरसों के अमल में अब बर्राक़ी (तीव्रता) से काम करना शुरू किया है। अब कल्पना में दृश्य प्रकाशमान होने शुरू हुए हैं।



तो क्या मुझे अपनी पचास बरस उधर की लिखी हुई कहानी दोबारा लिखनी चाहिए? मगर मुझे कर्ण की कही हुई एक बात याद आ रही है। उस नागिन को जो अश्वसेन नाग की माँ थी अर्जुन ने खांडव वन में मारा था। जब कर्ण अर्जुन पर तीर चलाने लगा तो अश्वसेन ने सोचा यह मौक़ा है बदला लेने का। वह पाताल से सरसराता आया और कर्ण के तीर के गिर्द लिपट गया। मगर कृष्ण जी की एक चाल से अर्जुन का रथ ठीक उसी वक़्त ज़मीन में धंस गया और कर्ण का निशाना चूक गया। अश्वसेन नाग ने कर्ण से विनती की कि मुझे दोबारा तीर में जोड़ और फिर उसे चला। कर्ण ने कहा कि मैं चले हुए तीर को दोबारा चिल्ले में जोड़ने का क़ाइल नहीं। वह निशाना चूक गया तो यह उसकी किस्मत। मैं सोच में पड़ जाता हूं जो कहानी ख़ता हो गयी है उसे दोबारा लिखने की कोशिश करनी चाहिए। हां, करनी चाहिए, कितनी हचर-मचर के बाद मैं तय करता हूं। कर्ण की बात कर्ण के साथ गई। मुझे उस कहानी को दोबारा लिखने की कोशिश करनी चाहिए।

नहीं, यह कहानी तुम्हारे हाथ से निकल चुकी है। अब इसे कोई दूसरा ही लिखेगा।

मैं सुनता हूं और शशोपंज में पड़ जाता हूं। आवाज़ कहां से आई, किसी तरफ से भी आई हो, अंदर से या कहानी के पात्रों के बीच से, कोई हर्ज नहीं। कोई दूसरा भी लिखे। मगर यह कहानी एक बार फिर लिखी जानी चाहिए। मगर कौन दूसरा लिखेगा। वैसे तो कोई भी दूसरा हो सकता है। आख़िर वहां अकेला मैं ही तो नहीं था। कितने बहुत से थे। अगरचे सभी निकल खड़े हुए थे। सिवा उस शख़्स के। बहरहाल वह दूसरा कौन होगा। वह दूसरा मैं ही हूं।

अब मैं इस कहानी को लिखूंगा। हां मैं...वैसे तो मैं उन्हीं में से हूं जो निकल खड़े हुए थे मगर बाकियों ने नये दयार में पहुंचकर अपने ठिकाने बना लिए। बस मुझे क़रार मयस्सर नहीं आया। कभी कभी तो वहम में पड़ जाता हूं कि वहां से निकला भी हूं या नहीं। गोया सूरत ये है कि वह शख़्स उधर रह गया, बाकी इधर आ गये। मैं जैसे न वहां न यहां। एक बेक़रार रूह। ख़ैर मुझे अपनी कहानी तो नहीं सुनानी। कहानी उस शख़्स की सुनानी है जो उस कहानी का मुख्य पात्र है।

कहानी सुनाने से पहले मुझे उस बस्ती का नक़्शा आपको समझाना होगा। मगर इस सिलसिले में यह याद रखने की ज़रूरत है कि बस्तियां ख़ाली जुग़राफ़िया नहीं होतीं और महज़ ज़मीन पर आबाद नहीं होतीं। आधी ज़मीन पर होती हैं, आधी दिलो दिमाग

में बसी होती हैं। इसीलिए उसका जुग़राफ़ियाई नाम बताने का कोई फ़ायदा नहीं है। जैसी वह ज़मीन पर आबाद है वह भी है और इसके सिवा भी बहुत कुछ है। मैंने उसके इतने रूप देखे हैं कि उसे रूप नगर कहने लगा हूं। क्या नगर था, मेरा मतलब है कि है। बज़ाहिर आम सी बस्ती। वैसी ही बेरंगी जो छोटी बस्तियों का मुकद्दर है। पंसारियों वाले बाज़ार में कितनी भीड़ होती थी और फ़ज़ा में हींग की बू बसी रहती थी। हींग, हलदी, मिर्च, नमक उनकी बोरियां भरी दुकानों में रखी रहती थीं। वैसे मिलने को यहां क्या नहीं मिलता था। जब हमारे घर में किसी आए-गए के लिए पुलाव और कोरमा पकता था तो इलायची, जावित्री, जायफल, तेजपात, ज़ाफ़रान सब चीजें में यहीं से छोटी-बड़ी पुड़ियों में बंधवाकर ले जाता था। इससे ज्यादा भीड़ मंडी में होती थी जहां कपास के ढेर लगे होते थे और गेहूं से भरी गाड़ियां और गुड़ की भेलियां। गाहकों की भीड़ इलाही तौबा। गाहकों से ज़्यादा गुड़सिलें। उन्हीं में रुली-मिली गौरय्या चिड़ियां और जंगली कबूतर। इक्का-दुक्का फ़ाख़्ता। यहां से ज्यादा भीड़ तो बस पैंठ ही में दिखाई देती थी। पैंठ तालाब के बराबर वाले मैदान में लगती थी। पैंठ में गंवरोल दिल बहुत होती थी। मिट्टी भी उतनी ही उड़ती थी। शाम होते-होते मूली, शलजम, गोभी, बंदगोभी, काशीफल, पालक, मेथी, बथुआ, गंदल, कुलफा, साग, आलू, रतालू, कमरख, लोकाट, सींदे, फूट, सब ही पर गर्द की तह जम जाती थी।

वैसे तालाब में पानी तो बस बरसात के दिनों में ही उमंडता था। कितना बड़ा और कितना गहरा तालाब था, और चारों तरफ सीढ़ियां ही सीढ़ियां। लगता था कि समुन्दर उमंड आया है। मगर बरसात के बाद पानी मटियाले से सब्ज़ होता चला जाता। खुश्क होते-होते सबसे निचली सीढ़ी तक रह जाता, फिर धीरे-धीरे वह भी खुश्क हो जाता। बस फिर वहां ख़ाक ही उड़ती थी। यह तालाब ख़ुश्की के दिनों में तो बस अपने दो बजारों ही से पहचाना जाता था। एक पीलपन सफेद, दूसरा काला। दोनों किस वक़ार से चुपचाप खड़े रहते। एक तालाब के दायें तरफ, दूसरा उसके सामने बायें सिम्त। सफेद बजार ज़्यादा चुस्त था। किसी भी वक़्त दड़ोकना शुरू कर देता। फिर उसी कैफ़ियत में दड़ोकता फुंकारता बाज़ार की तरफ़ चल पड़ता। क्या रौब-दाब था कि भीड़ काही की तरह फट जाती और वह अपने हाल में मस्त गुज़रा चला जाता। कभी-कभी काले बजार को भी झुरझुरी आती। वह अपनी शान से दड़ोकता, फुंकारता, तालाब से चलता और अपनी खाल में मस्त पंसारी बाज़ार से मंडी की तरफ, मंडी से छोटी बज़रिया की तरफ बढ़ता चला जाता। छोटी बज़रिया पे याद आया कि यहां एक बार दोनों बजारों का आमना-सामना हो गया था। बस कयामत ही तो आ गई। देर तक सींग से सींग फंसे रहे। सफेद काले को कितनी दूर तक ढकेलता ले गया। मगर फिर काले ने जो एक बार उसे धकेला है तो बस ये समझो कि मिट्ठन लाल हलवाई की सारी थालें औंध गईं।

मिट्ठन लाल की क्या बात थी। गुझिया तो ऐसी बनाता था कि मथुरा और बदायूं के पेड़ों वाले आकर उसके हाथ चूमते थे। दीवाली की रात उसकी दूकान की क्या शान होती थी। नीचे से लेकर ऊपर छत तक मिठाइयों की थालें कतार अंदर कतार चुनी नज़र आती थीं और गुझियों से तंगिनी तक कौन सी मिठाई थी कि नहीं होती थी।

क़यूमा की दूकान पर क्या मिलता था-ख़ाली पेड़े। और वह ऐसे तो नहीं होते थे कि मिट्ठन लाल की गुझियों और पेड़ों का मुकाबला कर सकें। वैसे भी यह कोई बाजार थोड़ा ही था। हाफ़िज़ जी की चौपाल के सामने यह इकलौती दुकान थी। सो यहां कोई भीड़-भड़क्का था ही नहीं। हां छड़े छमाहे और कुछ मौसमों में हफ्ते दस दिन में एक शोर उठता- राम नाम सत्य है, राम नाम सत्य है- और एक अर्थी तेज़ी से गुज़री चली जाती। उसके थोड़ी देर बाद हिंदनियों की सोगवार टोली ईंधन संभाले बैन करती गुज़रती दिखाई देती। वैसे तो यह मुसलमानों का मुहल्ला था लेकिन क्या किया जाता, मजबूरी थी। चामुंडा को रास्ता इसी तरफ़ से जाता था। बाकी हिन्दुओं का कोई जलूस कोई बरात इस तरफ का रुख़ नहीं करती थी। वे सारी बरातें जिनके आगे-आगे पतंगिया कागज़ और पन्नी से बने सजे दो बड़े घड़े घोड़े होते थे इस गली के नुक्कड़ तक आकर उल्टे हाथ को लाल मंदिर वाली गली में मुड़ जाती थीं। रामचन्द्र जी की बरात भी उसी गली में मुड़ जाती थी। सो क़यूमा की दुकान पर बैठने वालों को उस लाल-पीले चारखाने से सजे मस्तक वाले हाथी को देखने के लिए जिसके हौदे में राजा रामचन्द्र जी और सीता जी दुल्हा-दुल्हन बने बैठे होते थे, दुकान के थड़े से उठकर उस गली के नुक्कड़ पर आना पड़ता था। होली खेलने वाली टोलियों का भी रास्ता इसी तरह था। इससे ज़्यादा धूम से रामचन्द्र जी की बरात निकलती थी। उससे बड़ा जलूस तो यहां से एक ही निकला था। वह उस वक़्त जब मास्टर प्यारे लाल ने गिरफ्तारी दी थी। इतना मज्मा था और इतने गुस्से में था कि थाने पर वे हल्ला बोल देते तो सिपाहियों की तिक्का बोटी कर देते। वैसे बंदूकें सिपाहियों ने भी तान लीं थीं। मगर मास्टर प्यारे लाल थाने में दाखिल होते हुए रुके। ऊंची आवाज़ से कहा कि सज्जनो, महात्मा गांधी की शिक्षा को मत भूलो। हम आंदोलन की बात नहीं करते, अहिंसा का प्रचार करते हैं। यही गांधी जी की शिक्षा है। यही हमारा नियम है और इसी में हमारी सारी जनता की सफलता है। महात्मा गांधी की...पूरा मज्मा चिल्लाया- जय। फिर इंकलाब ज़िंदाबाद और महात्मा गांधी की जय के नारे लगने लगे। मास्टर प्यारे लाल

ने हाथ जोड़कर सबको प्रणाम किया और थाने के अंदर चले गये। फौरन ही लोहे की सलाखों वाला वह ऊंचा चौड़ा फाटक बंद हो गया। उस बस्ती की तारीख में बजारों की लड़ाई के बाद यह दूसरा बड़ा वाक़या था।

क़यूमा की दुकान के सामने से तो बस एक ही जलूस गुज़रता था। और वह भी कौन-सा बड़ा जलूस होता था। शाह मदार की छड़ियों का जलूस। छड़ियां कहां होती थीं। बस एक बहुत ऊंची छड़ जितना ऊंचा बड़ा अलम होता था। साथ में ढोल और ताशे बजते होते। एक दर्वेश सूरत शख्स-लम्बी ज़ुल्फें, बर में सब्ज़ लबादा, गले में कुलावा, शाह मदार का मुजाविर, फारूक़ चाचा के फाटक के पास छड़ गाड़ देता। ढोल और ताशे खूब ज़ोर से बजते। फिर कोई सख़ी (दानी) आकर मलीदा बांटना शुरू कर देता।

ऐ लो, बड़े जलूस को तो मैं भूला ही जा रहा हूँ। जुल्जनाह का जलूस भी तो उसी रास्ते से गुज़रता था। असल में कर्बला का रास्ता भी तो उसी तरफ से जाता था। सीधे चले जाओ तो चामुण्डा पे जा निकलेंगे। बायें मुड़ जाओ तो थोड़ी दूर जाकर कर्बला की काही जमी बुर्जियां दिखा देने लगेंगी। मगर कर्बला का ज़िक्र फिलहाल जाने दो। उस तरफ गया तो फिर वापस नहीं आऊंगा। चामुण्डा की तरफ चलने में कोई हर्ज नहीं है। उसके आसपास तो मैं बहुत घूमा-फिरा हूं। तपती दोपरियों में यां से लेकर पुलिया तक बहुत खाक उड़ाई है। जब गर्मी से बुरा हाल हो जाता और धूप में चलना दूभर हो जाता तो चामुंडा की छत पे जा बैठते जिसपे एक पुराने घने पीपल ने साया किया हुआ था। ले-दे के यही तो यां पे घनी छांव वाला दरख़्त था। बाक़ी दूर तक न कोई बरगद, न कोई अमरइया, न इमली, उजाड़-सी जगह थी। चामुण्डा ने इसे और उजाड़ बना दिया था। लगता था कि गुज़रे ज़मानों में कोई बड़ा मंदिर होगा। मगर ज़माना सारे मंदिर को चाट गया। बस काही लगी चंद दीवारें और एक छत रह गयी थी। छत तले रखी हुई एक मूर्ति जिसके चरणों में हमने तो कभी ताज़ा फूल देखे नहीं। उसके पिछवाड़े मरघट भी वीरान सुनसान दिखाई पड़ता था। जाने अर्थी कब आती थी और कब चिता जलती थी। तो आदमी तो यां कम अज़ कम इन सन्नाहटी तपती दोपहरों में मुश्किल ही से दिखाई देता था। हां, चामुण्डा की छत पे पीपल की छांव तले बैठे दूर दगड़े के उस पार पीली मिट्टी के टीलों के बीच कुछ मज़दूर फावड़ों से मिट्टी खोदते और गधों पर लादते दिखाई देते। वहां से ऐसा लगता कि जैसे वह कोई दूसरी ही दुनिया है। चामुण्डा के आसपास तो आदमी की सूरत ही दिखाई नहीं देती थी। बस हम होते थे और पीपल की शाखों पर कूदते बंदर। फिर भी हमें डर नहीं लगता था। डर तो रात को उस वक़्त लगता था जब चामुण्डा की तरफ से गीदड़ों की आवाज़ें सुनाई देती थीं। रात के सन्नाटे में ये आवाज़ें इस तरह आतीं कि अपने पलंग पे लेटे-लेटे मेरा दिल धड़-धड़ करने लगता। मुझ ऐसा लगता कि जैसे दूर-दूर के जंगलों से निकलकर सारे गीदड़ चामुण्डा के पास जमा हो गए हैं और हमारे घर की तरफ मुंह करके चिल्ला रहे हैं।

दिन में तो बस एक ही बार मुझे डर लगा था। मगर मैं अकेला थोड़ा ही डरा था। पूरी टोली थी। सन्नाटे दोपहर में हम चामुण्डा से निकल कर दगड़े-दगड़े जा रहे थे कि शद्दू अचानक हैरत भरी आवाज में बोला, "औरत!"

'औरत,' हम सब ठिठक कर खड़े हो गए, 'कहां?'

'वह जा रही है।'

हमसे अच्छे खासे फासले पर दगड़े से हटकर एक औरत चली जा रही थी। मद्धिम सुर्ख रंग का घघरा, उसी रंग की चोली, नाक में बुलाक़, कानों में बड़े-बड़े बाले।

'अबे उल्लू के पठ्ठो, यह औरत नहीं है।'

'फिर कौन है।'

'उसके पैर देख लो। पता चल जाएगा।'

फिर जो हमने देखा तो औरत ग़ायब।

'यार, वह गई किधर?'

ठीक उसी वक्त आसमान पर मंडलाती एक चील कुरलाई। अजीब आवाज़ थी कि फ़ज़ा में एक ख़राश सी पड़ती चली गई।

'अबे भागो।'

और हम भाग खड़े हुए। चील की कुरलाहट ने दूर तक हमारा पीछा किया।

मगर मैं सारा विस्तार अतीत के संदर्भ में क्यों बयान कर रहा हूं। वह नक्शा तो जूं का तूं है। अभी पिछले दिनों ही तो मैंने वहां का फेरा लगाया था। भला मैंने पिछला ख़्वाब कब देखा था। उस ख़्वाब में वहां का नक़्शा जूं का तूं था, बल्कि पहले से ज़्यादा रौशन था। या मुझे लगा। तफ़सील से तो मैंने उस सारे नक़्शे को अब देखा है। पता चला कि चीज़ें अपना आप असल में तो ख़्वाब ही में दिखाती हैं। दरो-दीवार, गलियां-कूचे, पेड़-पौधे, ज़मीन-आसमान, एक बार आंखों से ओझल होने के बाद जब ख़्वाब में आकर आपको पुकारते हैं तो फिर वह अपना पूरा दर्शन कराते हैं। एक ख़्वाब, फिर दूसरा ख़्वाब, फिर तीसरा और चौथा। कितने ख़्वाबों में जाकर बस्ती निखरकर सामने आई है और पूरे दर्शन हुए हैं।

पूरे दर्शन। मैं गलत कह गया। वह अभी कहां हुए हैं; क्योंकि कर्बला तक तो मैं अभी पहुंचा ही नहीं हूं। मैं किस शौक़ से उस तरफ जाता हूं। फिर पता नहीं रस्ते में क्या हो जाता है और फ़ौरन ही आंख खुल जाती है। कर्बला के बिना तो यह सारा नक़्शा नामुकम्मल है। वह ही तो उस बस्ती के दाख़िल-ख़ारिज का नुक्तए उरूज (शिखर बिन्दु) था। वहीं जाकर यह पूरा नक़्शा सम्पूर्णता को

पहुंचता था। हमारे भी सफ़रे शौक़ की आख़िरी मंज़िल तो वही थी। लम्बी-सन्नाटी दोपहर जो किसी तरह ख़त्म होने ही में न आती थी। जब गली-गली की ख़ाक छान डालते और चामुण्डा से चलकर पुलिया तक जाकर वापस होने लगते तो हममें से कोई अचानक बोल उठता, 'यार कर्बला चलें,' और जैसे वह सबके दिलों की आवाज़ होती। हमारे क़दम फौरन ही उस तरफ़ उठ जाते। चामुंडा से चले पुराने किले की तरफ़। पुराने किले के टीले के बराबर से निकले तो लीजिए शेख मद्दू के खेत आ गये। रहट चल रही है। उससे आगे लाल इमली। लाल इमली से आगे बबुआ पहलवान का अखाड़ा। बबुआ पहलवान के अखाड़े से आगे बेरियां। बेरियों से आगे गोरे की कब्र। गोरे की कब्र से आगे संभली वालों का बाग। बस बाग से निकले तो फिर सामने कर्बला है। एक लम्बी-चौड़ी चारदीवारी। उसके बीच एक उजड़ा-उजड़ा सा मौसम। एक गोशे में दो गहरे गड्ढे। एक गड्ढे में शीयों के ताज़िए दफन होते थे। दूसरे गड्ढे में सुन्नियों के ताज़िए। दरवाज़ा उसका कितना ऊंचा और बावकार था। सलाखों वाला फाटक। दायें-बायें दो ऊंचे मोटे सतून। सतून पर काइम दो बुर्जियां जो बरसात और आंधियों की मार खा-खा के काली पड़ गई थीं जैसे धातु की हों और और उन पर ज़ंग जम गई हो। फाटक तो मुहर्रम के दिनों के सिवा कभी-कभार ही खुलता था। बाक़ी तो उसमें मोटा ताला पड़ा रहता था। बस सलाखों के बीच से भरी दुपहरी में जब हम उस धूप से तपते उजड़े मौसम को देखते तो वह सचमुच कर्बला का मैदान दिखाई पड़ता था। लू भी तो वां पे ऐसी चलती थी जैसे कर्बला की लू हो। वह तो यह कहिए कि फाटक के सामने वाले चबूतरे के उस तरफ भोलू की कुटिया थी जिसके कच्चे अहाते में केथों के पेड़ तले पानी से भरा मटका रखा रहता था। छड़ में बंधे नारियल के तूंबे से पानी निकाल-निकालकर ओक से पिया और फिर आसूदा होकर चबूतरे पर आ बैठे। चबूतरे के बीचोबीच जो पीपल था वह बहुत ही घना था। चबूतरे पर मुस्तक़िल छांव रहती थी। बाकी इमली के पेड़ तो सारे के सारे कर्बला के बायीं हाथ वाली दीवार के बराबर में थे। कितने ऊंचे पेड़ थे और कितने घने। इतनी कटारें झड़ती थीं कि समेटे नहीं सिमटती थीं। कर्बला की दीवार से लेकर हाथी की क़ब्र तक इमलियां ही इमलियां। खूनी इमली तो बस एक थी जो हाथी की क़ब्र के बराबर खड़ी थी। उसकी कटार दांतों से चबाते तो सचमुच लगता कि उसमें से खून निकल रहा है। मैं न कहता था कि कर्बला की तरफ निकल गया तो फिर वापस नहीं आ सकूंगा, जगह ही ऐसी है। लेकिन उसके मुताल्लिक़ अब कुछ नहीं कह सकता। इसलिए कि उस जगह को तो मैंने पिछले पचास बरस से देखा ही नहीं है। बहुत आगे गया तो बबुआ के अखाड़े तक पहुंच जाता हूं। खुश होता हूं कि लो बस आ गई कर्बला। संभली वालों के बाग से निकलूंगा और कर्बला जा पहुंचूंगा। मगर फ़ौरन ही आंख खुल जाती है। हां, एक बार तो मैं संभली वालों के बाग़ तक भी पहुंच गया था। शेख़ मदद अली संभली की क़ब्र कैसी महक रही थी। सिरहाने खड़े हरसिंगार से इतने फूल गिरे थे कि क़ब्र पे हर सिंगार का बिस्तर बिछ गया था। शेख़ मरहूम क्या पुरसोज़ आवाज़ में सोजख़्वानी करते थे कि पत्थर दिल वाले भी तर-बतर रूमाल के साथ मजलिस से रुख़्सत होते थे। उनके इमाम बाड़े में सबसे ज़्यादा रिक्क़त (रोना) आठ की शब को होती थी। जब आधी रात गुज़र जाती तो बड़े अलम की मजिलस शुरू होती और शेख साब दर्द भरी आवाज़ में शुरू होते-

जब क़स्द किया नहर का सिक्क़ाए हरम ने।

पहले ही मिस्रे पर रोना-धोना शुरू हो जाता और जब अलम निकलता तो कैसी पिट्टस पड़ती थी। बाहर ताशों की आवाज़, अंदर मातम का शोर, इमामबाड़े के दरोदीवार हिल जाते थे। मातमी ग़श खा-खाकर गिरते और मुस्तैद रज़ाकार हर ग़श खाने वाले को डंडा डोली करके बाहर ले जाते और तख़्त पर लिटाकर गुलाब पाश से इतना गुलाब छिड़कते कि चेहरा, गर्दन, सीना सब महकते अर्क से तरबतर हो जाते। मगर इधर सुबह की अज़ान कान में पड़ी और उधर ताशे वालों ने आख़िरी क़मची लगाकर ताशे गले से उतारे। मातमियों ने मातम बंद किया, बड़ा अलम अपने चमकते लचकते पंजे और सुर्ख़ छींटों से आलूदा पटके के साथ अलमों की कोठरी में वापस जाकर नज़रों से ओझल हुआ। रोने का शोर धीमा पड़ते-पड़ते सिसकियों में बदल जाता और फिर फौरन ही शीरमाल बंटने शुरू हो जाते। बड़े अलम की मज्लिस में शीरमाल का तबर्रक (प्रसाद) बंटता था। झुटपुटे में शीरमाल लेकर मैं घर की तरफ चलता। घर पहुंचते-पहुंचते अच्छा-ख़ासा उजाला हो जाता था।

तारीख़ में भी तो कभी-कभी झुटपुटे का वक़्त आता है। उस बरस का मुहर्रम ऐसे ही वक़्त में आया था। शेख़ मदद अली संभली की ज़िंदगी का तो वह आख़िरी मुहर्रम था। बेटे ने पहले ही बता दिया था कि यहां रहने का धर्म नहीं रहा। बस मुहर्रम के बाद निकल लेंगे। चांद रात की मज्लिस में शेख़ साहब ने अपनी रिवायत मुताबिक वही सोज़ शुरू किया-

जब कूच की शब क़ब्र बनी पे गये शब्बीर

मगर पहले ही मिस्रे पर उन पर ऐसी रक़्क़त तारी हुई कि दूसरे मिस्रे की नौबत ही नहीं आई। बाक़ी मर्सियाबाज़ों ने पूरा किया। फिर आठ की शब बड़े अलम की मज्लिस में भी वह रिवायती सोज़ जो शेख साहब पढ़ा करते थे उनके बाजुओं ही ने पढ़ा। शेख़ साहब पलंग पे ऐसे पड़े कि फिर उठे नहीं। हफ्तों में चटपट हो गए। संभली घराना अपने बुज़ुर्ग को उस मिट्टी में दफ़न करने के बाद उस नगर से निकला।

लो मैं किधर से किधर निकल गया। कह मैं ये रहा था कि उस बार मैं संभली वालों के बाग़ तक पहुंच गया था इससे पहले तो मैं वहीं कहीं क़यूमा की दूकान के आसपास किसी गली में भटकता रह जाता था और आंख खुल जाती थी। उन गलियों ने मुझे बहुत ख़राब किया। उनमें भटकते हुए बहुत वक़्त निकल जाता था। एक बार बहुत बुरा हुआ। मैं रास्ता भूल गया। एक गली से निकलूं तो दूसरी गली में जा निकलूं। दूसरी गली से बाहर आऊं तो तीसरी गली। या अल्लाह मैं किस झमेले में फंस गया। ये तो गलियों का जाल है। हमारे नगर में इतनी गलियां तो नहीं थीं। तो मैं किसी और नगर में आ निकला हूं। मगर नहीं, लगता तो अपना ही नगर है। मगर ये गलियां। ये इतनी बहुत-सी गलियां कहां से आ गईं। अरे कहीं मैं क़ाज़ी ख़ील में तो नहीं निकल आया। अच्छा, अगर यह क़ाज़ी ख़ील है तो शा विलायत किधर है। मैंने बहुत ढूंढा, शा विलायत कहीं दिखाई ही नहीं दी। नहीं, तो फिर ये क़ाजी ख़ील नहीं है। तो फिर हिन्दूवाड़ा होगा। हिन्दूवाड़े में बहुत पतली गलियां थीं। मगर वहां तो हर घर के दरवाज़े के बराबर चूने वाली दीवार पे गेरू से हनुमान जी की तस्वीर बनी हुई थी। फिर एक चौक आता था जहां बीच में लाल पत्थर वाला कुआं था। उधर से आगे बढ़ो तो गली ख़त्म। वहां से पैंठ वाली सड़क पे आ जाते थे। सामने तालाब दिखाई देता थ। ये नहीं तो फिर ये हिन्दूवाड़ा नहीं है। मैं कितनी देर भटकता फिरा। परेशान कि मुझे तो कर्बला पहुंचना है। गलियों में कब तक भटकता फिरूंगा। आगे बढ़ा तो रास्ता बंद। अरे ये तो अंधी गली है। अंधी गली? हमारे मुहल्ले में तो कोई अंधी गली नहीं थी। मैं तो जानूं कि पूरे नगर ही में नहीं थी। बहुत परेशान हुआ कि मैं तो अंधी गली में आकर फंस गया। कैसे निकलूंगा? कैसे कर्बला पहुंचूंगा? फिर क्या देखूं कि अंधी गली ग़ायब। पटपड़ी मैदान-ख़ाली सुनसान-आदमी न आदमज़ाद। या अल्लाह यह कौन सी जगह है। एक गंवार सर पे घास का गट्ठर लिए गुज़र रहा था। मैंने बढ़कर पूछा, 'मुकद्दम, कर्बला किधर है?'

'कर्बला? अच्छा, जहां मुस्लिम अपने ताज़िए ले के जावे हैं।'

'हां, हां, वही जगह।'

'लाला, किसी मुसले से पूछो। वैसे यो जगह तो रावण की पटपड़ी है।'

रावण की पटपड़ी? मगर वहां तो इमली का एक बहुत ऊंचा पेड़ था। वह कहां गया? सन्नाटे दोपहरों में घूमते-फिरते हम उधर जाते भी तो बस धर्मशाला तक जाकर रुक जाते। रावण की पटपड़ी को दूर से देखते कि एक सुनसान वीरान मैदान है- न घास, न पौधे, न झाड़ी। बस दरख़्त भी एक। मैदान के बीचोबीच किस तरह खड़ा था कि लगता था कि रावण खड़ा है। हां, तो मेरा दिल धड़धड़ करने लगता है। फ़ौरन ही यहां से पलट पड़ता हूं। अरे, यह तो क़यूमा की दुकान आ गई। लो रास्ता मिल गया। यहां से सीधा जाने के बजाय बायें को मुड़ जाऊं तो पहले घोसियों की गली आएगी फिर टूटा मक़बरा फिर पुराने क़िले वाला टीला...अरे, मगर घोसियों वाली गली कहां गई/ घोसी कहां गए। मैं हैरान होता हूं। इसी हंगाम आंख खुल गई।

फिर जैसे वहीं पहुंचा हुआ हूं। फिर हैरान होता हूं। हां, यह तो अक्कू का अड्डा था। और इस्माईल जूते वाले की दुकान। फ़र्मों पर कितने बहुत-से जूते चढ़े रखे रहते थे और उसके हाथ में रांपी हर वक़्त चलती रहती थी। काले और बादामी चमड़े की चमकीली कतरनें आसपास पड़ी रहतीं। कहां गई वह दुकान? सपेरा बंद पिटारी सामने रखे बीन बजाए चला जा रहा है। लोग बच्चे-बड़े घेरा बनाकर खड़े हो गए हैं। मैं भी उनमें रुलमिलकर खड़ा हो जाता हूं। आख़िर पिटारी खुलती है। दो काले भंवर सांप फन फैलाकर झूमने लगते हैं। सूई जैसी पतली ज़बानें किस तेज़ी से बाहर निकलती हैं। ये तो मेरी तरफ बढ़ रही हैं और फन फैलते बुलंद होते चले जा रहे हैं। कितने बुलंद होंगे? ख़ौफ़ से मैं सिमटता चला जाता हूं। अचानक मेरी नज़र सामने उस मैले-कुचैले लड़के पर पड़ती है जो सांपों को देखने के बजाय मुझे घूर रहा है। मैं सिटपिटाकर इधर-उधर देखता हूं और वहां से चुपके से खिसक लेता हूं। और अचानक मुझे ख़याल आता है कि मेरे पास पासपोर्ट तो है ही नहीं। पासपोर्ट के बग़ैर मैं यहां घूम रहा हूं। बस एक ख़ौफ़ मुझे आ लेता है और अब मुझे उस लड़के से जो मुझे घूर रहा था, ज़्यादा डर लगने लगता है। क्या उसने मुझे पहचान लिया था? मेरा दिल धड़धड़ करने लगता है। मेरे क़दम ज़्यादा तेज़ी से उठते हैं। उसने मुझे खिसकते हुए देखा था या नहीं देखा थ। वही मेरा पीछा न कर रहा हो। चाल और ज़्यादा तेज़ हो जाती है। गली से मुड़कर दूसरी गली में सटक लेता हूं। दूसरी गली से तीसरी गली में। सन्नाटा। आदमी न आदमज़ाद। दो गीदड़ पीपल के पास चुपचाप खड़े मुझे ताक रहे हैं। पांव सौ-सौ मन के हो जाते हैं। बस आंख खुल जाती है। अच्छा ही हुआ आंख खुल गई। पता नहीं आगे चलकर क्या कुछ होना था। बस मैं बच गया। क्योंकि वीज़ा और पासपोर्ट किस्म की कोई शय तो वाक़ई मेरे पास नहीं थी। मेरा तो रूप नगर पर एक ही हवाले से हक़ है, कम से कम मेरी अपनी जानकारी में। ये कि मैं वहीं की मिट्टी हूं। वहां मेरी नाल गड़ी है। मगर नाल गड़े होने से क्या होता है। और अगर आप अपने नगर की मिट्टी हैं तो हुआ करें। असल चीज़ तो वीज़ा है। वीज़ा के बग़ैर तो नगर से निकला हुआ आदमी ख़्वाब में भी इस नगर में दाखिल नहीं हो सकता। तो अच्छा ही हुआ कि मेरी आंख खुल गई। बस यह एक ख़्वाब था कि आंख खुल जाने पर मैंने इत्मिनान का सांस लिया था। बाक़ी तो हमेशा ही अफ़सोस हुआ कि कमबख़्त आंख

क्यों खुल गई। सोया हुआ ही पड़ा रहता तो अच्छा था। बेशक दोस्तों की पनाह की नींद से लम्बी नींद हो जाती। कौन सा मैं इदारा वतनी का दुःख झेल रहा था। अपने ही नगर की गलियों में भटक रहा था न। भटकता रहता। अच्छा ही था। इसी तरह तो ख़्वाबों में आवारागर्दी करके मैंने अपने नगर को जाना है। वर्ना जितना मैंने वहां रहते हुए जागती आंखों से देखकर उस बस्ती को जाना था वह तो न जानने के बराबर था। जागती आंखों से आख़िर हमें कितना नज़र आता है। चीज़ें तो अपना आप ख़्वाब में दिखाती हैं। इसलिए तो मैं कह रहा था कि वह जो 'क़यूमा की दुकान' नाम की कहानी जिस किसी ने लिखी थी, बहुत तश्ना थी। वह कहानी तो मुझे लिखनी है और अब लिखनी है जब मैं पचास बरस तक उस बस्ती को ख्वाबों में खूब खूंद चुका हूं।

पचास बरस थोड़े तो नहीं होते। मेरा मतलब है पचास बरस के ख़्वाब इतने हैं कि अब तो उनकी गिनती भी मुश्किल है। उस एक ख़्वाब को छोड़कर जिसमें मेरे पास पासपोर्ट नहीं था। हर ख़्वाब ऐसा कि बस उसे देखते रहिए। जब भी आंख खुली अफ़सोस ही हुआ कि आंख आख़िर क्यों खुल गई। जागने पर तो अज़ाब ही झेलने पड़ते हैं, सोए रहने में बहुत आफ़ियत है। तो जब भी आंख खुलती अफ़सोस होता और खुशी भी होती। खुशी ये सोचकर होती कि एक रात की नींद में कितना कुछ मिल गया, जैसे गोद भर गई हो। फिर अफसोस होता कि क्या कुछ मिलते-मिलते रह गया। एक सुबह तो जागने पर मैं बहुत ही तिलमिलाया। जिस रात मैंने बेला को देखा था, जैसे मैं अपने घर गया हूं। खुला पड़ा था। खाली ढंडार। अरे, यां पे तो कोई नहीं है-कहां गए सब। मैं ज़ीने पर चढ़के ऊपर वाले कमरे में जाता हूं। खिड़की खोलता हूं जो पिछवाड़े वाली गली में खुलती थी और सामने ही लाला प्यारे लाल का ऊंचा मकान खड़ा था। तो मैं खिड़की खोलता हूं-क्या देखता हूं कि सामने बेला चौबारे में खड़ी अपने बाल सुखा रही है। कैसी खूबसूरत लग रही थी। बेला इतनी खूबसूरत तो नहीं थी । ये तो जैसे कोई परी हो। परिस्तान से उड़कर लाला प्यारे लाल के चौबारे में उतर आई। जी में आया कि कूद के वां पे जाऊं और छू के देखूं कि ये बेला ही है।

मैं हवन्नक़ बना देखता रहा। फिर पास गया, 'बेला, तुम बेला हो ना!'

'नहीं, मैं बेचा हूं।' खिलखिला के हँसी और धाड़ से दरवाजा बंद कर किया। इतनी धाड़ से बंद हुआ कि पट से मेरी आंख खुल गई।

फिर कभी नज़र न आई। बहुत मैंने चाहा कि फिर किसी शब उसे ख़्वाब में देखूं। मगर ख़्वाब तो अपनी मर्ज़ी से आते हैं और अचानक आते हैं। उसके बाद कितनी बार मुझे बेला का ख़याल आया और साथ में अफ़सोस कि उन दिनों क्यों पता न चला कि वह इतनी खूबसूरत है वर्ना मैं उसका मुंह क्यों चिढ़ाता। जहां वह चौबारे में आई मैंने उसे देख के मुंह चिढ़ाया और वह मां को पुकारती, 'माँ, यू मुसला मेरा मुंह चिढ़ावे है।' मैं फौरन ही खिड़की के पीछे छुप जाता।

एक बार क्या हुआ कि गली में चौपाई हो रही थी। होली के बाद गांव से टोलियां ढोल बजाती, नाचती-गाती आया करती थीं। हम उन्हें चौपई वाले कहते थे। तो गली में चौपई हो रही थी। मैंने देखा कि भीड़ में बेला भी खड़ी है। मैं उसके बराबर आन खड़ा हुआ। उसे पता ही न चला। वह तो चौपई के नाच-गाने में खोई हुई थी। मुझे आज पहली बार उसके बराबर खड़े होने का मौका मिला था। मैंने कितने चाव से कहा, 'बेला!' उसने चौंककर मुझे देखा। फौरन ही भड़क गई, 'चल मुसला,' और ये जा वो जा।

एक ख़्वाब पर मैं हँसा भी और उदास भी हुआ। जैसे हम रूप नगर से जा रहे हैं। गली के आख़िर में जाकर मुड़ने लगता हूं तो मेरी नज़र अपनी छत की मुंडेर पर जा टिकती है जो बारिशों-आंधियों की मार खा-खाकर कितनी काली पड़ गई थी और कितनी टूट-फूट गई थी, जैसे एक चील मुंडेर पर गुमसुम बैठी है। और एक कटी हुई पतंग दूर से डोलती आ रही है। उसका लाल मांझा मुंडेर को छूता हुआ गुज़र रहा है। मेरा दिल बैठने लगता है। अचानक मुड़ जाता हूँ। दम के दम के सियाही माइल शिकस्ता मुंडेर आँखों से ओझल हो जाती है।

मैं हँसा। भला ये क्या ख़्वाब था। वह हमारे पूवर्जों के घर की काही लगी ख़स्ता हाल मुंडेर थी, अल्हमरा का कंगूरा तो नहीं था। और मैं कौन-सा क़र्तबा से निकल रहा था। वह रूप नगर ही तो था। आह सर्द के पीछे भी तो कुछ होना चाहिए। रूप नगर से निकलने वाले की आख़िरी आह सर्द तारीख में जगह नहीं बना सकी। मैं कितना हँसा-मगर फिर उदास हो गया और वह काही आलूद ख़स्ता हाल मुंडेर कितनी देर तक मेरे तसव्वुर में मंडलाती रही। और उस आन मुझे ख़्याल आया, फिर शक में पड़ गया कि वाक़ई मैं निकल आया था या वहीं रह गया था। ज़माने बाद फिर मुझे हँसी आ रही है। वह काही लगी टूटी-फूटी मुंडेर कितने ख़्वाबों के बाद जाकर मुझ पर प्रगट हुई। और फिर वैसी ही उदासी। वे सारी कटी हुई पतंगें ध्यान में मडंलाने लगी हैं जो मैंने उस मुंडेर पर खड़े होकर लूटी थीं। और वे पतंगें जो ऊपर ही ऊपर गुज़र गईं। डोर इतनी ऊंची जा रही थी कि मैं पकड़ ही नहीं सका। और वे पतंगें जो मेरे बाद अपनी लम्बी डोर के साथ उस मुंडेर को छूती हुई गुज़री होंगी। उन्हें भी किसी ने लूटा तो होगा। जो पतंग कटती है वह बहरहाल लूटी जाती है। कटी हुई पतंग का मुकद्दर ही यह है। ऐसी पतंग तो कोई-कोई होती है जो लूटने वालों की नदीदी

नज़रों और बुलंद होते हाथों से बचती-बचाती किसी ऊंचे दरख़्त की टहनियों में जाकर आसूदा होती है।

ख़ैर मुझे यहां पतंगों के उत्थान-पतन की दास्तान लिखना मक़सूद नहीं। वह तो लम्बी भी है और दर्दनाक भी। न अपने ख़्वाबों की पचास साला तारीख़ लिखने का मंसूबा है। वह तो मैं यूं भी नहीं लिख सकता कि पूरा ख़्वाब कोई एक भी याद नहीं है। हर ख़्वाब यादों में इस तरह उभरता है जैसे पहले बहुत कुछ देख चुका हूं और जो कुछ देख रहा हूं वह भी जैसे ख़्वाब हो और जैसे बुद्धि और विवेक के दायरे में से फिसला जा रहा हूं। बस इसी में ख़्वाब खत्म हो जाता है, ख़त्म कहां होता है, बस घुल जाता है। वैसे भी ख़्वाब कोई मुख़्तसर अफसाना या नॉवेल तो होता नहीं कि उसका कोई खास प्लाट हो, एक आरम्भ बिन्दु हो और एक अन्त हो। मगर मेरे ख़्वाब कुछ ज्यादा ही अनमेल बेजोड़ होते हैं। मेरा मतलब है यह जो मैंने पिछले पचास साल में ख़्वाब देखे हैं। वैसे लगता है ये सब एक ही सिलसिले की कड़ी हैं। इसके बावजूद कितने ग़ैर-सिलसिलेवार हैं। वह जो मैं क़यूमा की दुकान वाली कहानी को फिर से लिखना चाहता हूं वह ऐसी ही क्रमहीन न हो। अपनी बाक़ायदा कहानी है ही नहीं, बस जैसे ख़्वाब बयान हो रहा है। वैसे तो यह बड़ी दुखदायी बात होगी कि एक जीती-जागती बस्ती ख़्वाब बनकर रह जाए। क्योंकि रूपनगर तो पचास बरस पहले भी था, अब पचास बरस बाद भी है, बल्कि अब ज्यादा है। क्योंकि इन पचास वर्षों में मेरे ख़्वाबों ने इसे बहुत बना-संवार दिया है। इन वर्षों में उपमहाद्वीप के दूसरे शहरों ने औद्योगिक और व्यवसायिक दृष्टि से प्रगति की है। इसमें नये प्लाजा तामीर हुए, नये बाजार बने, नयी कोलोनियां, नये फ्लैट, नये बंगले, मगर रूप नगर ने मेरे ख़्वाबों के तामीराती मंसूबे के तहत तरक्की की है। मतलब ये है कि यह क़यूमा के वक्तों का रूपनगर नहीं होगा। अब यह नगर इतना बढ़-फैल गया है कि इसे कहानी या नॉवेल के चौखटे में बयान करना मुश्किल होगा। बहरहाल मुझे तो यह कहानी फिर से लिखनी है, पूरी या अधूरी। क्योंकि जैसा लिखने वाला बता चुका है कि क़यूमा की दुकान लिखते हुए वह असली किरदार को तो बयान करना भूल ही गया था। जो किरदार उसमें बयान हुए हैं वे तो सब गौण पात्र थे। क़यूमा खुद गौण पात्र निकला। जब उसने अपनी दुकान बंद कर दी और इस नगर से निकल गया तो बस उसी क्षण वह गौण पात्र बन गया।

इस कहानी का तो मरकज़ी किरदार वही आदमी है जो वहीं रह गया। उस वक़्त हम में से किसी को ख़्याल ही नहीं आया कि वह हमारे साथ वहां से नहीं निकला। उसने तो ज़मीन पकड़ी थी। वहां से हिला ही नहीं। कहानी लिखते वक़्त भी लिखने वाले को इसका ख़्याल नहीं आया। बस वह क़यूमा ही का जिक्र करता रहा। वह तो रफ़्ता-रफ़्ता हमें ख़्याल आया कि वह जो हम में एक शख़्स था कहां रह गया। अच्छा वह वहां रह गया तो फिर वह गया कहां? उसकी ठीक तो क़यूमा की दुकान का थड़ा था। वह दुकान तो बंद हो गई। फिर उसने कोई नया ठिकाना बनाया होगा। इसका पता नहीं चल रहा। मुझे तो उस नगर के सारे अहवाल का पता अपने ख़्वाबों से मिला है। मगर अजब हुआ कि वह अभी तक मेरे किसी ख़्वाब में नहीं आया और तो और बेला भी एक बार ख़्वाब में आकर मुझे अपनी छवि दिखा गई। वाह, क्या छवि थी। बाल सुखा रही थी। ये लम्बे-लम्बे बाल। ऐसे बाल तो परियों के होते हैं और उसकी भरी-भरी गात। वहां रहते हुए तो मेरी आँखों पर पर्दे पड़े हुए थे। मैं उसका मुंह ही चिढ़ाता रहा। नज़र भरकर देखा ही नहीं कि वह है क्या शय। ख़ैर अगर देख लेता तो फिर यह कहानी बेला की कहानी बन जाती। चलो ठीक ही हुआ। मगर वह आदमी अभी तक मुझे ख़्वाब में क्यों दिखाई नहीं दिया?

मैंने अपने ख़्वाबों में दो ही हवालों से मात खाई है। एक तो मैं कभी कर्बला तक नहीं पहुंच पाया और दूसरे उस आदमी को मैं अभी तक नहीं ढूंढ पाया। पचास साल हो गए ख़्वाबों में भटकते हुए। ये मेरे ख़्वाब हैं या चौथा खूंट है। जहांदीदा बादशाह ने बेटे से कहा कि मुहिम-जोई सदा से बादशाहों की प्रकृति रही है। सो शौक़ से मुहिम पे जाओ। मगर बूढ़ा बाप जिसने गर्म व सर्द ज़माना बहुत देखा था बेटे को यह नसीहत करता है कि तीनों खूंट जेइयो पर चौथे खूंट में कदम मत रखियो कि इस सफर में मुहिम-जोइयों के लिए अपमान बहुत है। आदमी की जून तक बदल जाती है। शहज़ादे ने नसीहत गिरह में बांधी मगर एक हिरन का पीछा करते-करते वह चौथे खूंट में दाखिल हो गया। हिरन तो उड़न छू हो गया। अब हैरान व परेशान शाहज़ादा था और हौला देने वाला निर्जन वन। मेरे ख़्वाब मेरा निर्जन वन हैं। कब से इस वन में भटक रहा हूं। मगर मंज़िले मक़सूद अब भी उतनी ही दूर है जितनी पहले ख़्वाब में दूर थी। कर्बला के मीनार दिखाई देते हैं मगर रस्ते में होता हूं कि ख़्वाब का तार टूट जाता है और वह खोया हुआ आदमी! उसकी तो ख़बर ही नहीं मिल रही।

आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक

मगर एक उम्र तो हो गई। पचास साल एक पूरी उम्र होते हैं। अब उम्र देने वाले से एक और उम्र मांगनी पड़ेगी। कर्बला कितनी दूर है। जो गुम गया है वह कब मिलेगा? वह एक ख़्वाब जो मुस्तकिल जूल दे रहा है कब दिखाई देगा। कब इस ख़्वाब का जागने के साथ मिलाप होगा? कब मैं यह कहानी लिखूंगा, या इसी तरह दायरे में चक्कर काटता रहूंगा?

हिन्दी रूपांतर : ख़ुर्शीद आलम
एफ-58, सेक्टर-40, नोएडा-201301

रामनाथ चव्हाण

उष:काल

आँगन में चारपाई पर बैठे गौतम के पिता चिलम में तंबाकू भर रहे थे। पिता ने चिलम नीचे रखते हुए हाथ जोड़कर जयभीम किया। गौतम अशोक को भीतर के कमरे में ले गया। कमरा छोटा लेकिन स्वच्छ था। दीवार पर डॉ. आम्बेडकर और म. फुले-दोनों के चित्र लगे थे। चित्रों के नीचे तख्ती पर बुद्ध की छोटी मूर्ति रखी थी। दूसरी दीवार पर दीक्षान्त समारोह में काला गाऊन पहने गौतम का फोटो था।

गौतम की माँ चूल्हे के सामने बैठकर रसोई बना रही थी। गौतम ने अशोक के बैठने के लिए कुछ बिछाया और मटके से ठंडा पानी दिया। ठंडा पानी पीकर अशोक को बहुत अच्छा लगा।

माँ ने चाय बनाई। दोनों को चाय दी। भगौने की शेष चाय गिलास में उँडेलकर गौतम के पिता चिलम पर साफ़ी लपेटते हुए भीतर आए और धुंडी जलाते हुए अशोक के बारे में पूछने लगे। डॉक्टर के सामने पिता चिलम न पिएं, गौतम को लग रहा था।

वह उन्हें बाहर जाने के लिए कहने वाला था। इतने में जलती हुई धुंडी चिलम पर रखते हुए उसने अशोक से पूछा-

"कौन सा गाँव है तुम्हारा?"

"पुणे।" अशोक ने चाय पीते हुए उत्तर दिया।

चिलम का एक जोर का कश लेकर उन्होंने फिर से अशोक से पूछा, "शादी हुई है न?" उन्होंने धुआँ छोड़ दिया तो अशोक को जोर की सुरहुरी आई। गौतम को पिता पर गुस्सा आया लेकिन वह कुछ नहीं बोला। उसकी परेशानी देखकर माँ बूढ़े पर चिल्ला उठी, "बाहर जाकर बैठो बरामदे में।"

उसके बोलने की ओर ध्यान न देकर चिलम का अंगार मझली अँगुली से दबाते हुए बूढ़ा कहने लगा, "हमारे गौतम की नौकरी का देखो। बहुत पढ़ा है। लेकिन अभी तक नौकरी नहीं है। तुम्हारे ऑफिस में काम हो तो देखो।"

पिता के बोलने पर गौतम को गुस्सा आया और वह चिड़चिड़े स्वर में बोला, "तुम बाहर जाकर चुपचाप बैठो। हमें जरा महत्व की बात करनी है। उठो।"

चिलम की साफ़ी ठीक करते हुए बूढ़ा उठा, "बोलो बाबा, बोलो। आराम से बोलो। केवल बोलने से पेट भरता है तो शाम तक बोलते रहो। मैं जाता हूँ बाहर। मैं किसलिए बैठूंगा।" बूढ़ा बड़बड़ करते हुए बाहर आया और चारपाई पर बैठ चिलम पीने लगा।

पढ़कर भी गौतम को नौकरी क्यों नहीं मिली है यही प्रश्न अशोक के मन में घूम रहा था। उसने गौतम से कहा, "माँ-पिता की इच्छा है तो नौकरी के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते?"

"वैसे मैंने दो-तीन स्थान पर प्रयत्न किया था। सेंट्रल में एक स्थान पर मुझे नौकरी पर लिया था।"

"फिर।"

"फिर क्या? वह जगह पिछड़े वर्ग के लिए सुरक्षित होने के कारण मुझे निकाल दिया।"

अशोक आश्चर्य से गौतम की ओर देखने लगा।

"हाँ, जो सच है वही कह रहा हूँ मैं।"

"तुम्हारा कहना मेरी समझ में नहीं आया।"

अशोक गौतम के कहने से थोड़ा झुँझलाया था।

"सुरक्षित जगह होने के कारण तुम्हें निकाल दिया, इसका मतलब क्या है?"

"मेरे दाखिले पर बौद्ध लिखा है।"

"फिर क्या हुआ?"

"अपने देश में बौद्धों को सेंट्रल में रिआयतें नहीं हैं।"

"लेकिन अपने राज्य में तो...।"

"राज्य में रिआयतें मिलती हैं, लेकिन केन्द्र में नहीं हैं।"

अशोक के लिए यह जानकारी नयी नहीं थी। थोड़े समय चुप रहकर गौतम ने कहा, "डॉक्टर, नौकरी के संबंध में एक मजेदार बात है।"

"क्या ?"

"विज्ञापन में 'पिछड़े वर्ग को प्राधान्य दिया जाएगा।' ऐसा लिखा जाता है। लेकिन प्रत्यक्ष में सुरक्षित जगह हुए बगैर उसे नौकरी नहीं मिलती। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि चावलीस फीसदी में पात्र उम्मीदवार नहीं मिला तो छियासठ फीसदी में से लिया जाता है।"

"ठीक है, जगह रिक्त कैसे रखी जा सकती है?"

"फिर अब मुझे यह बताओ डॉक्टर, ऐसा कहीं तुम्हें दिखाई दिया



कि छियासठ फीसदी में पात्र उम्मीदवार नहीं मिला तो चवालीस फीसदी में से उसकी जगह पर लिया है?"

अशोक विचार करने लगा। सिर को अँगुलियों से टकटकाते हुए वह अपने मन में ऐसे किसी उदाहरण की खोज करने लगा।

"मत विचार करो डॉक्टर। ऐसा उदाहरण तुम्हें कहीं भी नहीं मिलेगा।"

"कारण सभी पात्र उम्मीदवार केवल छियासठ में हैं ऐसी उनकी समझ है। इसलिए तो सुरक्षित जगह होने पर भी पिछड़े वर्ग के तरुण बेकार हैं। सुरक्षित जगह पर अनेक स्थान पर अनेक उच्चवर्णीय काम करते हैं। केवल नाम की ही रिआयतें हैं। उसका फायदा तुम्हारे जैसे लोग लेते हैं। लेकिन कहें किसे और कहा तो कौन यकीन कर लेगा? मुँह बाँधकर घूँसे की मार है यह।"

"मोरे, गलती है तुम्हारी।"

"क्या गलती हुई? कुछ भी गलती नहीं है मेरी। सुरक्षित जगह पर दो-चार लड़के लगाये जाते हैं। शेष बैक लॉग सवर्णों से भरा जाता है। अनेक स्थान पर तुम्हें यह दृश्य दिखा सकता हूँ मैं।"

"तुम्हारी यह बात मैं मानता हूँ।"

"फिर क्या गलती हुई मेरी?"

"रिआयतों का फायदा हमारे जैसे लेते हैं।"

"हाँ हाँ, तुम्हारे जैसे।" गौतम ने अशोक को आगे बोलने नहीं दिया। फिर उसने कहा, "तुम्हारे जैसे सिफारिश वाले। पैसे वाले सवर्ण।"

'मोरे, यही...यही तुम्हारी गलती है। मैं सवर्ण नहीं हूँ। मैं बौद्ध हूँ।"

यह सुनते ही गौतम को आश्चर्य का धक्का लगा।

"क्या कहते हो? तुम बौद्ध हो?"

"हाँ।"

"फिर यह पाटील उपनाम?"

"वह मैंने जान-बूझकर बदल लिया।"

गौतम और अशोक की बात गौतम की माँ ध्यान देकर सुन रही थी। अपने घर में आया यह मेहमान अपनी जाति का है, यह सुनते ही उसे बहुत आनंद हुआ था। गौतम भी मन में संतुष्ट हुआ था। अपनी जाति का आदमी अपने गाँव में डॉक्टर होकर आया है इसका उसे अभिमान हआ। लेकिन यह आदमी देशमुख की कोठी में रहने के लिए गया कैसे? और जातपात मानने वाले देशमुख ने इन्हें जगह दी कैसे? इस पर उसे आश्चर्य हुआ। उसने अशोक से पूछा, "देशमुख की कोठी में तुम्हें कमरा कैसे मिला?"

"कैसे? मेरे उपनाम से।"

दोनों दिल खोलकर हँसे। हँसते-हँसते अशोक ने कहा, "देशमुख ने केवल कमरा ही नहीं दिया, हर रोज़ का भोजन भी दिया है।"

"ठीक, कोई हर्ज नहीं है। मज़े में भोजन करो। लेकिन अपनी जाति पता न चलने दो। देशमुख मनुष्य के रूप में शैतान है। धीरे-धीरे तुम्हारी समझ में आ जाएगा।"

इस समय अशोक को सावला की याद आई। सावला को उसने अपनी सच्ची पहचान करा दी थी। खामोश बैठे हुए अशोक को देखकर गौतम ने पूछा, "अहो! खामोश क्यों हो?"

"कुछ नहीं। मुझसे थोड़ी-सी गलती हुई है। मैंने अपनी सच्ची पहचान सावला को....।"

"कुछ चिंता न करो डॉक्टर, सावला अपना आदमी है। वह कहीं भी नहीं बोलेगा। वैसा समय आया तो हम हैं ही। गाँव में देशमुख की धाक है। तो भी वह अपने लड़कों से डरता है। उसकी गुंडई की हम परवाह नहीं करते। वैसे वह बीच-बीच में टर-टर करने लगता है। लेकिन हममें से छोटा बच्चा भी उससे नहीं डरता। पिछले वर्ष गाँव के मेले में वह बच्चों के चँगुल से छूटा है...। लेकिन कहाँ जायेगा वह। आने वाले पंचायत के चुनाव में हम उसे खत्म कर देंगे। अपने बच्चों की वैसी ज़िद है। इसलिए तो वह हमारी एकता तोड़ने का प्रयास करता है। लेकिन उसे अभी तक तो सफलता नहीं मिली है और मिलेगी भी नहीं। तुम्हारे जैसे लोगों का मार्गदर्शन और सहयोग मिला तो दूध में शक्कर पड़ेगी।"

गौतम की माँ को गौतम की यह बात पसंद नहीं थी। चार पैसे कमाना छोड़कर लड़का व्यर्थ झंझटें करने निकल पड़ा है, यह उसे अच्छा नहीं लगा था। इसलिए उसने कहा, "बाबा गौतमा, यूँ ही भला-बुरा पागलपन मत करो। बड़े लोगों के साथ झगड़ने से हमारा कुछ फायदा नहीं होगा। हमें गाँव में रहना है। पानी में रहकर मगर से दुश्मनी क्यों करनी?"

"दुश्मनी तो क्या करेगा वह?"

"देखो डॉक्टर, अब तुम ही इसे कुछ समझाओ। अकेला है, इसलिए चिंता लगती है।" बोलते-बोलते उसकी आँखें गीली हो गई थीं। चेहरा चिंता से काला पड़ गया था।

इस समय क्या बोलूं, यह अशोक को नहीं सूझ रहा था। गाँव-जवार में अमीरों के जुल्मों का लोढ़ा गरीबों पर फिर रहा था। दलित-पीड़ित समाज जमींदार के दबाव के नीचे पिस रहा था। अन्याय-अत्याचार का भंडाफोड़ करने के लिए कोई भी विद्रोह नहीं कर रहा था। एकाध गौतम मोरे अमीरों की दुष्ट प्रवृत्ति को दबाने के लिए खड़ा होगा तो उसे पीछे हटने के लिए कैसे कहा जा सकता है? देहातों में तरुण अब जागृत हुआ है। फुले-आम्बेडकर की प्रेरणा से प्रेरित होकर संगठित होने लगा है, कार्य करने लगा है। यह सुनकर अशोक को भी अच्छा लगा। गौतम की माँ को कैसे समझाऊँ यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। माँ अशोक की ओर बड़ी आशा से देख रही थी। अशोक ने गौतम के कंधे पर हाथ रखा और कहा- "समाज के साथ माँ-बाप को भी सँभालो। आता हूँ मैं।" और वह उठ खड़ा हुआ। उसके

साथ गौतम भी उठा। माँ ने भीगी आँखें आँचल से पोंछ डालीं। अशोक माँ के चरण स्पर्श कर घर से बाहर चल पड़ा। बाहर गौतम के पिता ने चिलम मुँह से लगा रखी थी। चिलम में अंगार अधिक दहकने लगा था।

अशोक के साथ गपशप करते हुए गौतम भी चौपाल तक आया। "ठीक है, मिलेंगे फिर से।" कहकर अशोक ने गौतम से बिदा ली। इतने में सामने से आते हुए जाधव सर गौतम को दीख पड़े। उनसे पहचान करा देने के लिए उसने अशोक को रोका। सर ने आते ही गौतम को जयभीम किया और अशोक की ओर देखकर पूछा -

"इनका क्या परिचय है?"

"ये अशोक पाटील, मलेरिया डॉक्टर।"

पाटील उपनाम सुनते ही जाधव सर ने उसे नमस्कार किया। गौतम अशोक की ओर देखकर गाल में हँसा और बोला, "ऐसा है डॉक्टर, हर एक की आयडेन्टिटी अलग। पाटील को नमस्कार, रामराम। बौद्ध मिला कि जयभीम, मातंग मिला कि जय मातंग।"

तीनों हँसने लगे।

"गौतम, अलग आयडेन्टिटी के बिना आदमी का इस देश में जीना कठिन हो गया है।" जाधव सर ने कहा।

"इसलिए तो आदमी को अपनी मूल आयडेन्टिटी नहीं छोड़नी चाहिए।" गौतम के बोलने का संकेत जाधव सर समझ गए। उन्होंने गड़बड़ी में कहा, "ठीक है, आता हूँ मैं।" ऐसा कहकर वे चले गये।

अशोक को जाधव का बर्ताव विचित्र लगा। वह गौतम से पूछने वाला था। लेकिन उसके पूछने से पहले गौतम ने कहना शुरू कर दिया। "ये जाधव सर पहले अपनी जाति किसी से नहीं कहते थे। जाति का आदमी मिला तो भी जयभीम नहीं कहते थे। खुद को बहुत श्रेष्ठ समझते थे। कोंकणस्थ ब्राह्मण पत्नी की है। इसलिए वे बड़प्पन से बर्ताव कर रहे थे। अभी-अभी वे समाज में शरीक हो रहे हैं। वे ऐसा क्यों कर रहे हैं, मालूम है? उनकी लड़कियाँ शादी योग्य हुई हैं। लेकिन मजे की बात यह है डॉक्टर, उनकी लड़कियों को अपने समाज में एक भी युवक पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। ऐसा है सारा महाभारत उनका। इसलिए आदमी को अपनी मूल पहचान कभी नहीं छोड़नी चाहिए। ऐसा कहने पर वह झट से चला गया। बीच-बीच में मैं उसे जानबूझ कर ऐसे ताने मारता हूँ।"

"जाने दो। उनसे गलती हुई। हमें गलती नहीं करनी चाहिए।"

"ऐसा है डॉक्टर, जिसकी गलती है उसे समय पर बता देनी चाहिए। मैं कहता हूँ, तुम कितने भी बड़े हो, लेकिन समाज को तुच्छ समझकर दुराव के साथ बर्ताव न करो। ये जाधव सर, इन्होंने ब्राह्मण पत्नी की तो हवा में तैरने लगे।"

"लेकिन उनकी गलतियों की सजा उनकी लड़कियों को क्यों? उन्हें किसी को तो स्वीकार करना चाहिए। तुम्हें गुस्सा न आए तो एक बात बोलूं?"

"बोलो।"

"उनकी लड़की को तुम ही क्यों स्वीकार नहीं करते?"

"मैं स्वीकार करूंगा। लेकिन क्या वे लड़की देने के लिए तैयार होंगे?"

"क्यों? क्यों नहीं तैयार होंगे?"

"मेरी परिस्थिति-मेरी गरीबी और..."

"न, न, इस कारण से वे इन्कार नहीं करेंगे। ऐसा नहीं लगता? एक दिन मैं ही जाधव सर से पूछता हूँ।"

"पूछो। लेकिन एक बात ध्यान में रखे। तुम जयभीम वाले हो। यदि यह उनको पता चला तो तुम्हारे लिए मुझे ही मध्यस्थता करने का समय आ जाएगा। तुम तैयार रहो।" ऐसा कहकर गौतम हँसने लगा। अशोक को भी हँसी आ गई। हँसते-हँसते दोनों ने एक दूसरे से बिदा ली।

देशमुख की कोठी में आने तक अशोक के मन में जाधव की लड़की का विचार चल रहा था। उसे लग रहा था कि बौद्ध तरुण लड़कियों से इन्कार न करें। पिता बौद्ध और माँ ब्राह्मण हो तो क्या हुआ? एक ओर बाबा साहेब के विचार कहना और दूसरी ओर उस विचार को छेद देना, यह ठीक नहीं है। कुछ भी हुआ, गौतम के बारे में हम जाधव सर को मनवा लेंगे, ऐसा अशोक ने मन में दृढ़ निश्चय किया।

कोठी में प्रवेश करते ही बरामदे में सुपारी कतरते बैठे हुए आबासाहेब ने हँसकर अशोक का स्वागत किया और कहा, "आइए डॉक्टर साहेब, आइए, बैठिए।"

अशोक नम्रता से उनके पास बैठा। देशमुख ने भीतर के कमरे की ओर देखकर कहा, "अहो, सुनो, लोटा भर ठंडा पानी ले आओ।" आदेश मिलने पर देशमुख बाई पानी लेकर आई। गाल में हँसते-लज्जित होते उसने अशोक के हाथ में पानी का लोटा दिया और अंदर चली गई।

अशोक ने अधीरता से पानी का लोटा रिक्त किया और देशमुख के सामने कुछ बोले बिना बैठा रहा।

"कैसे लगा हमारा इश्रामपूर?" देशमुख ने पूछते ही अशोक ने अनुमतिसूचक गर्दन हिलायी।

"वैसे यह गाँव बहुत धूर्त था। लेकिन हमारे हाथ में कारोबार आने पर सीधा कर दिया है। वैसे दो-चार आदमी हैं रंग का बेरंग करने वाले। लेकिन हम उनकी बिलकुल परवाह नहीं करते। वह जाने दो। तुमने किस-किससे पहचान कर ली गाँव में। कौन-कौन मिले तुमसे?"

'वे...गौतम मोरे, शिवाजी सकट, जाधव सर और...' अशोक ने मिले हुए व्यक्तियों के नाम बताना शुरू किया।

अगले नाम सुना बिना देशमुख ने कहा "अरे, दिन भर केवल हरिजन-मातंग से परिचय करते रह हो।" 'थू' करते उन्होंने मुँह से

सुपारी की तलछट थूक दी। "क्या एक-एक नमूनेबाज़ आदमी मिले तुमसे। वह पढ़कर शोर मचाते हुए घूमने वाला हरिजन का गौत्या, वह मूर्ख सिरफिरा मातंग का शिवज्या और ब्राह्मणी को घर में लेने वाला जाधव मास्तर... ठीक, ठीक और कौन मिले?"

"वह माली का सावता भी मिला।"

"वह भी वैसा। हरिजन-मातंग की संगत से बिगड़ा है। एक ही माला के मनके हैं सब। वह गाँव की नेतागिरी करने के लिए निकल पड़ा है। जिसे पिताजी का नाम बताना नहीं आता वह गाँव का नेतृत्व कैसे करेगा?"

अशोक एक-एक नाम बता रहा था और देशमुख जाति को नाम लेकर गालियाँ देते हुए उनकी खबर ले रहे थे। अशोक को यह पसंद नहीं आ रहा था लेकिन वह कुछ नहीं बोला। वह केवल सुन रहा था।

देशमुखबाई चाय लेकर आई तब देशमुख ने कहा, "कोई भी नेता बने, हमारा कुछ कहना नहीं है। लेकिन उसके लिए गरीबों की सेवा करनी चाहिए। चार पैसों की आँच सहन करनी चाहिए। चार बुक पढ़ी कि हरिजन-मातंग को लगता है कि हम बहुत बड़े बालिस्टर (बैरिस्टर) बन गए। तुम कुछ भी कहो डॉक्टर, लेकिन रिआयतों से हरिजन-मातंग बहुत उन्मत्त हो गए हैं। हर कहीं उन्हें रिआयतें। इन रिआयतों से वे हमारे सिर पर बैठने लगे हैं।"

देशमुख के बोलने से अशोक परेशान हो गया था। देशमुख ने सुपारी सरौते में धर दी। इतने में सावला जख्मी कुत्ते को लेकर जल्दी-जल्दी वहां आया। कुत्ता जोर-जोर से कराह रहा था। वह सावला के हाथ में से छूटने का प्रयत्न कर रहा था। लेकिन सावला ने उसे मजबूती से पकड़ रखा था। सिर के जख्म से रक्त का बहाव सावला की कुहनी पर आ गया था। कुहनी रक्त से तर हो गई थी। उसके अंग पर का रक्त देखकर देशमुख ने उसकी ओर देखकर पूछा, "क्या? क्या हुआ?"

सावला ने हाथ से कुत्ता बरामदे में रखा। रखते ही वह गिर गया। उसके दाहिने पैर को बहुत मार लगी थी। लँगड़ाते-लँगड़ाते वह देशमुख के पास जाकर खड़ा हो गया। देशमुख ने उसे सहलाते हुए उसका जख़्मी पैर हाथ में लिया तो वह जोर से चीख पड़ा। सिर के जख्म से बहने वाला रक्त देखकर देशमुख आग बबूला हो गए। उन्होंने सावला से पूछा, "कुत्ते को किसने मारा?"

"परसू ने," नीचे गर्दन करके सावला ने कहा।

परसू का नाम सुनकर उन्होंने एक गाली दी, 'उसने कुत्ते को क्यों मारा?"

"उस पर भूँका वह।"

उन्होंने फिर से गालियों की बौछार शुरू कर दी। देशमुख की आवाज से सारी कोठी गूँज उठी थी। देशमुख बाई दरवाजे में आकर कुत्ते की ओर देख रही थी। देशमुख गरज उठे,

"क्यों खड़ी हो? घर में में से भंडारा (हल्दी की बुकनी) ले आओ।"

देशमुख बाई घर में गई और जल्दी-जल्दी भंडारा ले आई। देशमुख ने कुत्ते का पैर पकड़कर पैर और सिर के जख्म पर थोड़ा-सा भंडारा लगाया। जख़्म पर भंडारा लगाते देखकर अशोक ने कहा, "भंडारे से जख़्म ख़राब होंगे, साहेब। आयोडिन लगाकर ड्रेसिंग करता हूँ मैं।"

ज़ख़्म पर भंडारा दबाते हुए चिड़चिड़े स्वर में देशमुख बोले, "तुम आदमियों के डॉक्टर हो कि जानवरों के?" बड़बड़ाते हुए देशमुख ने जख़्म में भंडारा भरकर हाथ झटक दिया। तब कुत्ता झट से उठा और गिरते-पड़ते एक तरफ जाकर पैर के जख़्म पर का भंडारा चाटने लगा।

देशमुख को अशोक से तुच्छता से बोलते देखकर देशमुखबाई को अच्छा नहीं लगा। लेकिन वह क्या कर सकती थी!

देशमुख चिढ़ते थे तो उनका खुद पर काबू नहीं रहता था। तड़ाक से गालियाँ देते थे। सामने कौन व्यक्ति है इसका वे विचार नहीं करते थे। देशमुख ने गुस्से से देशमुखबाई की ओर देखा तो वह झट से रसोईघर में चली गई। अशोक भी बैग उठाकर कुछ बोले बिना अपने कमरे में चला गया। देशमुख गुस्से से हाथ की मुट्ठियाँ कसते हुए बरामदे में चक्कर लगाने लगे। वे परसू पर बहुत चिढ़े हुए थे। एक बार उसे अपना देशमुखी झटका दिखाना चाहिए। वे खुद ही बड़बड़ा रहे थे। यह पीड़ा गाँव में से हमेशा के लिए निकाल देनी चाहिए ऐसा विचार करते हुए वे अकेले ही बरामदे में चक्कर काट रहे थे।

अशोक हमेशा की तरह कमरे से बाहर निकला। बरामदे में आबासाहेब नहीं थे। केवल देशमुखबाई तुलसी की पूजा करते हुए तुलसी वृंदावन के पास खड़ी थी। लेकिन हमेशा की तरह उसने अशोक की ओर नहीं देखा या चाय का आग्रह भी नहीं किया। अशोक तेजी से पैर रखते हुए ड्योढ़ी के पास आया। आबासाहेब चबूतरे पर बैठे हुए दीख पड़े। आबासाहेब को ड्योढ़ी में देखकर उसे आश्चर्य हुआ।

ड्योढ़ी में बैठे हुए आबासाहेब को उसने कभी नहीं देखा। अशोक ने उन्हें नमस्कार किया। अशोक की ओर उन्होंने मुड़कर देखा और कहा, "शाम को जल्दी आओ। नहीं तो बैठोगे हरिजन-मातंग के साथ गप्पें मारते हुए।"

अशोक कुछ बोले बिना कोठी से बाहर निकल पड़ा। पिछले कुछ दिनों से देशमुख का बर्ताव और बोलना उसे खटक रहा था। लेकिन वह कुछ नहीं बोल रहा था। उसके मन में देशमुख के विषय में चिढ़ पैदा होने लगी थी। वह देशमुख और देशमुखबाई के बर्ताव से थोड़ा-सा झुँझलाया था। सावला ने तो देशमुख को मेरे विषय में कुछ बता नहीं दिया ऐसा शक उसके मन में हुआ। वह ऐसा विचार करते हुए चल रहा था। इतने में सामने से म्हादबा कांबले इकतारे पर भजन गाते हुए आता दिखाई दिया।

निस्तेज चेहरे पर सफेद दाढ़ी की खुत्थी बढ़ी हुई। सिर पर मैला

मुंडासा और अंग में फटी हुई कमीज़। तीन-चार स्थान पर गाँठ मारकर घुटनों तक खींची हुई धोती। एक पैर में पुराना रबड़ का जूता तो दूसरे पैर में एड़ी गला हुआ चमड़े का जूता। ऐसे अवतार में म्हादवा भजन करते-करते अशोक के पास आया और लाचारी से रामराम करते हुए बोला- 'साहेब ऐसे ही मत जाओ। आज शिवरात्रि है। कुछ दान करो। शिवशंकर का दिन है।"

अशोक ठिठक गया और उसने म्हादवा की ओर देखते हुए कहा, "तुम बौद्ध हो न?"

'हाँ, हैं।"

"फिर यह शिवरात्रि-शिवशंकर की याद अब तक आती है तुम्हें?"

अशोक के प्रश्न से म्हादबा थोड़ा-सा शरमाया और गर्दन नीचे करके धीमी आवाज में बोला-"क्या करूँ साहेब, पेट के लिए यह सब करना पड़ता है। बौद्ध हूँ तो क्या इसलिए भूख रुकती है? देव-धर्म के गीत गाने से लोग देते हैं पेट को कौर-टुकड़ा।"

"देंगे क्यों नहीं? लोग देंगे ही। देव-धर्म किसे नहीं चाहिए?" अशोक ने कहा। उस पर म्हादवा कुछ नहीं बोला। वैसे ही चुपचाप खड़ा रहा। अशोक ने उससे पूछा, "क्या एक ही भजन सभी ओर चलता है?"

हाथ हिलाकर म्हादवा ने कहा, "नहीं जी। एक ही भजन सभी ओर कैसे चलेगा। मराठों के यहां विठोबा का भजन गाता हूँ, माली के यहाँ सावता माली का भजन बोलता हूँ, बौद्धों की बस्ती में भीम का या गौतम का गीत गाता हूँ।"

अशोक को म्हादवा की होशियारी दिलचस्प लगी। उसने उसके हाथ पर पाँच रुपयों का नोट रखा। म्हादवा नोट की ओर अधीरता से देखता रहा। पिछले अनेक वर्षों से वह भजन गाता है। लेकिन आज तक उसे किसी ने पाँच रुपये नहीं दिये। गाँव में दिन भर की कमाई भी पाँच रुपये नहीं होती थी। पाँच रुपये लेने के लिए म्हादवा का मन तैयार नहीं हो रहा था। उसने अपराधी चेहरे से कहा, "साहेब, इतना नहीं चाहिए मुझे। छुट्टे होंगे तो चार-छह पैसे दो।"

"रहने दो। आज शिवरात्रि है न? रखो।"

अशोक की उदारता पर खुश होकर म्हादवा ने उसे आशीर्वाद दिया। "भगवान तुम्हें सुखी रखेगा।" कहकर वह भजन गाते हुए आगे निकल गया।

दोपहर की धूप तपने लगी थी। अशोक जल्दी-जल्दी पैर रखते हुए गेनबा बढ़ई की बस्ती की ओर जा रहा था। उसके लड़के को जाँच कर गोलियाँ देनी थीं और सूर्यास्त होने से पहले कोठी में पहुँचना था। इसलिए वह जल्दी-जल्दी चलने लगा। इतने में राह में सखू बूढ़ी ने उसे पुकारा। वह रुका और सखू के पोते का हालचाल पूछा।

"अहो दादी, पोते की तबीयत ठीक है न?"

"हाँ! ठीक है।"

"फिर किसलिए बुलाया?" इस प्रश्न का उत्तर बूढ़ी ने नहीं दिया। गूंगों की तरह बैठी रही। इसलिए फिर से अशोक ने पूछा, "क्या और कोई बीमार है?"

"कमरे में चलो पहले। पानी पियो। फिर मैं बताती हूँ।"

"जरा जल्दी है। मुझे बढ़ई की बस्ती में जाना है। निबटाओ जल्दी।" नीचे बैठते हुए अशोक ने कहा। बूढ़ी ने ठंडा पानी दिया। वह पानी पीने से अशोक को अच्छा लगा।

"हाँ बोलो, कौन बीमार है?"

बूढ़ी 'कहूँ कि न कहूँ' इस विचार में अटक गई। इच्छा होने पर भी कहने का साहस उसे नहीं हुआ।

"कहो, मुझे आगे बस्ती में जाना है।"

अशोक के ऐसा कहते ही बूढ़ी ने आसपास संदेह से देखा और धीमी आवाज़ में फुसफुसाई, "तुम्हें मेरे गले की शपथ है साहेब, गाँव में कहीं न कहना।"

कुछ गंभीर मामला लगता है। अशोक ने बूढ़ी के बोलने से यह भाँप लिया और कहा, "नहीं बोलूंगा कहीं, बोलो।"

"अब कैसे कहूं साहेब तुमसे? कठिन जगह का दर्द है। इज्जत मिट्टी में मिला दी है बड़ी बेटी ने।"

बूढ़ी अशोक को भीतर के कमरे में ले आई। एक कोने में घाघरा-कुर्ती में पंद्रह-सोलह वर्ष की तरुण लड़की घुटनों में गर्दन डालकर बैठी थी। डॉक्टर को आते देखकर वह रोने लगी। अशोक पूरी तरह समझ गया था। शादी से पहले ही वह गर्भवती हो गई थी, यह उसने जान लिया। धीमी आवाज़ में उसने बूढ़ी से पूछा, "ऐसे कैसे हुआ?"

बूढ़ी के बात शुरू करते ही लड़की उठी और पिछले बरामदे में जा बैठी।

बूढ़ी कह रही थी, "यह सब बड़ी माँ का प्रसाद है।"

"मतलब क्या है?" अशोक की समझ में कुछ नहीं आया था। तब बूढ़ी सब बताने लगी, "घर में दुःख-संकट दूर हो जाएँ इसलिए बड़ी माँ की मूर्ति बिठाई थी। उसकी सजावट की थी। हर रोज शाम को गाँव में ग्वाला पूजा के लिए आता था। दस-बारह लोगों का दल था उनका। रात में बारह-एक बजे तक गाना चलता था। बहुत स्त्रियों के अंग में बड़ी माँ का संचार होता था। पंद्रह-बीस दिन तक हमारे घर में यह कार्यक्रम चला था। इस समय इस लड़की ने यह कर्म किया। मार-पीट कर पूछा तो भी नाम नहीं बताती। दो माह की गर्भवती है। देखो, तुम कुछ तो इलाज करो।"

"दादी, इसमें मैं कुछ नहीं कर सकता।"

बूढ़ी ने आजिजी से कहा, 'ना, ना, ऐसे मत कहो। नहीं तो लड़की को कुएँ में कूदकर प्राण देने पड़ेंगे। हमारा खानदान देशमुख का है। मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ। लड़की को इससे मुक्त करो।" (क्रमशः)

हिन्दी अनुवाद : के.जी. कदम

रो हाउस, नं. 17, अवन्ती नगर, मोरारजी पेठ, फेज-1 सोलापुर (महाराष्ट्र)

बलदेव वंशी की पाँच कविताएँ

पानी और प्यास

धरती में छोटा-सा गड्ढा
गड्ढे में रुका-थमा जल
जल में झांकता गड्ढा-भर आकाश
आकाश में बादल, उड़ता हुआ पक्षी,
उसकी चहक और प्यास-
इतना सब झांक रहा गड्ढा-भर पानी में...

निकट ही चलते हुए नन्हें से धारदार पानी में
दृश्य भी झांकते चलते हैं
साथ-साथ....

पानी रुका-थमा हो
तो हो भीतर तक स्पंदनों खिला
और यदि चलता हुआ हो
तो हो बाहर तक
उर्मियों मचलता...

पानी किसी भी दशा में हो-
रुका-थमा
या चलता
पर साफ़ इतना हो
कि भीतर झांकने वाले को
उसकी पहचान लौटा दे
अपना, पानी होने का
परिचय बता दे

और पानी वो
जो प्यास बुझा दे!...

सारी धरती ही सजल है!

वृक्ष से एक टहनी तोड़ो
हरे-भरे वृक्ष से एक टहनी तोड़ो
पत्तों और फूलों से लदी एक टहनी

उसे अपनी दोनों हथेलियों पर लिटाकर
संभालकर चलो
खुद भी संभल कर चलो
चलो और देखो
धरती में जहाँ कहीं जल होगा
वहीं यह झोल मारेगी। झोंक लेगी...
लो!
दो ही कदम चलने पर तुम्हारे
किस बे-तरह झूल गई है टहनी
तुम्हारे हाथों में
झूल गई हैं पत्तियाँ
और खुशबू तक
झूल गई है तुम्हारे हाथों में...

लगता है
तुम्हारे पैरों के नीचे की धरती में
ज़रूर कहीं जल है!

अब, टहनी की तरह
स्वयं अपने को इस धरती से जोड़ कर देखो
यह सारी धरती ही सजल है!...

समय का दरिया

पानी
लहर लहर लहर जमकर पत्थर हो जाए
या फिर
पत्थर
पिघल कर लहर लहर लहर पानी हो जाए-
दोनों के बीच
समय का दरिया बहता है

दुःख से कोई ठिठक कर
यकायक
पत्थरा जाए
या फिर
पानी-पानी हो जाए
जीवन-सत्य को कहता है
समय का दरिया बहता!...

मुक्ति!

पत्थर के सिर के ऊपर से होकर
पानी बह गया है
नदी का...
पत्थर को तोड़ रहा है लगातार
गढ़ रहा है
रेत रहा है बड़ा बारीक...
पर यह पत्थर
बेहद खुश है- चलो, पानी ने मुझे चुना है!
प्रभु ने मेरी प्रार्थना को सुना है।
आस-पास रूखे, ऊँचे
चट्टानी पत्थरों को देखता हुआ
रेत-रेत होता
भुरभुराता यह पत्थर
बेहद खुश है!...

अब भी गाते है पत्थर

इन पत्थरों को ऐसे मत छुओ
जैसे कि सचमुच पत्थर हों
और तुम इनसे बेहतर इन्सान!...
इनके वजूद को
हथेली में उठा
यों मत उछालो हवा में
क्योंकि अब तुम्हारे फ़र्श
संगमरमरी हो आये हैं
और बार-बार चूक जाना तुम्हारी आदत
ये गिरेंगे
चोट खाएँगे!...

यदि उछाल ही दिया हो
तो कम-से-कम
दिल के हाथों संभालो
और देखो
ये तुम्हारे दिल से भी ज्यादा मुलायम
और स्पंज से भी ज्यादा लोचदार हैं!

नहीं होता विश्वास?
तो उस हवा से पूछो
जो इन पत्थरों को छूकर आई है रोमांचित
गुनगुनाती हुई!

अब भी नहीं होता विश्वास
तो उसे पौधे से पूछो
जो इनकी छाती को चीर कर पैदा हुआ है
और जिसके ऊपर
नन्हें-नन्हें, लाल-लाल फूल
खिलखिला रहे हैं...

अब भी नहीं होता विश्वास?
तो इनकी रग़ों और रेशों को
और ज़रा ग़ौर से देखो
और ज़रा निकट से देखो
ये तुम्हारे दुःख से ही पत्थरा गए हैं
बेंचारे सदमा खा गए हैं!

वरना एक समय था
जब ये सब-के-सब पत्थर गाते थे
तब हमारे-तुम्हारे जैसे इन्सान
इनके सामने
गाते हुए शर्माते थे।

आज इन्सानों ने शर्माना
तो पत्थरों ने गाना छोड़ दिया है!

पर अब भी पत्थर गाते हैं, पत्थर
अपने पागलपन में

अपने पागलपन में जब-जब ये पत्थर गाते हैं
तो धरती पर ही नहीं,
आकाश में जाते पक्षी तक
अपना रास्ता भूल जाते हैं।

और दिन-भर भटक-भटक ढूँढा हुआ
अन्न का दाना
अपने भूखे-बिलखते हुए
बच्चों के हलक में न रख कर
इन पत्थरों के सीनों में रोप आते हैं।

पत्थर अब भी गाते हैं
अपने पागलपन में
पत्थर अब भी गाते हैं!...

ए3/283, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63

शशिकांत हिंगोणेकर की तीन मराठी कविताएँ

अगर अँगूठा होता

अगर होता तुम्हारा अँगूठा,
तो कुछ और ही होता
इतिहास
किन्तु
तुमने दे दिया
अपना अँगूठा, और
बनता ही गया
इतिहास उनका

एकलव्य,
उस दिन के बाद
उन्होंने कभी देखा नहीं
तुम्हारी ओर
मुड़कर
अगर होता तुम्हारा अँगूठा
तो देखा होता उन्होंने
सहमकर
तुम्हारी तरफ

माफ करना एकलव्य
मैं नहीं फँसूंगा अब
उनके मायावी शब्दों में
मैं नहीं दूँगा
काटकर अपना अँगूठा

युद्ध जारी है

मेरी वेदना के स्वर
सुनाई नहीं देते
किसी को भी

मैं लड़ रहा हूँ
रणक्षेत्र में
आँखों में भरकर
नीली सुबह के स्वप्न

युद्ध जारी है
मेरा
अनंत समय से
सुबह से मिलने के लिए

चट्टान

चट्टानों के चेहरों पर
पसरी होती है
घनी गहरी बेचैनी

पूछते नहीं
चट्टानों से
उनकी उम्र

उनकी पीठ के जख्मों के निशान गिनिए
और गिनते-गिनते जख्मों को भरते जाइए
ताकि
चट्टानें
गले लगा सकें तूफानों को

अनुवाद : सुरेश कुसुंबिवाल

पंचायत समिति रेस्ट हाऊस,
तार ऑफिस रोड, भुसावल

रामानुज त्रिपाठी

जेल गया बैताल

बोली मैना
सुन हीरामन
जेल गया बैताल।

रोज-रोज ही करते-करते
केवल बाहर-भीतर,
आधा भाग बटेर हो गया
आधा हिस्सा तीतर

लाख पचाया
पचा न पाया
वह चोरी का माल।

भरी सभा के बीच खुली है
फिर कानून की पोथी,
मंत्री की दमदार बुद्धि है
राजा की है थोथी

सब दरबारी
खींच रहे हैं
यहां बाल की खाल।

सुनकर सिंहासन बत्तीसी
लगा है ऐसा झटका,
आधा मन ऊपर को अटका
आधा नीचे लटका

जाने क्या
कर बैठे पुतली
आगे कौन सवाल!

ओढ़ ओढ़नी खड़ी शारदा
चूनर पहनें गौरी
उनके पीछे खड़ी लक्ष्मी
ओढ़े फटी पिछौरी

बैठे सुना रहे
नारद जी
तीन लोक का हाल।

ग्राम/पो. गरयें, सुलतानपुर
(उ.प्र.) 227304

डॉ. मोहम्मद अज़हर ढेरीवाला

झीनी झीनी बीनी चदरिया : मुस्लिम दलित जीवन की त्रासदी

प्राचीन काल से हमारा भारतीय समाज अनेक वर्गों, वर्णों एवं जाति-प्रजातियों में बिखरा हुआ नज़र आता है। शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी इन दीवारों को तोड़ नहीं पाया। हाँ, उसमें कुछ छेद जरूर हुए है, किन्तु उनका कोई महत्व नहीं है। वर्णों, वर्गों से अभिशापित ये समाज की नदियाँ आज भी उसी रूप से प्रवाहित हैं। और यह समस्या समाज के प्रत्येक वर्ग एवं धर्म में विद्यमान है। जहां एक ओर हिन्दू-समाज अनेक वर्गों-वर्णों में विभाजित है, वहीं दूसरी ओर मुस्लिम-समाज भी उससे अछूता नहीं है। यहाँ भी उच्च वर्ग वाले निम्न जातियों का शोषण करते हैं। गरीब और आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों को धर्म की दुहाई देकर शोषण की चक्की में पिसने के लिए मज़बूर किया जाता है। वैसे तो मुस्लिम समाज में अमीर वर्ग पर वर्ष में एक बार 'ज़कात' देना फर्ज किया गया है, किन्तु वह पैसा गरीबों तक पहुंच नहीं पाता। मुल्ला-वर्ग उन पैसों को मस्जिद और मदरसों के नाम पर हड़प लेते हैं एवं उन पैसों से अपना पेट भरते हैं, दुनियावी सफर करते हैं। यह सब कुदरत के कानून के तहत होता है और उनकी पकड़ करना भी बड़ी मुश्किल है। मुस्लिम समाज की इस दयनीय दशा के पीछे मुल्ला-वर्ग एवं मुस्लिम राजनेता जिम्मेदार हैं, जिन्होंने इस समाज की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। 'ज़कात' का पैसा या माल केवल गरीबों के लिए ही उपयोग में लाया जा सकता है। मौलवी-वर्ग इस माल या पैसों को सीधे रूप से अपने इस्तेमाल में नहीं ले सकते। इसके उपयोग के लिए भी उन्होंने एक उपाय निकाला 'हिलाला"। 'हिलाला' में यह होता है कि 'ज़कात' में प्राप्त वस्तु एवं रुपयों का मालिक किसी गरीब को बना दिया जाता है। फिर उसमें से उसे कुछ अंश देकर बाकी माल एवं रुपयों को दानस्वरूप देने पर उसे मज़बूर किया जाता है। अब दानस्वरूप मिले माल एवं वस्तुओं पर उनका अधिकार हो जाता है। इस प्रकार वे उन गरीबों को तो बेवकूफ बनाते हैं, साथ-साथ खुदा के उस पवित्र कानून को भी बड़ी सफाई से तोड़ते हैं।

'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने बनारस के मुस्लिम बुनकरों की दयनीय अवस्था का वर्णन किया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र मतीन बुनकरी का कार्य करते-करते इस बात को समझने लगा है कि इस काम से जिन्दगी सुधर नहीं सकती, इसलिए उसे आर्थिक रूप से मज़बूत होने के लिए एक अन्य सहारा चाहिए। इसी कारणवश वह अपने बेटे को बुनकर बनने देना नहीं चाहता। उसकी धारणा है कि जुलाहा बनकर कोई तरक्की नहीं कर सकता। "अरे बहुत होगा वह 'अंसारी' हो जायेगा और क्या? लेकिन बनारस का अंसारी होना भी जुलाहा होने से बड़ी चीज़ नहीं है, इसलिए वह चाहता है कि इकबाल पढ़-लिखकर बाबू बने। "बाबू यानी क्लर्क नहीं, अफसर।" लेखक इन बुनकरों के जीवन से खुद परिचित है। बनारसी साड़ी बनाने वाले साधारण मज़दूरों की तो और भी बुरी दशा है, क्योंकि उनके शोषण का चक्र गिरस्ता लोगों और गोलघर सेठों के बीच फैला है। लेखक ने इन बुनकरों की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि-"कीमती से कीमती साड़ियाँ बुनकर देश-विदेश के बाज़ारों में पहुंचाने वाला आम बुनकर खुद कैसे जिन्दगी जी रहा है।" किन्तु शोषण के चक्रों में दबे हुए बुनकरों में कहीं-कहीं चेतना के स्वर भी देखने को मिलते हैं। अब वे अपनी इस दयनीय अवस्था को पहचानने लगे हैं और वे सोचते भी हैं कि हमें अपने हक के लिए खुद लड़ना होगा। "आप जानते हैं कि जिस बनारसी की धूम पूरी दुनिया में हैं- आज से नहीं सैकड़ों बरस से और बल पर इन बड़े-बड़े गिरस्ता लोगों की बिल्डिगें तनी जा रही हैं...हमारे करघे कर्ज पर, रेशम कर्ज पर, सब कुछ कर्ज पर। और बदले में हमें क्या मिलता है।" इस प्रकार अपनी बदहाली का एहसास इन जुलाहों को अच्छी तरह है ओर वे अपने पिछड़ेपन के कारणों को जानने और समझने लगे हैं।

बुनकरों की स्त्रियों की तो और भी दुर्दशा है। परिवार की औरतें घर-गृहस्थी के साथ-साथ बिनकारी का भी काम करती हैं। दोनों ओर से उन्हें पिसना पड़ता है। कतान फेरते-फेरते इन बुनकरों की स्त्रियां अधिकतर क्षय की शिकार हो जाती हैं। लगता है कि यह समाज हाशिये पर अपना जीवन जी रहा है। उनकी दयनीय अवस्था का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि-एक समाज दुनिया का है। एक समाज भारत का है। एक समाज हिन्दुओं का है। एक समाज मुसलमानों का है। और एक समाज बनारस के जुलाहों का है। यह समाज कई अर्थों में हर समाज से अलग है।" इन बुनकरों में आर्थिक स्थिति के अनुसार भेदभाव है, आर्थिक रूप से सक्षम वर्ग पिछड़े और कमज़ोर वर्ग का शोषण करता है।

इन बुनकरों की आर्थिक अभावों के कारण बड़ी ही दयनीय स्थिति है। जुलाहों में से अधिकतर जुलाहे मालिकों के करघों पर बिनते हैं, जबकि ऐसा बहुत कम देखा गया है कि वे बानी पर कलान लाकर अपने करघे पर बिनते हों। और कुछ जुलाहे खुद कतान लाकर स्वतंत्र रूप से उसे बिनकर गोलघर में जाकर अच्छे दामों में उसे बेचते हैं, लेकिन इन लोगों की संख्या बहुत कम है। किन्तु अधिकतर जुलाहों की दयनीय अवस्था है, क्योंकि करघा कर्ज पर, कतान मालिक का और बिनने पर साड़ी की कीमत मालिक लगायेगा। ऐसी स्थिति में उन्हें दो वक्त की रोटी मिलना भी मुश्किल हो जाता है। मानो आर्थिक रूप से पिछड़ापन ही उनकी विवशता का कारण है। इसीलिए उपन्यास का नायक मतीन अपनी बिरादरी के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सहकारी सोसायटी बनाकर स्वतंत्र रूप से बिनकर शोषण के जाल को फेंक डालना चाहता है-" "आज वह रथयात्रा जाकर बैंक में पता करेगा कि

उसे लोन का रुपया मिल सकता है? और अपना धंधा वह अपने से करेगा। किसी हाजी-बाजी की गुलामी अब वह नहीं करेगा।" इन बुनकरों की जिन्दगी हमेशा कर्ज़ों में डूबी रहती है और अंत भी इन्हीं कर्ज़ों के बीच हो जाता है।

दूसरी ओर इस समाज पर धर्म का आवरण भी बहुत ही मज़बूती से पड़ा हुआ है। इसलिए वे अपने पिछड़ेपन से ऊपर उठ भी नहीं पा रहे हैं। धर्म के नाम पर ये जातियाँ अपना सब कुछ देने को तैयार हो जाती हैं। इसी वस्तुस्थिति का वर्णन करता हुआ लेखक कहता है कि मुहल्ले में एक मस्जिद बन रही है, उसमें औरतें अपना और अपने बच्चों का पेट काटकर भी अपने पास के ज़ेवर और बर्तन दे रही हैं। "बता रही थी कि रात में बहुत सारी औरतों ने तांबे-पीतल के बर्तन से लेकर अपने सोने के जेवर भी दे दिये हैं। मस्जिद के लिए। आखिर अल्लाह-ताला का घर बन रहा है, क्यों न कोई सवाब ले। और तो और ये औरतें परंपरागत रूढ़ियों की सबसे अधिक शिकार हैं। पुरुष कभी भी उन पर तलाक रूपी अस्त्र का उपयोग कर सकता है। "तलाक तो बिरादरी में आम बात हो गयी है। औरत जात की आखिर हैसियत क्या है? जब चाहो चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो।" और तो और इन बुनकरों में सबसे बड़ी चुनौती है लड़कियों को पढ़ाने की। क्योंकि अशिक्षित लड़कियों की जिन्दगी शादी-ब्याह के बाद बच्चे पैदा करने व कतान फेरने में ही बीत जाती है। ऊपर से दमा और क्षय का रोग इन्हें छोड़ता नहीं। इसलिए तो इकबाल कहता है- "जाति मकसद को छोड़कर अपने हक के लिए एकजुट होकर लड़ें। और दूसरी बात यह कि हम अपनी समाजी बुराइयों को खत्म करें। सोचिए, सारी दुनिया में जब कि लड़कियां पढ़-लिखकर क्या से क्या बन रही हैं हमारे घरों की लड़कियां सिरफ कुरान पढ़-पढ़कर पर्दो में बैठी कतान फेर रही हैं। उन्हें टी.बी. हो जाती है और उनकी जिन्दगी जहर हो जाती है।" बुनकरों की औरतें सब एक समान हैं। चाहे वह बनारस की शहरी औरतें हों या फिर मऊ के ग्रामीण बुनकरों की। इसी बात की ओर संकेत करता हुआ लेखक कहता है कि वहां बनारस में औरत की जिन्दगी कतान में बन्द है और यहां करघे में। बच्चे पैदा करना, खाना-पकाना, शौहर की खिदमत करना और पर्दे में रहना-ये सब चीजें अतिरिक्त और समान हैं।"

यह जाति अज्ञानता से इतनी जकड़ी हुई है कि इसमें राजनीतिक चेतना का भी अभाव है। उपन्यास का प्रमुख पात्र मतीन बैंक ऋण लेकर इनके हालात को सुधारना चाहता है, किन्तु वह इस कार्य में असफल होता है। उसका इस्तेमाल भी 'वोट-बैंक' के रूप में किया जाता है। नेता लोग केवल भाषण देते हुए नज़र आते हैं। उनकी आर्थिक एवं दयनीय स्थिति की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। जिसके पास अपना कतान है उसकी स्थिति कुछ हद तक बेहतर है, किन्तु जिसका कतान और करघा उधार है उसकी जिन्दगी भी मानो उधार की-सी हो जाती है। ऐसी स्थिति में इन लोगों की अज्ञानता भी इन्हें आगे बढ़ने नहीं देती। एक रुढ़िग्रस्त मानसिकता वाला व्यक्ति मतीन से कहता है कि "हमेशा से जो होता आया है, वही न होगा कि अल्ला मियाँ का निज़ाम तू बदल देगा? अरे जो गरीब है वह गरीब ही रहेगा, चाहे लाख कोशिश करो। अल्ला मियाँ ने जिसे अमीर बना दिया है वह अमीर ही रहेगा। लोन लेने से थोड़ी गरीबी मिट जायेगी। अरे फकीर और बादशाहत सब खुदा की देन है।" इसी मानसिकता के शिकार बने ये बुनकर सरकारी ऋण पाने में असफल होते हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन बुनकरों की इस दयनीय स्थिति के लिए वे खुद भी जिम्मेदार हैं और दूसरी ओर अनेक धार्मिक, राजनीतिक कारण भी। जब तक यह समाज शिक्षित नहीं बनेगा, तब तक इसकी यही स्थिति रहेगी। लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से इसी सत्य को सामने लाने का एक सफल प्रयास किया है।

झीनी झीनी बीनी चदरिया : अब्दुल बिस्मिल्लाह; राजकमल प्रकाशन प्र.लि., नई दिल्ली

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, म.स. युनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा

डॉ. वीरेन्द्र सिंह

गीतों की संरचना में यथार्थ के रूप

श्री बृजनाथ श्रीवास्तव भूगोल के अध्येता हैं और इसी के साथ वे एक उभरते हुए गीतकार हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं उन रचनाकारों के प्रति आकर्षित होता हूँ जो किसी अन्य ज्ञानानुशासन से संबंधित हैं। इस दृष्टि से श्री बृजनाथ श्रीवास्तव का पहला गीत-संग्रह' 'दस्तखत पलाश के' ने मुझे आकर्षित किया। उनके इस गीत संग्रह से गुजरने पर मुझे लगा कि उनमें कुछ संभावनाएं हैं जो भविष्य की ओर संकेत करती हैं।

साहित्य समालोचना में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का ग्रहण है जो भिन्न ज्ञानानुशासनों से लिए गए हैं जो आलोचना के 'बीज-शब्द' हैं। संरचना (भौतिकी), चेतन अचेतन ग्रंथि (मनोविज्ञान) सर्वहारा, वर्गहीन समाजन, द्वन्द्वात्मकता (मार्क्सवादी दर्शन) तथा अग्रगामिता (फोर ग्राउंडिंग), व्यंजना लक्षणा, अभिध ाा (भाषा विज्ञान) ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिन्हें समालोचना में लगातार प्रयुक्त किया जा रहा है जो आलोचना के अंतः अनुशासनीय रूप की ओर संकेत हैं। इन शब्दों में 'संरचना' की आलोचना में एक मुख्य तरह के रूप में ग्रहण किया गया है जो मूलतः भौतिकी का शब्द है और जो अन्य ज्ञानानुशासनों में भी प्रयुक्त होता रहा है। साहित्य की अन्य ज्ञानानुशासनों में भी प्रयुक्त होता रहा है। साहित्य की कोई भी विधा (मुक्त छंद, गीत, गज़ल, उपन्यास, कहानी आदि हों, वह किसी न किसी रूप में

संरचना के द्वारा ही अर्थ ग्रहण करता है। भौतिकी में 'संरचना' का प्रयोग परमाणु की संरचना के संदर्भ में हुआ है जो अपने घटकों या अंशों (न्यूक्लियस, चइलेक्ट्रान, प्रोटान आदि) के द्वारा सम्पूर्ण (परमाणु, की ओर संकेत करता है। अतः संरचना के दो तत्व हैं एक घटक या अंश और दूसरा सम्पूर्ण या कथ्य। ये घटक अपने सह अस्तित्व के द्वारा किसी कथ्य या आंतरिक संरचना को अर्थ देते हैं, क्योंकि इन घटकों का महत्व ही इस बात में है कि वे समग्र रूप से 'सम्पूर्ण' की ब्यंजना करें। यही कारण है कि सृजन में इन घटकों का विशेष स्थान है। गीत की संरचना संक्षिप्त, सपाट तथा केन्द्रीभूत होती है जिसके घटक हैं शब्द, प्रतीक, पात्र, इतिवृत्त तथा मिथक आदि जो न्यूनाधिक रूप से किसी कथ्य या आंतरिक संरचना की ओर संकेत करते हैं। एक अन्य तत्व जो सारी संरचना में व्याप्त रहता है। वह है छंद की लय तथा ध्वनि। छंद का प्राण है लय तथा ध्वनि जो हरेक विधा के लिए अनिवार्य है। गीत की संरचना में शब्द-संयोजन तथा अर्थ की भंगिमाएं इस प्रकार संयोजित रहती हैं कि उनमें एक लयात्मक संगीत होता है। श्रीवास्तव जी के गीतों में यह लय किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है। गीतकार में प्रकृति, गाँव तथा जगत की वस्तुओं तथा घटनाओं आदि घटकों के द्वारा 'समय' (दिन) के भिन्न परिवर्तित रूपों को व्यक्त किया गया है। गीत की यह संरचना गीतकार द्वारा नवनिर्मित छंद के द्वारा संकेतित होती है जो पारम्परिक जकड़न से मुक्त होकर नयी छंद-संरचना करता है जिसमें लय भी है और ध्वनि भी -

"होते दिन कभी फागुन/कभी दिन चैत होते हैं
कभी दिन ईख बनकर/ आम होकर रस भिगोते हैं।
पकड़ लेते कभी दिन को/ कभी दिन हैं फिसल जाते
कभी दिन ठोस होते हैं/ कभी दिन हैं पिघल जाते।

इस गीत में फागुन, चैत, ठोस, पिघल तथा फिसल आदि घटक शब्दों द्वारा समय के परिवर्तित तथा मनोवैज्ञानिक रूपों को ऋतुओं और वस्तुओं द्वारा व्यक्त किया गया है जो सांकेतिक है। 'दिन' शब्द समग्र रूप से काल या समय वाचक है। सामान्य रूप से इन गीतों में काल को पकड़ने का प्रयास है जो वर्तमान खण्ड पर पैर जमाकर अतीत (मिथक, इतिहास आदि के पात्र आदि) तथा संभावना (भविष्य) की पुनर्रचना और कल्पना करता है क्योंकि मानव चेतना की पश्चगामी (अतीत-स्मृति) तथा अग्रगामी (संभावना भावी) नियति होती है, या यों कहे कि चेतना निरपेक्ष न होकर अतीत और भविष्य की दृष्टि से सापेक्ष होती है। रचनाकार अपने समय के बिन्दु पर खड़े होकर इस काल बोध को अनुभव-बिम्बों प्रतीकों आदि के द्वारा अर्थ देता है और कवि के गीत इस माँग को परोक्ष रूप से पूरा करते हैं।

अनेक उदाहरणों में एक उदाहरण है प्रेमचंद के गोदान उपन्यास के होरी, धनिया पात्रों के द्वार वर्तमान गरीबी की त्रासदी तथा भविष्य की भावी संकल्पना का चित्र जो यथार्थपरक होते हुए भी इसमें संवेदना का गहरा पुट है। होरी का यह कथन त्रासदी की ओर संकेत है-"ताक रहा आकाश कभी/ और कभी धरती में ताके/ दिन रात कमाने पर भी/ घर में होते हैं क्यों फाके। होरी कहता भरी आँख से/ किस्मत ही मेरी फूट गई।" इसी गीत में धनिया से होरी का कथन भविष्य या संभावना की ओर संकेत है-"धनिया तू ही देख जमाना/ कैसी करवट लेता है/ मेहनत कश को/ कौन यहां पर/ कभी कहीं कुछ देता है।" यहाँ उस श्रमिक की ओर संकेत है जो शोषक के प्रति परोक्ष व्यंग्य है। इतिहास में यह शोषक-शोषित, 'है और है नहीं' (हैव और हैव नाट) का द्वन्द्व सदा से हो रहा है जिसकी ओर यह गीत अत्यंत सांकेतिक रूप से प्रकट करता है।

कालबोध के भिन्न रूपों के कवि मूलतः तीन संदर्भों में पकड़ने का प्रयत्न करता है-ऋतु संदर्भ, ग्रामांचल संदर्भ तथा पारिवारिक बिम्बक-गीत की सारी संरचना इन्हीं अनुभव बिम्बों पर आधारित है। बसंत वर्षा, अगहन, जेठ आदि के स्वतंत्र चित्रों के साथ कहीं-कहीं इनका अर्थरूपांतरण यापक संदर्भो में किया गया है तथा जेठ के वर्णन में जहां, जली दोपहरी तथा रात के चांद-सितारे हुए उमस के नाम' में जेठ के स्वरूप का वर्णन है, वहीं 'तन कर बैठा जेठ माफिया/ घर की गागर में' के द्वारा समकालीन 'माफिया' के अन्तर्राष्ट्रीय रूप को व्यंजित किया गया है। इसी प्रकार घर के टूटते रिश्तों का चित्र तथा दूसरी ओर घर का यह त्रासद वातावरण - "हवा संदली बौरा फागुन/कोकिल के स्वर दूर/ भूख-प्रदूषण/ शैषण हत्या/ आज हुए मशहूर।" गांव के द्वारा वहाँ की त्रासद दशा के साथ भविष्य की एक कल्पना कवि के मोहभंग का एक अच्छा उदाहरण है- 'सोनमाटी में/ सुनहरी/ बालियां होगी। सोनघर में/ स्वर्ण की ही थालियां होंगी। सलोने/ सोन छप्पर/ नीम घर फिर से सुहायेंगे।" अतः सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि गीत की अपनी संरचना में अनुभव बिम्बों आदि का वह रूप नहीं प्राप्त होता है जो मुक्त छंद या लम्बी कविता में प्राप्त होता है क्योंकि संरचना की यही मांग है। मुक्त छंद में जो विस्तार हो सकता है वह गीत की संक्षिप्त संरचना में सम्भव नहीं है, और यह भी सत्य है कि आज के गीत संक्षिप्त व सघन रूप में भी विस्तार और बिखराव को केन्द्रीभूत करने में सफल हुए हैं और बृजनाथ जी के गीत इस संरचनात्मक मांग को अपनी तरह से अर्थ देते हैं जो आज के गीतों की परिवर्तित संरचनात्मक बोध का एक शुभ लक्षण है। इसके अलावा उनके गीतों में संरचना का पुट

है, उतावलापन का अभाव है गति और कथन का गहरा संदर्भ है जो एक गंभीर व्यक्तित्व का ही फल हो सकता है।

बृजनाथ श्रीवास्तव की रचना का एक प्रमुख अंग राजनीति है जिसकी बिडंबनाओं तथा विसंगतियों को लेकर अनेक गीतों की परोक्ष या प्रत्यक्ष रचना हुई है। भारतीय राजनीति का चरित्र क्या है, इस पर कवि की उक्ति ध्यान देने योग्य है जो एक यथार्थ है-

"फिर चोगे सामंती
लोकतंत्र ओढ़ने लगा
जनगण मन तोड़ने लगा

गांव-गांव, नगर-नगर
क्षत्रप फिर उठ खड़े हुए
कानूनी दाँव पेंच
शोषण कर फिर बड़े हुए

डॉ. रामविलास शर्मा ने माना है कि लोकतंत्र का सही रूप उस समय तक नहीं आ सकता जब तक उसमें सामंती अवशेष रहेंगे। और यह सामंती अवशेष क्रांति को होने नहीं देंगे। सामंतवाद अपने नए रूप में इन नए मुखिया, बी.डी.ओ, नेता मंत्री आदि) के उदय के साथ लोकतंत्र में आए हैं। गीत में क्षेत्रवाद, जातिवाद तथा धर्मवाद के नए गुटों की ओर संकेत इसी सामंतवाद का दूषित प्रभाव है। एक अन्य गीत में राजनीति रूपी रंभा का चित्र इस प्रकार है- "दैहिक रस चाख रहे। राजनीति रंभा का। आर्टिकल मनोरम है। चौथे जनखंभा का।"

भूमंडलीकरण का आर्थिक साम्राज्यवाद जो पश्चिम के देशों (जिसमें अमरीका प्रमुख है) का षड्यंत्र है, उसे गीतकार ने पूंजीवाद के अपने 'तासीर बदलते दिन' का जिक्र सांकेतिक रूप से प्रकृति रूपाकारों के द्वारा किया है और अंत में 'पश्चिम के ग्लोबल मुख' से समय के भिन्न रूप निकल रहे हैं जो दूसरी-तीसरी दुनिया को अपने गिरफ्त में लेते जा रहे हैं। यह सारा संकेत अत्यंत परोक्ष एवं सांकेतिक हैं-

"नाम वही/लेकिन अपनी/तासीर बदलते दिन।
लेकिन अब तो/ सावन के घर/आग उगलते दिन।
ग्लोबल मुख से/ आज निकलते दिन।"

समग्रतः गीतकार ने आज के द्वन्द्वात्मक एवं त्रासद यथार्थ के रूपों को सांकेतिक रूप में व्यक्त किया है और इस अभिव्यक्ति में उसने अधिकतर उन रूपाकारों-प्रतीकों-मिथकों आदि का प्रयोग किया है जो परम्परा से प्राप्त हैं, पर उनका समय संदर्भ के अनुसार अर्थ-रूपांतरण किया है। स्वयं गीतकार भूगोल का अध्येता है, पर उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मुझे गीतों में प्राप्त नहीं हुआ है। ज्ञान-विज्ञान में नए प्रतीक या शब्द उनकी रचनाओं में नहीं के बराबर हैं तथा आशयों का भी बहुत कम संकेत हैं। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूं कि गीतकार एक अन्य साहित्येतर विषय का जानकार है तथा उसका कुछ न कुछ प्रभाव रचना में प्रतिबिम्बित होना चाहिए-यह मेरा प्रस्ताव है, कोई निर्देश नहीं क्योंकि रचनाकार अपने सृजन का उत्तरदायी स्वयं है। आलोचक तो मात्र उससे 'संवाद' करता है जो मेरी दृष्टि से 'एकतरफा व्यापार नहीं है।

दस्तखत पलाश के' : बृजनाथ श्रीवास्तव; गौरव प्रकाशन, 21 चाणक्यपुरी, ई-श्यामनगर, न्यू पी.ए.सी. लाइन कानपुर-208015 मूल्य 150 रुपए; पृष्ठ- 135, प्रथम संस्करण-2004

5 झ 15, जवाहर नगर, जयपुर (राजस्थान)-302004

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

समकालीन चरित्रों की अंतर्यात्रा

परस्पर कुर्बानी, समर्पण, एक-दूजे के लिए आदि उद्गारों को डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना ने अपने नए कहानी-संग्रह 'इक-दूजे के लिए नहीं' में तार्किकता के साथ नकारा है। इस संग्रह की अधिकांश कहानियों का कथ्य है कि वैवाहिक जीवन और प्रेम में सामंजस्य नहीं रह गया है या उनका संतुलन बिगड़ गया है। अतः प्रेम है तो विवाह नहीं है और विवाह है तो प्रेम नहीं है। कारण स्पष्ट है कि प्रेम में साहचर्य और संवाद के लिए जो तड़प होती है, वह विवाह में रह नहीं पाती या समाप्त हो जाती है। वहाँ आपसी मनमुटाव और अहं प्रबल हो जाता है। वस्तुतः जिसको व्यक्ति पा लेता है या जीत लेता है या भोग लेता है, उसका आकर्षण धीरे-धीरे कम होने लगता है। पुरूरवा ने अपनी नई प्रेमिका (पत्नी) उर्वशी के साथ गंधमादन पर्वत पर मधुयामिनी मनाई, यद्यपि उसकी पहली पत्नी ओशिनरी भी सुंदरी थी। इसी तरह अन्य अनेक उदाहरण भी हमारी पौराणिक कथाओं में खोजे जा सकते हैं।

कार्ल रोजर्स ने भी दांपत्य की सफलता, सरसता की एक कविता में सूर्योदय के दृश्य से तुलना की है। उषाकाल अधिक समय तक नहीं रहता। पूर्वी क्षितिज पर लालिमा का बिखरना और शनैः शनैः सूर्यगोलक का बाहर निकलना-बस! यदि उषा की लालिमा से अपेक्षा की जाए कि वह देर तक रहे, तो यह संभव नहीं है। इसी प्रकार यदि प्रेम और दाम्पत्य में भी ऐसी अपेक्षाएँ की जाएँ, जो संभव नहीं हैं, तो टकराव होगा ही। उदाहरणार्थ समीक्षाधीन संग्रह की 'आधी सदी की त्रासदी' (कहानी) की नायिका नलिनी से अपेक्षा की जाती है कि वह बाहर नौकरी करते हुए भी घर का काम नौकरानी की तरह

करती रहे। नतीजा यह होता है कि नलिनी पति और बच्चों की 'गुलामी' करते-करते इस मानसिक स्थिति तक पहुँच जाती है कि अपने ऊपर से उसकी आस्था ही उठने लगती है। उसे अहसास होता है कि अब केवल बेजान चीजें ही उसके पक्ष में रह गई हैं, क्योंकि परिवार के सभी सदस्य उसके विरोधी हो गए हैं। इस क्रम में कहानीकार डॉ. सक्सेना ने गैस के चूल्हे और नायिका नलिनी के बीच जो संवाद लिखा है, वह बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है-'तेरी रंगोली के रंग ही अब फीके पड़ने लगे हैं। तू जितना मुक्त होना चाहती है, तेरे बंधन उतने ही कसते जा रहे हैं।...मिट्टी के चूल्हे से गैस के चूल्हे में बदलकर मेरा काम आसान हो गया। मेरे जलने की अवधि भी कम हो गई। पर तेरे कामों में बढ़ोत्तरी ही होती गई है।" (पृ. 112)

दाम्पत्य के बिखरने और परिवारों के टूटने का असर अब इतना व्यापक हो गया है कि विवाहित स्त्रियाँ भी कहीं छिपकर, कहीं प्रत्यक्ष रूप से, विवाहेतर प्रेम-संबंधों को स्वीकार करने लगी हैं। डॉ. सक्सेना ने तीन दशक पहले 'काम-संबंधों के यथार्थ' पर शोधकार्य संपन्न करके पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की थी और सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग करके प्रश्नावली बनाकर पाठकीय सर्वेक्षण भी किया था। तथाकथित नैतिकतावादियों के लिए भले ही 'काम' वर्जित क्षेत्र रहा हो, पर डॉ. सक्सेना ने स्थिति के अनुसार अपनी कहानियों में विवाहेतर प्रेम और काम-संबंध में कई वर्जनाओं को तोड़कर स्थिति का यथातथ्य विश्लेषण किया है। उदाहरणार्थ 'काजू-फेनी' कहानी का विश्लेषण प्रस्तुत है:-

"सतीश से नियंत्रण न हो सका। बिजली की-सी तेजी से झपटकर उसने लिली को अपनी बांहों में उठा लिया और उसके सारे शरीर को चूमते हुए उसे बिस्तर पर धर पटका।

"नाउ स्टाप सतीश, प्लीज! आइ रिक्वेस्ट यू (अब रुक जाओ सतीश, मैं प्रार्थना करती हूँ)" लिली ने उसके सामने हाथ जोड़े। "मैंने तुम्हारी इच्छा पूरी कर दी, अब तुम मेरी इच्छा का ध्यान रखो।"

"इसका मतलब है, तुम मुझसे प्यार नहीं करतीं?" सतीश रुआँसा हो आया।

"प्यार मैं जरूर करती हूँ, लेकिन विवाह मैंने ऐल्फ्रेड से किया है। और किसी दूसरे प्रेमी के साथ मैं एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती- न ही बढ़ना चाहती हूँ।" (पृ. 98)

यहाँ कहानीकार लिली को पूर्णतः संयमी, दृढ़ और नैतिकतावादी भी बना सकता था, पर उसने दोनों पक्षों को अनावृत किया। एक अन्य कहानी 'पुनर्जन्म' में भी वैवाहिक संस्था की अनिवार्यता और महत्ता पर जो टिप्पणी की गई है, वह पुरुष की दृष्टि की भी परिचायक है-"मैं विवाह संस्था को उसकी संभावनाओं और सीमाओं के साथ स्वीकार कर चुका हूँ। यह उसी तरह है, जैसे मैंने जीवनयापन के लिए नौकरी को उसकी संभावनाओं और सीमाओं के साथ स्वीकार कर लिया है।" (पृ. 128) यहाँ 'पुनर्जन्म' की नायिका आरती की अगले जन्म में पति के रूप में किसी अन्य पुरुष को पाने की अभिलाषा एक फैंटेसी के रूप में सामने आती है। उसके पारिवारिक जीवन में समस्याएँ हैं, तनाव है, इसलिए वह लोकलाज और मर्यादा के कारण अगले जन्म में दूसरी तरह का पति पाने की कल्पना करने लगती है और उसके लिए पूजा-पाठ भी करती रहती है!

भीष्म साहनी ने लिखा है- "कहानी, घटनाओं के कारण महान नहीं होती, चरित्रों के कारण महान होती है। 'कफन' में घटना उतनी सबल नहीं है, जितनी बाप-बेटों की निर्लज्जता, संवेदनहीनता। चरित्र जो दिखता है, वह है नहीं, वह तो हिमशिला है। दस-पंद्रह प्रतिशत दृश्य, शेष अदृश्य! इस अदृश्य अज्ञात, रहस्य की अंतर्यात्रा कहानी की मुख्य चेतना है।" अतः 'इक-दूजे के लिए नहीं' की आरती हो या नलिनी या किरण (विकिरणगाथा) या फिर लिली, सभी भीतर से बिखरी, टूटी हैं और कठोर यथार्थ से टकरा रही हैं या समझौता कर रही हैं। इसी कारण वे स्वप्न, कल्पना या फैंटेसी में जी रही हैं।

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना का कहानीकार इतना सहृदय है कि वह उक्त नायिकाओं या उन जैसी अन्य स्त्रियों की उलझन और यंत्रणा को शब्द दे सका है, पर उन्हें गलदश्रु भावुकता से दूर रखा है। जीवन के प्रति उसका नज़रिया भी ऊँचा है, भले ही वह उस नज़रिया के अनुसार अपने पात्रों को महत्वाकांक्षी न बना पाया हो। 'दो विधवाएँ' (संग्रह की पहली कहानी) से लेकर 'इक-दूजे के लिए नहीं' (संग्रह की अंतिम कहानी) तक सभी में मानवीयता का पक्ष तो प्रबल है ही।

इस तरह इस संग्रह में कहानीकार समकालीन चरित्रों के अंतर्द्वंद्वों की यात्रा करता है और अपने पाठकों को भी कराता है। वह भारतीय परिवार के आदर्श और यथार्थ का विश्लेषण करने का भी प्रयास करता है और उसके भीतरी सच को जीवंत भाषा में उजागर करने की कोशिश करता है, जिसमें वह सफल भी होता है। उसकी भाषा सरल और सहज है और उसने आवश्यकतानुसार अप्रस्तुत, बिंब, उपमा आदि का भी उपयोग किया है, ताकि भाषा प्रभावी बन सके।

एक-दूजे के लिए नहीं : डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना; मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032; प्र.सं. 2004; पृष्ठ 168; मूल्य 200 रुपये

वृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद-826001

प्रीति खड़गावत

नारी व नारीवाद को समझने की कशमकश - कई मोड़ों के बाद

श्री हरदर्शन सहगल के सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'कई मोड़ों के बाद' में प्रवेश करने पर पहले लगता है कि यह दो बहनों, अंकिता और अंजिता की लम्बी कहानी है, जिनमें परस्पर प्रेम, सहयोग के साथ-साथ जबरदस्त टकराहट भी है।

दरअसल यह व्यक्ति की अस्मिता को लेकर एक ताना-बाना है। इसमें लगभग सभी पात्र विशेष रूप से अंकिता, अंजिता और ब्रजेश बहुत ही संश्लिष्ट चरित्र हैं। मोटे तौर से अंकिता जैसे पाश्चात्य जीवन शैली और तथाकथित नारी स्वतंत्रता वाले जीवन की पक्षधर है, जबकि अंजिता पारम्परिक सांस्कृतिक, परिवेशगत नीतियों, जो हमें विरासत में मिली हैं, की पोषक है।

उपन्यास में बहुत सारे चरित्र आते हैं जो अपने सम्पूर्ण जीवटता व जीवन्ता के साथ उपन्यास के कथानक को पुष्ट करते चले जाते हैं, जैसे अंजिता और अंकिता के पिता कृपाशंकर जिनकी पत्नी का बहुत पहले निधन हो चुका है। वे दोनों लड़कियों के विवाह की चिन्ता में निमग्न रहते हैं। अंकिता की अपनी विशिष्ट विचारधारा उनके आड़े आती है। अंकिता बड़ी है, इसलिए कृपाशंकर जी छोटी लड़की अंजिता की शादी भी पहले नहीं कर पा रहे हैं। पिता की इस टेंशन को लेखक ने बहुत ही शिद्दत के साथ उभारा है। अंकिता आकाशवाणी में प्रोड्यूसर के पद पर कार्यरत है, और निरन्तर 'ड्रामें' करती है, इस क्षेत्र में उसका बहुत बड़ा नाम है।

उपन्यास का एक अन्य विशिष्ट चरित्र पावन है जो अंकिता के पास विवाह प्रस्ताव लेकर आता है, परन्तु अंकिता की अपनी विचारधारा फिर आड़े आती है और वह पावन को नकार देती है। पावन और ब्रजेश घनिष्ट मित्र हैं। ब्रजेश के विषय में सुन-सुनकर ही अंकिता को लगने लगता है कि हो न हो, वही अनदेखा युवक ब्रजेश उसका जीवन-साथी बनने योग्य है।

यह उपन्यास नारी अस्मिता वास्तव में क्या है, इसकी ओर बार-बार इंगित करता है। नारी अस्मिता, व्यक्तिवाद, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता जैसे प्रच्छन्न प्रश्नों के साथ-साथ बहुत ही सहज-सरल भाव से अपनी परम्परागत जीवन शैली की टकराहट का सामना करता है।

लेखक जीवन का कोई भी पक्ष पाठक पर आरोपित करता नहीं दिखता। यह तटस्थता उपन्यास की शक्ति भी है और सीमा भी।

कई मोड़ों के बाद : हरदर्शन सहगल; मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32; मूल्य 175 रुपए

द्वारा : श्री माणक खड़गावत
खड़गावतों का मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

लघु कथा

हरिवंश अनेजा

अन्तर

रात के दस बजे थे कि फोन बज उठा। रिसीवर कान से लगाया तो भीमसेन बोल रहा थ, 'हैलो! मैं भीम...'

मैंने उसकी बात काटते हुए कहा, 'हाँ, हाँ, पहचान लिया, बोलो, इस वक्त क्या हो गया?'

'बाऊजी! हुआ कुछ नहीं...बल्कि आपके भाई किशोर लाल जी आए हैं और मुझसे....'

'कहाँ है वो और तुमसे क्या...'

'वो दूसरे कमरे में हैं। वो मुझसे पांच हजार रुपये उधार लेने आए हैं। उन्हें 'हाँ' करने से पहले आपसे पूछना जरूरी था कि दूं या नहीं, क्योंकि मैं तो उनके लेन-देन के बारे में कुछ जानता नहीं।'

'अच्छा किया जो पूछ लिया। यह ठीक है कि वह मेरा छोटा भाई है और मेरी इज्ज़त भी बहुत करता है, बल्कि घर के छोटे-बड़े काम के लिए मुझसे सलाह-मशविरा लिए बिना नहीं रहता, फिर भी...!' मैंने असमंजस में पड़ते हुए कहा।

'फिर भी क्या?' भीसेन का सवाल था।

'फिर भी मैं इस बारे में कोई हामी नहीं भरता। देखो, तुम कुछ गोल-मोल बात करके उसे टाल दो तो यह हम दोनों की भलाई में होगा।'

दो-तीन महीने बाद सवेरे-ही-सवेरे भीमसेन मुझे पार्क में सैर करते हुए मिला। मेरे पांच छूते हुए बोला, 'बाऊजी! परसों आपका भाई ईश्वरनाथ आया था।'

'कैसे आया था वो?'

'आपको नहीं पता? वह अपना व्यापार बढ़ाने के लिए मुझसे कुछ रुपये उधार लेकर उसमें लगाना चाहता है।'

'नहीं, मुझे सचमुच मालूम नहीं। कारण यह है कि उसके साथ हमारी बोल-चाल, हमारा आना-जाना पिछले सात-आठ बरसों से बन्द है। बाहर कहीं हम मिलें तो नमस्ते-वमस्ते हो जाती है। छोटा है, पाँव भी छूता है, घर का हालचाल भी पूछ लेता है। बस और कुछ नहीं।'

'अच्छा!' भीम हैरान होकर बोला, फिर कहने लगा, 'तो मैं उसे पच्चीस हज़ार रुपये उधार में न दूं, इसका तो यही मतलब हुआ।'

'क्यों न दो? अरे, वह पच्चीस की बजाय पचास भी मांगे तो चुपचाप दे दो। वह नहीं लौटाए तो मैं लौटा दूंगा।'

212-बी/2, अर्जुन गली, पाड़ा मोहल्ला, रोहतक-124001

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ नई-पुरानी पत्रिकाएँ

लघु पत्रिकाओं का प्रकाशन कार्य जितना कठिन होता जा रहा है- कागज़, छपाई, डाक खर्च आदि में हुई अत्यधिक वृद्धि के कारण- यह देखकर आश्चर्य होता है कि जगह-जगह से उनके प्रकाशन में उतनी ही गति आती जा रही है। नई प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं की चर्चा मैं लगातार इस स्तंभ में करता रहा हूँ, पिछले अंक में ऐसी कुछ पत्रिकाओं की चर्चा की। इस बीच कई अन्य पत्रिकाएं भी सामने आई हैं जिनका प्रकाशन कुछ समय पूर्व ही प्रारम्भ हुआ है। 'संवेद वाराणसी' (सं. कमला प्रसाद मिश्र, 64 डी, गणेशधाम कॉलोनी, नेवादा, सुन्दरपुर, वाराणसी) की चर्चा इस संदर्भ में सबसे पहले करना चाहूंगा। कुछ समय पूर्व शुकदेव सिंह के संपादन में इसके दो या तीन अंक प्रकाशित हुए थे किन्तु अनेक विवादों के कारण संभवतः इसका प्रकाशन रुक गया था। अब नए रूपरंग में और नए व्यक्ति के संपादन में इसका प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ है जिसे एक सुखद स्थिति ही माना जाएगा क्योंकि बहुत कम पत्रिकाएं ऐसी होती हैं जो बंद हो जाने के बाद पुनः प्रकाशित हो सकें। इस पत्रिका में अब विचार से अधिक रचनाओं की श्रेष्ठता पर ध्यान दिया जा रहा है। यह भी प्रशंसनीय है। मेरे सामने इसका तीसरा अंक है जिसमें कई महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। ललन तिवारी और कुंदन सिंह परिहार की कहानियां, पंकज गौतम, बच्चन सिंह और भवदेव पांडेय के लेख तथा मिथिलेश्वर के उपन्यास 'सुरंग में सुबह' पर विनोद शाही की विवेचनात्मक समीक्षा अवश्य पठनीय हैं। पूरी तरह से साहित्य तक ही सीमित यह पत्रिका भविष्य में लघु-पत्रिकाओं के लिए एक मानदंड बन सकती है।

दिल्ली से प्रकाशित 'समकालीन अभिव्यक्ति' (सं. उपेन्द्र कुमार मिश्र, 458बी/6बी, वार्ड नं. 3, महरौली, नई दिल्ली) के भी अभी ज्यादा अंक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इस त्रैमासिक पत्रिका का संयुक्तांक (12-13) अभी आया है। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक चेतना की वैविध्यपूर्ण प्रस्तुति करने वाली इस पत्रिका में अनेक विधाओं और विषयों को समेटने की कोशिश है। इस अंक में छह कहानियां, आठ लेख, दस कवियों की कविताएँ, व्यंग्य, साक्षात्कार, समीक्षा तथा अन्य स्तम्भ हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि हर तरह के पाठकों को ध्यान में रखकर सामग्री का चयन किया जाता है, इस कारण बहुत सारी कमजोर रचनाएं भी यहां उपलब्ध हैं, विशेष रूप से कविताएं। हरिशंकर राढ़ी की व्यंग्य रचना 'हितोपदेश भाग दो' एक रोचक रचना है जो आज की सत्ता और व्यवस्था पर करारा व्यंग्य ही नहीं करती, चेहरों पर से मुखौटे भी उतारकर रख देती है। इन्दिरा राय की कहानी 'बादल रीत गए' एवं विनोद कुमार 'शौख' की कहानी 'तिरस्कार', ब्रजेन्द्र त्रिपाठी का लेख 'भारतीय संस्कृति में हिन्दी की भूमिका', और उपेन्द्र कुमार मिश्र का संपादकीय लेख 'नारी मुक्ति का देहवादी स्वरूप' अच्छी रचनाएं हैं जो पत्रिका को गंभीर स्वरूप प्रदान करती हैं।

हेतु भारद्वाज के संपादन में प्रकाशित होने वाली 'समय माजरा' (राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, आगरा रोड, जयपुर, राजस्थान) जनवरी 2005 के अंक के साथ छठे वर्ष में प्रवेश कर रही है। पांच वर्षों में इसके 55 अंक प्रकाशित हुए हैं जो सिद्ध करता है कि तमाम असुविधाओं, अवरोधों और आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित होती रही है। किसी भी लघु पत्रिका के लिए नियमितता एक चुनौती है जिसे इस पत्रिका ने स्वीकारा है जिसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। यह अंक लेखों और निबंधों को पूर्णतया समर्पित है। अम्बिका दत्त की तीन कविताओं और सीमा फरीदी की एक ग़ज़ल को अवश्य स्थान मिला है परन्तु कहानी कोई नहीं है। किन्तु साहित्य के गंभीर पाठकों के लिए इससे कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि लेख महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाने वाले हैं और सोच की भूमिका तैयार करते हैं। प्रेमचंद गांधी का 'हमारे समय में पूंजी', विनोद शाही का 'भक्ति की राजनैतिक अन्तर्भूभि और तुलसी', आलोक भरत का 'प्रगतिवादी आलोचना : मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण', सगीर अफराहीज का 'उर्दू कहानी-कल और आज' तथा ब्रजरतन जोशी का 'बदल रहा है मीडिया का भाषा चरित्र और व्यवहार' पठनीय तो हैं ही, विचारोत्तेजक भी हैं।

राजस्थान से ही प्रकाशित 'संबोधन' (सं. कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली, जिला राजसमन्द) लघु पत्रिकाओं के बीच एक बहुत ही पुरानी पत्रिका है जो अब अपने प्रकाशन के चालीसवें वर्ष के करीब है। यह एक व्यक्ति (कमर मेवाड़ी) की कर्मठता और संलग्नता का ही परिणाम है अन्यथा आज समर्थ और साधनसम्पन्न लोग भी यह साहस नहीं दिखा पाते हैं। जनवरी-मार्च 2005 अंक में पंजाबी की बहुचर्चित कथा-लेखिका अजीत कौर से रूप सिंह चंदेल की बहुत ही महत्वपूर्ण बातचीत है जिसमें अजीत कौर ने अपने व्यक्तिगत जीवन की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत की है। स्वयंप्रकाश का 'जस्सी क्या बेचती है' आज के बाजारवाद को व्याख्यायित करता एक विशेष लेख है। स्वयंप्रकाश का यह कहना बिलकुल सच है कि बाजारवाद के चलते बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने जो मायाजाल फैलाया है और उसके चलते बचत का स्थान निवेश ने, स्वास्थ्य का स्थान सुन्दरता ने, सादगी का स्थान दिखावे और फिजूलखर्ची ने, संचय का स्थान उपभोग ने, सामूहिकता का स्थान इकलखुरेपन ने और आयोजन का स्थान क्षणवाद ने लिया है। कार हो जाए,

सड़क हो न हो, मकान हो जाए, पड़ोस हो न हो, सजावट हो जाए, सफाई हो न हो, समृद्धि हो जाए, शांति हो न हो, और जो होना है आज ही हो जाए, कल हो न हो। इस चिंतनीय स्थिति पर हमें गंभीरता से सोचना होगा, तय करना होगा कि क्या हम जस्सी जैसा ही बनना चाहेंगे? अंक में मात्र एक कहानी है, अशोक गुप्ता की 'अमावस के गुलमोहर' जो आज के साधारण व्यक्ति के असंतोष और पीड़ा को अच्छी तरह उजागर करती है।

करीब पैंतीस वर्षों से प्रकाशित हो रही पत्रिका 'तनाव' (सं. बंशी माहेश्वरी, 57, मंगलवारा, पिपरिया, म.प्र.) भी एक कर्मठ व्यक्ति के प्रयास का ही फल है। इसके अंक-90 में ग्यारह आप्रवासी भारतीय कवयित्रियों की चालीस कविताएं संकलित हैं जिसका विशेष संपादन दिव्या माथुर ने किया है। यह एक सार्थक प्रयास है क्योंकि विदेशों में रह रहे रचनाकारों को हिन्दी में लिखी रचनाओं के प्रकाशन में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। कीर्ति चौधरी, अचला शर्मा, उषा राजे सक्सेना, उषा वर्मा, तितिक्षा शाह, शांता आचार्य तथा दिव्या माथुर का नाम कविता के क्षेत्र में हिन्दी पाठकों के लिए अपरिचित नहीं है और इन्हें एक साथ प्रस्तुत करके 'तनाव' ने एक प्रशंसनीय कार्य किया है। संकलन में अन्य कवयित्रियां हैं-बाशबी फ्रेजर, देबजानी चैटर्जी, तोषी अमृता और केतकी कुशारी डाइसन।

इस स्तंभ में पिछले एक अंक में सरकारी पत्रिकाओं की चर्चा करते हुए भी मैंने 'मधुमती' की चर्चा की थी। इस बीच दो पाठकों के पत्र मुझे मिले हैं जिसमें उन्होंने संशय प्रकट किया है कि 'मधुमती' का प्रकाशन तो वर्षों से बंद है, मैंने व्यर्थ ही उसकी चर्चा की है। इस संबंध में उन मित्रों को मैं बताना चाहूंगा कि 'मधुमती' का प्रकाशन नियमित हो रहा है (संभवतः बीच में कुछ अनियमितता भी रही हो)। इसका ताजा अंक जनवरी, 05 का उपलब्ध है जिसमें धर्मेन्द्र गुप्त, भालचंद्र जोशी, आनन्द वर्द्धन की कहानियां, प्रो. शलभ, पांडेय शशि भूषण शीतांशु, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र तथा शत्रुघ्न प्रसाद के लेख, कमलेश्वर का साक्षात्कार, रामदरश मिश्र, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, रमेश मयंक, महावीर रवांल्टा आदि के करीब तीस गीत, गज़ल, कविता उपलब्ध हैं। करीब 45 वर्ष पुरानी इस पत्रिका का हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में एक विशेष स्थान रहा है, आज भी है, और निश्चित रूप से हर हिन्दीप्रेमी चाहेगा कि इस पत्रिका का प्रकाशन नियमित रूप से होता रहे।

'अभिनव प्रसंगवश' (सं. वेदप्रकाश अमिताभ, डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़, उ.प्र.) ने रामदरश मिश्र, विवेकी राय जैसे प्रसिद्ध रचनाकारों पर विशेषांक निकालने के बाद इस बार वरिष्ठ कवि मदन मोहन उपेन्द्र पर अंक केन्द्रित किया है। उपेन्द्रजी सत्तर के शिखर को छू रहे हैं और ऐसे अवसर पर ऐसे अंकों की विशेष महत्ता हो जाती है। उपेन्द्र जी ने 'आत्मकथ्य' में कुछ प्रश्नों के सामने अपने को खड़ा किया है और मुझे लगता है कि हर रचनाकार को इन प्रश्नों पर सोचना चाहिए। मैं क्यों लिखता हूँ? क्या सार्थकता है लेखन की? क्या मैं समाज की सम्पत्ति का अपव्यय तो नहीं कर रहा हूँ? सार्थक लेखन जब न हो तब भी क्या लिखते जाना जरूरी है? संजीव गौतम के साथ हुई बातचीत में भी वे कुछ ऐसे ही प्रश्नों से टकराते हैं। गिरीशचंद्र पांडेय, हरि सिंह पाल, मोरमुकुट, शिवचन्द प्रसाद, अशोक तिवारी, संतोष कुमार तिवारी, राजकुमार पाठक, राजेश कुमार, शर्मिल सक्सेना, लक्ष्मी चन्द शर्मा मयंक, वेदप्रकाश अमिताभ आदि ने उपेन्द्र के कृतित्व और व्यक्तित्व पर विचार किया है जिससे उनकी रचनात्मकता के कई आयाम खुलते हैं। उपेन्द्र की कई रचनाओं पर समीक्षात्मक लेख हैं जो उन्हें समझने में विशेष सहायक हैं। मदन मोहन उपेन्द्र चर्चित कवि होने के बावजूद बहुत प्रचारित-प्रसारित नहीं हैं, इस कारण उनके ऊपर विशेषांक की कल्पना कोई लघु पत्रिका ही कर सकती थी, 'अभिनव प्रसंगवश' ने यह काम किया है, इसकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

और अंत में वार्षिक पत्रिका 'दलित साहित्य' (सं. जयप्रकाश कर्दम, बी-634, डी.डी.ए. फ्लैट्स, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-93) के सन् 2004 के अंक की चर्चा करना चाहूंगा। पिछले कई वर्षों से इस पत्रिका के वार्षिक संकलन प्रकाशित हो रहे हैं जिनमें ज्यादातर (या 'सिर्फ' भी कह सकते हैं) दलित लेखकों की रचनाएं छपती हैं। ये लेखक सवर्णों द्वारा लिखी उन रचनाओं को नकारते हैं जिनमें दलित जीवन का चित्रण होता है क्योंकि इनके मतानुसार दलितों के संबंध में सिर्फ दलित ही लिख सकता है। इस अंक में भी इस विचार के पोषक कई लेख हैं जैसे अंगने लाल अपने लेख 'डॉ. अम्बेडकर के चिन्तन से प्रस्फुरित हिन्दी दलित साहित्य के स्वर' में लिखते हैं-''दलित साहित्य की जीवंत और अनुभूत धारा तो उसी के मन में प्रस्फुरित हो सकती है जो दलित समाज में उत्पन्न हुआ हो।'' परन्तु इन बहसों से अलग रहकर इस पत्रिका की रचनाओं पर अगर दृष्टि डालें तो कई महत्वपूर्ण रचनाएं सामने आती हैं जो दलित विमर्श और दलित चेतना को समझने में विशेष मदद दे सकती हैं। 'मार्क्सवाद और दलित सैद्धांतिकी के अन्तः संबंध' (सूरज बडत्या), 'डा. अम्बेडकर और ओशो की हिन्दू-मिथकों पर चोट' (ए. सिंह), 'दलित आंदोलन और बौद्ध साहित्य' (रामकुमार अहिरगर), 'संस्कृत साहित्य में दलित' (सुदेश आहूजा) आदि ऐसी ही रचनाएं हैं। मतांतरों के होते हुए भी ये रचनाएं सोच के एक बिन्दु तक हमें पहुंचाती हैं। दस कहानियों और अनेक कविताओं से युक्त इस पत्रिका को एक महत्वपूर्ण संकलन माना जा सकता है।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110025

राजेन्द्र त्यागी

राजनीति में गैंग-वार

जिस तरह पाकिस्तान भारत का अभिन्न मित्र है, उसी तरह हमारे भी एक अभिन्न मित्र हैं, श्री मुन्नालाल। जिस तरह कश्मीर भारत-पाक के बीच अभिन्न मित्रता का प्रमुख कारक है, उसी तरह राजनीति हम दोनों के बीच अटूट मित्रता का प्रमुख कारक है।

थोड़े फितूरी किस्म के व्यक्ति हैं। लाख समझाने पर भी नहीं मानते कि राजनीति अब हर ऐरे-गैरों का व्यवसाय नहीं रह गया है। इस व्यवसाय में भाग्य आजमाने के लिए अब बाहुबल, धन-बल और शातिर बुद्धि-बल चाहिए। तुम्हारे जैसों के लिए ही तो रहीमदास जी कह गए हैं, 'गौ धन, गज धन, बाजि धन और रतन धन खान। जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।।'

बबूल की गोंद की तरह हठी स्वभाव के मुन्नालाल, पाक की तरह तर्क-वितर्क प्रस्तुत कर कहने लगे, "भइया! राजनीति तुम्हारे जैसों की ही बपौती तो नहीं है। बाहर निकलकर देखो, राजनीति का नीति-निर्धारण रामप्यारी के ढाबे, शाहरुख के सैलून और बसंती के टी स्टाल पर ही तो होता है। फिर हम तो ठहरे मुन्नालाल!"

चुनाव का माहौल था, ऐसे माहौल में मुन्नालाल जैसे फितूरियों के लिए दिमागी मसाला भारी मात्रा में उपलब्ध रहता है। ऐसे ही एक दिन चुनावी मसाले की गंध ने नाक के रास्ते उनके दिमाग की खिड़कियों पर जा दस्तक दी। बस, फिर क्या था, अकसर बंद रहने वाली मुन्नालाल के दिमाग की खिड़कियाँ अचानक खुल गईं और कमरे के सभी खिड़की-दरवाजे बंद कर डाले। बंद कमरे में मुन्नालाल धरती पर लकीरें खींचता और मिटाता, लकीरें खींचता और मिटा देता।

गरीबी हटी! लकीर मिटा दी।

सभी को रोटी, कपड़ा, मकान मयस्सर हुआ?

नहीं हुआ! मुन्नालाल ने दूसरी लकीर मिटा दी। बिजली-पानी? नहीं सुधरी, तीसरी लकीर मिटा दी। बेरोजगारी दूर हुई? नहीं हुई, चौथी लकीर भी खींची और मिटा दी।

स्वच्छ प्रशासन मिला? नहीं मिला।

मंदिर? नहीं बना। फिर लकीरें खींचता रहा और मिटाता रहा। अंत में उसके पास बचा केवल एक सपाट फर्श। जिस पर वह अकेला खड़ा था और घोषणाएँ, आश्वासन व वायदे एक-एक कर उसके कान से टकरा रहे थे।

परेशान मुन्नालाल दरवाजा खोल कमरे से बाहर निकल दहलीज पर खड़ा हो गया। इस उम्मीद के साथ कि शायद साँस लेने के लिए बाहर ही प्रदूषण-मुक्त हवा मिल जाए, मगर ऐसा हो न सका। सामने उठते धूल के गुबार के बीच उसे नए वायदे के रूप में एक नया नारा गूँजता सुनाई पड़ा, 'माफिया राज खत्म करने के लिए पीसी भाई के हाथ मजबूत करो।"

नए वायदे का नया नारा सुन मुन्नालाल सोच में पड़ गया। यह क्या? चाचा नेहरू मुंह में चांदी की चम्मच लेकर पैदा हुए थे और पीसी भाई मुंह में चांदी का चाकू लेकर! फिर यह जन्मजात पहलवान यकायक कमजोर कैसे हो गया कि हाथ मजबूत करने की गुहार करने लगा!

धरती के धूल आसमान तक फेंकता पीसी भाई का जुलूस मुन्नालाल के दरवाजे तक आया।

पीसी भाई मुन्नालाल की तरफ लपका। मुन्नालाल एड़ी से चोटी तक काँप उठा, मानो जॉर्ज बुश के सामने बिनलादेन आ गया हो।

पीसी ने उँगलियों के ऊपरी सिरे से लेकर कोहनी तक हाथ जोड़े और एक हार मुन्नालाल के गले में डाल दिया।

पीसी भाई के बारे में यह प्रसिद्ध था कि वह अपने दुश्मन के गले में पहले हार डालता है। उसके बाद ही उसके शरीर से फालतू रक्त प्रवाहित कर धरती माँ की प्यास बुझाता है।

गले में हार पड़ते ही मुन्नालाल को लगा कि उसे स्वर्ग की नागरिकता से सम्मानित करने की तैयारी की जा रही है।

हार, चाकू व रक्त एक साथ मिलकर उसके दिमाग में भूत, वर्तमान और भविष्य का चित्र अंकित करने लगे। उसकी पतली हालत देख पवीसी भाई के एक समर्थक ने विनीत भाव से उसे समझाया, 'भाई ने प्रदेश की धरती से माफियाराज समाप्त करने का संकल्प लिया है, वोट उन्हें ही देना।'

जुलूस ने अपनी राह पकड़ी, मुन्नालाल की कँपकँपी ने ब्रेक लिया, मगर फितूरी के दिमाग में एक और सवाल ने फितूर पैदा कर दिया-माफिया! माफियाराज समाप्त करेगा? सवाल के समाधान के लिए मुन्नालाल हमारी शरण में आए।

मुन्नालाल ने अपनी शंका का बोझ हमारे सामने रखा और हमने सहज भाव से कहा, "पीसी बिना शक वायदा पूरा करेगा।"

हमारा जवाब सुन मुन्नालाल ने शंका-अशंकाओं से लिपटा अपना मुँह खोला।

मुँह का शटर बंद करने की हिदायत देते हुए हमने उन्हें समझाया, "देखो भाइया! गरीबी हटाने का नारा लगा था?"

"हाँ, लगा था!"

"उस चुनाव में उतरे सभी उम्मीदवारों की गरीबी दूर हुई या नहीं?"

मुन्नलाल ने कद्दूनुमा अपना सिर झटका और बोला, "ठीक कह रहे हो, भइया!"

"स्वदेशी का नारा लगा था, मुन्नालाल?"

"लगा था, भइया जी!"

"बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने यहां बसाकर विदेशी उत्पादों का स्वदेशीकरण किया या नहीं हमारे नेताओं ने?"

"हाँ, कह तो ठीक रहे हो, भइया, मगर!"

"अबे, फिर अगर-मगर क्या? तू यह बता, गांधी का स्वदेशी सपना साकार हुआ ना!"

हमने अगला वचन याद दिलाया, "रोटी, कपड़ा और मकान का नारा लगा था?"

मुन्नालाल ने आज्ञाकारी शिष्य की तरह गर्दन हिलाई और फिर बोला, "लगा था!"

हम बोले, "मुन्नालाल, तू ही बता, नेता राजभोग का भोग लगा रहे हैं या नहीं, खीमखाफ के वस्त्र पहन रहे हैं या नहीं, बंगलों में रह रहे हैं या नहीं?"

हनुमान-भक्त पंडित गिरधारी लाल की तर्ज पर हमने भी नेताओं के वादों-इरादों का चालीसा एक ही साँस में दोहरा दिया।

मुन्नालाल ने आँधी में घिरे गधे की तरह मुँह राम्जी की तरफ उठाया और कॉमर्शियल ब्रेक लगाए बिना ही, हाँ! हाँ! हाँ! हाँ का दीर्घ स्वर उच्चारित करते हुए हमारे सभी प्रश्नोत्तरों पर अपनी सहमति की मुहर लगा डाली।

अब हमने सहज भाव धारण कर उच्चारा, "प्रिय मुन्नालाल! जब नेताओं ने सभी वायदे पूरे किए, तो फिर अब शंका किस बात की।"

मियाँ मुशर्रफ की तरह पैंतरा बदलते हुए मुन्नालाल फिर बोला, "मगर भाइया! अब तक दस नंबरी, बीस नंबरी नहीं, जो खुद पूरा सौ नंबरी रहा हो, परशुराम की तरह वे धरती को माफियाविहीन करेगा? बात दिमाग में घुस नहीं रही।"

"अरे मुन्नालाल! दिमाग पर तो तूने तिहाड़ के ताले जड़ रखे हैं, बात घुसे भी तो कैसे? बात घुसानी है तो पार्वती खान की तरह ताले खुले रख।"

अपने दिमाग के खुले तालों की स्थिति का परिचय देते हुए हमने मुन्नालाल को समझाया, "काँटे से काँटा निकाला जाता है या नहीं, जहर-जहर को मारता है या नहीं?"

मुन्नालाल बोला, "हाँ!"

हम बोले, "तो फिर जाने दे पीसी को विधानसभा और भगवान् से प्रार्थना कर 'हे परमपिता परमेश्वर! पीसी को मुख्यमंत्री बना, माफिया को माफिया से लड़ा, उत्तर प्रदेश की तरह अन्य प्रदेशों में भी राजनीतिक गैंग-वार करा, एक-एक कर सारे 'भाईजीयों-बहनजीयों, को अपने पास बुला, राजनीति को माफियाओं से मुक्त करा।'

'वैसे भी ना कहकर तू अपने सिर बुराई क्यों लेता है मुन्नालाल, वोट तू नहीं देगा, जीत तो वह फिर भी जाएगा और नाम तेरे जैसों का ही होगा, जाने दे मुन्नालाल! जाने दे, पीसी को विधानसभा जाने दे!"

10, अभय खण्ड-1, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद (उ.प्र.)

हिन्दू गर्ल्ज कॉलेज सोनीपत में संगोष्ठी

संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए 'संतों की वाणी में क्रांति चेतना' को डॉ. बलदेव वंशी ने मुख्य अभिभाषण में खूबसूरती के साथ उकेरा। डॉ. वंशी ने कहा कि कबीर, नानक, मीरा, दादू व रैदास सरीखे संत कवियों ने अपने जीवन की परवाह न करते हुए अपना सर्वस्व धार्मिक व सामाजिक क्रान्ति हेतु समर्पित कर दिया, जो भावी पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय है।

विशिष्ट अतिथि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक डॉ. देवेन्द्र राज अंकुर ने संत साहित्य को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विरोध में लिखा साहित्य कहा। डॉ. अंकुर ने कहा कि यही कारण है कि पहले से स्थापित व्यवस्था ने संत साहित्य को स्वीकार नहीं किया किन्तु आज हम उन्हीं संतों के माध्यम से अपनी सार्थकता को खोज रहे हैं।

समारोह के अध्यक्ष प्रतिष्ठित कथाकार विष्णु प्रभाकर ने 'पंचनाद' का विमोचन किया। संगोष्ठी से संबंधित आमंत्रित आलेखों का संग्रह करके उसे पुस्तक का रूप दिया गया है, जिसका शीर्षक 'पंचनाद' रखा गया है। विमोचन के अवसर पर श्री प्रभाकर ने करनी-कथनी में व्याप्त अंतर पर चिंता जताते हुए व्यावहारिकता पर बल दिया। साथ ही उन्होंने कहा कि संतों की वाणी पर महज चर्चा करने से कुछ नहीं होगा। जरूरत है उस पर अमल करने की। प्रतिष्ठित कथाकार ने कहा कि हम अपने देश को खुशहाल भारत बना सकेंगे, यदि सन्तों के कहे का अनुसरण करें।

संगोष्ठी के एक अन्य विशिष्ट अतिथि राज्य कवि उदयभानु हंस ने कुछ रुबाइयों व ग़ज़ल के जरिए संत साहित्य में निहित संदेश को उकेरा।

साहित्यिक संगोष्ठी के सायंकालीन सत्र की अध्यक्षता अमृतसर से पधारे विद्वान डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी ने की व पंजाब विश्वविद्यालय में कबीर पीठ के अध्यक्ष रहे डॉ. सेवा सिंह मुख्य अतिथि थे। इन दोनों विद्वानों ने गुरु नानक के जीवन व गुरुग्रंथ साहिब के परिप्रेक्ष्य में संतों के योगदान को रेखांकित किया।

द्वि-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन के प्रथम सत्र के मुख्य अतिथि डॉ. महीप सिंह ने गुरु नानक की वाणी का उल्लेख करते हुए अपनी वाणी से जुड़े रहने की जरूरत दर्ज की।

इस सत्र की अध्यक्षता करते हुए दिल्ली के श्यामा प्रसाद मुखर्जी कॉलेज की प्राचार्या डॉ. सुरजीत कौर जौली ने दृढ़तापूर्वक कहा कि यद्यपि कतिपय सन्तों में नारी विरोधी स्वर गूंजता है पर नानक ने नारी की महत्ता को अनेक रूपों में उजागर करते हुए उसे राजा-महाराजाओं, वीरों को जन्म देने वाली शक्ति बताया।

गुजरात के वल्लभ विद्या नगर से पधारे डॉ. शिव कुमार मिश्र ने सन्त साहित्य के पाठ्यक्रम का हिस्सा मात्र बनने पर चिंता जताई। उन्होंने सन्त साहित्य के सकारात्मक पहलू के साथ-साथ अन्तर्विरोधों का गहन अध्ययन करने की ज़रूरत पर भी बल दिया।

समापन सत्र का उद्घाटन डॉ. निर्मला जैन ने किया। उन्होंने अपने सम्बोधन में उक्त संगोष्ठी की महत्ता रेखांकित की और कहा कि ऐसी संगोष्ठियां लघु अन्तराल पर बार-बार आयोजित की जानी चाहिए।

'प्रोत्साहन' के स्मृति-अंक का लोकार्पण

'प्रोत्साहन' के स्मृति-अंक (64) का लोकार्पण व विमोचन कार्यक्रम हार्दिक सद्भावनाओं के साथ सम्पन्न हुआ। इस अंक का विमोचन किया आकाशवाणी मुम्बई केन्द्र के सिन्धी विभाग के कार्यक्रम निष्पादक श्री हरेश मीर चन्दानी ने। उन्होंने कहा कि 'प्रोत्साहन' एक स्तरीय साहित्यिक पत्रिका है। इसमें प्रकाशित सामग्री पठनीय एवं सुरुचिपूर्ण होती है। 'प्रोत्साहन' के सभी प्रकार का प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए।

इस अंक की प्रथम प्रति श्री रमेश जैन को दी गयी। श्री रमेश जैन एक अच्छे कवि हैं। उन्होंने 'प्रोत्साहन' द्वारा की गयी सेवा तथा सेतपाल जी की कर्मठता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। आगन्तुकों ने भी शुभकामनाएं प्रकट कीं और अन्त में प्रोफेसर सेतपाल ने आभार प्रदर्शित किया।

प्रस्तुति : सुयश

'अस्थियों के अक्षर' की नाट्य प्रस्तुति

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली के त्रैमासिक वृत्त 'रंग प्रसंग' की ओर से प्रतिमाह आयोजित होने वाले रचना पाठ के कार्यक्रम 'श्रुति' में इस बार दलित साहित्यकार डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन का रचना पाठ कराया गया। बेचैन के संस्मरण में दलित समाज के एक ऐसे बालक की जीवन स्थितियों का खुलासा हुआ जो पूरी तरह साधनहीन सर्वहारा है।

पचास मिनट के इस रचना पाठ से पूर्व 'रंग-प्रसंग' के संपादक श्री प्रयाग शुक्ल ने श्यौराज सिंह बेचैन के रचनात्मक पक्ष का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिचय कराया। रामजी बाली के निर्देशन में 'अस्थियों के अक्षर' नामक कहानी का नाट्य मंचन प्रस्तुत किया गया।

प्रस्तुति : रामवीर पाराशर

हरमहेन्द्र सिंह बेदी, तरसेम गुजराल, राजेन्द्र नाथ रहबर को सम्मान

दिशा साहित्य मंच सुजानपुर द्वारा आलोचना के लिए हरमहेन्द्र सिंह बेदी, कथा के लिए तरसेम गुजराल और शायरी के लिए राजेन्द्र नाथ रहबर को सम्मानित किया गया। सम्मान में 1100 रुपये, स्मृति चिह्न और दोशाला भेंट किया गया। इस अवसर पर गोपाल शर्मा फ़िरोजपुरी के कहानी संग्रह 'मौसम बदलते रहे' का लोकार्पण भी किया गया।

डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को पुश्किन सम्मान

मास्को स्थित भारत-मित्र समाज ने हिन्दी के चर्चित गीतकार और कवि डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को पुश्किन सम्मान से सम्मानित करने का निर्णय किया है।

यह सम्मान प्रतिवर्ष हिन्दी के किसी साहित्यकार को दिया जाता है। संगठन के महासचिव अनिल जनविजय ने मास्को में बताया कि रूसी कवि श्री अलेक्सान्द्र सेंकेविच की अध्यक्षता में पाँच निर्णायकों की समिति ने डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को 'पुश्किन सम्मान' से सम्मानित करने का निर्णय किया। समिति में शामिल अन्य निर्णायक हैं-कवि अनातोली पारपरा, कवयित्री रीमा कज़ाकोवा, कवि यूरी कुज़नेत्सोव और लेखक व पत्रकार स्वेतलाना कुज़्मीना।

इस सम्मान के अन्तर्गत डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र को दस दिन की यात्रा पर रूस बुलाया जाएगा तथा उन्हें मास्को व पीतेरबुर्ग नगरों की यात्रा कराई जाएगी। यात्रा के दौरान रूस के लेखकों, कवियों व बुद्धिजीवियों के साथ उनकी मुलाकातें कराई जाएंगी।

कोलकाता पुस्तक मेले में उमड़ा पुस्तक प्रेमियों का सैलाब

बारह दिनों की गहमा-गहमी और चहल-पहल के बाद 6 फरवरी को 30वें पुस्तक मेले का समापन हो गया। लगभग 25 लाख पुस्तक प्रेमियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई और नौ दिनों में ही बिक्री 18 करोड़ का आँकड़ा पार कर गई। इस बार भीड़ ने पिछले सभी रिकॉर्ड तोड़ डाले। यह जानकारी दी बुक सेलर्स एण्ड पब्लिशर्स गिल्ड के सचिव त्रिदिव चटर्जी ने।

हिंदी अकादमी, दिल्ली
राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार
समुदाय भवन, पदम नगर, किशनगंज, दिल्ली-7
लोकप्रिय योजनाएँ एवं कार्यक्रम

हिन्दी अकादमी का उद्देश्य हिंदी भाषा एवं उसके साहित्य का प्रचार-प्रसार करना है। अकादमी हिन्दी को जन-जन की भाषा बनाने और उसके साहित्य के उन्नयन के लिए सतत् प्रयत्नशील है। अकादमी के कुछ महत्वपूर्ण कार्यक्रम एवं योजनाएं इस प्रकार हैं :-

1. पुरस्कार एवं सम्मान

1. हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समग्र योगदान के लिए प्रतिवर्ष साहित्यकारों को 'शलाका' एवं 'साहित्यकार सम्मान', हिन्दी के श्रेष्ठ हास्य के लिए लेखक/ व्यंग्यकार को 'काका हाथरसी सम्मान'।
2. चुनी हुई श्रेष्ठ एवं स्तरीय कृतियों एवं बाल साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को 'साहित्यिक कृति' एवं 'बाल साहित्य सम्मान'।

2. संस्थाओं को सहयोग

1. हिन्दी की स्वयंसेवी संस्थाओं, विद्यालय/ महाविद्यालयों, सरकारी, स्वैच्छिक संस्थाओं विभागों को कार्यक्रम सहयोग तथा उनके साथ मिल कर संयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन।

3. रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम

1. दिल्ली के बारहवीं तथा स्नातक उत्तीर्ण बेरोजगार युवाओं (अधिकतम आयु ३० वर्ष) को अलग-अलग एक वर्षीय हिन्दी कम्प्यूटर का प्रशिक्षण।
2. हिन्दी टंकण एंव आशुलिपि का दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर प्रशिक्षण।
3. हिन्दी पत्रकारिता का एक वर्षीय प्रशिक्षण (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भोपाल से मान्यता प्राप्त)
4. व्यावहारिक अनुवाद का एक वर्षीय प्रशिक्षण (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय विश्वविद्यालय भोपाल से मान्यता प्राप्त)

4. प्रकाशन सहयोग

पांडुलिपियों पर पुस्तक प्रकाशन के लिए लेखकों को 7500/- रु. का आर्थिक सहयोग।

5. नवोदित लेखकों को पुरस्कार

नवोदित लेखकों तथा विद्यालय/महाविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न कार्यशालाओं एवं प्रतियोगिताओं का आयोजन एवं पुरस्कार।

6. विविध

1. महत्वपूर्ण अवसरों/साहित्यकारों की जयंतियों के अवसर पर साहित्यिक संगोष्ठियों/सम्मेलनों एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन।
2. दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का संचालन।
3. महत्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन एवं उपयोगी साहित्यिक और शैक्षिक महत्व की पुस्तकों का अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन।

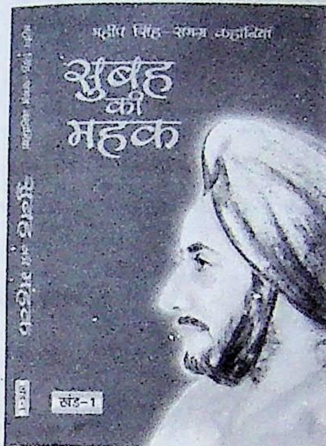
नयी सहस्राब्दी को हिन्दी सहस्राब्दी बनाने के लिए कृतसंकल्प हिन्दी अकादमी के कार्यक्रमों में सहयोगी बनें।
कृपया अधिक जानकारी के लिए उपरोक्त पते पर सम्पर्क करें।

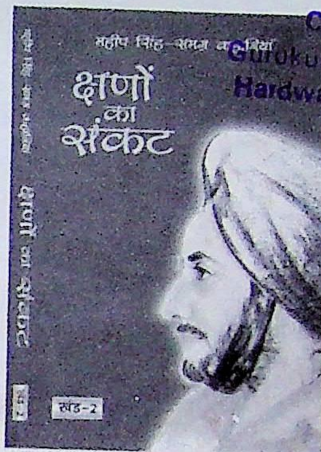
नानक चंद
सचिव

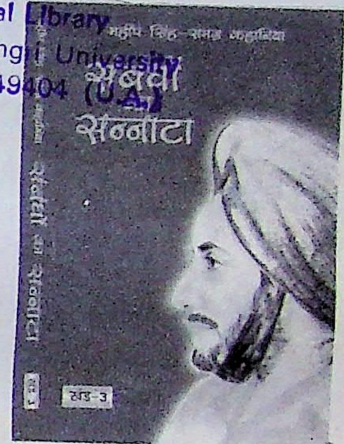
दूरभाष : 23690274, 23693118, 23694562, 23693137 फैक्स : 23696897
E&Mail:hindiacademy_delhi@Vsnl.net

प्रख्यात कथाकार महीप सिंह की

तीन खंडों में समग्र कहानियाँ







सुबह की महक	300.00
क्षणों का संकट	300.00
संबंधों का सन्नाटा	300.00

महीप सिंह की कहानियाँ महानगरीय मध्य वर्ग के जीवन की धड़कनों को बड़ी गहराई से हमें महसूस कराती हैं। इसका कोई भी पक्ष उनकी कथा-दृष्टि से अछूता नहीं रहा है। समकालीन जीवन में व्याप्त अन्तर्विरोध, तनाव और छद्म भी अपनी समूची विडम्बना के साथ इन कहानियों में मूर्त हो उठे हैं। कथा-शिल्प के भी कितने ही रंग उनके कथा-संसार में उभरे दिखाई देते हैं।

मनुष्य की सोच को सचेतन रखने के प्रस्थान-बिंदु से चले अपनी पीढ़ी के अत्यन्त समर्थ कथाकार के विकास क्रम को दर्शाता उसकी रचना-यात्रा का दस्तावेज़।

विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और कथा-रसिकों को
९०० रु. का पूरा सेट केवल 500 रु. में।

अभिव्यंजना
का एक गौरवशाली प्रकाशन

एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग, नई दिल्ली-110026
फोन : 25222888

मूल्य : रु.15

पूर्णांक 171

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम



खुली किताब हैं चन्द्र जी : बुलाकी शर्मा

सदैव प्रासंगिक कथाकार : डा. भैरूंलाल गर्ग

संवेदनशील एवं प्रीतिकर कवि-नाटककार : डा. राजानन्द

क्या है धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा? - असगर अली इंजीनियर

पंचेतना

पूर्णांक 171, वर्ष 35, अंक 1
मार्च-2005
(प्रकाशित जून-2005)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द-संयोजक
राजेश सिंह

कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

कला
मनदीप डिम्पी

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर(जालन्धर), कमलेश बख्शी(मुंबई), जसबीर चावला(इंदौर), सुभाष रस्तोगी(चंडीगढ़), गोविंद अक्षय(हैदराबाद), सरोज वशिष्ठ(शिमला), हरनाम सिंह भट्टी(छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे(जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 15 रुपये, वार्षिक : 60 रुपये
संस्थाओं-पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-26, फोन-25222888 30970062
मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
सुमन प्रिन्टर्स
पीरागढ़ी, दिल्ली-110035
में मुद्रित तथा
एच-108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026 से प्रकाशित

सन्ध्या छाया

मुद्दा

संस्मरण

आकलन

कहानियाँ

लघु कथाएँ

कविताएँ

समीक्षा

पत्रिकाएँ

व्यंग्य

अनुभव

हिन्दी अकादमी, दिल्ली
(राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार)
समुदाय भवन, पदम नगर, किंशनगंज, दिल्ली-७
की रोजगारोन्मुखी योजनाएं

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के विभिन्न भागों में हिन्दी प्रसार केन्द्र संचालित किए जा रहे हैं। इन हिन्दी प्रसार केन्द्रों में हिन्दी टंकण (अवधि छः माह), आशुलिपि (एकवर्षीय) प्रशिक्षण, एक वर्षीय कंप्यूटर प्रशिक्षण (बारहवीं तथा स्नातक उत्तीर्ण बेरोजगार युवाओं के लिए, अधिकतम आयु 30 वर्ष), संचार माध्यम से हिन्दी में एक वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम, व्यावहारिक अनुवाद का एकवर्षीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, पुस्तकालय/वाचनालय तथा अकादमी के प्रकाशनों की बिक्री की जाती है। यदि आप इन योजनाओं का लाभ उठाना चाहते हैं तो कृपया संपर्क करें :-

1. हिन्दी अकादमी मुख्यालय, पदम नगर, दिल्ली : (हिन्दी टंकण/ आशुलिपि/ कंप्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र एवं पंडित मदन मोहन मालवीय संदर्भ पुस्तकालय, वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
2. हिन्दी प्रसार केन्द्र, सी-57, कृष्णा नगर, दिल्ली : (हिन्दी टंकण/ आशुलिपि/ कंप्यूटर प्रशिक्षण एवं पुस्तकालय/ वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
3. हिन्दी प्रसार केन्द्र, आर्ष कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, नरेला, दिल्ली : (आशुलिपि/ कंप्यूटर प्रशिक्षण/ पुस्तकालय/ वाचनालय)
4. हिन्दी प्रसार केन्द्र, लखनऊ रोड, मंडल कार्यालय, शिक्षा विभाग, दिल्ली सरकार : (हिन्दी पुस्तकालय/ वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
5. हिन्दी प्रसार केन्द्र, गांधी भवन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली : (हिन्दी टंकण/ आशुलिपि प्रशिक्षण/ पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
6. हिन्दी प्रसार केन्द्र, आर्य समाज मंदिर, नरेला, दिल्ली : (हिन्दी टंकण/ पुस्तकालय/ वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
7. हिन्दी प्रसार केन्द्र, सनातन धर्म मंदिर, विवेकानंद नगर, नीमड़ी कालोनी, दिल्ली : (हिन्दी टंकण प्रशिक्षण)
8. हिन्दी प्रसार केन्द्र, सदगुरु जगजीत सिंह, गुरुद्वारा नामधारी कालोनी, रमेश नगर, दिल्ली : (हिन्दी पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
9. हिन्दी प्रसार केन्द्र, हरि सिंह पार्क, न्यू मुल्तान नगर, दिल्ली : (हिन्दी पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
10. हिन्दी प्रसार केन्द्र, मुबारिक पुर डबास, दिल्ली : (हिन्दी पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
11. हिन्दी हिन्दी प्रसार केन्द्र, नगर निगम प्राथमिक विद्यालय, महिपालपुर, दिल्ली : (हिन्दी टंकण एवं पुस्तकालय/वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
12. हिन्दी प्रसार केन्द्र, प्रथम तल, बस्ती विकास केन्द्र, ब्लाक-18, कल्याणपुरी, दिल्ली-91 : (हिन्दी टंकण प्रशिक्षण केन्द्र/ पुस्तकालय/ वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
13. हिन्दी प्रसार केन्द्र, कॉन्वेंट गगन भारती स्कूल परिसर, ओम विहार, उत्तम नगर, दिल्ली : (महाकवि निराला संदर्भ पुस्तकालय/ वाचनालय)
14. हिन्दी प्रसार केन्द्र, कॉन्वेंट गगन भारती स्कूल के समीप, मोहन गार्डन, उत्तम नगर, दिल्ली : (महादेवी वर्मा पुस्तकालय/ वाचनालय)
15. हिन्दी प्रसार केन्द्र, जिला न्यायालय तीस हजारी, दिल्ली : (पुस्तकालय/ वाचनालय)
16. हिन्दी प्रसार केन्द्र, विकास भवन, आई.टी.ओ., नयी दिल्ली : (पुस्तकालय/ वाचनालय)
17. हिन्दी प्रसार केन्द्र, समुदाय भवन, पॉकेट बी एण्ड ई, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95 : (हिन्दी पुस्तकालय/ वाचनालय तथा पुस्तक विक्रय)
18. संचार माध्यम हिन्दी में एक वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम : (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल से मान्यता प्राप्त) अकादमी मुख्यालय, पदमनगर, किशनगंज, दिल्ली
19. व्यावहारिक अनुवाद का एकवर्षीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम : (माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल से मान्यता प्राप्त) अकादमी मुख्यालय, पद्मनगर, किशनगंज, दिल्ली)

नानक चंद
सचिव

दूरभाष : 23690274, 23693118, 23694562, 23693137 फैक्स ; 23696897
E-Mail : hindiacademy_delhi@vsnl.net

'संचेतना' का दिसम्बर 04 अंक देखा। कन्हैया लाल नन्दन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आलेख रोचक भी हैं, सूचनापरक भी। मुझे भी देश और विदेश में आयोजित कवि सम्मेलनों में उनके साथ कविता पाठ का अवसर मिला है। मैं उनकी गद्य-कविताओं और उनके प्रस्तुतीकरण पर सदा मुग्ध रहा हूँ, हालांकि मूलतः मैं छन्दोबद्ध कविता का पक्षधर हूं। श्री भवानी प्रसाद मिश्र की परम्परा को नन्दन जी ने निःसन्देह आगे बढ़ा कर सिद्ध कर दिया है कि मंचीय गीतकारों से भी कहीं अधिक उनकी मुक्त छन्द (वास्तव में छन्द-मुक्त) कविताएं प्रभावोत्पादक होती हैं।

परन्तु एक दिन अम्बाला के कवि-सम्मेलन में उन्होंने मेरा भ्रम यह कहकर दूर कर दिया कि वे आरम्भ में गीतविधा के भी सफल रचनाकार रहे हैं और उस अवसर पर मैंने उनके मधुर गीत पहली बार सुने और सराहे। यशस्वी गीतकार श्री बालकवि बैरागी भी साथ थे। उन्होंने ओजस्वी स्वर में मुक्तछंद की कविता सुनाई। कैसा मनोरंजक विरोधाभास था केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'श्रेष्ठ हिन्दी गीत संचयन' की विस्तृत भूमिका में उन्होंने छन्दोबद्ध कविता की वकालत कर के प्रमाणित कर दिया कि भले ही आज वे गद्य-कवि के रूप में हिन्दी जगत में कदाचित् एकमात्र (मेरी दृष्टि में) सिद्ध एवं प्रसिद्ध कवि हैं, परन्तु रागात्मक अनुभूतियों को छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुतकर्ता गीतकारों को समझने, सराहने और उनके कृतित्व का सही मूल्यांकन करने की उनकी क्षमता अपनी पूर्व पहचान को अभी सुरक्षित रखने में सफल रही है।

प्रो. उदयभानु हंस

202, लाजपत नगर, हिसार-125001

'संचेतना' के सभी अंक सराहनीय हैं। आज जब कुछ प्रतिष्ठित व्यावसायिक पत्रिकाएं बंद हो गई या बंद होने की स्थिति में पहुंचती जा रही हैं, वहीं 'संचेतना' प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते हुए साहित्य जगत में दृढ़ता से स्थापित है, यह हर्ष की बात है। इसके अंकों की समसामयिक सामग्री, लेख, समीक्षा तथा अन्य विधाओं की रचनाएं अत्यंत रोचक, ज्ञानवर्धक व पठनीय रहती है।

सूचना विस्फोट के युग में हिन्दी की अस्मिता को सुरक्षित रखना जरूरी है। साहित्य के क्षेत्र में बढ़ती जा रही गुटबाजी भी चिंता का विषय है। 'संचेतना' इन सभी के प्रति सतर्क है। समसामयिक विषयों पर आपके विचार पत्रिका को और रोचक एवं प्रभावी बना देते हैं।

डॉ हरिनारायण चौरसिया

गुजराती स्कूल के पीछे, रेलटोली, गोंदिया-441614 (महाराष्ट्र)

'सृजन संवाद एवं विचार का माध्यम' संचेतना का अंक (पूर्णांक 170) पढ़ने को मिला। गुरुबचन सिंह पर केन्द्रित आवरण पृष्ठ और भीतर के पृष्ठों पर इस वयोवृद्ध साहित्यकार के सन्दर्भ में पठनीय सामग्री पढ़कर अच्छा लगा। हिन्दी-उर्दू के जाने-माने हस्ताक्षर के बारे में बहुत कुछ जानने की इच्छा रहती है। पत्रिका में अन्य साहित्यिक रचनाएं भी पाठकों को बांधे रखती हैं। 60 पृष्ठों की इस साहित्यिक पत्रिका को पढ़कर बड़ा सुकून मिलता है। हालांकि नई पीढ़ी के लोगों का साहित्य के प्रति कम झुकाव है जो चिंतनीय है।

प्रवीण जोशी

7 आजाद नगर, मूसाखेडी रोड, इन्दौर

'संचेतना' का अंक मिला। आभार। अन्य पत्रिकाओं की भीड़ में आपकी यह पत्रिका एक नई पहचान बना चुकी है। मुद्दों पर बहस का स्थगन मुझे तो झकझोर गया। बड़ी उपादेय शृंखला चल रही थी। समीक्षात्मक बिन्दु उसमें खूब उभरते थे। संवादों का सिलसिला बना रहता था उसमें। कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा है। वैसे 'संध्या-छाया' स्तम्भ की शुरुआत भी अच्छी लगी क्योंकि स्थापित रचनाकारों का अतीत भी बड़ा उत्तेजक होता है। इस श्रृंखला का स्वागत करता हूँ।

डॉ. वीरेन्द्र कुमार वसु

एल.के. कॉलेज, मेन रोड, सीतामढ़ी-843302 (बिहार)

पूर्व अंकों की भांति यह अंक भी पठनीय एवं संग्रहणीय है। संध्या-छाया के अंतर्गत वरिष्ठ साहित्यकार श्री गुरुबचन सिंह की रचना प्रक्रिया और उपलब्धियों की उपयोगी जानकारी मिली। संचेतना का यह आयोजन अति महत्वपूर्ण है। डॉ. शत्रुघ्न कुमार ने अपने लेख के माध्यम से भारत और रोमानिया के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सम्बन्धों की शोध परक एवं महत्वपूर्ण पड़ताल की है। डॉ. कृपाशंकर सिंह द्वारा दी गई ऋग्वेद के कुछ काव्यात्मक स्थलों की जानकारी प्रासंगिक बन पड़ी है। इंतजार हुसैन ने अपनी पाकिस्तानी उर्दू कहानी 'दायरा' को जिस चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है। ऐसी शैली हिन्दी में कम ही देखने को मिलती है।

रामनाथ चव्हाण की उपन्यास अंश उषःकाल भी भावप्रवण रचना है। आपने संपादकीयच में सन्ध्या छाया की कसौटी बड़े ही टार्विक एवं व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत की है। हाँ नियमित स्तम्भ 'चक्राचक्र' की कमी तो खली।

डॉ. हरिसिंह पाल

684, इन्द्रा पार्क, नई दिल्ली-45

सम्पादकीय में विदेशों में बसे भारतीय मूल के लेखकों के संरक्षण की चिन्ता जताते हुए दूतावासों पर दायित्व होने का सुझाव बहुत ठीक है। सरकारी पत्रिकाओं के बारे में प्रकाशित लेख सर्वांगीण नहीं है। तमाम पत्रिकाओं का उल्लेख नहीं है। एक बात अपने अनुभव से कहनी है। ये पत्रिकाएं पहले की तरह लेखकों के चयन में निष्पक्ष नहीं हैं और अपने आचरण से च्युत हो बैठी हैं इनमें से अधिकतर। यही कारण है कि आम लेखक वर्ग। पाठक वर्ग से दूर हो बैठी हैं। कविताओं में मंजु गुप्ता की सागर पर कई कविताएं बहुत अच्छी हैं। हरजिंदर सिंह सेठी की कविता भी दिशा देती है। पूरी पत्रिका मनोयोग से पढ़ी जाएगी।

डॉ. सन्त कुमार टण्डन 'रसिक'

535/1-आर, मीरापुर, इलाहाबाद-211003

लघु पत्रिकाओं के संकट तो ऐसे ही रहेंगे

संचेतना का प्रवेशांक जून 1966 में प्रकाशित हुआ था। 18 वर्ष तक वह निरन्तर त्रैमासिक के रूप में निकलती रही। फिर समसामयिक ज्वलन्त प्रश्नों से जूझने के लिए हमने उसे मासिक बना दिया। इसके मासिक होने की 5 वर्ष की अवधि में हम प्रश्नों से तो जूझे ही, अपने आपसे भी बहुत जूझे। हम कुछ खुशफहमियों के शिकार हो गए थे। हमें इस बात का अनुमान नहीं था कि भावनात्मक स्तर पर जो बातें लोगों को आलोड़ित करती हैं, यथार्थ की चट्टान से टकराते ही वे लड़खड़ाने लगती हैं। हम प्रतिपक्ष में खड़े थे। उस स्थिति में लोग आपके साहस और प्रतिबद्धता की तारीफ तो अवश्य करते हैं, परन्तु व्यवस्था-तन्त्र की मार की तेज़ बारिश में आपको अकेले भीगने के लिए छोड़ देते हैं। आगे बढ़कर आपके सिर पर छाता तानने की हिम्मत कोई-कोई ही करता है।

कोई-कोई के सहयोग से रूखी-सूखी रोटी तो शायद खाई जा सकती है, पत्रिका नहीं चलाई जा सकती, जिसका पूरा एक व्यावसायिक तंत्र होता है।

सिर पर कुछ लाख रुपये का कर्ज़ चढ़ाकर और स्वास्थ्य की दृष्टि से गहरी चोट खाकर निर्णय किया कि संचेतना का प्रकाशन स्थगित कर दिया जाए।

यह अवधि तीन वर्ष की रही।

फिर मित्रों से सलाह-मशवरा किया। अपने बूते का कुछ अनुमान लगाया और पुनः त्रैमासिक के रूप में संचेतना का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया।

इस संकल्प का बारहवाँ वर्ष चल रहा है।

किन्तु यह लड़ाई तो अंतहीन है।

मुझे स्मरण है कि संचेतना के प्रकाशन के प्रारंभिक वर्षों में एक-एक विज्ञापन पाने के लिए कितने पापड़ बेलने पड़ते थे। डी.ए.वी.पी. से सरकारी विज्ञापन का रिलीज आर्डर लेने के लिए कितनी चिरौरियाँ करनी पड़ती थीं। निजी संस्थानों के उत्पादकों हमारी सीमित प्रसार संख्या कितना लाभ पहुंचा सकती थी। फिर भी व्यक्तिगत सम्बन्धों और मेल-मुलाहिजे के आधार पर कभी-कभी विज्ञापन मिल जाते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस ढंग से दो-चार बार ही आप अपने मनोरथ में सफल होते हैं। फिर कतराना ही सभी सम्बन्धों की नियति बन जाती है।

किन्तु पत्रिकाएँ आज भी निकलती हैं। इस सौ मील लम्बी दौड़ में कोई पाँच मील चलकर, कोई पच्चीस मील चलकर अपना दम तोड़ देती हैं।

किसी पत्रिका की पीठ पर यदि कोई ठोस आर्थिक भित्ति नहीं है तो उसकी कमर बोझ से कब दोहरी हो जाएगी, कोई नहीं जानता। मज़बूत आर्थिक बल होते हुए भी देश के बड़े-बड़े प्रकाशन संस्थानों की पत्रिकाएँ अँधेरी गुफाओं में घिरकर कैसे दम तोड़ बैठीं, कोई नहीं जानता।

प्रश्न वहीं खड़ा है।

निजी प्रयासों से चलाए जा रहे ऐसे प्रयास किस प्रकार थोड़ी बहुत ऑक्सीजन पाएँ?

कोलकाता-बम्बई जैसे महानगरों के समृद्ध व्यापारी अपनी आय का निश्चित प्रतिशत धार्मिक/सामाजिक कार्यों के लिए निकालते हैं, जिसे 'धर्मादा' कहते हैं। सभी के पास धर्मादा हिसाब में काफी धन होता है। यदि समृद्ध सेठों की चिंता-परिधि में साहित्य भी आ जाए तो पत्रिकाओं को कुछ राहत मिल सकती है। मैंने सुना है कि हिन्दी की एक-दो पत्रिकाओं को ऐसी सहायता मिलती है।

दूसरी स्थिति यह है कि कतिपय सम्पन्न परिवार जिनकी साहित्य और संस्कृति में कुछ रुचि भी है, किसी पत्रिका को एडाप्ट कर लें और उसका कुछ व्यय-भार नियमित रूप से वहन करें। उनके लिए यह बड़ी छोटी-सी बात होगी, किन्तु पत्रिका की साँसें कुछ बढ़ जाएँगी।

इस कार्य में कुछ बड़े प्रकाशक भी अपना योगदान दे सकते हैं। बहुत-से प्रकाशक अपनी गृह-पत्रिकाएँ निकालते हैं। जो ऐसा नहीं करते हैं वे वर्षों से चली आ रही, किन्तु मरणासन्न, पत्रिका को अपनी छत्र-छाया में ले सकते हैं। एक अच्छी पत्रिका के साथ दिल्ली में ऐसा हुआ भी है।

ऐसे अन्य उपाय भी हैं।

ऐसी अनेक पत्रिकाओं का मुझे स्मरण हो रहा है जिन्होंने अपनी प्रकाशन-अवधि में साहित्यिक सरोकारों को व्यापक बनाने के लिए, नई प्रवृत्तियों को उजागर करने और नए लेखकों को मंच देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। गत चार दशकों में संचेतना ने भी यह भूमिका बड़े सार्थक ढंग से निभाई है, यह दावा तो किया ही जा सकता है।

किन्तु कब तक?

आयु की दस्तक स्पष्ट सुनाई देने लगी है। संघर्ष बिल्कुल पहले जैसा है। आर्थिक संकट से उबरने के लिए कुछ विज्ञापनों की बाट पहले की तरह जोहनी पड़ती है। हमारी जितनी ग्राहक-संख्या है उससे किसी एक अंक के व्यय की भी भरपाई नहीं हो पाती है।

क्या लघु पत्रिकाओं की नियति यही रहेगी?

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

लेखन से जुड़े सच

मेरे एक शोधार्थी ने मुझसे पूछा, 'सर, लेखन में सबसे कठिन कौन-सी विधा है?'

मैंने उसे बताया कि सबसे दूभर सृजन है, स्वयं पर लिखना।

यह सच भी है। जब कभी मित्रों ने आग्रह किया या प्रकाशकों ने दबाव डाला कि *आत्मकथा* लिखें तो मैं उसका श्रीगणेश करने की सोचकर रह जाता हूँ। हाँ, 'प्रगतिशील आकल्प, के सम्पादक डॉ. शोभनाथ यादव ने मुझसे आत्मसंघर्ष के नाम से स्वयं पर लिखाया। लिखा, अत्यन्त ही संक्षिप्त। पृष्ठों की सीमा। आत्मकथा अर्थात अपने पर लिखना, वह भी ईश्वर को हाजिर-नाजिर करके सत्यबयानी करना एक असाध्य कर्म है। कारण भी साफ है कि क्या मैं जो सच लिखूंगा, वह समकालीन परिप्रेक्ष्य में स्वीकार्य होगा कि नहीं?

बीकानेर एक छोटा शहर। 15 अगस्त 1932 को एक व्यापारी-मध्यम वर्ग में जन्म। बाबा मूलचंद विस्सा श्रेष्ठ व्यापारी और पिता उनके वचनों का अनुसरण करने वाले। मुझे कई बार रामलीला देखते हुए अहसास हुआ कि मेरे पिता मेरे ताऊ के लक्ष्मण थे। एकदम आज्ञाकारी। उनकी आकांक्षाएं थीं पर महत्वाकांक्षाएं नहीं थीं।

तब हम कोलकाता (पूर्वनाम कलकत्ता) में रहते थे। गणेश गढ़ बाड़ी में हमारे लगातार दो-तीन कमरे थे। सभी जातियों के लोग रहते थे। तब एक कमरा एक घर होता था।

जितने भी मारवाड़ी प्रवासी थे वे सबके सब कोलकाता में धन कमाने आए थे। सिर्फ धन। क्योंकि तब राजस्थान, विशेषतः पश्चिमी उत्तरी बैल्ट, मरुस्थल था। रेत ही रेत। रेत के बनते-मिटते धोरे। प्यासा और सूखा प्रांतर बूंद-बूंद जल के लिए तरसता था। आय कम और परिश्रम सीधे पहाड़ पर चढ़ने जैसा। तब बीकानेर और जयपुर रियासत के रेगिस्तान से घिरे शहर व गाँवों के लोग एक धोती एक लोटा लेकर चल पड़े- कोलकाता और असम।... उन्होंने छोटी-छोटी दूकान खोलीं, आढ़त का काम किया, ऊंची दर पर ब्याज बट्टे का काम किया। भय के मध्य वे मारवाड़ी भूख को मिटाने की लड़ाइयां लड़ रहे थे। अपना जीवन शोषण करा रहें थे और अर्थ शोषण कर रहे थे। एक बात बता दूं-वे अर्थ-शोषण पन्द्रह-बीस प्रतिशत करते पर उनका जीवन एकांत के भीषण अंधेरे में हिलते लालटेन के उजास की तरह था।

मैं उनके जीवन को देखता था। मेरे भीतर द्वन्द्व चलता था। उनकी पीड़ाएं मेरे मन में काई की तरह जम रही थीं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हम बीकानेर आ गए। सारा व्यापार बंद करके। यहीं से आर्थिक पतन शुरू हो गया हमारे परिवार का। मैं छोटा था। पढ़ने में मेरी तभी रुचि थी। घर का आर्थिक ढांचा बिगड़ता गया। जब मुझमें समझ आई तब मुझे अपनी बदनसीबी पर रोना आया कि बचपन में जिसके घर में बादाम का कट्टा आता थ, उसके घर में गेहूँ की बोरी भी आनी बंद हो गई।

पाठशाला जाता था। फिर विद्यालय जाने लगा। एक दिन मैं अपने मूल घर साले की होली से स्कूल जा रहा था कि जसोलाई तलाई पर दो बनियों द्वारा एक गरीब धोबी की पिटाई हो रही थी। वे दोनों शायद भाई-भाई थे। बेंत से मार रहे थे, गालियां निकाल रहे थे-साला चोट्टा, चोर...बेईमान...। वे अश्लील गालियां भी निकाल रहे थे। छोटा ही था। न जाने क्या सूझा कि चिल्ला पड़ा-'क्यों मार रहे हो? छोड़ दो इसे।'

एक छोटे बालक का हस्तक्षेप उन्हें बर्दाश्त नहीं हुआ। वे मेरी ओर झपटे। एक विषाक्त स्वर में बोला- 'क्यों रे बामणिया, तू कौन है बीच में बोलनेवाला... इये धोबी ड़ैरे म्होरा चार कपड़ा चुरा लिया है, थारो बाप भर सी के ड़णरां पैस्यां? भाग जा वरना थारै दो दईड़ मारूला के मूत निकल जावैला।

मैं चुपचाप वहां से चल पड़ा।

तब मैं छठी क्लास में पढ़ता था आक्रोश व क्रोध के कारण काँप रहा था। अवश-छिपकली की कटी पूंछ की तरह।

तब मेरा एक दोस्त था- मोडाराम स्वामी जो अब भी दोस्त है।

मैंने उसे अपनी व्यथा-कथा सुनाई। उसने भी उन्हें कोसा। मोडाराम में जन्मजात प्रतिभा थी। उसके अक्षर मोतियों जैसे थे। वह चित्र बनाने का भी प्रयास करता था। उन दिनों ऊंची क्लास में हस्तलिखित कोई पत्रिका निकली थी।

मोडाराम और मैंने तय किया कि हम भी ऐसी पत्रिका निकालें। हम दोनों ने पुस्तकों में से कहानियां-कविताएं ले लीं। हाँ, मैंने भी एक कहानी लिखी 'मैं वही हूँ'। उस कहानी का कथ्य था-एक बनिया गरीब को मारता है और वही लड़का एक दिन डाकू बनकर अपना बदला लेता है। सेठ को कहता है कि मैं वही हूँ जिसे तुमने पीटा था।

मेरे सृजन को प्रथम कच्ची रचना वही थी। सन् 1948 ई. के आसपास मैंने हायर सेकण्डरी की पढ़ाई समाप्त कर दी। इस बीच मुझे पुस्तकें पढ़ने का शौक चर्राया- दीवानगी तक। पब्लिक लायब्रेरी काफी दूर थी। मैंने प्रेमचंद, शरत, पहाड़ी, पंत, निराला, महादेवी को पढ़ लिया। इस बीच घर की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई।

मुझे कई जगह नौकरियां करनी पड़ीं। नौकरी करना मेरी भयंकर विवशता थी। कहीं भी स्थाई रूप से जमा नहीं।

साप्ताहिक सेनानी में मैंने नौकरी कर ली। तब बीकानेर में बुद्धिजीवियों के दो प्रमुख ग्रुप थे- मार्क्सवादियों और रामवादियों के। उनमें वर्तमान सृजन पर और सैद्धान्तिक बहसें होती थीं। 'नई चेतना' की साप्ताहिक गोष्ठी होती थी। उनमें रचनाएं सुनाई जाती थीं। जो रचना श्रेष्ठ होती, उसे नई चेतना में छाप दिया जाता था। मैंने भी कहानियां, कविताएं लिखीं। दलितों के प्रति सहानुभूति, सामन्ती-महाजनी सभ्यता के प्रति विरोध और समाज में प्रचलित मूल्यों के बदलाव की मनसा मुझमें तब भी थी।

मेरी 'बर्फ की समाधि' नई चेतना गोष्ठी में चर्चित हुई। छपी भी। 'शुक बोला-सुन राजा', 'लखनऊ की युग चेतना', 'वह रात', 'सारा और सिपाही' कल्पना में छपकर चर्चित हुई। मेरी कविताएं 'चाँद', 'प्रवाह', 'नवयुग' में छपने लगीं। कविताओं के संदर्भ में मुझे एक बात याद आयी। चन्दौसी से पुकार नामक मासिक निकलता था। उसमें दुष्यन्त कुमार परदेशी और मेरी कविता साथ-साथ छपी। तब दुष्यन्तकुमार 'परदेशी' उपनाम लगाते थे। एक सामान्य बात और थी कि हम दोनों फोटों में गाँधी टोपी पहने हुए थे।

बीकानेर से जी ऊबने लगा। 160 रुपयों की नौकरी से मैं अपनी लेखकीय महत्वांकक्षाएं पूरी नहीं कर सकता था। सोचा कि कहीं चला जाऊं। तब बीकानेर-निवासियों के सामने कोलकाता ही परदेश के रूप में था। मैं कोलकाता चला गया। मेरे पास केवल पचास रुपये थे। सोचा दिल्ली रुकूंगा। बारह रुपए किराया। चला गया दिल्ली। वहां पत्र-पत्रिकाओं में बीस-पच्चीस रुपये मानदेय बाकी था। तब इन्द्रनारायण जी गुर्टू श्रम मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'मजदूर जगत' का सम्पादन करते थे और उनकी पत्नी शचीरानी जी राजनेता ब्रिजलाल बिमाणी जी के मासिक 'प्रवाह' का सम्पादन करती थीं। मजदूर जगत से मैंने पांच रुपए पारिश्रमिक लिया। सन् 1951 ई. की बात थी। दो पत्रिकाओं से दस-दस रुपये लेकर मैं इलाहाबाद पहुंच गया। दिल्ली में मुझे गुर्टू दम्पती के आतिथ्य ने भाव-विभोर कर दिया था।

इलाहाबाद में उन दिनों बीकानेर के प्रसिद्ध एडवोकेट व सामाजिक कार्यकर्ता साहित्य-प्रेमी उपध्यान चन्द्र कोचर लॉ की पढ़ाई कर रहे थे तब। उनके पास के कमरे में महान कवि स्वर्गीय नागार्जुन जी रहते थे। नई चेतना के कारण उनसे परिचय था ही। अत्यन्त सहज-सरल। मुझसे बातें करते-करते उन्होंने पूछा, 'इलाहाबाद कैसे आना हुआ?' मैंने बताया कि मैं कारणवश ही आया हूँ। बड़े साहित्यकारों से मिलना और यहाँ से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से मिलना। नौकरी नहीं करना चाहता हूँ।

'हिन्दी में लिखकर पेट भरना असंभव तो नहीं, कठिन बहुत है।' नागार्जुन जी ने कहा, 'चलो, तुम्हें अमृतराय से मिला लाऊँ।' हम दोनों अमृतराय जी के यहाँ गये। प्रेमचंद जी के स्वनामधन्य अमृतराय जी ने बाबा का स्वागत किया। वहाँ महान मेधावी चिंतक डॉ. महादेव शाह भी बैठे थे। नागार्जुन जी ने बताया कि यह यादवेन्द्र नाथ शर्मा 'चन्द्र' है। (तब मैं नाथ भी लिखता था।) नई चेतना से सम्बन्ध रखता है। अच्छा लिखता है।

मैंने उन्हें कविताएं (राजस्थानी की) सुनाईं। अमृतराय भी मुझे सहज ही लगे। महादेव शाह ने उस समय जो बातें बताईं, वे अत्यन्त ही विचारशील थीं। उन्होंने तब बताया था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का राष्ट्रीय गीत अंग्रेजों के लिए लिखा गया है। भारत भाग्य विधाता...कौन थे भारत भाग्य विधाता?...अंग्रेज ही। तब मैं इन बातों पर सही ढंग से सोच भी नहीं सकता था। डॉ. शाह हर बात को अपने तर्क से ऐसा काटते थे कि मैं सोच में पड़ जाता था। उनकी निगूढ़ता मेरे लिए सोचने की वस्तु थी।

दूसरे दिन मैं सबसे पहले चाँद मासिक के नंद गोपाल सहगल से मिला। जब मैंने अपनी चार रचनाओं का पारिश्रमिक मांगा तो उन्होंने कहा कि पारिश्रमिक तो हमने चतुरसेन शास्त्री जी को भी नहीं दिया।

बहुत अभाव था पैसों का। मुँह उतर गया मेरा। उठकर चलने लगा तो सोचा कि यदि नौकरी नहीं करनी है तो ऐसी हताशा और अपमान के घूंट पीने ही पड़ेंगे। ये तो नरक के द्वार हैं। खुलेंगे और बंद हो जाएंगे।

'सुनिए।' मैंने देखा कि सहगल साहब पुकार रहे हैं। मैं उनके पास गया। उन्होंने बिठाया और चपरासी से कहा कि वह बीस रुपयों का एक कैश वाउचर बनाकर लाए। उन्होंने मुझे बीस रुपए दिए। मानदेय के मामले में ऐसी स्थिति आरंभिक दिनों में हर भाषा की रही होगी। इसके बाद मैं अरुण, साजन-सजनी , माया मासिक आदि के कार्यालयों में गया। दस रुपए और मिले। मेरा सौभाग्य रहा है कि मैं तब ओंकार शरद, भैरव प्रसाद गुप्त, बच्चन जी से भी मिला। यह भी सोचा था कि इन स्थितियों का अपने सृजन में कभी उल्लेख करूंगा।

कोलकाता पहुंचने पर मुझे भंयकर आर्थिक संकट से गुजरना पड़ा। दूर के रिश्ते के चाचा के यहां रहता था। छत पर एक कोटड़ी थी।....बनियों की नौकरी मुझे भाती ही नहीं। हाँ, तब कोलकाता में विश्वमित्र, लोकमान्य, सन्मार्ग और कई फिल्मी पत्रिकाएं निकलती थीं।

कई दिनों तक मैं इन दैनिकों में लिखता रहा और तीन से पाँच रुपए प्राप्त करके जैसे-तैसे जीवन निर्वाह करता रहा। तब मैंने कई कहानियां लिखीं। शाहजहाँ का संदेह, सांवली, पोस्टकार्ड्स आदि।

मन में परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए शारीरिक और मानसिक संघर्ष चलते रहते थे। कैसे लड़ूँ इन महानगर की पूंजीवादी प्रवृत्तियों वाले लोगों से? कई बार लगता था कि वाणी का

माधुर्य यहां कोई मायने नहीं रखता क्योंकि यहां के बड़े लोगों में ऐसी विषाक्ता है कि हम समझ ही नहीं सकते।

लिखता रहता था पर निरन्तर लिखना किसी के बूते का नहीं। फिर भाग्यवश पारसी थियेटर में गीतकार हो गया। मैंने पहला गीत राजस्थानी, 'अफसर' नाटक में लिखा। वह हिट हो गया। फिर मैंने दुर्गावती, घर-परिवार, रामू-चनणा में गीत लिखे। सिलसिला चल पड़ा जिन्दगी का...मास्टर फिदा हुसैन (प्रेमशंकर नरसी) से भेंट हुई। वे मूनलाइट थियेटर के निर्देशक थे। उन्होंने मुझसे नाटक लिखने के लिए कहा। मैंने राजस्थानी प्रेम कथा खींवजी आमलदे पर नाटक लिखा। सच कहता हूँ स्व. मास्टर फिदा हुसैन ने मुझे पारसी रंगमंच की सारी टेकनीक सिखाई। मैंने फिर केसरिया पगड़ी (निर्देशक : कन्हैया लाल पंवार), नागजी-सामलदे (निर्देशक : माणकलाल डांगी), इन्सान (निर्देशक : मैं स्वयं) नाटक लिखे और वे मंचस्थ हुए।

आज मैं दावे से कह सकता हूँ कि पारसी थियेटर पर जो भी शोध ग्रंथ छपे हैं, वे शोधकर्त्ताओं के प्रयास के फल हैं न कि स्वयं अनुभूत। पारसी थियेटरों की आंतरिक स्थितियों का यथार्थ उनमें है ही नहीं। मैं लिखने की सोच रहा हूँ। वैसे मैंने उस वातावरण पर 'एक नायिका आठ पति', 'उल्लू निदेशक', 'शरीर का सच' कई कहानियां लिखीं।

मेरा नाम कोलकाता के लिए परिचित हो गया। सन् 55 से पारसी रंगमंच का पतनकाल शुरू हो गया था। तब मुझे एक लड़का मिला ललित कुमार शर्मा 'ललित'। वह मेरा पक्का चेला बन गया।

मैंने निश्चय किया कि यहाँ कितनी ही पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में रूपलेखा, गल्पभारती, रानी, सुप्रभात। तब किसी झुनझुनवाले ने सरिता टाइप की एक पत्रिका निकाली थी- रश्मि। उसने मुझे तब बीस रुपये मानदेय के दिए थे। इन बीस रुपयों के पारिश्रमिक ने मेरा उत्साह बढ़ाया। मैंने दो-तीन कहानियाँ लिख दीं।

ललित के आने पर हमने मिलकर 'लहर' मासिक निकाला। पैसे तो थे नहीं, राजस्थानी बनियों से विज्ञापन लिए। कुछेक से पैसे अग्रिम लिए।

उस पत्रिका को लेकर हम रामपुरिया हाउस गये। रतनलाल रामपुरिया के आमंत्रण पर। उन्होंने 'लहर' को रिजेक्ट करते हुए कहा- आप सरिता जैसी पत्रिका निकालिए। पाँच लाख दूंगा।

सच मेरा तो माथा चकरा गया। पाँच लाख! उस रात सो नहीं पाया...रामपुरिया से पूछा तो उन्होंने सहज स्वर में कहा, 'मुझे शौक है।'

मुझे मालूम है कि शौक में पैसा लगता है, वापस नहीं आता। जैसे पान-बीड़ी, गुटखा, शराब और रंडीबाजी। फिर मैं चिंता में पड़ गया। कह दिया-रामपुरिया जी, सोचकर जवाब दूंगा।

मैं बता दूं- कोलकाता प्रवास में मैंने खूब पढ़ा। काफी सोच-सोच कर मैं निरन्तर एक उपन्यास लिखता रहा। बौद्धकालीन एक तृष्णा-वितृष्णा की कथा। शैली मैंने नाटकीय रखी। समस्त विवेचन और विश्लेषण संवादों में। उसे कई बार लिखा।

जब रामपुरिया प्रकाशन आरम्भ करने के लिए मैंने रामपुरिया जी से कहा तो उन्होंने पूछा, 'छापेंगे क्या?'

मैंने अपने उपन्यास 'संन्यासी और सुन्दरी' की पांडुलिपि उन्हें दे दी। वे पढ़कर मुग्ध हो गए। बोले, इसने तो मुझे चित्रलेखा की याद दिला दी।

रामपुरिया प्रकाशन का श्रीगणेश हो गया। मैंने रामपुरिया प्रकाशन में पहला काम यह किया कि दिल्ली तक की यात्रा की। पहले पटना गया। आचार्य शिवपूजन सहाय, अनूपलाल मण्डल, हंसकुमार तिवारी, रामदयाल पाण्डे, सदय आदि कई साहित्यकारों से मिला। इलाहाबाद में जिन लेखकों से मिला, उल्लेख कर चुका हूँ। मसूरी गया तो बीच में शैलीकार श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर से सहारनपुर में मिला। पृथक व्यक्तित्व के धनी...सम्पादक प्रखर...। मसूरी गया- राहुल जी के पास रहा। उनकी एक ही बात का जिक्र करूंगा। उन्होंने अत्यन्त पीड़ा से कहा यदि मैं अंग्रेजी में लिखता तो मेरे दरवाजे भी सोने-चाँदी के होते।

हिन्दी भाषा ने उन्हें कुछ नहीं दिया। आज भी फ्रीलांसर अंगुलियों पर गिनने लायक हैं।

दिल्ली आ गया। इस बार होटल में ठहरा। जैनेन्द्र जी, मन्थनाथ गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी जी, अनेक लेखकों से मिला। यादवेन्द्र नाथ शर्मा 'चन्द्र' से यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की कथा सुनाता हूँ। मैं सत्यार्थी जी से 'आजकल' कार्यालय में मिला। वे आजकल के सम्पादक थे। वे कहने लगे कि जब यादवेन्द्र हो तो नाथ क्यों, इसे हटाओ। वे इस बात पर जैसे अड़ गए।

प्रभावशाली व्यक्तित्व था उनका। मैं मान गया और तब से यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' बन गया। आगरा में राजेन्द्र यादव, डॉ. सत्येन्द्र, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, राजेन्द्र रघुवंशी, राजनाथ, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' आदि से मिला। प्रथम बार मैं राजेन्द्र यादव के साथ डॉ. रांगेय राघव से मिला। बाद में राजेन्द्र यादव व डॉ. रांगेय राघव मेरे अभिन्न मित्र हो गए।

कोलकाता लौट आया। रामपुरिया प्रकाशन का पहला सैट छपा- 'संन्यासी और सुन्दरी' और बरुआ का 'अंखिया निहारके : पग धूरि झारके'। बरुआ की पुस्तक बहुत ही सम्पादित करनी पड़ी। वह अच्छा लेखक था पर उसकी नीयत खराब थी। चाहता था कि मैं अपने लेखन से शार्ट-कट से हजारों रुपये कमा लूं। इसके लिए उसने एक पुस्तक की घोषणा की- सेठ डालमिया और उसकी नौ

पत्नियां। उसके इस दुष्कर्म के बाद मेरा उससे संबंध टूट-सा गया।

राजेन्द्र यादव से गहरी मित्रता हो गई थी। मैं समझता हूँ कि वह कुछ चौंकाने वाला कर्म करने के लिए पैदा हुआ है। उसकी आँखों में सनीचर है। अज्ञेय जी को भी पटा लेता है और रामविलास जी को भी।

उसका सृजन श्रेष्ठ है। उसने रामपुरिया प्रकाशन को 'एण्टन चेखवः एक इन्टरव्यू' दी। एक काल्पनिक अध्ययनपूर्ण भेंटवार्ता। वह हमने छापी और उसे कोलकाता बुलाया। मेरा दूसरा उपन्यास 'दीया जला : दीया बुझा' छपा। सामन्ती संस्कृति और गोली (दासी) वर्ग पर लिखा पहला उपन्यास अत्यन्त चर्चित हुआ। राहुल जी तक ने प्रशंसा की।

कोलकाता में मैंने कई जीवन जिए। साथी थे-दिवंगत लेखक हर्षनाथ और छेदीलाल गुप्त। राजेन्द्र यादव भी कोलकाता जम गए। वे ज्ञानोदय में भी रहे। अच्छा वातावरण था। मन्नू भंडारी ने लिखना शुरू कर दिया था। प्रयाग शुक्ल भी तब बच्चों की खूबसूरत कविताएं लिखते थे। कमल जोशी भी थे। तब उनकी 'पत्थर की आँख' कहानी बड़ी विवादास्पद रही। पारसी थियेटर काल में अनेक लड़कियों से सम्पर्क रहे। प्रेम किए। छल-कपट किए। रामपुरिया प्रकाशन के समय भी कई लड़कियों से सम्बन्ध हुए। वे सब मेरी कई कहानियों की जन्मदाता रहीं- 'सौ का नोट', 'आग की लपट', 'विचित्र वह' और अनेक।

बस, एक घटना बताता हूँ। मैं जब कोलकाता आया। तब मेरे पड़ोस में सात-आठ साल की एक बच्ची थी। वह नीचे नहाने जाती थी। जब नहाकर आती तो वह गमछा हटाकर नंगी हो जाती। जीभ निकालकर चिढ़ाती थी।

जब वह बीस साल की हो गई तब मुझे हदुआ तालाब के पास अचानक मिली। मैं नहीं जानता कि वह कौन-सी इंद्रिय थी कि मैं उसे पहचान गया। शायद उसकी आँखों के आकर्षक भैंगेपन के कारण।

मैंने अपना परिचय दे दिया। मित्र हो गए। वह अपने घर ले गई तब पता चला कि वह सोना गाछी के निकट रामबागान इलाके में रहती है। मैंने उसके साथ भोजन किया तब उसने घृणा से बताया कि उसकी नीच माँ ने उसे रंडी बना दिया। मैं ईश्वर की सृष्टि की सच्चाइयां जानकर सोचने लगा कि मुझे इस सुन्दर गोरी-चिट्टी के इस प्रस्ताव मानना चाहिए या नहीं कि आपको रात-भर यहीं रहना है। मैंने जब 'ना' कहा तो उसने बड़े ही अपनत्व से कहा, हमें ईश्वर ने मिलाया है इसलिए आपको रहना ही पड़ेगा। रह गया। लेकिन मेरा नैतिक रस्सियों से बंधा संवेदनशील और भावुक मन अन्तर्द्वन्द्व से जकड़ गया। वासना और सौन्दर्य का खिंचाव और उस छोटी नंगी बच्ची की हरकतें। प्रेम और काम के रास्ते में कई वर्जनाएं खड़ी हो जाती हैं। वासना विचारहीन दैत्य हो जाती है। अतृप्ति के महासागर में तैरता रहा। रात गुजरने लगी। वह बार-बार मुझसे आग्रह करती। सच, मैं नपुंसक हो गया। वह नंगी औरत परिया बार-बार नन्हीं नंगी बच्ची बन जाती थी। कहानी लिखी, बहुत पसंद की गई। मेरा नायक उस मासूम अबोध बच्ची को नहीं भूल पाया।

कोलकाता की विषमता, विसंगतियों और यंत्र और पूंजी की दोगली अनगिनत संतानों के बीच बंगाली अपनी रागात्मकता को नहीं त्यागते। मैंने उस परिवेश पर दो उपन्यास लिखे- 'आँचल में दूधः आँखों में पानी' और 'सपना', कई कहानियां भी।

कोलकाता का जीवन अत्यन्त उतार-चढ़ावों से भरा था। वहां की स्त्री कई बार शरत की तार्किक और अनूठी स्त्री बनती रहती है।

सन् 55 की जनवरी में कोलकाता से मेरा स्थाई सम्बन्ध कट गया। पिताजी को लकवा मार गया था। वे मुझे अपने पास रखना चाहते थे।

'संन्यासी और सुन्दरी' व 'दीया जलाः दीया बुझा' उपन्यासों ने मेरी हिन्दी संसार में पहचान बना दी थी कि एक चन्द्र भी लेखक हैं।

बीकानेर आ गया। आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं। आर्थिक संकट के साथ पिताजी चुन्नी लाल जी विस्सा की बीमारी। लेकिन माँ आशादेवी ने तब मेरे मनोबल को ऊंचा किया। पत्नी शांति भट्टाचार्य ने जो भी धन दिया, उससे गृहस्थी चलाई।

बीकानेर के साले की होली के चौक में मेरा पुश्तैनी घर था। घर में कभी सत्रहवीं सदी में 'सती' हुई थी। मैं नहीं जानता कि इसमें सच क्या है। यह डॉक्टरों का काम है कि वह गंभीरता से जाँच करें। हमारी जाति विस्सा है। उसमें कोई स्त्री-पुरुष मेहंदी नहीं लगा सकता। हमारा परिवार लगाता है क्योंकि हमारे घर में सती हुई है। ऐसी कई विचित्र बातें अन्य जातियों में भी हैं।

घर ठीकठाक है। मैंने एक छोटे कमरे में एक पुरानी मेज लगा ली। एक लोहे की गोल कुर्सी। कुछ पुस्तकें- संदर्भ-ग्रंथ, इतिहास, लोक-कथाओं की पुस्तकें। यही था उस कमरे में।

बीकानेर में मैंने पढ़ाई-लिखाई साथ-साथ की। अध्ययन व अनुभव बटोरता रहा। हर घटना पर सोचता था। चिंतन-मनन करता था।

मैंने 'नया इन्सान' उपन्यास लिखा। उसके बाद 'खम्मा अन्नदाता'।

मैं कहना चाहता हूँ- सामन्ती व्यवस्था और उसकी संस्कृति की विकृतियाँ, मानव-शोषण, स्त्री की भयंकर दुर्दान्त दासता, राजशाही द्वारा प्रजा का दमन, उनकी जूताशाही कानून-व्यवस्था ने मेरे मन में घृणित आक्रोश भर रखा था। ग्रामीण अंचलों में घूमने पर

ग्रामीणों से सुनी दिल दहलाने वाली कथाएं व घटनाएं मुझे सुइयों की तरह बींध रही थीं। उधर सेठिया-समाज से रिश्ता। वहाँ भी स्त्री के सतीत्व के महान गुण गाये जाते थे, भले ही नारीत्व उनमें जरा-सा भी न हो।

मेरे अन्तस में कितने ही गंध-सुगंध के द्वीप बनते गए। अपनी संस्कृति और परिवेश के साथ-साथ कई अलग-अलग प्रदेशों, विशेषतः महानगरों की संस्कृति, अपसंस्कृति, सम्बन्धहीनता, विरोधाभास, पूंजीगत विच्छिन्नताएं, आपाधापी, औद्योगिक धुएं की जहरीली चादर ओढ़ता मनुष्य...घुटती आत्माएं...अश्लील होते संवाद, फैशन के रूप में नंगापन...कितने ही बिन्दु और स्थितियों का घालमेल तीखापन लिए हुए मेरे सृजन में मिलता गया।

कोलकाता से अलविदा कहने के पश्चात मैं कई-कई साल मुम्बई और दिल्ली में रहा। कई शहरों व अंचलों में घूमा लेकिन मेरे सृजन ने पूर्ण विराम नहीं लिया। अनुभवों का भंडार बढ़ता गया और अध्ययन उन अनुभवों को सृजन की सुन्दर और मोहक गलियों में सैर कराता रहा।

मेरी इच्छा थी कि प्रेमचंद जी की भांति मैं जनता का लेखक बनूं और शरत चन्द्र चटर्जी की तरह घर-परिवार का। बौद्धिक चौंचलेबाजी भी मैंने की। दिल्ली और मुम्बई में मैंने सबसे अधिक ध्यान आदमी पर दिया। विभिन्न वर्ग के लोगों से सम्बन्ध रखना और बढ़ाना। स्त्रियों, वह भी आम वर्ग की स्त्रियों से अपना बौद्धिक मुखौटा उतार कर सम्पर्क रखना। विनम्रता से घुलमिल जाना। बदलते मूल्यों व पूंजीवाद का बदलता कटीला चेहरा पहचान जो उपभोग की ओर मनुष्य को अग्रसर करता है।

राजस्थानी परिवेश की रचनाएं कीं। कई धारदार उपन्यास लिखे- खम्मा अन्नदाता, राजा-महाराजा, ठकुराणी। अपने सृजन में सामन्तवाद के पतनशील जीवन को मैंने जरा साहस से उजागर किया। दलितों के शोषण को तस्वीरें मेरे भीतर अंकित थीं। सन् 48 में उनको लेकर एकांकी लिखा- धर्म की आँख। एक नहीं, कई कहानियाँ लिखीं। संग्रह आएगा- दलित नारी विद्रोह की कहानियां। हजार घोड़ों का सवार, आखिरी सांस तक, ढोलन कुंज कली, गुलाबड़ी, न्यायदंड- सभी उपन्यास दलित चेतना के हैं और तटस्थता से लिखे हैं।

मैंने मुम्बई पर कई उपन्यास लिखे। कभी मेरे सामने सुकन्या उपस्थित हुई, कभी वहां का अजनबीपन।

शरद देवड़ा ने कहा, 'यार! तुम प्रयोगवादी उपन्यास लिखो।' सोच कर लिख दिया- पांव में आँख वाले।

मनोहरश्याम जोशी तब साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक थे। गोविंद प्रसाद केजरीवाल बैठे थे। मैंने उन्हें कहा कि आप बंगला उपन्यास ही धारावाही क्यों छापते हैं? केजरीवाल जी ने कहा, 'हिन्दी उपन्यास कोई पढ़ता नहीं।'

मैंने उन्हें गोली, हिरना सांवरी आदि उपन्यासों के नाम गिनाए जो खूब पढ़े गए थे। तभी जोशी जी ने कहा, 'चन्द्र जी, आप इनका चैलेंज स्वीकार करके उपन्यास लिखें।'

मैंने खूब खोज की। अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में मुझे एक पुस्तक मिली- जयपुर रहस्य। उसको आधार बना कर 'जनानी ड्योढ़ी' उपन्यास लिखा। साप्ताहिक में छपा। पाठकों ने पसंद किया। हिट हुआ।

मैंने ऐतिहासिक व लोककथाओं पर आधारित उपन्यास-कहानियां लिखीं। इतिहास को समकालीन सच व स्थितियों से जोड़ा। चारणाई अतिशयोक्ति से उन चरित्रों को बचाकर उनके भीतर के मनुष्य को तलाशा। उनके मनोवैज्ञानिक बिन्दुओं को छुआ। मरुकेसरी, मैं रानी सुप्यार दे, खून का टीका- ऐतिहासिक उपन्यास हैं और 'द ारती की पीर' लोककथा पर आधारित। 'देह गाथा माधवी की' और 'आदमी में मगरमच्छ' नये उपन्यास हैं। मैंने नाटक, कविताएँ व बाल साहित्य भी लिखा है। सात नाटक, दो कविता संग्रह व कई बाल साहित्य की पुस्तकें छपी हैं।

मैं शुद्ध लेखक हूँ। न किसी दल में शामिल होकर माफिया के आगे सिर झुकाता हूँ और न किसी के समक्ष समर्पित होता हूँ। इतना समझता हूँ कि मैं जो लिखता हूँ, प्रकाशक छापते हैं, पाठक पढ़ते हैं। शोधार्थी निरन्तर पीएच.डी कर रहे हैं।

मैं न तो कोई चौंकाने वाली घोषणाएं करता हूँ कि ईश्वर मर गया है। मेरा मानना है कि जो है नहीं उसके जन्म-मरण का विवाद कैसा? मैं तो ईश्वर, खुदा और गॉड को शब्द मात्र मानता हूँ। हमारे संवादों व संस्कारों में घुला शब्द। न मैं किसी साहित्य विधा के मरने की घोषणा करता हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि कोई विधा नहीं मरती। पुस्तक-संस्कृति अमर है।

अंत में श्री महीप सिंह जी का आभारी हूँ कि उन्होंने एक कोने में बैठे लेखक को याद तो किया।

आशालक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर-334004

'चन्द्र' के लिए कहानी लिखना कोई औपचारिकता नहीं है बल्कि उनके कलाकार-मन का रचनात्मक धर्म है...न तो व्यावसायिक चोंचलेबाजी से वे क्षतिग्रस्त हुए, न उन्होंने जिन्दगी का समझौतापरस्त नक्शा रचा। अपनी बुनियादी आस्थाओं से कभी विरक्त न होने वाले चन्द्र, जीवन के सन्धि प्रस्तावों के समक्ष कभी समर्पित नहीं हुए।...दर्द का दायरा, रेत में दबा सरोवर, उस्मानिया और अजीबदास आदि कहानियाँ अपने परिवेशों, पात्रों कथा संवेदनाओं में सर्वथा सशक्त हैं।

-रामदेव आचार्य

डॉ. भैरूं लाल गर्ग

सदैव प्रासंगिक कथाकार

आधी शताब्दी से भी अधिक समय से निरंतर सृजनरत रहकर हिन्दी कथा साहित्य को अनेकानेक अविस्मरणीय एवं मौलिक कथानक देने वाले कथाकार यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' के सृजन के संदर्भ में कमलेश्वर कहते हैं, 'मैं मानता रहा हूँ कि राजस्थान ही नहीं, राजस्थान के बहाने 'चन्द्र' ने भारतीय यथार्थ को रूपाकृति दी है। उन्होंने लगातार जीवंत राजस्थान को उत्कीर्ण किया है, इसलिए उनकी रचनाएं अपनी राजस्थानी पहचान के बावजूद आधुनिक भारत की रचनाएं हैं।'

चन्द्र के कथा संसार पर मन्नू भंडारी का अभिमत है, 'चन्द्रजी की मूलभूमि है राजस्थान। यहां की राजनीतिक, सामाजिक, ग्रामीण, सामंती या ऐतिहासिक कहानियां इनके लेखन को शक्ति और पैनापन देती हैं। सामंती संस्कारों और इतिहास के भीतर उभरते नये जनजीवन के जैसे प्रामाणिक चित्र चंद्रजी ने दिए, वैसे इस क्षेत्र के किसी लेखक ने नहीं दिए।'

कमलेश्वर और मन्नू भण्डारी ने चन्द्र की मूल कथा भूमि जीवंत राजस्थान को माना है। ये ही नहीं, हिन्दी कथा साहित्य उन्हें मूलतः राजस्थानी जनजीवन का कुशल चितेरा स्वीकारता रहा है। उन्होंने राजस्थान के इतर अन्य विषयों को भी अपनी कथाओं में रूपाकृति दी है, किन्तु राजस्थान का जैसा जीवंत एवं प्रभावी चित्रण उनकी कथाओं एवं औपन्यासिक रचनाओं में हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं हो पाने से राजस्थान के प्रामाणिक रचनाकार के रूप में उन्हें विशिष्ट प्रतिष्ठा मिली है।

उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में अपने पदार्पण के साथ ही यह अहसास करा दिया था कि उनके मन में मरुधरा रची-बसी है, मरुधरा राजस्थान के सुख-दुख से वे स्वयं को असंपृक्त नहीं रख सकते। यहां के सामंती संस्कार आम जन को पीड़ित-प्रताड़ित करते रहे हैं। सन् 1954 में उनके दो उपन्यास पहली बार एक साथ प्रकाशित हुए, 'दीया जला : दीया बुझा' तथा 'संन्यासी और सुंदरी'। 'दीया जला : दीया बुझा' में उन्होंने राजस्थान की सामंती संस्कृति के वीभत्स स्वरूप को उद्घाटित किया और बताया कि सामंतशाही ने किस तरह मानवीय आजादी को बंधक बनाकर ऐयाशीपूर्ण सुख भोगा। तब 'ज्ञानोदय' में लिखा गया कि इसका कथानायक 'गोदान के होरी के बाद, ऐसा कथा चरित्र है जो अपनी सामंती संस्कृति के साथ जीता और मरता है। सामंती जीवन के कड़वे यथार्थ को इसमें ऐसी तल्खी से उद्घाटित किया गया कि चन्द्र कथा संसार में सामंती चेतनापरक कथाकार के रूप में, अपने पहले उपन्यास के साथ ही, प्रतिष्ठित हो गए। 'संन्यासी और सुंदरी' का कथानक बिल्कुल जुदा था। उसमें बौद्धकालीन जनजीवन को उसी तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण में रूपायित किया गया। किन्तु 'दीया जला : दीया बुझा' का नशा हिन्दी कथा साहित्य पर इस प्रकार तारी हुआ कि 'संन्यासी और सुंदरी' के खाते में प्रशंसा मिली और इसे प्रतिष्ठा। उसके पश्चात् अनेक उपन्यासों में उन्होंने आजादी पूर्व और पश्चात् के भारतीय समाज, जनजीवन को, राजस्थान के बहाने संवदेनात्मक रूप से रूपायित किया। उन्होंने आम जन की पीड़ा को आत्मसात कर प्रभावी सृजन किया, इसीलिए उनकी सामंती चेतनापरक औपन्यासिक कृतियों में व्यक्त राजा-महाराजाओं के अमानुषिक अत्याचारों, उत्पीड़ित जनता के चीत्कार, रनिवासों के हाहाकार, गरीब जन के शोषण के विश्वसनीय एवं यथार्थपरक चित्रण से पाठक विचलित हो जाता है और उसमें उस व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश जन्मने लगता है। खम्मा अन्नदाता, जनानी ड्योढ़ी, ठकुराणी, राजा-महाराजा आदि उनकी अनेक सामंती चेतनापरक औपन्यासिक कृतियां इसका साक्ष्य हैं।

उपन्यासकार चन्द्र को मात्र सामंती चेतनापरक उपन्यासकार मानना उनके समग्र उपन्यास सृजन का एकांगी स्वरूप होगा। उन्होंने राजस्थान के सामंती जीवन को इतनी ईमानदारी एवं तटस्थता से चित्रित किया है कि वह इतिहास से ज्यादा प्रामाणिक एवं विश्वसनीय कहा जा सकता है। इसके साथ ही उन्होंने यहां के जनजीवन को गहराई से अनुभव कर उसे औपन्यासिक कृतियों में अभिव्यक्त किया है। राजस्थान के उद्यमियों के जीवट एवं उद्यमशीलता से पूरा विश्व परिचित है किन्तु उद्यमियों की अर्द्धांगिनियों की पीड़ा को किसी ने महसूस नहीं किया। राजस्थान के औद्योगिक घरानों-यहां के सेठ-साहूकारों- की सदियों पुरानी प्रवृत्ति रही है कि वे परदेस में रहकर कारोबार करते हैं और उनके परिवार की महिलाएं अपनी हवेलियों में बैठी उनकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। औद्योगिक घरानों की इन त्यागमयी समर्पित महिलाओं के धैर्य एवं घर-परिवार के प्रति अदम्य निष्ठा को चन्द्र ने अपने उपन्यास 'चांदा सेठानी' में उजागर किया। राजस्थानी प्रवासियों के संघर्ष एवं उद्यमिता को केन्द्रीय विषय बनाकर गत वर्षों में औपन्यासिक कृतियां आई हैं किन्तु चन्द्र पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने पहली बार इसे वर्ण्य विषय बनाया तथा उनके संघर्ष के पीछे उनके परिवार की महिलाओं के त्याग को संवेदनात्मक स्तर पर उकेरा।

चन्द्र के उपन्यासों में दलित चेतना प्रखरता से प्रकट हुई है। दलितों के संघर्ष एवं जीवट को उनके उपन्यास 'आखिरी सांस तक' में देख सकते हैं। इसका प्रकाशन पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस ने किया था। उन्होंने बृहद उपन्यास 'हजार घोड़ों का सवार' में दलित चरित्र को नायकत्व प्रदान किया। इस कृति में उन्होंने बीकानेर की पचास साला पृष्ठभूमि को लेकर यहां की

सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक आस्थाओं, परम्पराओं, प्रथाओं के बीच उपेक्षित दलित वर्ग को जीवंतता प्रदान की है। कथानायक गीदू गरीब-दमित-दलित परिवार में जन्म लेकर भी कैसे संसद तक पहुंचता है, उसके सांसद बनने के पश्चात् कैसे कथित उच्चकुलीन वर्ग उसको अपना समझने का भ्रम पैदा करता है और कैसे झंझावातों को सहकर भी वह अपने वर्ग की पहचान के लिए जीवनपर्यन्त संघर्ष करता है, 'हजार घोड़ों का सवार' में इसका बखूबी चित्रण हुआ है। 'ढोलन कुंजकली' उपन्यास में उन्होंने दलित वर्ग की स्त्री को विशिष्ट पहचान दी है। नृत्य करके जीवन-यापन करने वाली ढोली जाति की कथानायिका कुंजकली स्वतंत्रता आंदोलन में स्वयं को समर्पित कर जता देती है कि उच्चादर्श ही श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का निर्धारक तत्व है, उच्च या निम्न जाति में जन्म गौण है। बदलते परिवेश और परिवर्तित जीवनमूल्यों के वे केवल निरीह मूक दर्शक ही नहीं रहे बल्कि अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा और इन्वाल्वमेंट द्वारा उन्हें जीवन-सत्य और युग-सत्य के रूप में आत्मसात् करते हुए रूपायित भी किया।

वास्तविकता यह है कि चन्द्र का कथा-संसार बहुत विस्तृत है। उन्होंने सत्तर से अधिक उपन्यासों का सृजन किया है, सैंकड़ों कहानियां लिखी हैं। इतनी सुदीर्घ साहित्य यात्रा में उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, पौराणिक आदि विविध कथानक लिए हैं तथा सैंकड़ों अविस्मरणीय कथा-चरित्र दिए हैं। उन्हें किसी एक खाने में नहीं डाला जा सकता। वे आंचलिक उपन्यासकार हैं, सामाजिक उपन्यासकार भी। वे राजनीतिक चेतना के उपन्यासकार हैं तो ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यासकार भी। कह सकते हैं कि वे विशुद्ध उपन्यासकार एवं कहानीकार हैं। उन्होंने जिस विषय में लिखा, कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर नवीन प्रयोग कर चमत्कृत किया है।

किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध न होते हुए भी उनमें राजनीति की गहरी पकड़ है। आपातकाल के अंधियारे-उजियारे पक्ष को लेकर तत्कालीन स्थितियों में अधिकांश लेखकों ने लिखने में परहेज किया किन्तु उन्होंने 'प्रजाराम' उपन्यास लिख आपातकाल पर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर लेखकीय धर्म का निर्वहन किया। 'एक और मुख्यमंत्री' में जहां गांधीवाद के नाम पर चल रही अवसरवादिता, सम्बन्धों की अर्थियां ढोती पदलोलुप राजनीति के वीभत्स स्वरूप का चित्रण है, वहीं उन्होंने वर्ष 1973 में ही यह संकेतित किया कि राजनीति की अंधी आंधी के दुष्प्रभाव से हिन्दू और सिख भी आगे चलकर आपस में लड़ेंगे। उन्होंने इस उपन्यास में गांधीवादी अलगरजिया बाबा की हत्या से जाहिर किया कि यह बाबा की नहीं, गांधीवाद की हत्या का संकेत है। चन्द्र ने ऐतिहासिक चरित्रों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पूरी तार्किकता के साथ पुनर्सृजित किया है। उनके ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों के उपन्यासों में मनुष्यता की तलाश है। करुणा एवं संवेदनशीलता के साथ पुरातन चरित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। 'मरुकेसरी' वीर दुर्गादास के जीवन चरित्र पर नये तरीके से सोचने-चिंतन करने का आह्वान करता है, वहीं 'खून का टीका' राजस्थान के वीरतापूर्ण इतिहास की आंतरिक परतों को खोलता है। उन्होंने 'मैं रानी सुप्यार दे' में रानी के पद पर आसीन एक नारी के अन्तर्मन की पीड़ा को संवेदनात्मकता से उजागर किया है। रनिवासों के सुख भी एक रानी के लिए किस प्रकार अभिशप्त बन जाते हैं, कैसे वह अपनी 'निजता' के लिए व्यथित-प्रताड़ित होती रहती है, कैसे पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था में नारी मात्र वस्तु बनी रहती है-इसका उन्होंने बेबाक चित्रण किया है। इसी तरह पौराणिक पृष्ठभूमि के उपन्यास 'देहगाथा माधवी की' में उन्होंने माधवी के बहाने पौराणिक काल से विवशता भोगती नारी की दारुण कथा को शब्दाकृति दी है। माधवी की इच्छा-अनिच्छा की बिना परवाह किए उसका पिता ययाति उसे वस्तु की भांति ऋषि के सुपुर्द कर देता है। उसकी देह का भोग कर संतानोत्पत्ति प्राप्त कर अन्य राजा उसके प्रतिफल स्वरूप ऋषि को श्यामकर्ण अश्व सौंपते हैं। यह कैसी नियति है स्त्री की? अनिच्छा से परपुरुष के सम्मुख देह-समर्पण की विवशता कैसी पीड़क होती है लेकिन पौराणिक चरित्र माधवी ने इसे झेला।

चन्द्र ने लेखकों-कलाकारों के विरोधाभासी चरित्रों को बेनकाब करने में भी झिझक महसूस नहीं की। 'आदमी बैशाखी पर' में उन्होंने अपाहिज कलाकार के अपाहिज मन को टटोला है। शारीरिक अपंगता कैसे मन में संदेह के बीज का आरोपण कर देती है और कैसे कलाकार अपनी प्रेमिका के प्रेम पर शक-शुबहा करने लगता है, इसका यथार्थ चित्रण मनोविश्लेषणात्मक रूप में किया है। वहीं 'चेहरे मत उतारो' में दिल्ली के कवि-लेखकों के मुखौटेयुक्त चेहरों के पीछे छिपे वास्तविक चेहरों को उजागर किया है। 'आदमी में मगरमच्छ' में एक सम्पादक के चरित्र को कथा-नायकत्व प्रदान कर बताया है कि साहित्यिक गलियारों में आदमी के रूप में मगरमच्छों का बोलबाला है। वे साहित्य के प्रतिभाशाली लोगों को मगरमच्छ की मानिंद निगल लेते हैं। लेकिन सम्पादक के साथ जीवन में उसके पुत्रों का हावी होना और उसका 'गुरुडम' खत्म होना दर्शाता है कि मनुष्य को मनुष्यता से कभी मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। लेखक-कलाकार समाज के ही अंग हैं, उन्हें अपने को विशिष्ट समझ अन्य के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार नहीं रखना चाहिए।

चन्द्र का 'पांव में आंख वाले' उपन्यास मनोवैज्ञानिक है, इसमें उन्होंने अन्तर्द्वन्द्व को उजागर किया है, वहीं बंगाली

पृष्ठभूमि के उपन्यास-पराजिता, आंचल में दूध आंखों में पानी, सपना- हमें शरत की याद ताजा कराते हैं। शरत की नारियां जिस तरह की बौद्धिक एवं भावुक होती हैं, इनमें भी वैसी ही हैं। चन्द्र लम्बे समय तक बंगाल में रहे हैं, संभवतः यह उसी का प्रभाव है।

कथाकार चन्द्र ने जहां अनेक औपन्यासिक कृतियों का प्रणयन कर हिन्दी कथा साहित्य को समृद्ध किया है, वहीं उन्होंने सैंकड़ों कहानियों का सृजन किया है ओर उनकी लेखनी आज भी अनवरत सृजनरत है। हिन्दी कहानी साहित्य में चाहे जितने कथा आंदोलन चले हों- सचेतन कहानी, अकहानी, प्रगतिशील कहानी, सार्थक कहानी आदि- चन्द्र कभी अप्रासंगिक नहीं हुए। उनकी कहानियां कथा-आंदोलनों के दौर में भी बराबर छपती-चर्चित होती रही हैं, बावजूद इसके कि उन्होंने कभी अपने को किसी झण्डे के नीचे नहीं माना। हिन्दी कहानियों की जितनी भी महत्वपूर्ण शृंखलाओं का प्रकाशन हुआ है, उनमें उनकी सहभागिता आवश्यक मानी गई है। मेरी प्रिय कहानियां, चर्चित कहानियां, इक्यावन कहानियां, विशिष्ट कहानियां, आंचलिक कहानियां, दस प्रतिनिधि कहानियां, तेरह कहानियां आदि शृंखलाओं में कथाकारों की चुनींदा कहानियां प्रकाशित हुई हैं। इन सभी शृंखलाओं के अन्तर्गत चन्द्र के कथा-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपनी यह विशिष्ट पहचान एक-दो कहानियों के बल पर नहीं, अनेक अविस्मरणीय एवं उल्लेखनीय कहानियों के बल पर बनाई है।

कथाकार चन्द्र के लेखन की यह विशिष्टता है कि उनका पाठकवर्ग सीमित नहीं है। प्रबुद्ध वर्ग को उनकी कहानियां जितनी प्रिय हैं, उतनी ही सामान्य वर्ग को। इसका कारण उनकी कथा पर गहरी पकड़ है। वे शिल्पगत प्रयोग करते हुए भी पठनीयता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। उनके नवीन कथानक जहां चमत्कृत करते हैं, वहीं कथा-चरित्रों की दृढ़ता प्रभावित करती है। उनके सम्पूर्ण कथा-संसार से रूबरू होकर ही हम उनके समृद्ध एवं विशिष्ट कथाकार से परिचित हो सकते हैं।

15 अगस्त 1932 को जन्मे चन्द्र ने किशोर वय में लेखन शुरू किया जो निरंतर जारी है। बाल साहित्य सृजन के प्रति भी वे पूरे गंभीर हैं। बच्चों के लिए उन्होंने 40 से अधिक पुस्तकों का लेखन किया है। उनकी कहानियां बच्चों में वैज्ञानिकता एवं तार्किकता के भाव जागृत करती हैं तथा अंधविश्वास, भूत-प्रेत-राक्षस आदि के प्रति नकारात्मक भाव जगाती हैं। उन्होंने बाल चरित्रों को नायकत्व प्रदान करते हुए बाल-उपन्यास लिखे हैं। जासूसी उपन्यासों में बच्चे अपनी सूझबूझ से बड़ों को चमत्कृत करते हैं।

सम्पादक : 'बाल वाटिका', नंद भवन, कावांखेड़ा पार्क, भीलवाड़ा-311001

डॉ. राजानंद

संवदेनशील एवं प्रीतिकर कवि-नाटककार

यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' लगनशील, लेखन के प्रति प्रतिबद्ध, ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपना प्रेय-श्रेय युवा अवस्था से लेखन को मान लिया। इसी के जरिये जीवन-निर्वाह किया, इसी के माध्यम से लोकप्रियता प्राप्त की। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि निरन्तर लेखन के कारण उनका सृजन विपुल है और विभिन्न विधाओं में है।

वर्तमान में, जब कि विकास या ह्रास दोनों संक्रामक होकर तेजी से बदलाव ले रहे हैं, जिनका प्रभाव लेखक पर पड़ना अवश्यम्भावी है, समीक्षा की दृष्टि से एक ही विकल्प रह जाता है कि हम लेखक के 'सृजन-व्यक्तित्व' या 'सर्जक-व्यक्तित्व' को पहचानें । तब रचित 'रचना के व्यक्तित्व' को पहचानें। यानी रचना की चीड़-फाड़ नहीं करें, उसको समग्रता में देखें-परखें।

मैंने चंद्र के रचना-संसार को, काव्य तथा नाट्य लेखन के संदर्भ में, उपर्युक्त दृष्टि से जानने का प्रयास किया है। इससे पूर्व चंद्र के सर्जक-व्यक्तित्व को।

चंद्र प्रगतिशील दृष्टि के, यथार्थ को पहचानने वाले, आवेशात्मक संवेदना, या संवेदनात्मक आवेश में अभिव्यक्ति करने वाले साहसिक लेखक हैं। मुख्य बात यह है कि वह समस्याओं से सीधी मुठभेड़ करते हैं तथा उनको अभिव्यक्ति देने में कतई नहीं हिचकते। चाहे यौन विचलन व शोषण का रूप हो, चाहे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक भ्रष्टता तथा शोषण का। उनके पास कुतुबनुमा है-पूंजीवादी विकृति तथा शोषण का। वह समस्याओं को इसी कोण से देखते हैं तथा शब्दों में लागू भी कर देते हैं। उनका लेखन आम आदमियों की समस्याओं का लेखन है जिसमें समझाइश है, बदलाव के लिए प्रेरणा है। कविताएँ हों या नाटक, सबमें यह दृष्टि केन्द्रीय भाव (विचार) की तरह प्रकट होती है। चंद्र की अंतर्वस्तु में कड़वा यथार्थ है, कल्पना है, घटनाओं का संवेगात्मक चित्रण है, अभिव्यक्ति की सत्यता है।

चंद्र ने पारसी नाटक ('खींवजी आमलदे', 'केसरिया पगड़ी', 'नागजी सामलदे') से नाट्य लेखन की शुरुआत की। ये नाटक तत्कालीन नाटक-कम्पनियों द्वारा मंचित हुए। पारसी थियेटर की प्रस्तुतियों की विशेषता उनकी घटनात्मक संयोजना, गीत-नृत्य व लोकरंजन में रहती थी। इनका दर्शक मिश्रित रहता था लेकिन मुख्य उद्देश्य मनोरंजन पाना होता था। संवादों की अदायगी में विशेषता रहती थी। संभवतः चन्द्र पारसी नाट्य लेखन के एक मात्र जीवित लेखक हैं।

चंद्र ने जीमूतवाहन, वासवदत्ता, ताश का घर, महाराजा शेखचिल्ली, मैं अश्वत्थामा, आखिरी मंजिल, चार अजूबे, चुप हो जाओ पीटर

आदि नाटक लिखे हैं। इनमें से कुछ नाटकों का जिक्र इस आलेख में करना चाहूंगा। अपने लेखन के सम्बन्ध में चंद्र स्पष्ट लिखते हैं कि रचना को समकालीन यथार्थ से जुड़ा होना चाहिए तथा उसका लक्ष्य मानव- कल्याण की भावना होना चाहिए।

'जीमूतवाहन' नाटक की मूल कथा गुणाढ्य कृत पैशाची प्राकृत ग्रंथ वृहत्कथा में है जिसको आधार बनाकर सम्राट हर्षवर्द्धन ने 'नागानंद' नामक संस्कृत नाटक लिखा। चंद्र ने इस कथा को अपनी तरह से परिवर्तित करके नवें दशक के आरम्भ में नाटक लिखा। समकालीन यथार्थ को ध्यान में रखते हुए इसमें हरित क्रांति, जनजातियों के प्रति सहानुभूति, पशुओं के प्रति अहिंसात्मक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है।

'वासवदत्ता' नाटक में विशिष्ट काल को प्रस्तुत करते हुए दैहिक सौंदर्य तथा आत्मिक सौंदर्य को केन्द्रबिन्दु बनाया गया। चंद्र भूमिका में सूचित करते हैं कि 'वासवदत्ता' को 'संन्यासी और सुन्दरी' के नाम से राष्ट्रीय प्रसारण में तीन भागों में प्रसारित किया गया।

'वासवदत्ता' नाटक क्योंकि आकाशवाणी पर प्रसारण के लिए लिखा गया था अतः बौद्धकालीन इस कथा को चंद्र वाचक की सूचना से आरम्भ करते हुए बता देते हैं कि नाटक में राग-विराग और प्रेम- वासना का द्वंद्व काव्यात्मक भाषा में विश्लेषित किया गया है।

नाटककार यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र' के अन्य तीन नाटकों पर चर्चा करने से पूर्व मैं समझना चाहता हूँ कि चंद्र की रचनात्मकता महत्वपूर्ण है या उनकी प्रगतिशील विचारधारा के लिए गहरी आस्था। दूसरी बात कि चंद्र का कहना है कि नाटकों को आम दर्शक के लिए बोधगम्य होना चाहिए ताकि वह उससे जुड़ सके। दोनों ही विचार सकारात्मक हैं।

चंद्र के नाटक-आखिरी मंजिल, महाराज शेखचिल्ली, ताश का घर, चार अजूबे- वर्तमान यथार्थ को, सामान्य मनुष्य की त्रासदी को, हर तरह के चारित्रिक ह्रास को, सांस्कृतिक स्खलन और मूल्यविचलन को गहराई से, पारदर्शिता के साथ प्रस्तुत करते हैं। चंद्र इसमें अपनी पैठ को बरकरार रखते हैं। वे पश्चिमी प्रभाव, पूंजीवाद, मशीनीकरण तथा शस्त्रीकरण के कुप्रभावों को सशक्त भावों के साथ पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। लेकिन जब वे संवादों में इनका सरलीकरण करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि पात्र नहीं बोल रहा है, नाटककार बोल रहा है।

'महाराज शेखचिल्ली' इस दृष्टि से चंद्र का महत्वपूर्ण नाटक माना जाएगा कि हास्य की भंगिमा में वर्तमान राजनीति की वर्तमान स्थिति को निर्ममता से उद्घाटित करता है। इसलिए व्यंग्य होते हुए भी ऐसे यथार्थ को प्रस्तुत करता है जो हर सामान्य और विशिष्ट के लिए उघड़ा हुआ है।

'ताश का घर' स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जवाहर लाल नेहरू के समय का नाटक है। नाटक के केन्द्र में दीपक है, जो क्रांतिकारी रहा है, पूरी तरह से हताश होकर एक प्रकार से मानसिक रोगी हो चुका है। ताश के सातमंजिले मकान बनाना अपना लक्ष्य समझता है। कुछ नहीं करता यानी आशाभंग होने के कारण कल्पनाजीवी रह गया है। कुंठा इस कदर है कि अपनी पत्नी रीता, जो कि सकारात्मक सोच वाली है, से भी प्रोत्साहित न होकर कहता है कि वह उसे छोड़ दे। रीता की अपेक्षा तारा समझदार है क्योंकि तारेश के बच्चे की माँ बनकर भी कम्पाउंडर से विवाह करती है। तारेश के विश्वासघात और उसकी कुंठाग्रस्तता को वह क्यों ढोती? युवाओं की निराशा का कारण है उनकी बेकारी, उनका असंतोष तथा मोहभंग। तारा दीपक से कहती है-भूख, गरीबी, कुंठाएँ, घुटन, ऊब और संत्रास से घिरा आदमी एक दिन एकाएक पागल होगा?...स्वतंत्रता के बाद हमने महान् परिवर्तन की कामना की थी...मगर एक अराजकता मिली...भ्रष्टाचार मिला...अब देश को एक और इन्कलाब की ज़रूरत है!

चन्द्र का नाटक 'आखिरी मंजिल' बंगाल की पृष्ठभूमि में स्थित वेश्या महुआ तथा बाबला पर केन्द्रित है। पूर्व में संकेत दिया गया है कि चंद्र अपनी दृष्टि के अनुसार, कुलीनों, ज़मीदारों की चरित्रहीनता दिखाने के लिए नाटक में लगातार घटनाओं का संयोजन करते हैं जिससे कथानक में रोचकता बनी रहती हैं। ये घटनाएँ क्योंकि यथार्थ का आधार लिए होती हैं अतः अतिनाटकीयता भी विश्वसनीय बन जाती है।

मैं जब कवि चन्द्र की बात करता हूँ तब मुझे सन् 1948-49 का समय स्मरण हो आता है। पारसी थियेटर्स में उन्होंने नाटक लिखे, वहीं गीत भी खूब लिखे। उनके कथाकार-उपन्यासकार के चर्चित स्वरूप के समक्ष कवि-स्वरूप ज्यादा चर्चा में नहीं आ पाया किन्तु उनकी उन वर्षों में प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से प्रकाशित काव्य-रचनाएं बरबस उनके कवि स्वरूप से परिचय कराने लगती हैं।

चंद्र की कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं-'तेरा मेरा उसका सच' (1996) तथा 'आँखें सब देखती हैं' (2005)। दोनों के शीर्षक ही स्पष्ट करते हैं कि उनकी कविताओं की अंतर्वस्तु क्या हो सकती है। चंद्र के पास जो यथार्थ है वह हमारे अनुभवों का यथार्थ है। इसको चंद्र कभी संयत होकर अभिव्यक्त करते हैं, कभी अतिभावुकता व अतिनाटकीयता में। क्योंकि चंद्र की भाषा मूलतः लयात्मक तथा काव्यात्मक है इसलिए चिंतन भी आवेश के साथ घुलामिला आता है। वे अपने कथन को चित्रात्मकता व भावना के साथ देते हैं, फिर स्पष्ट करने के लिए 'क्योंकि' का बहुधा इस्तेमाल करते हैं। 'तेरा मेरा, उसका सच' में वे महसूस करते हैं कि सहस्र अदृश्य हाथ गले

के चारों ओर लिपट रहे हैं, भय और आतंक से तन-मन श्लथ है, लड़ने का दम नहीं है। वे हाथ गला दबाते हुए कहते हैं :

तू सच मत बोलना
न अपना, न दूसरे का, न तीसरे का।
इस सच को ताले में बंद रख।
देख नहीं रहा-गायब है कानून व्यवस्था,
मृत है ईमानदारी।

चंद्र के सृजन की लोकप्रियता इस कारण से भी है कि वह प्रगतिशील दृष्टि के होते हुए भी प्रचारात्मक कम, संवेदनशील अधिक हैं। इसलिए सम्प्रेषणीय भी हैं तथा प्रीतिकर भी। लगता है चन्द्र सिर्फ लेखक हैं। लेखन उनका धर्म भी है कर्म भी। इसलिए वे हर विधा के अत्यंत प्रीतिकर लेखक हैं।

2/30, मुक्ता, प्रसाद नगर, बीकानेर

बुलाकी शर्मा

खुली किताब हैं चन्द्र जी

दसवीं की परीक्षा के भूत से भयभीत संगी-साथियों की आँखों से नींद गायब थी। दिन-रात कोर्स की किताबों की घोटाई। वह भी परीक्षार्थी था, किन्तु भयमुक्त। परीक्षा-भय से सहमे-सिमटे साथियों को देख वह उन्मुक्तता से हँसता। कहता-'पढ़ते रहो तुम लोग दिन-रात। लेकिन मेरे नम्बर तुम सबसे ज्यादा आएंगे, यह लिख लो।'

उसकी याददाश्त का लोहा साथी मानते थे। जी लगाकर पढ़ ले तो लम्बे समय तक भूलता नहीं। किन्त पढ़ना तो पड़ेगा न। बिना पढ़े क्या याद रखेगा। ऊपर से कहता है-सबसे ज्यादा नम्बर लाएगा।

सच में, उसे पक्का विश्वास था कि कुछ न पढ़कर भी सबसे अव्वल रहेगा दसवीं में। क्यों न रहेगा। शहर से बिल्कुल अलहदा 'हरोलाई हनुमानजी' के वह बिना नागा दर्शन करने जाता था। आंधी-तूफान आए अथवा मूसलाधार बारिश। वह कभी नहीं चूका। अपने मोहल्ले 'साले की होली' से वह जाता। नत्थूसर के नीचे मंदिर तक का बीहड़ रास्ता। सूरज देव के पश्चिम में विश्राम करने के बाद हर कोई अकेले निकलने से झिझकता किन्तु वह हनुमान चालीसा के जोर-जोर से पाठ करता जाता ही था। वहां पहुंच हाथ से पूरी ताकत लगाकर देर तक घंटा बजाता। हनुमान चालीसा का सस्वर पाठ करता। और प्रार्थना करता- आप ही हो बाबा, नैया पार लंघाने वाले। परीक्षा में सबसे ज्यादा नम्बर आने चाहिए, बस यही विनती है।

बजरंग बली प्रार्थना सुनेंगे ही। मनसापूर्ण कहलाते हैं। सब कहते हैं जिसने जो मनौती मांगी, वह पूरी की है बाबा ने। फिर उसकी क्यों नहीं करेंगे।

विवाह का समय। पढ़ाई कम कर पाता। पर नियमित रूप से मंदिर पहुंचता था। पेपर ढंग के नहीं हुए, फिर भी बजरंग बली के विश्वास के सहारे निश्चिंत। किन्तु परीक्षा परिणाम ने उसकी अंधी आस्था को क्षत-विक्षत कर दिया। वह किशोर फेल हो गया। उसके मन में आंधी-तूफान उमड़ने लगे। बीकानेर की रेतीली धरती पर वैसे भी आंधी चल रही थी। उस आंधी में वह गुस्से में मुट्ठियां ताने आंधी की भांति पहुंचा-हरोलाई के मनसापूर्ण हनुमान मन्दिर हनुमान चालीसा का पाठ करने वाली जिह्वा आज गुस्से में अनर्गल कहे जा रही थी। श्रद्धा-भक्ति भाव से लोहे की सांकल से लटकते जिस घंटे को वह घंटों बजाया करता था, उसने आक्रोश में उसे तोड़ा। पूजा-अर्चना का सारा सामान बांधा। मनसापूर्ण हनुमान को क्रोध में कहा-अब नहीं आऊंगा यहां। इतना कह घंटा और सामान हाथ में थामे वह घर पहुंचा तब रात के दस बज रहे थे। घर में सब चिंतित। परीक्षा परिणाम से दुःखी कुछ कर न ले-बच्चा है। वह घर पहुंचा तो सब 'धुरी मोड़े' (मुख्य द्वार) पर खड़े थ। माँ ने उसे देखते ही सीने से चिपटाते स्नेह से पूछा-'कठे गयो परो। सगलां नै चिंता हुय रैई है, बेटा।'

'हड़माणजी सूं लड़नै गयो हो।' किशोर ने गुस्से में बताया-'म्हैं इत्ती पूजा करी, पण बां सुणी ई कोनी। अबै कदेई देवी-देवतावां नै मानूं कोनी।'

'अरे थारै हाथ में आ गट्ठरी?'

माँ के पूछने पर उसका जवाब था-'हड़माण बाबै रै मंदिर रो समान है। बै भी याद राखसी कै भगत रो मन तोड्यां कांई हुवै।'

यह घटना है सन् 1946-47 के आसपास की। समय के साथ वह किशोर हिन्दी साहित्य का चर्चित यशस्वी कथाकार बना किन्तु जो निश्चय किशोरावस्था में किया, उसी पर आज तक दृढ़ता से कायम है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ईश्वर मात्र एक शब्द है। वे दृढ़-निश्चयी कथाकार हैं-यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'।

बचपन से ही दृढ़-निश्चयी रहे हैं चन्द्रजी। बचपन में उनकी दृढ़ता जिद के खाते में डाली जाती रही किन्तु उसकी उन्होंने परवाह नहीं की। सामंती संस्कारों के शहर बीकानेर के भीतरी हिस्से में सेठ-साहूकारों, धनपतियों के बीच रहकर भी उनके बालमन में वैभवसम्पन्न बनने की नहीं, लेखक बनने की चाहत बनी। धन से प्राप्त सम्पन्नता से उनका बाल्यकाल में ही मोह भंग हो गया था। कभी उनका परिवार आर्थिक रूप से बहुत समृद्ध-सम्पन्न था। 'परदेस' में अच्छा कारोबार था। किन्तु वक्त ने ऐसी चपत लगाई कि सम्पन्नता अकस्मात् छाईमाई हो गई और परिवार

आर्थिक संकट से गुजरने लगा। बचपन में ही उन्हें लक्ष्मी की चंचलता का अहसास हो गया, इसलिए उससे मोह-मुक्त हो गए।

पढ़ने में उनकी रुचि बचपन से थी। उन्हें लगता सृजन ही स्थाई है, धन-वैभव क्षणभंगुर। लिखा अजर-अमर है। विशिष्ट पहचान उसी की बनी रह सकती है। बालमन में लेखन के बीज ऐसे अंकुरित हुए कि धीरे-धीरे वह हिन्दी कथा साहित्य का वट-वृक्ष बन गया।

स्कूल में चांदरतन बिस्सा, घर में 'गुनियाँ' और हिन्दी कथा साहित्य के 'चन्द्र' सातवीं-आठवीं में पढ़ते थे, उम्र होगी तेरह-चौदह वर्ष की। तब लेखकीय प्रतिभा का परिचय देते हस्तलिखित पत्रिका निकाली और उसमें तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था के कुत्सित स्वरूप को बेनकाब करती कहानी लिखी-'मैं वही हूँ।' सार्वजनिक रूप से प्रकाश में आने वाली उनकी यह पहली रचना है।

तब का बीकानेर शहर अलग ही था। सामंतों-सेठ-साहूकारों का विशेष ही मान-सम्मान था। राजाशाही समाप्ति पश्चात् आजाद भारत में रहते हुए भी यहां के लोगों में सामंती संस्कार वर्षों बंदस्तूर कायम रहे और आज भी हैं। सामंतों को 'खम्मा अन्नदाता' कहते उन्हें गर्व का अहसास होता था। सेठ-साहूकारों की चिरौरी करने में संकोच का अनुभव नहीं होता था। कमोबेश यही स्थिति राजस्थान के सभी शहरों की थी। उस दौर में सामंतशाही का डटकर विरोध करने वाले संभवतः राजस्थान के वे पहले कथाकार थे। बाईस वर्ष की युवावस्था में उनका सामंती चेतनापरक उपन्यास प्रकाशित हुआ 'दीया जला : दीया बुझा।'

सन् 1954 में प्रकाशित इस उपन्यास ने उन्हें विशिष्ट पहचान दिलाई, वहीं सामंतों एवं सामंतशाही को यथास्थिति के रूप में स्वीकारने वाले लोगों में हड़कम्प मच गया। उनकी लेखनी से अनेक ऐसी कृतियों का सृजन हुआ, जिनमें सामंतों की ऐयाशी एवं शोषण की प्रवृत्ति को उजागर किया गया।

बचपन से लेखक बनने का दृढ़ निश्चय करने वाले चन्द्रजी ने यह कभी परवाह नहीं की कि सिर्फ लेखन के सहारे चलेगा कैसे। फ्रीलांसर बनकर रहे हैं वे। अर्थसंकट झेला। फांकामस्ती की। यायावरी की। पारसी थियेटर के लिए नाटक लिखे, गीत लिखे। अर्द्धांगिनी शांति भट्टाचार्य ने आर्थिक संकट में भी उनके साहस को डिगने नहीं दिया। हंसते-खिलखिलाते दृढ़ता से बढ़ते गए...पूरे देश में कथाकार के रूप में अलहदा पहचाने जाने लगे।

किन्तु अच्छी-सी कोई रचना पढ़ पाठक के मन में उनके रचयिता के प्रति जिज्ञासा के भाव जगते हैं। कैसा होगा वह? कैसा स्वभाव होगा? कथाओं में पात्रों के माध्यम से जो अभिव्यक्त किया गया है, स्वयं लेखक उनके कितने करीब है। कहीं ऐसा तो नहीं कि कथाओं में गरीब-शोषित-दमित की पैरोकारी करे और वास्तविक जीवन में उससे उलट हो।

लगभग ऐसी ही मनःस्थिति मेरी रही। आज से लगभग 25-26 वर्ष पहले। शहर के मुख्य द्वार कोटगेट के पास से मैं और साथी उन्हें साइकिल का हैंडिल हाथ में थामे पैदल चलते हसरत से देखते-यही हैं चन्द्रजी, जिनकी कहानियां हम पढ़ते हैं। लेकिन मिलने का साहस नहीं होता। क्या मालूम, कैसा स्वभाव हो। लेखक वैसे ही मूडी होते हैं। और वे तो राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त हैं। पाठ्यक्रम में उनकी कहानियां चलती हैं। एक ही शहर में रहते हुए मैंने उन्हें पत्र लिखा। आश्चर्य! उसी सप्ताह उनका स्नेह से परिपूर्ण पोस्टकार्ड मिला। लिखते हैं-घर आओ। मिलो।

नहीं मिल पाया जल्दी से। पत्रों का आदान-प्रदान चलता रहा। उनके स्वभाव के बारे में गुप्तचरी चलती रही। और जब मिला तो अहसास ही नहीं हुआ कि शीर्षस्थ कथाकार-उपन्यासकार से मिल रहा हूँ। लगा कि बड़े भाई से मिल रहा हूँ। अखूट स्नेह। एकदम अनौपचारिक। दम्भमुक्त। सहज-सरल। नये से नये लेखक को अपनत्व देने वाले। सच में वे स्नेह-आत्मीयता के सागर हैं। जो उनसे मिल लिया, वह उनसे बार-बार मिलना चाहता है। क्योंकि वे प्रतिष्ठित लेखक जरूर हैं किन्तु आभिजात्य से बहुत दूर हैं। खुली किताब हैं। आवरण-मुक्त।

आवरण-मुक्त इतने कि सब तरह की बातें कर लेते हैं। और दूसरे भी इन पर इतना विश्वास करते हैं कि सहज ही आवरण-मुक्त हो सब बातें बता देते हैं। जैसे कि यौन समबन्धों को उद्घाटित करने का साहस हरेक में नहीं होता, किन्तु वे सहजता से उद्घाटित कर देते हैं। 'हंस' में रामरिख मनहर पर प्रकाशित संस्मरण 'दलाल गाथा' में उन्होंने अपने कोलकाता प्रवास का उल्लेख करते हुए ईमानदारी से लिखा है कि लम्बे समय से पत्नी से दूर रहने के कारण शारीरिक आवश्यकता के वशीभूत उन्होंने अन्य स्त्री के साथ संसर्ग किया। ऐसे गोपन रहस्य खुलकर कोई नहीं बताता लेकिन वे कुछ गोपन रखते ही नहीं, तब कैसी उलझन-कैसा द्वन्द्व। उनका खुला-खुला सहज-आत्मीय व्यवहार दूसरों को भी आवरण-मुक्त कर देता है। अभिजात वर्ग की औरतें जिन्हें हर किसी से बातचीत करने से परहेज रहता है, वे भी उनके लेखन एवं व्यक्तित्व से ऐसी प्रभावित हुईं कि अपनी निजी डायरियां तक उन्हें सुरक्षित रखने के लिए सौंप दीं। उन औरतों ने अपने प्रेम-संबंधों एवं पति की प्रताड़ना को उनसे 'शेयर' कर स्वयं को रिलैक्स किया। वहीं वे ऐसी औरतों की पीड़ा से लम्बे समय तक व्यथित रहे।

वे सम्बन्ध बनाते हैं और उन्हें जीते हैं। साहित्यिक गोष्ठियों में तभी जाते हैं जब वह महत्वपूर्ण होती हैं वरना कहते हैं-वहां

नया क्या सुनने को मिलेगा? वही हमेशा सुनी बातें और वही चेहरे। लेकिन साहित्यकारों से मिलकर उन्हें सुकून मिलता है। शहर के पुराने साहित्यिक मित्रों से जब-तब मिलने पहुंच जाते हैं। कवि-कथाकार योगेन्द्र किसलय को जब 'पारकिंसन' (कम्पन) की बीमारी ने घर में सिमटा दिया, तब नगर के लेखकों ने उनसे मिलना लगभग बंद कर दिया। किन्तु चन्द्रजी थे जो उनकी कुशलक्षेम पूछने जाया करते थे। वे गुजरे तब उन्होंने पीड़ा से कहा था- किसलय अपने को इलीट समझता था किन्तु मेरा अच्छा दोस्त था। चला गया। कथाकर सुमेर सिंह दैया की चालीस के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हैं किन्तु कुछ वर्षो से उनकी आंखों की ज्योति चली गई है। उनसे मिलने जाने वालों में चंद्रजी सरीखे कम ही साहित्यकार हैं। पिछले दिनों मैं उनके पास बैठा था। अचानक दैया जी को याद कर कहने लगे-'उनसे मिले काफी दिन हो गए। मिलने जाना चाहिए। पता नहीं अकेलेपन को भोगते वे कैसा महसूस कर रहे होंगे।' और पहुंच गए हम उनके पास। अतीत की स्मृतियों को ताजा करने लगे दैयाजी और चन्द्रजी। कवि-गीतकार हरीश भादानी कोलकाता में बीमार पड़े तो फ़ोन से पता करते रहे कि कैसे हैं। नगर के ही क्यों, देश के किसी भी कोने का रचनाकार हो, उसकी हारी-बीमारी का पता चलते ही वे व्यथित-विचलित हो जाते है। पोस्टकार्ड से या फोन से कुशल-क्षेम की जानकारी लेते हैं। मुझे याद आता है वह दिन जब गीतकार रमानाथ अवस्थी के निधन की छोटी-सी खबर समाचार पत्रों में छपी। वह खबर शायद अन्य लोगों की नज़र से ही ओझल हो गई होगी किन्तु वे तीन-चार दिन तक गमगीन रहे। उनके गीतों को दुहराते कहने लगे- तुम नहीं जानते वे जितने अच्छे गीतकार थे, उतने ही अच्छे इंसान थे। फिर मीडिया को कोसते खिन्नता से कहने लगे-'इतने अच्छे गीतकार के निधन की इतनी छोटी-सी खबर। कोई भ्रष्ट राजनेता मरता तो फ्रंट पेज पर आती खबर। क्या साहित्यकार मीडिया व अखबार वालों के लिए महत्वहीन हो गए हैं?'

कुछ समय पहले घटा दुःखद हादसा अभी तक आंखों में कौंधता है। समाजसेवी एडवोकेट उपध्यान चन्द्र कोचर के इकलौते युवा पुत्र अरविन्द का बैंकाक में सड़क दुर्घटना में निधन हो गया। जिसने सुना गमगीन हो गया। शव की प्रतीक्षा में शोकाकुल जन सैलाब होटल मरुधर हैरिटेज के सामने उमड़ा था। कोचर साहब असहनीय पीड़ा से स्वयं को उबारने की असफल कोशिश में व्यस्त बने हुए थे। चन्द्र जी और वे पुराने मित्र। अरविन्द को बालक से युवक बनते देखा था उन्होंने । शव बैंकाक से दिल्ली हवाई मार्ग से तथा दिल्ली से बीकानेर सड़क मार्ग से पहुंची। अरविंद की माँ कमला कोचर अपने लाडले का मुंह देख बिलख पड़ीं। उन्हें धैर्य बंधाते चन्द्रजी की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। वहां से आहिस्ता-आहिस्ता बाहर आए और चुपचाप शून्य में ताकते भीड़ से अलग खड़े रहे काफी देर।

भावुक-संवेदनशील यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की दुनिया वहुत विस्तृत हैं। साहित्यकारों से तो पारिवारिक सम्बन्ध हैं, सब भांति के लोगों से भी निकटता है। उनके लिए उम्र का बंधन नहीं है। सब 'भायले' (दोस्त) हैं उनके। तीन-तीन पीढ़ियां यानी बेटा-बाप-दादा उनके दोस्त हैं। तीनों पीढ़ियों के दोस्त उनके सामने खुलते हैं, और वे तो खुलते ही हैं सबके सामने।

उन्होंने कितने ही लेखकों की किताबें प्रकाशकों से छपवाई हैं। छपने के बाद लेखक जिक्र करें, या न करें, इसकी वे अपेक्षा ही नहीं करते। उनकी स्पष्ट मान्यता है उनकी प्रतिभा उनके पास रहेगी। मेरे सहयोग से किसी की किताब छप जाए तो मेरा क्या लगता है। यदि उसमें प्रतिभा होगी तो आगे भी प्रकाशक छापते रहेंगे। मेरी प्रतिभा मेरे पास है और दूसरे की उसके पास। हमें कुंठारहित रहना चाहिए और यथासंभव सहयोग करना चाहिए।

किन्तु क्या कुंठारहित रहना आसान है। कुंठारहित वही रह सकता है जिसमें अकूत आत्म-विश्वास हो...दृढ़ निश्चय हो... छल-छद्म से जो मुक्त हो...जो दम्भमुक्त हो...जो अपनी प्रतिभा के सम्मुख अन्य प्रतिभा की उपेक्षा न करता हो। चन्द्रजी ऐसे ही हैं। एकदम कुंठामुक्त।

स्मरण आता है मुझे पंकज बिष्ट के बीकानेर आगमन पर आयोजित साहित्यिक संगोष्ठी का। उसमें चन्द्रजी को न देख उन्होंने आयोजकों से प्रश्न किया - चन्द्रजी नहीं दिख रहे?

आयोजकों को प्रश्न हजम नहीं हुआ। बेरुखी से बोले- उन्हें निमंत्रण तो भिजवाया था। पता नहीं कैसे नहीं आए।

पंकज बिष्ट बोले-मैंने लिखना शुरू नहीं किया, उससे पहले से उन्हें पढ़ता रहा हूँ। उनके शहर में आकर उनसे मिले बिना कैसे जा सकता हूँ।

आयोजकों को उनकी बात कैसी लगी, वे जानें किन्तु अगले दिन पंकज बिष्ट उनके घर पर थे। भारतीय साहित्य परिषद् के आमंत्रण पर साहित्य-मनीषी जैनेन्द्र कुमार बीकानेर आए। वहां प्रगतिशील साहित्यकार चन्द्रजी कैसे होते। जैनेन्द्र जी आयोजकों से उन्हें बुलाने को कहते रहे किन्तु वे ऊहापोह में कि इस मंच पर चन्द्रजी को कैसे बुलाएं। आखिर जैनेन्द्र जी ने आयोजकों को अल्टीमेटम दे दिया कि उनके लिए बीकानेर का तात्पर्य चन्द्र है। उनसे मिले बिना आने की सार्थकता क्या रहेगी। आयोजक उनके पास आए। जैनेन्द्र जी उनसे मिले, तब उन्हें संतोष हुआ।

बाबा नागार्जुन हों अथवा विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर हों अथवा राजेन्द्र यादव, ख्वाजा अहमद अब्बास हों अथवा मोहनदास

नैमिशराय...कोई भी वरिष्ठ युवा साहित्यकार हमारे नगर में आता है तो चन्द्रजी से मिलना उसके लिए जरूरी रहा है क्योंकि यह अतिशयोक्ति नहीं, सच्चाई है कि चन्द्रजी राजस्थान के ऐसे अकेले यशस्वी कथाकार हैं जिन्होंने डॉ. रांगेय राघव के बाद सर्वाधिक एवं प्रभावी सृजन किया है तथा अपने सृजन से राजस्थान को राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति दिलाई है। और यह भी सच्चाई है कि वे उन बिरले साहित्यकारों में से हैं जो अनवरत सृजन-साधना में निमग्न रहकर भी निरभिमानी-सहज-सरल हैं।

चन्द्रजी ही हैं जो कह सकते हैं कि फ्रीलांसर होने से उन्होंने उन सब पत्र-पत्रिकाओं में लिखा जो मानदेय देती हैं। वह पत्रिका चाहे साहित्यिक हो अथवा फिल्मी। इससे इमेज को बट्टा लगेगा कि नहीं, इसकी कभी परवाह नहीं की। देखा जाए तो सब प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहने से उन्हें विभिन्न वर्गों का वृहद पाठक समाज मिला है। जितने पाठक उनके हैं उतने अन्य लेखकों को कम ही मिल पाए हैं। उन्होंने लिखा, सदैव अपनी शर्त पर...फिर किसी भी पत्र-पत्रिका में छपे...इससे लेखन की स्तरीयता में तो कमी आने से रही।

चन्द्रजी ही हैं जो ईमानदारी से कहते हैं कि 'कालबोध' साहित्यिक पत्रिका का संपादन-प्रकाशन उन्होंने साहित्यिक संतुष्टि एवं 'गृह निर्माण' हेतु किया था। 'कालबोध' में उन्होंने अनेक युवा लेखकों की रचनाएं पहली बार प्रकाशित कीं, वहीं उनके मित्रों ने विज्ञापन देकर अर्थ सहयोग दिया और उस सहयोग से निवास 'आशा लक्ष्मी' का निर्माण हुआ।

चन्द्र जी हैं जो डंके की चोट कह सकते हैं कि उन्होंने फ्रीलांसिंग करते हुए भी कभी कोई समझौता नहीं किया। किसी सेठ-उद्योगपति का अभिनंदन-ग्रंथ संपादित नहीं किया, किसी का स्मृति-ग्रंथ नहीं निकाला। स्वाभिमान से अनवरत सृजनरत रहे हैं। अपने समय के प्रतिष्ठित 'धर्मयुग' में वे नियमित रूप से प्रकाशित होते थे किन्तु किन्हीं कारणों से डॉ. धर्मवीर भारती से उनकी नाराजगी हो गई और उन्होंने डॉ. भारती के विरुद्ध आलेख लिख दिया। 'धर्मयुग' और डॉ. धर्मवीर की नाराजगी के मायने हरेक लेखक समझ सकता है किन्तु अपने एक साहित्यिक मित्र के स्वाभिमान की रक्षा की खातिर डॉ. भारती के विरुद्ध लिखने से भी वे नहीं हिचकिचाए। उसके बाद उन्हें 'धर्मयुग' में लिखना बंद करना पड़ा, लेकिन इसका उन्हें कोई अफसोस नहीं हुआ।

चन्द्रजी ही हैं जो सुबह आठ से दोपहर एक बजे तक स्टडी रूम में नियमित सृजन करते हैं। सत्तर पार होकर भी नए मौलिक कथानक, नए अविस्मरणीय कथा चरित्र हमें दे रहे हैं। वे हरेक पत्र का जवाब देते हैं। साहित्य में जो कुछ नया आ रहा है, उसको बराबर पढ़ते हैं।

चन्द्रजी ही हैं जो हरेक को 'हाथ का उत्तर' देते हैं। टी.वी. सीरियल, फिल्म बनाने के शौकीन उनके पास स्टोरी-स्क्रिप्ट राइटिंग के लिए आते रहते हैं। वे किसी को निराश नहीं करते। सामने वाले की सामर्थ्य के अनुसार पहले 'टोकन मनी' लेते हैं, फिर स्टोरी या स्क्रिप्ट देते हैं। मुस्करा कर वे कहते हैं-फोकट में स्वीकृति देने लगूं तो भीड़ लगने लगेगी। 'टोकन मनी' वही देगा जो इस लाइन में तैयारी के साथ आएगा। अन्यथा 'फिर आऊंगा' कहकर रवाना हो जाएगा। ऐसे लोगों से सहज मुक्ति का सहज उपाय है टोकन मनी।

चन्द्रजी ही हैं जिनकी करनी-कथनी एक है। आलेख की शुरूआत मैंने उनके विशोरवय के किस्से से की थी। आज तक वे उसी मान्यता पर अडिग हैं। न ईश्वर को मानते हैं, न अंध-विश्वास को। उन्होंने अपने पिताश्री के देहावसान पर मृत्युभोज नहीं होने दिया। कुछ माह पहले सर्दी में उनकी भाभी गुजरी तो उन्होंने बाल नहीं कटवाए। परिजनों ने बहुत अनुनय-विनय, आग्रह-दुराग्रह किया। उन्होंने पूछा-बाल कटाने से क्या होगा?

सदियों पुराना जवाब मिला- इससे आपकी भाभी को छाया मिलेगी।

उन्होंने गंभीरता का आवरण ओढ़ जवाब दिया- तब तो मैं कटाऊंगा ही नहीं। सर्दी में भाभी को छाया की नहीं, धूप की जरूरत है। बालों की ज्यादा छाया पड़ने से उन्हें ज्यादा सर्दी लगेगी। वे स्वर्ग जाकर भी बीमार पड़ जाएंगी। मैं अपनी भाभी के साथ ऐसा अन्याय नहीं करूंगा।

अतार्किक अंधविश्वासी बातों का वे इसी तरह जवाब देते हैं और सामने वाला निरुत्तर।

आप यदि उनसे मिले हैं तो मेरी तरह यही कहेंगे - चन्द्रजी चन्द्रजी ही हैं। खुली किताब, जिसे जो चाहे बांच सकता है। और बांचने के बाद उनके सहज-सरल आत्मीय व्यक्तित्व का मुरीद बनने के अलावा कोई रास्ता नहीं।

सीताराम द्वार के सामने, जस्सूसर गेट के बाहर, बीकानेर-334004

किन्हीं अपरिहार्य कारणों से इस अंक में धारावाहिक उपन्यास 'उषःकाल' की किस्त नहीं जा रही है। आगामी अंक से इसका नियमित प्रकाशन होगा।

असगर अली इंजीनियर

क्या है धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा?

धर्मनिरपेक्षता उसी दिन से हमारा आदर्श रही है जिस दिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी। भारत जैसे बहुधर्मी देश में इसके सिवा कुछ हो भी नहीं सकता था। जब राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू किया गया तब हमारा प्रमुख सरोकार अंग्रेजी शासन से छुटकारा पाना था। हिन्दू-मुस्लिम एकता अत्यन्त आवश्यक थी क्योंकि एक संयुक्त चुनौती ही अंग्रेज शासकों को इस ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान देने पर मजबूर कर सकती थी। अंग्रेज शासकों ने इस चुनौती की गंभीरता को कम करने के लिए हिन्दू और मुसलमानों को बाँटना शुरू कर दिया। मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के जनक सर सैयद अहमद खान ने उन मुसलमानों का विरोध करना शुरू कर दिया जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो रहे थे। यह उन्होंने साम्प्रदायिक कारणों से नहीं- जैसा कि आज बहुत-से विद्वान आरोप लगाते हैं- बल्कि राजनीतिक कारणों से किया।

गदर के दौरान और उसके बाद मुसलमानों ने सबसे अधिक कष्ट उठाये और अंग्रेजों की सबसे अधिक शत्रुता अर्जित की। इसलिए सर सैयद नहीं चाहते थे कि मुसलमान अंग्रेजों की शत्रुता को और तीव्र कर लें। वे मुसलमानों के लिए थोड़ा सांस लेने का समय हासिल करना चाहते थे। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि मुसलमान आधुनिक शिक्षा प्राप्त करें ताकि उन चुनौतियों का प्रभावशाली ढंग से सामना कर सकें जो सामाजिक और राजनीतिक दोनों क्षितिजों पर उभर रही थीं। दूसरी ओर मुस्लिम धर्माचार्य कूद पड़ने के पक्ष में थे। वे तुरन्त भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होना और अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई को तीव्र करना चाहते थे।

मैंने यहाँ सर सैयद और मुस्लिम धर्माचार्यों का उल्लेख किया है क्योंकि यहाँ हम जो चर्चा करने जा रहे हैं, उससे उनका महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। गदर के बाद सर सैयद और मुस्लिम धर्माचार्यों के व्यवहार से एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है- साम्प्रदायिकता क्या है और धर्मनिरपेक्षता क्या है? सर सैयद आधुनिक शिक्षा के अथक हिमायती थे, फिर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध करते थे। वे अंग्रेजों के साथ सहयोग की वकालत करते थे और मानते थे कि कांग्रेस का चरित्र हिन्दू है। दूसरी ओर उलमा आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का उग्र विरोध करते थे, गैर-इस्लामी कहकर उसकी भर्त्सना करते थे, अंग्रेजों के प्रति शत्रुता का प्रचार करते थे और मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने के लिए प्रेरित करते थे। कौन धर्मनिरपेक्ष था और कौन साम्प्रदायिक? जवाब और भी उलझाने वाला है लेकिन इस उलझाव पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। तेजी से बदलती हुई स्थिति में न तो स्पष्ट प्रश्न होते हैं और न ही स्पष्ट उत्तर। व्यक्ति को अपना रास्ता खुद टटोलकर ढूंढना पड़ता है। मुश्किल तब आती है जब हम अंतिम बात करने की मुद्रा में स्पष्ट उत्तर का आग्रह करने लगते हैं। अगर स्थिति में विरोधाभास है तो हमारे समाधान में भी विरोधाभास होना लाजिमी है।

इसी प्रकार यदि हम धर्मनिरपेक्षता की अनम्य और कड़ी परिभाषा स्वीकार करेंगे तो मुश्किल पैदा हो जाएगी। गतिशील समाज में उभरती हुई स्थिति की चुनौती का मुकाबला व्यवहारकुशल सुनम्यता-लोच-से ही किया जा सकता है। निश्चित रूप से इस व्यवहारकुशल सुनम्यता को राजनीतिक अवसरवाद के बराबर नहीं समझा जाना चाहिए। इन दोनों में मौलिक अन्तर है, हाँ इनके बीच की विभाजक रेखा बहुत महीन है। मेरी राय में, हमारे देश की जटिल स्थिति में धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिकता की अनम्य परिभाषाएं स्वीकार करना बेहद मुश्किल होगा।

उदाहरण के लिए सर सैयद और तत्कालीन उलमा के व्यवहार को लें। हम सर सैयद को क्या कहेंगे? धर्मनिरपेक्ष? या साम्प्रदायिक? और उलमा को क्या कहेंगे? क्या वे धर्मनिरपेक्ष थे? या मिले-जुले प्रकार का समुदाय? जैसाकि पहले कहा जा चुका है, दो टूक उत्तर बहुत मुश्किल होंगे। सैयद आधुनिक शिक्षा की हिमायत ही नहीं करते थे बल्कि वैज्ञानिक मूल्यों को समझाने के लिए मेहनत भी करते थे। उन्होंने स्पष्ट किया था कि 'खुदा के कहने और करने' में कोई अन्तर्विरोध नहीं है यानी धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं। यह मुसलमानों के बीच विज्ञान को स्वीकार्य बनाने का सैयद का ढंग था। फिर भी सैयद ने कांग्रेस को स्वीकार नहीं किया बल्कि जी-जान से उसका विरोध किया।

दूसरी ओर उलमा ने हर तरह की आधुनिक शिक्षा का विरोध किया और आधुनिक विज्ञान को धर्मशास्त्र की दृष्टि से अस्वीकार्य बताया। इस अर्थ में वे न के बराबर धर्मनिरपेक्ष थे। फिर भी उन्होंने मुसलमानों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने और उसके उद्देश्य की प्राप्ति में हर संभव सहायता करने का आदेश दिया। क्या उन्हें धर्मनिरपेक्ष कहा जा सकता है? कोई भी ऐसा कहते हुए निश्चित रूप से हिचकेगा।

मैंने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की स्थिति पर कुछ विस्तार से इसलिए बात की है कि उससे हमें अपनी स्थिति को समझने में सहायता मिल सकती है। बहुत-सी समस्याएं इसलिए उठ खड़ी होती हैं कि हम धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिकता के प्रति अनम्य

रुख अपना लेते हैं। हमारी स्थिति संक्रमणशील है। संक्रमण तेजी से हो रहा है या धीमी गति से-यह फिलहाल हमारे लिए अप्रासंगिक है।

हमें याद रखना होगा कि हमारा समाज बहुधर्मी है जहाँ धर्मों की जड़ें बहुत गहरी हैं। धर्म हमें पहचान की तीक्ष्ण चेतना प्रदान करने के साथ-साथ हमारे सामाजिक-राजनीतिक विचारों को भी निर्धारित करते हैं। ऐसा होना चाहिए या नहीं-यह एक बिल्कुल अलग प्रश्न है। यहां हम स्थिति को वैसा ही देखना चाहते हैं जैसी वह है। हमें यह बात दिमाग में रखनी चाहिए कि पहचान के निर्माण की प्रक्रिया उतनी ही जटिल है जितनी कि स्वयं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया।

निस्संदेह हमने खुद को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाया है लेकिन धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता कभी हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक संकल्पनाओं का अभिन्न अंग नहीं रही। यह कभी परम्परागत राजनीति और संस्कृति का हिस्सा नहीं बनी। यह पश्चिम से ली गई चीज थी। लेकिन मैं यहाँ धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की समालोचना नहीं कर रहा हूँ, मैं तो धर्म और जाति को बीच में लाये बिना राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में आने वाली कठिनाइयों की ओर संकेत भर कर रहा हूँ। हम धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि आधुनिक शिक्षा भी हमारी धार्मिक पहचान की चेतना को मिटा नहीं सकी है। हमारे देश में यह और भी मुश्किल है क्योंकि हम अपनी शिक्षा-प्रणाली को धार्मिक और जातिगत पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने में भी सफल नहीं हो पाए हैं।

असाम्प्रदायिक और अजातीय राष्ट्रीय पहचान बना पाना तुर्की और भूतपूर्व सोवियत संघ जैसे देशों में भी संभव नहीं हो पाया था जहाँ शिक्षा-प्रणाली को कड़ाई से धर्मनिरपेक्ष रखा गया था। शिक्षा-प्रक्रिया ही नहीं, राजनीतिक प्रक्रियाओं को भी इन देशों में धर्मनिरपेक्ष रखा गया था। न तो तुर्की में इस्लाम समाप्त हुआ, न ही सोवियत संघ में जातीय और साम्प्रदायिक भावनाएं खत्म हुईं।

हमारी राजनीति बड़ी हद तक हमारे धार्मिक-सांस्कृतिक आध ार पर खड़ी है। महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत रामराज्य के सिद्धान्त के प्रति हिन्दू जनता बहुत आकर्षित हुई थी। इसी प्रकार मुसलमान जनता में उत्साह भरने के लिए खिलाफत की अवधारणा आवश्यक हो गई थी। इन संकल्पनाओं को तिरस्कारपूर्वक महात्मा गांधी और कुछ मुस्लिम नेताओं तथा उलमा की गलती कहकर अस्वीकार कर देने से कुछ नहीं होगा। महज गलतियां या व्यक्तिगत सनक जनान्दोलन पैदा नहीं कर सकती और न ही इतिहास बना सकती है।

यह मान लेना नादानी होगी कि तब से लेकर आज तक अत्यधिक आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन और विकास के कारण हमारी मानसिकता बदल गई है। अनुभव के आधार पर इस तरह के दावे की पुष्टि करना कठिन होगा। दूरदर्शन पर रामायण धारावाहिक की लोकप्रियता से सचेत होकर हमें भारतीय सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त पर फिर से विचार करना चाहिए। इसी प्रकार शाह बानो केस जैसे मुस्लिम पर्सनल कानून के मुद्दे अभी भी मुस्लिम जनसमुदाय को गहरे आन्दोलित करते हैं। इन्हें थोड़ी ज्यादा मात्रा में धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक शिक्षा देकर दूर की जा सकने वाली धार्मिक कट्टरता के मामले कहकर खारिज कर देना मेरी राय में नादानी होगी। कुछ विचार और संकल्पनाएं हमारी धार्मिक-सांस्कृतिक मानसिकता से जुड़े हुए हैं।

यह सोचना भी उतना ही गलत होगा कि आर्थिक विकास और अधिक समृद्धि के साथ-साथ धार्मिक कट्टरता समाप्त हो जाएगी या हल्की पड़ जाएगी। पंजाब में हमारा अनुभव इसके विपरीत रहा है। आर्थिक समृद्धि ने उच्चवर्गीय जाट सिखों में धर्म और धार्मिक नैतिकता के प्रति उदासीनता उत्पन्न की। पंजाब जैसे 'व्हिस्की और चिकन' की धरती बन गया। लेकिन यह अधिक समय तक नहीं चला। जल्दी ही इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और एक उग्रवादी धार्मिक आन्दोलन लोकप्रिय होने लगा। निश्चय ही राजनेताओं ने तुरन्त इसका इस्तेमाल कर पंजाब की साम्प्रदायिक स्थिति को संगीन बना दिया। भिंडरांवाले न तो राजनेता था और न ही विद्वान धर्माचार्य। वह सिखों के नवधनिक वर्ग के अधार्मिक और अनैतिक तौर-तरीकों का कट्टर आलोचक था।

इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण बोहरों-शियों के इस्माइली उपपंथ- का है। यह बता दूं कि बाकी मुसलमानों के मुकाबले बोहरा अधिक समृद्ध ओर शिक्षित हैं। फिर भी हम देखते हैं कि वे धर्माचार्यों से इतने अधिक नियंत्रित हैं जितने शिया और सुन्नी मुसलमान कुल मिलाकर भी नहीं हैं। हाल ही में प्रमुख बोहरा धर्माचार्य ने फरमानों की एक शृंखला जारी की जिसमें बोहरों को दाढ़ी बढ़ाने, बोहरा महिलाओं को बुर्का पहनने (जिसे वे बहुत पहले छोड़ चुकी हैं) और सभी बोहरा स्त्री-पुरुषों को ऐसे लेन-देन त्याग देने का हुक्म दिया गया है जिसमें ब्याज लेना या देना पड़ता हो।

ज्यादातर बोहरा स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से आगे बढ़कर उन फरमानों का पालन करने लगे और अब बहुत सारे बोहरा पुरुष दाढ़ी और टोपी में तथा स्त्रियां बुर्के में दिखाई देती हैं। इनमें से कइयों ने सिखों की तरह सामाजिक दबाव के कारण अनुगत रवैया अपनाया है लेकिन एक ऐसा निश्चित वर्ग भी है जो इन आज्ञाओं को उत्साहपूर्वक और बिना कोई शंका उठाये मानता है। इस दृढ़निश्चय और कट्टर वर्ग में समृद्ध और निर्धन दोनों हैं। ये

प्रमुख धर्माचार्य को सिजदा करते हैं और यहां तक कि उसके जूतों को चूमते हैं जो पूरी तरह इस्लाम के विरुद्ध है। जो लोग यह सब करते हैं वे अनपढ़ नहीं हैं बल्कि उनमें से कुछ उच्च शिक्षा-प्राप्त भी हैं। उसे समझना भी ज्यादा मुश्किल नहीं है।

धर्म के भक्ति और कर्मकांड वाले पक्ष उसके बौद्धिक और दार्शनिक पक्षों की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक होते हैं। एक छोटा सा शहरी धर्मशास्त्री अथवा शिक्षित संभ्रान्त वर्ग ही धर्म के बौद्धिक और दार्शनिक पक्ष से सरोकार रखता है जबकि यही पक्ष गहरी मनोवैज्ञानिक जड़ें जमा लेते हैं और हमारी परम्परागत विरासत का हिस्सा बनते हैं। धर्मनिरपेक्षीकृत अभिजात वर्ग भक्ति और परम्परा के अर्थ में धर्म का पालन करने वाले इन लोगों पर शायद ही कोई प्रत्यक्ष प्रभाव छोड़ पाता है।

शहरी निर्धन और निम्नमध्यवर्ग तथा कुछ हद तक उच्च मध्यवर्ग में धार्मिक भावनाएं बढ़ाने में आधुनिक शहरों की परिस्थितियाँ भी बड़ी हद तक जिम्मेदार हैं। जिस बड़े पैमाने पर शहरीकरण हो रहा है, उससे पहचानहीनता और परायेपन का तीखा बोध उत्पन्न होता है। यह परायेपन का बोध उन लोगों में अधिक तीव्र होता है जो हाल ही में गाँवों से बड़े शहरों में आए हों क्योंकि गाँवों में लोगों के बीच आवयविक सम्बन्ध होता है। शहरी इलाके इन्सानों की एक भीड़-भर होते हैं जबकि गांव संघटित इकाई होते हैं। शहरों में आने वाले गांव के लोग मानसिक रूप से इस भीड़ में शामिल नहीं हो पाते, इसलिए उनमें परायेपन का बोध पैदा हो जाता है। इसी के साथ उनकी आर्थिक दुरवस्था और पशुवत जीवन-स्थितियाँ भी जुड़ जाती हैं। केवल धर्म ही उन्हें आवश्यक दिलासा दे पाता है।

परम्परागत रूप से शहरों में रहने वाला मध्यवर्ग भी परायेपन के इस बोध से उबर पाने में कठिनाई अनुभव करता है। इसीलिए उसे भी भावनात्मक सन्तोष पाने के लिए किसी महर्षि, रजनीश या सैयदना की जरूरत होती है। यही धर्म की वह मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय आवयकता है जो रूढ़िवाद के उभरने के लिए उपजाऊ भूमि प्रदान करती है। रूढ़िवाद धर्म और धार्मिक भावनाओं के राजनीतिक इस्तेमाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आज हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता की शक्तियों के लिए यह सबसे बड़ा खतरा है।

बिना सोचे-समझे इसकी भर्त्सना करने से कुछ नहीं होगा। इससे लड़ने के लिए उपयुक्त रणनीति तभी बनायी जा सकती है जब इसकी वास्तविक प्रकृति को समझा जाए। हम करते यह हैं कि एक ओर तो धर्म के प्रति अभिजात पाश्चात्य रवैया अपना लेते हैं और दूसरी ओर पाखंडपूर्ण समझौते करते जाते हैं। रूढ़िवाद और साम्प्रदायिकता को रोकने के लिए हमें इस द्वन्द्व से छुटकारा पाना पड़ेगा।

हम धर्मनिरपेक्ष भारत बनाने के प्रयास करते रहे हैं जबकि वास्तविक स्थितियां, ऐसा लगता है कि, हमारे खिलाफ षड्यंत्र किये हुए हैं। धर्मनिरपेक्षता बहुत कमजोर बना दी गई है। जातिवाद और साम्प्रदायिकता अधिकाधिक शक्तिशाली होते दिखाई देते हैं। किसी हद तक यह अपरिहार्य है। एक विकासशील समाज कई शक्तियों को मुक्त करता है जो एक-दूसरे से टकराती हैं। आर्थिक दौड़ में पिछड़ जाने वाली जातियों और समुदायों में शिकायत का गहरा बोध उत्पन्न हो जाता है और वे जाति तथा साम्प्रदायिक आधार पर अपने अधिकारों का दावा करने लगती हैं। इस प्रकार जातिगत और साम्प्रदायिक पहचान बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है।

इसी तरह से सुविधाप्राप्त जाति और सम्प्रदाय भी अपने आपको इन्हीं आधारों पर संगठित करके जवाबी प्रहार करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे टकराव की स्थिति बन जाती है। इस बढ़ते हुए टकराव में संसदीय लोकतंत्र भी अपनी भूमिका अदा करता है। संसदीय लोकतंत्र मुख्यतः मतपेटियों पर निर्भर होता है। मुद्दों पर आधारित राजनीति करके चुनाव जीतने की अपेक्षा जाति तथा सम्प्रदाय के आधार पर मतदाताओं को आकर्षित करके चुनाव में विजय प्राप्त करना कहीं ज्यादा आसान है। आज हमारे राजनेताओं ने आम जनता के सभी ठोस मुद्दों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है। वे जाति और सम्प्रदाय के आधार पर मतदाताओं का आह्वान करना कहीं आसान पाने लगे हैं।

भारत की जनता के मानस और उसकी धार्मिक-सांस्कृतिक परम्पराओं को पूरी गहराई से समझना होगा। धर्मनिरपेक्षता की पाश्चात्य अवधारणा की प्रशंसा करते रहने से काम नहीं चलेगा। यह उच्चवर्गीय शहरी अभिजात तबके या फिर कुछ निश्चित चिन्तन-पद्धतियों को मानने वाले अथवा अनीश्वरवादियों के लिए सही हो सकता है लेकिन कुछ लोगों के लिए अत्यन्त वांछित होने पर भी यह स्थिति हमें जनसाधारण से दूर कर देगी। राजनेता और देश की सरकार आगा-पीछा सोचे बिना लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण कर रही है और धर्मनिरपेक्षतावादी अभिजात वर्ग अपने को पूरी तरह असंगत पा रहा है। इसलिए भारतीय स्थितियों की अपनी समझ को गहरा करना और ऐसी विचार-पद्धति अपनाना आवश्यक है जो हमें जनसाधारण के लिए अप्रासंगिक न बना दे। लोगों में सभी धर्मों के प्रति आदर को नीति के तौर पर बढ़ावा दिया ही जाना चाहिए।

हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों में इस दृष्टिकोण का ध र्मशास्त्रीय समर्थन मौजूद है। हिन्दू धर्म 'सर्वधर्म समभाव' की बात करता है तो कुरान की मौलाना अबुल कलाम आजाद और

उनसे भी पहले शाह वलीउल्लाह द्वारा की गई व्याख्या में 'वहदत-ए-आदयान' (सब धर्मों की एकता) का संकेत है चाहे उनकी शरीयत (आचार संहिता) अलग-अलग ही क्यों न हो। सिख धर्म इसी सिद्धान्त पर आधारित है। 'सहिष्णुता' वांछनीय है लेकिन 'समान आदर' के साथ उसकी तुलना करें तो वह कमतर ठहरती है। सहन इसलिए किया जाता है कि किसी चीज का अस्तित्व है और उसे हटाने का कोई उपाय नहीं है लेकिन आदर सकारात्मक रवैये और गहरी श्रद्धा के कारण किया ज़ाता है। इसलिए हमें लोगों के मन में सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना बैठा देने के लिए सभी संभव प्रयास करने चाहिए। हाँ, राज्य को सभी धर्मों के प्रति तटस्थ रहना चाहिए। मीडिया को भी किसी एक धर्म को उभारने से परहेज करना चाहिए। इससे धर्मनिरपेक्षता को सबसे ज्यादा नुकसान हो सकता है क्योंकि फिर अन्य धार्मिक समुदाय भी मीडिया में अपने धर्म के विषय में प्रसारण के लिए शोर मचाएंगे और मीडिया में यह प्रतिस्पर्धी 'धार्मिकता' हमें प्रतिस्पर्धी साम्प्रदायिकता तक ले जाएगी। आज यही हो रहा है।

दूसरी बात, हमें राजनेताओं पर रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद समस्या जैसे अ-मुद्दों की बजाय जनता के मुद्दों को प्राथमिकता देने के लिए पर्याप्त दबाव डालना चाहिए। हमें राजनेताओं को जनता को जाति और धर्म के आधार पर उकसाने की बजाय जनता की समस्याओं के हल के लिए ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करने पर मजबूर करना चाहिए। ऐसे दबाव पैदा करना ज्यादा मुश्किल नहीं है। इसके लिए सिर्फ थोड़े साहस और पहलकदमी की जरूरत है। इस काम को करना धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी वर्ग का कर्तव्य है। इसी दृष्टिकोण में देश की मुक्ति निहित है।

तीसरी, और उतनी ही जरूरी बात है कि हमें एकता और अनेकता के सिद्धान्त पर जोर देना होगा। यह बात बहुत साधारण लग सकती है लेकिन ऐसा है नहीं। आज राष्ट्रीय मुख्य धारा के नाम पर आत्मसातीकरण के लिए जबरदस्त खिंचाव और दबाव पड़ रहे हैं। राष्ट्रीय मुख्य धारा को उच्चवर्ग की ब्राह्मण संस्कृति के तौर पर परिभाषित नहीं किया जाना चाहिए। आज यही किया जा रहा है। पिछड़ी जातियाँ और दलित भी ऐसी राष्ट्रीय मुख्य धारा को अस्वीकार कर देंगे। राष्ट्रीय मुख्य धारा अपनी और दूसरों की लोक संस्कृतियों सहित संस्कृतियों के प्रति आदर तथा इस देश का निवासी होने की भावना एवं ऐतिहासिक निरन्तरता के बोध के अलावा और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में, हमें एकता और एकरूपता के बीच अन्तर करना होगा। बहुत-से धर्मों और संस्कृतियों वाले समाज में विविधता का ख्याल रखे बिना एकता की भावना नहीं हो सकती।

डॉ. प्रभा दीक्षित

तसलीमा नसरीन को भारत की नागरिकता दीजिए

हिन्दी लेखिका रोहिणी अग्रवाल के कथानुसार तसलीमा नसरीन ने बहुत कुछ खोया है- अपना घर, भरा-पूरा परिवार, दाम्पत्य-सुख, नौकरी और देश। प्रश्न उठता है यह सब उसने क्यों खोया है? क्या अपने व्यक्तिगत हितों के लिए, या स्त्री-जाति की मुक्ति के लिए किए गए लेखकीय प्रयासों के कारण? आज की स्त्री अपनी देह की स्वयं मालिक बनने की वकालत क्यों कर रही है? हर व्यक्ति क्या जानवर तक अपने शरीर का मालिक स्वयं होता है। तब आज की स्त्री को यह सब चीख-चीखकर क्यों कहना पड़ रहा है? क्योंकि इस पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री देह को प्राइवेट लिमिटेड फर्म बनाने का प्रयास किया जा रहा है। विदेशी कम्पनियों से लगाकर देशी परिवार तक स्त्री देह का निजीकरण करने के प्रयासों में लगे हैं। धर्म, नैतिकता और सामाजिक परम्पराओं के नाम पर पण्डित या मुल्ले किस्म के लोग जहां उसे घरों की चारदीवारी में कैद करना चाहते हैं, वहीं आधुनिकीकरण के नाम पर उसकी देह को उत्पाद बेचने का जरिया बनाया जा रहा है। ऐसे में स्त्री का चीखना अनिवार्य है और यही स्त्री जाति की सामूहिक चीख तसलीमा के माध्यम से उसकी आत्मकथा 'द्विखंडिता' के रूप में उभरकर आज विश्व में गूंज रही है। और इस चीख को भारतीय लोकतंत्र के कर्णधार भी सकारात्मक रूप से लेने का प्रयास नहीं कर पा रहे हैं। जरा कल्पना करें जब एक स्त्री अपनी देह और आत्मा पर होने वाले अत्याचारों को बर्दाश्त नहीं कर पाती तो किन शब्दों में चीख उठती है-देखें तसलीमा के शब्दों में, "इस शरीर को मैं कीचड़ में डुबो दूं या सिर की शोभा बनाऊं, इसका फैसला सिर्फ मैं करूंगी। मैंने एकाधिक मर्दों से शारीरिक सम्पर्क स्थापित किया है, यह जानकर अनगिन मर्द मेरे तन बदन की ओर टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं, मानो यह शरीर आसानी से सुलभ है। हाथ बढ़ाते ही उपलब्ध हो जायेगा। इन लोगों को कभी यह खयाल नहीं आता कि मर्द भी भोग की सामग्री हो सकते हैं। औरत भी मर्द का भोग कर सकती है और वे लोग कभी सपने में भी नहीं सोचते कि अगर मैं न चाहूं तो एकमात्र बलात्कार करने के अलावा वे लोग मेरी देह नहीं पा सकते।" (द्विखंडिता, पृ. 213)

एक अकेली स्त्री के मानसिक द्वन्द्व, उसकी पीड़ा को समझने का प्रयास चटखारे लेने वाला पुरुष समाज कभी नहीं करता। कसूर क्या है तसलीमा का? यही न कि वह इस पुरुष प्रधान समाज में, खास तौर से भारत की कन्यादान की संस्कृति वाले समाज में जहां एक पुरुष स्त्री से बिना पूछे उसे दूसरे पुरुष को भोग करने के लिए सौंप देता है, तसलीमा इस भोग की परम्परा को नकारती हुई, पुरुषों के सामने एक स्त्री के रूप में तनकर खड़ी हो गई है। जब उसने 'लज्जा' उपन्यास लिखा था, तब बांग्ला देश के

मुल्लाओं का इस्लाम खतरे में पड़ गया था, क्योंकि उसने असहाय-अल्पसंख्यक परिवारों के प्रति होने वाले अमानवीय अत्याचारों का वर्णन किया था। उसे बांग्ला देश के मुल्लाओं द्वारा मौत का फतवा दिया गया। तब भारत में, खासतौर से बंगाल के कथित वामपंथियों ने, उसे वैचारिक रूप से क्रांतिकारी महिला के रूप में सराहा था। आज वही कथित वामपंथी द्विखंडिता को लेकर हाय तौबा मचा रहे हैं, क्यों? क्या इसलिए कि द्विखंडिता के माध्यम से तसलीमा ने कुछ कथित प्रगतिशीलों की प्रगति और उनके शील का पर्दाफाश कर दिया है? वास्तव में द्विखंडिता इस बहादुर महिला की भावनात्मक आत्मस्वीकृति भर नहीं है, बल्कि इस सदी की मुक्तिकामी स्त्री की अपने पर होने वाले अत्याचारों की एक जीवित कहानी है। नारी-मुक्ति का महाआख्यान है और स्त्री-शोषण का एक प्रामाणिक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसके द्वारा तसलीमा नसरीन की आवाज एक स्त्री की आवाज न रहकर पूरे युग की स्त्री आवाज बनकर गूंजती है। तसलीमा एक डॉक्टर है, लेखिका है, कवयित्री है। वह देह और सामाजिक देह के नासूर को भली प्रकार समझती है। उसका आपरेशन कर उसका उपचार भी प्रस्तुत करती है। उसका स्त्री-विमर्श न तो किसी निराश, पराजित स्त्री का घुटा-घुटा द्वन्द्व है और न ही देह-मुक्ति के नाम पर पश्चिमी उच्छृंखल दैहिक खेल। यह कोई अप्रत्याशित दुस्साहस भी नहीं है। हां स्त्री-पुरुष देह जैविक रूप से सहभागी हैं और यह पुरुष के बराबर खड़े होने की अधिकारपूर्ण चेतावनी है। वह पूरी निर्भीकता से स्त्री-विमर्श के एक-एक मुद्दे को उठाती है। वह मर्दमार नहीं है, बल्कि वैचारिक रूप से स्त्री-उत्पीड़न को पर्दे के बाहर लाने वाली स्त्रियों की प्रतिनिधि है। इसके लिए वह हर जोखिम उठाते हुए किसी भी सीमा तक जा सकती है। रिश्ते, नाते, सामाजिक सम्बन्ध सभी को अपने स्त्री-प्रधान सोच के लिए दांव पर लगा सकती है। तसलीमा का स्त्री-विमर्श सुविधासम्पन्न वर्ग का प्रमोद न होकर एक सम्पूर्ण वैचारिक युद्ध है जो वैचारिक रूप से घरों से लगाकर बाजारों, चौराहों, और साहित्य व दर्शन के गलियारों में स्त्री-पुरुष असमानता के बीच लड़ा जा रहा है। स्त्री विमर्श को वह धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, साहित्य सभी में तलाशती हुई इसके व्यापक आयामों को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास करती है। वह धर्मनिरपेक्ष बांग्ला देश, जो 1971 में शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में बना था और इरशाद जैसे लोगों द्वारा इस्लाम के नाम पर समाप्त किया गया, की ऐतिहासिक जांच-पड़ताल करती हुई लिखती है- "वह इस्लाम जो अपनी नेकनीयती और पाकीजगी के बावजूद धर्म का बुलडोजर चला औरत को टुकड़े-टुकड़े मांसपिण्ड में तब्दील करने का बीड़ा उठाकर चलता है।" (द्विखंडिता, पृष्ठ 63) इस बात को तो इस सदी का हर बुद्धिजीवी (स्त्री-पुरुष) जानता है कि दुनिया के सभी धर्म स्त्री के संबंध में अपनी भाषाई चमत्कारिक आदर्शवादिता एवं उसमें निहित अर्थ के दोहरे आयामों पर चलते रहे हैं। यही कारण है कि कई तटस्थ बुद्धिजीवी भी यह कहते हुए पाए जाते हैं कि 'धर्म ने तो स्त्री को बहुत-से अधिकार प्रदान किये हैं किन्तु धर्म के अनुयायी उसे व्यवहार में प्रदान नहीं करते।' तसलीमा ने धर्म की स्त्री विषयक सोच की गहराई में जाकर अपने विमर्श के मोती तलाश किए हैं। कथित प्रगतिशील पुरुष या कट्टर धार्मिक सोच वाले पुरुष, सभी, स्त्री को एक गुनहगार देह के रूप में चिह्नित करते हैं। शायद इन्हीं अवधारणाओं के कारण वह जहां बांग्ला देश के कट्टरवादियों की निगाह में गुनहगार है वहीं भारत में पश्चिमी बंगाल के प्रगतिशीलों की आंख की किरकिरी बन गई है।

भारतीय लोकतंत्र की यह एक लोकतांत्रिक परम्परा रही है कि यहां अपने पड़ोसी देशों के जननेता राजनैतिक शरण पाते रहे हैं। आज तसलीमा ने भारत में रहने की इच्छा व्यक्त की है। वह यूं भी मूलतः भारतीय ही है। बंगाल तसलीमा का घर है। यह हमारे लिए गर्व की बात भी होनी चाहिए कि तसलीमा जैसी विश्वप्रसिद्ध लेखिका अपने ही घर भारत में रहना चाहती है। हम आशा करते हैं कि भारत की धर्मनिरपेक्ष सरकार तसलीमा को भारतीय नागरिकता प्रदान करेगी।

128/222, वाई वन ब्लाक, किदवईनगर, कानपुर-208011

अरविन्दप्रबोध पाराशर

पैटन टैंकों का कब्रिस्तान

चारो ओर घने जंगलों से घिरे हुए सरकारी गैस्ट-हाउस में उस दिन घुप्प अंधेरा था! टॉर्च या मोमबत्ती जलाने अथवा किसी प्रकार की आवाज़ करने पर सख़्त मनाही थी। कमरे से बाहर निकलने के लिए टटोलकर दरवाज़ा ढूँढना पड़ता था। बाहर निकलने पर यह अनुभव होता था कि सितारों में भी प्रकाश है और हम काफ़ी कुछ देख सकते हैं। वातावरण के सन्नाटे-भरे अंधकार में केवल एक ही आवाज़ सुनाई पड़ती थी-सतलज नदी के तेज़ पानी के बहाव की झरनों जैसी कलकल। नहीं, झरनों की मधुर कलकल नहीं, बल्कि ऐसा प्रतीत होता था कि उस भयावह अंधकारमयी नीरवता को किसी जल-प्रपात में ऊँचाई से गिरते हुए पानी का चीत्कार भंग कर रहा हो। मैंने उस जंगल की ओर देखा जहाँ पिछली रात शत्रु के लगभग तीन सौ सैनिक पैराशूट द्वारा उतरे थे और इधर-उधर झुरमुटों की आड़ में छिपे हुए थे। मन भयभीत हुआ परन्तु गैस्ट-हाउस वापस आ गया। तभी कमरे में से आवाज़ आई, "कौन है?" यह आवाज वहाँ के कमांडर की थी और उसकी पिस्तौल मेरे माथे पर टिक गयी थी। "मैं केन्द्रीय सरकारी अफ़सर हूँ और इसी गैस्ट-हाउस में ठहरा हुआ हूँ," मैंने काँपते स्वर में उत्तर दिया। मेरा पूरा परिचय जानने के बाद उसने पिस्तौल हटा ली और बोला "शायद अंधकार के कारण आप ग़लत कमरे में आ गये हैं।" "परन्तु टॉर्च जलाने या बातचीत करने पर आख़िर इतनी सख़्त पाबंदी क्यों?" मैंने कुछ संकोच करते हुए पूछा। "यह हम सबकी सुरक्षा के लिए आवश्यक है। प्रकाश तथा ध्वनि दोनों से ही हमारी स्थिति का ज्ञान शत्रु को हो सकता है।" उन्होंने उत्तर दिया। मैं सोचने लगा, आखिर यह बात मेरी समझ में पहले क्यों नहीं आई। कमांडर साहब को धन्यवाद देकर धीरे-धीरे मैं अपने कमरे में पहुँच ही गया और भीतर से सारे दरवाज़े, खिड़की बन्द कर लिए। सूर्यास्त हुए चार घंटे हो चुके थे और भूख भी ज़ोर से लगी हुई थी। पलंग के नीचे घुसकर, अपनी पेन-लाइट टॉर्च जलाई और दोपहर के रखे उबले हुए आलुओं पर नमक छिड़क कर खाने लगा। युद्ध की चरम स्थिति के कारण उन दिनों यदि उबले आलू ही मिल जाते तो लगता कि मानो हम उच्च स्तर का डिनर खा रहे हैं। मैंने पहला निवाला मुंह में डाला ही था कि दरवाज़े पर दस्तक हुई। मैं हड़बड़ाकर पलंग के नीचे से बाहर निकल आया। सोचने लगा कि इस समय कौन हो सकता है-दरवाज़ खोलूं या न खोलूं।

"आप कौन हैं?" मैंने धीमे स्वर में काँपते हुए पूछा। "आख़िर दरवाजा खोलते हो या नहीं?" बड़े आग्रह से पूर्ण उत्तर मिला। मैंने उस आग्रह में कुछ परिचित होने का अनुभव किया। सोचा, जो भी होगा देखा जायेगा और यह सोचकर दरवाजा खोल दिया। सामने एक भूत-प्रेत जैसी आकृति देखकर मैं सिहर उठा।

"अरे अरविन्द, मैं दलीप हूँ, क्या पहचाना नहीं?"

"कौन दलीप?"

"अरे भाई, दलीप सिंह, जो तुम्हारे साथ 15 वर्ष पहले रुड़की में इंजीनियरिंग पढ़ा करता था।"

उसकी बात का विश्वास न करते हुए मैंने फिर पूछा, "तो तुम यहाँ क्या कर रहे हो और इस समय यहाँ क्यों आये हो?"

"बात यह है कि रुड़की से पास करके मैं यहाँ पंजाब सिंचाई-विभाग में आ गया और तुम केन्द्रीय लोक-निर्माण-विभाग में चले गये। पिछले 15 वर्षों से हमारे बीच कोई सम्पर्क नहीं रहा। परन्तु मुझे आज ही पता चला कि तुम्हारी पोस्टिंग भी यहीं हो गयी है और तुम इस गैस्ट-हाउस में रहते हो। मैं भी पास के नहर-विभाग के डाक-बँगले में रहता हूँ। ज्यों ही तुम्हारे बारे में पता चला, भागता चला आ रहा हूँ।"

दलीप की बात सच है यह मुझे विश्वास हो गया परन्तु अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण रखते हुए कुछ देर मौन रहा। "क्या तुम्हें यह भी याद नहीं कि रुड़की में तुम बैरक 49 में रहते थे और मैं बैरक 50 में और हम दोनों प्रतिदिन डिनर के बाद इकट्ठे गंगा-नहर के किनारे घूमने जाया करते थे।" इतना सुनते ही मेरे आत्म-नियंत्रण का बाँध टूट गया और मैंने आगे बढ़कर दलीप को गले लगा लिया।

"इस भयानक वातावरण में मुझे तुम्हारे जैसे आत्मीय की ही तो आवश्यकता थी," आँखों से आँसू टपकाते हुए मैंने कहा। दलीप ने आगे कुछ नहीं कहा...उसकी भी हिचकियाँ बँध गयी थीं। कुछ देर एक-दूसरे की बांहों में बँधे रहे हम दोनों, बिना कुछ बोले। थोड़ी देर बाद जब बवंडर शान्त हो गया तब हम दोनों ने एक-दूसरे का कुशल-समाचार पूछा।

यह घटना सन् 1964 की है जब भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध अपने शिखर पर था। उसी समय मेरी पोस्टिंग माधोपुर हो गयी जो पठानकोट से 15 किलोमीटर दूर राष्ट्रीय मार्ग पर सतलज नदी के किनारे स्थित एक कस्बा था। ठीक हमारे गैस्ट-हाउस के सामने वह पुल था जो लखनपुर और माधोपुर के बीच कश्मीर को पंजाब से जोड़ता था। इस पुल को नष्ट करना पाकिस्तान की रणनीति का मुख्य लक्ष्य था क्योंकि इस पुल के गिरने से कश्मीर तथा देश के बीच यातायात टूट सकता था। इसी कारण इस पुल को बचाने के लिए इसके चारो ओर हवाई जहाजों को मार गिराने वाली तोपें तैनात की गई थीं। जब ये तोपें चलती

थी तब धरती और उसके साथ गैस्ट-हाउस में भूचाल आ जाता था।

इस पुल के निकट ही सतलज-कैनाल का हैड वर्क्स था। नदी के आर-पार गेटों का एक बाँध (बैराज) था जो पानी के बहाव पर नियन्त्रण रखता था। सतलज नहर में कितना पानी छोड़ा जाए उसी के अनुसार गेट खोल दिए जाते थे। यह कार्य पाकिस्तान के साथ हुए समझौते के अन्तर्गत किया जाता था क्योंकि सतलज नहर से इच्छोगिल नहर निकलती थी जिसके द्वारा सतलज नदी का पानी पाकिस्तान को सिंचाई के लिए दिया जाता था। बैराज के गेटों को खोलने-बन्द करने का उत्तरदायित्व तथा नियन्त्रण दलीप सिंह के अधीन था। बैराज को दिन में दिखाने के लिए वह मुझे ले गया। उस पर चढ़कर अनुभव हुआ कि गेटों के उठाने व गिराने का कार्य कितना ख़तरनाक था विशेषकर तब जब बम-वर्षा हो रही हो। ऊपर चढ़कर विशालकाय नदी के पानी को हरहराकर नीचे बहते देखकर मेरा सिर चकराने लगा। यदि वहाँ से किसी का पाँव फिसल जाए तो उस वेगवती जलधारा में गिरने वाले का मृत शरीर भी मिलने की संभावना नहीं थी। मुझे अब अनुभव हुआ कि युद्ध के दौरान बैराज पर नियन्त्रण रखने में दलीप की ज़ान को कितना ख़तरा था।

एक दिन दलीप ने फुसफुसाकर मेरे कान में कहा, "सेना को गोपनीय समाचार मिला है कि पाकिस्तान पैटन टैंकों का एक भारी दस्ता लेकर भारत पर किसी भी समय हमला करने वाला है। लगता है कत्ल की रात आ पहुँची है।" यह सुनकर मैं बहुत भयभीत हुआ, पर हम निहत्थे लोग कर भी क्या सकते थे। हाँ, यह निश्चित अवश्य था कि कई रातें हम सो नहीं सकेंगे। दलीप को रात भर बैराज पर ही बैठने के लिए कहा गया था।

दलीप का बताया हुआ समाचार सच निकला। रात को बैराज तथा पुल पर हवाई हमले हो रहे थे और उत्तर में हमारी हवाई तोपें गरज रही थीं और दूसरी ओर पाकिस्तान के प्रसिद्ध पैटन टैंकों का भारी दस्ता इच्छोगिल नहर को पार करता हुआ भारत की भूमि पर बढ़ता चला आ रहा था। अब क्या होने वाला है केवल ईश्वर जानता था। सेना से संकेत मिलते ही दलीप ने बैराज के गेट खोलकर सतलज नहर में पानी छोड़ दिया। इतना अधिक पानी छोड़ने से नहर के फटने का डर था। पर वाहे गुरु का नाम लेकर वह गेट खोलता चला गया।

ईश्वर की कृपा से सतलज नहर को कोई हानि नहीं पहुँची पर जब इतना अधिक पानी इच्छोगिल नहर में पहुँचा तो वहाँ बाढ़ आ गयी। देखते ही देखते इच्छोगिल नहर के किनारे फट गये और पानी हरहराकर मीलों तक भारतीय भूमि के खेतों में भर गया। वह वही स्थान था जहाँ पैटन टैंकों का दस्ता बढ़ता चला जा रहा था। शायद दिल्ली के लाल किले पर पाकिस्तानी झंडा फहराने के सपने लिए। पर यह क्या हुआ! पानी भर जाने से खेतों की सारी भूमि दलदल बन चुकी थी और दलदल में आगे बढ़ने से टैंकों ने इंकार कर दिया। इस बीच भारतीय हवाई दस्ते ने गोलाबारी करके दलदल में फँसे तीन-चार सौ पैटन टैंकों को तहस-नहस कर दिया। इस प्रकार पाकिस्तान का यह हमला उन्हें बहुत भारी पड़ा और उनके सपने केवल सपने ही होकर रह गए। जब अगले दिन सूर्योदय हुआ तब देखा जहाँ तक नजर आती थी टैंकों के शव दलदल में धँसे दिखाई दिए।

अगले दिन समाचार-पत्रों के मुखपृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में पैटन टैंकों के हमले और उनकी पराजय का विस्तृत वर्णन प्रकाशित हुआ। शीर्षक था 'पैटन टैंकों का कब्रिस्तान'। हमारी सेना की वीर-गाथाएँ एवं उनके बुद्धि-चमत्कार की प्रशंसाएँ छपीं। वीरों तथा शहीदों के नाम भी छपे जिनके कारण यह विजय संभव हुई। परन्तु उस व्यक्ति का नाम कोई नहीं जानता जिसने रातभर जागकर तथा अपने जीवन को खतरे में डालकर सतलज नदी का पानी बड़े साहस के साथ छोड़ा था जिससे इच्छोगिल नहर फटी, दूर-दूर तक दलदल बनी और वहीं बना 'पैटन टैंकों का कब्रिस्तान'।

एल-1/15, हौज खास इन्क्लेव, नयी दिल्ली-110016

संचेतना के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

1. प्रकाशन का स्थान-दिल्ली
2. प्रकाशन की अवधि-त्रैमासिक
3. मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता-संदीप सिंह, भारतीय, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
4. प्रकाशक का नाम और राष्ट्रीयता-संदीप सिंह, भारतीय, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
5. सम्पादक का नाम और राष्ट्रीयता-डॉ. महीप सिंह, भारतीय एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026
6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूँजी के एक प्रति से अधिक शेयर रखते हों-
   श्रीमती एस.के. सिंह, भारतीय
   एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

मैं संदीप सिंह, इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही है।

(ह) संदीप सिंह

डॉ. जगन सिंह

समय का साक्षी : अभी शेष है

'अभी शेष है' में चार कथाएँ हैं। पहली कथा मानसिंह उर्फ़ भाइया जी और उनके परिवार की है। दूसरी कथा निरवैर सिंह आनन्द और उसके साप्ताहिक अख़बार क्लैमर की है। तीसरी कथा जत्थेदार सोहन सिंह और जोध सिंह की है। चौथी कथा डेरा संत निरंजन सिंह की है। मान सिंह उर्फ़ भाइया जी की कथा का उद्देश्य सामाजिक बदलाव को रेखांकित करना है। इसकी पृष्ठभूमि में भारत विभाजन की त्रासदी के परिणामस्वरूप लाखों लोगों के विस्थापित होने और विस्थापन को दिल से स्वीकार न कर पाने की पुरानी पीढ़ी की मनोव्यथा है। दूसरी कथा का उद्देश्य सन् 1970 से '75 तक के राजनीतिक परिवेश का चित्रण करना है। यह कथा भारत के राष्ट्रपति के चुनाव में कांग्रेस सरकार की तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी द्वारा अपनी ही पार्टी के उम्मीदवार नीलम संजीव रेड्डी के विरुद्ध अपने उम्मीदवार वी.वी. गिरि को जितवाकर पार्टी का अनुशासन भंग करने से आरम्भ होकर आपातकाल लागू करने और सरकार द्वारा चलाये जा रहे दमनचक्र में निरवैर सिंह आनन्द की गिरफ्तारी के साथ समाप्त होती है। जत्थेदार सोहन सिंह और जत्थेदार जोध सिंह की कहानी अकाली दल के राष्ट्रीय राजनीति में आने को रेखांकित करती है। इसमें जत्थेदारों की अतिशय महत्वाकांक्षा और अकाली दल के आपसी अन्तर्विरोध का चित्रण विस्तार से किया गया है। चौथी कथा का उद्देश्य सिख संतों द्वारा स्थापित किए गए डेरों के अन्दर पनप रहे कई प्रकार के भ्रष्टाचार का वर्णन करना है। यह कथा संत निरंजन सिंह के बचपन से आरम्भ होकर, उनके द्वारा स्थापित किए गए संत निरंजन सिंह गुरुमत ट्रस्ट और उनकी मृत्यु के पश्चात् ट्रस्ट के सदस्य सोहन सिंह और मैनेजिंग ट्रस्टी मुल्खराज के द्वारा अपने आर्थिक और राजनीतिक लाभ के लिए ऐसे व्यक्ति को संत जी का उत्तराधिकारी मनोनीत करने पर समाप्त होती है, जो किसी भी दृष्टि से संत कहलाने के योग्य नहीं है।

मानसिंह यानी भाइया जी की कथा मुख्य कथा हैं इसलिए उपन्यास उसी से आरम्भ होता है। पहले अध्याय के दस पृष्ठों में बात से बात निकलती चली जाती है और पाठक भाइया जी के बेटों, बहुओं, पोते-पोतियों, भतीजे इन्दर सिंह और उसकी बहन के बारे में सब कुछ जान जाते हैं। इन्दर सिंह का नाम आते ही भारत विभाजन की चर्चा छिड़ जाती है जिसमें होने वाले साम्प्रदायिक दंगों में उसके मातापिता और बड़ा भाई तीनों मारे गए और बड़ी बहन को दंगाई पकड़ कर ले गए। यह चर्चा उसके पैतृक गांव पंजण को केन्द्र में ले आती है। आज़ादी से पहले तक पंजण में हिन्दू सिख और मुसलमान बड़े प्रेम और सद्भाव से रहते थे। अंग्रेज़ों द्वारा बोये गये नफ़रत के बीज ऐसे फले कि देश का विभाजन हो गया और उधर मुसलमान तथा इधर हिन्दू एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए। पंजण का ज़िक्र आए और भाइया जी अपने बचपन के दोस्तों, पड़ोसियों, गाँव के मुखिया ज़फ़र अली, अपने बड़े भाई लाभ सिंह और लाभ सिंह के साथ अपनी चार पुश्तों को याद न करें, ऐसा नहीं हो सकता। लाभ सिंह का कथन दुहराकर वे अपने पुरखों का नाम स्मरण करते हैं-"मैं लाभ सिंह वल्द झंडा सिंह वल्द मिलखीराम वल्द गंगा राम वल्द मंगा राम इस गाँव में पुश्तों से उसी प्रकार रह रहा हूँ, जैसे शेख मुहम्मद, नूर मुहम्मद, पीर बख़्श या और किसी का खानदान।" भाइया जी का किस्सा यहीं पर थम जाता है क्योंकि वे पाते हैं कि कोई उनकी बात नहीं सुन रहा। उनके पुत्रों और पुत्रों की सन्तानों को उनके अतीत में कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके पुत्रों की रुचि अपने काम-धंधे और घर-परिवार तक सीमित है और पोते-पोतियों की आंखों में पाकिस्तान की जगह अमेरिका, कनाडा इंग्लैंड और जर्मनी के सपने बसे हुए हैं।

न सुने जाने का धक्का भाइया जी के साथ पाठक को भी लगता है जिससे उसे उबारता है एक हल्का-फुल्का अत्यन्त आत्मीय पारिवारिक प्रसंग जिसमें उनकी पोती मनजीत कालेज जाने से पहले-"भाइया जी, आपको कुछ मंगवाना तो नहीं," पूछने के बहानें पैसे लेने आती है। भाइया जी की कमज़ोरी है मनजीत। वे अपनी पोती को गद्गद् भाव से पाँच रुपये का नोट देकर चाट की बजाय दूध पीने की सलाह देते हैं। इसके साथ ही वे अपने गाँव पंजण में पहुँचकर अपने बचपन के मित्र दोस्त मुहम्मद के साथ दूध पीने की प्रतिद्वन्द्विता का किस्सा सुनाने लगते हैं। मनजीत चिढ़कर कहती है-"भाइया जी, आपके पास बैठने की देर है कि आपको अपना पुराना गाँव याद आने लगता है...क्या रखा है इन पुरानी यादों में? आप इन्हें भूल क्यों नहीं जाते?" भाइया जी इस हृदयहीन प्रतिक्रिया पर नाराज़ नहीं होते बल्कि पोती का हाथ पकड़कर अपनी बूढ़ी छाती पर रख लेते हैं और कहते हैं-"इसलिए, यादें ज़बान पर नहीं, यहां बसती हैं दिल में, दिल की धड़कनों में।"

अपने अतीत और वर्तमान में स्थित हर व्यक्ति से प्यार करने वाले मानसिंह इस उपन्यास के अविस्मरणीय पात्र हैं। वे वर्तमान से ज़्यादा अतीत में जीते हैं। वे अपने संयुक्त परिवार की धुरी हैं। वे सबसे प्यार करते हैं-उनसे जो उसके साथ हैं और उनसे भी जो भारत-विभाजन के बाद उनके गाँव पंजण में छूट गये थे। स्वतंत्रता के छब्बीस-सत्ताईस साल बाद भी वे पाकिस्तान को ही अपना मुल्क मानते हैं और इच्छा व्यक्त करते हैं कि मरने के बाद उनकी अस्थियों को पंजण गांव के पास बहने वाली जेहलम नदी में विसर्जित किया जाए। बेहद भावुक-से लगने वाले भाइया जी सयाने और दुनियादार भी हैं। बलवंत की टायर रिट्रीडिंग फैक्टरी में आग लगने

से एक मज़दूर की मृत्यु होने के बाद मज़दूर यूनियन के कार्यकर्ताओं द्वारा उनके घर का घेराव करने और नारे लगाने से उनके पुत्र डर जाते हैं परन्तु वे अपना सन्तुलन नहीं खोते। वे आनन्द को बुलवाते हैं। वे जानते हैं कि पत्रकार होने के नाते आनन्द के लिए ट्रेड यूनियन के नेताओं को साधना कठिन नहीं होगा। उनका अनुमान सही निकलता है। आनन्द आकर सारी स्थिति संभाल लेता है और अगले दिन समझौता करवाकर सारे मामले को रफ़ा-दफ़ा कर देता है।

उनके सयानेपन का दूसरा उदाहरण है-मनजीत की शादी की चर्चा होने पर लड़का देखने के लिए वे अपने कम पढ़े-लिखे लड़कों की जगह आनन्द को लड़का देखने भेजते हैं। अपने लड़कों को समझाते हुए वे कहते हैं-"वह कितना पढ़ा लिखा है, कितना क़ाबिल है, वहां क्या काम करता है, कितनी तनखाह मिलती है, इसकी परख तुम नहीं कर सकते।...इस काम के लिए आनन्द जी को लखनऊ भेजो।"

मनजीत की सहेली नसरीन के माध्यम से लेखक ने शिया-सुन्नी विवाह की समस्या को उठाया है। नसरीन शिया है और सुन्नी लड़के अशरफ़ से विवाह करना चाहती है। मुस्लिम समाज शिया-सुन्नी विवाह का विरोधी है और नसरीन तथा अशरफ़ के माता-पिता समाज से बाहर नहीं हैं। उसके पिता ने उसका रिश्ता लाहौर में रहने वाली अपनी बहन (नसरीन की बुआ) के लड़के से कर दिया है। नसरीन में दो-टूक फैसला करने की हिम्मत नहीं है इसलिए वह मनजीत से सलाह मांगती है और मनजीत उसे आनन्द के पास लाती है। नसरीन की दुविधा समूची नई पीढ़ी की दुबिधा है। मनजीत इस दुविधा को आनन्द के सामने व्यक्त करती है-"हमारी पीढ़ी की बड़ी मुसीबत यह है कि हम फ़ैसला नहीं कर सकते और न ही हम फ़ैसला अपने माँ-बाप पर छोड़ना चाहते हैं। एक तरफ़ हमें आज़ादी खींचती है, दूसरी तरफ़ हमारे संस्कार खींचते हैं।"

नसरीन और अशरफ हिम्मत जुटाकर अपनी समस्या सुलझा लेते हैं। वे कोर्ट में जाकर विवाह कर लेते हैं और आनन्द उनका गवाह बनता है परन्तु इसी प्रकार का निर्णायक क्षण जब मनजीत के जीवन में आता है, तो परिपक्व समझ के बावजूद, वह सही निर्णय नहीं ले पाती। इसके लिए मनजीत के परिवार के लोग और उनसे भी बढ़कर आनन्द दोषी है जिसे लड़का देखकर अपनी राय देने का महत्वपूर्ण काम सौंपा जाता है। वह मनमोहन सिंह को देखकर धक्-से रह जाता है और सोचता है-"क्या यह लड़का मनजीत के काबिल है?... उसके चेहरे की गंभीरता को देखकर ऐसा लगता था कि वह बरसों से हँसा नहीं है। और मनजीत...? वह तो हँसी का एक ऐसा बहता हुआ झरना है जो आसपास पड़े हुए पत्थरों को भी अपने प्रवाह में बहा ले जाता है।" मनमोहन शक्ल-सूरत, कद-काठी से भी मनजीत से मेल नहीं खाता। आनन्द मनजीत के परिवार को सब कुछ बता देता है। मनजीत का पिता बलवंत यह सोचकर ग़लत निर्णय लेता है कि अमेरिका में रह रहे भारतीय इंजीनियर से विवाह होने पर मनजीत का सारी दुनिया देखने का सपना पूरा हो जाएगा। आनन्द मनजीत को अपने दफ़्तर में बैठाकर सारी बात बताता है पर अंत में यह कहकर कि-"अगर तुम इंसान की बाहरी शक्ल-सूरत को बहुत महत्व नहीं देती हो तो इस रिश्ते को स्वीकार कर लेने में कोई बुराई नहीं है।" उसके फ़ैसले को एक निश्चित दिशा दे देता है। और वह दुविधा में पड़कर हामी भर देती है। आनन्द ने उसके साथ विश्वासघात किया हो, ऐसा नहीं है पर यह तो तय ही है कि उसने अपेक्षित गंभीरता से काम नहीं लिया।

मनमोहन से विवाह का प्रस्ताव आने से पहले मनजीत अपने मित्र कमलजीत से विवाह करना चाहती है। मज़ाक में वह उसके सामने प्रस्ताव रख भी देती है। कमलजीत के यह कहने पर- "कौन ऐसा बेवकूफ है, जो तुम्हारे जैसी सुन्दर लड़की को देखकर ना कर देगा?" मनजीत हँसकर उत्तर देती है-"एक बेवकूफ तो मेरे सामने बैठा है।" परिस्थितियाँ कमलजीत के अनुकूल होतीं तो वह उससे विवाह करने में सुख मानता परन्तु उसकी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ बहुत अधिक हैं। वह चार-पाँच साल तक अपनी शादी की बात सोच भी नहीं सकता। इसलिए वह मनजीत को सब कुछ खोलकर बताता है और कहता है-"मैं जानता हूँ तुम्हारे दार जी इतना इन्तज़ार नहीं कर सकते।"

शादी के एक साल बाद मनजीत एक बच्चे के साथ भारत लौटती है और आनन्द को अपने गृहस्थ जीवन में आ चुके बदलाव के बारे में बताती है। उसकी सुन्दरता ही उसकी मुसीबत बन जाती है। उसका पति मनमोहन कुरूप होने के कारण हीनता ग्रंथि से पीड़ित है। वह उसे बार-बार ठेस पहुँचाकर इसका बदला लेता है। उसका किसी अन्य पुरुष से बात तक करना उससे सहन नहीं होता। जो पहनावा, शृंगार और बातें उसे आकर्षक लगा करती थीं, उन्हें अब वह हिन्दुस्तानियों वाली भोंडी आदतें कहता है। वह हर बात पर अमेरिकन लड़कियों की तारीफ़ करता है और हर समय हिंसक जानवर की तरह गुर्राता रहता है। यहां तक कि मनजीत यह सोचने के लिए बाध्य हो जाती है कि "मनमोहन से शादी करके क्या मैंने ठीक किया था?"

मनमोहन की दिमाग़ी हालत बिगड़ती जाती है और वह स्किजोफ्रेनिया का शिकार हो जाता है। उसके मन में डर समा जाता है कि अमेरिकी सरकार किसी भी समय उसे पकड़कर फ़ौज में भर्ती कर लेगी और वियतनाम के युद्ध में मरने के लिए भेज देगी। वह डर के मारे घर से निकलना छोड़ देता है और उसकी नौकरी छूट जाती है। मनजीत उसके इलाज के लिए उसे भारत लाती है। मनमोहन के अंधविश्वास में पड़े हुए भाई उसके मानसिक रोग को

भूत-प्रेत की छाया मानकर उसे पंजाब के एक डेरे में ले जाते हैं जहाँ डेरे का मसन्द भूत-प्रेत उतारने का काम करता है। पढ़ा-लिखा मनमोहन मसन्द के पाखंड से अप्रभावित रहता है। मनजीत की हर संभव कोशिश के बावजूद मनमोहन किसी डॉक्टर से इलाज कराने के लिए तैयार नहीं होता। उसका रोग पहले से भी अधिक बढ़ जाता है। वह यह मानने के लिए तैयार नहीं होता कि वियतनाम का युद्ध समाप्त हो गया है। वह हर किसी को निक्सन का जासूस समझता है और हर समय दरवाज़ा बंद करके बैठा रहता है। अन्त में मनजीत मनमोहन को उसके भाइयों के पास छोड़कर अपने बच्चे के साथ अमेरिका लौट जाती है क्योंकि उसे अपनी अमेरिका की नागरिकता बचानी है।

मनजीत का असफल विवाह वर्तमान समय की एक ज्वलन्त समस्या को सामने लाता है। क्या भारत की सुशिक्षित, महत्वाकांक्षी लड़कियों और उनके माता-पिता को विकसित देश-ख़ासकर अमेरिका, कनाडा अथवा जर्मनी में कार्यरत लड़के की मोटी तनख़ाह और उस देश में रहकर सम्पन्न जीवन बिताने के लालच में लड़के की कमियों को नज़रअंदाज करके विवाह के लिए हामी भार देनी चाहिए? क्या पैसा और विदेश की सैर ही जीवन को सुखी बनाने के लिए काफी है? क्या होगा अगर उस लड़के ने पहले वहां शादी कर रखी हो? क्या होगा यदि वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी को बाद में बुलाने का झांसा देकर चला जाए और वहाँ जाकर दूसरी शादी कर ले? यह भी संभव है कि वह अपनी विवाहिता को साथ ले जाए और वहाँ जाकर तलाक दे दे। क्या ख़तरा सिर्फ़ उनसे है जो पहले से वहाँ बसे हुए हैं और खा-कमा रहे हैं अथवा उनसे भी है जो बहुत पैसा कमाने के लालच में पत्नी को (कई बार बच्चों समेत) छोड़कर विदेश चले जाते हैं और कभी वापस नहीं आते? इस प्रकार छली गई स्त्रियों का न वर्तमान होता है और न भविष्य। एक अन्तहीन भटकन ही उनके हाथ लगती है। 'अभी शेष है' की सुनन्दा सिंह इन्हीं छली गई स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है।

आनन्द और क्लैमर की कथा सन् 1970 से लेकर 1975 तक की उन प्रमुख घटनों को समेटती हुई चलती है जो अब इतिहास हो गई हैं। उपन्यास में वर्णित ऐतिहासिक सच राजनीतिक इतिहास के सच से बड़ा इस अर्थ में होता है कि इतिहासकार की तुलना में उपन्यासकार की दृष्टि सम्भवतः अधिक तटस्थ, स्पष्ट और अधिक पैनी होती है, दूसरे उपन्यास में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं के ब्यौरों में जनता की, विशेषकर बुद्धिजीवी जनता की प्रतिक्रिया भी शामिल होती है। उपन्यास के इतिहास का यथार्थ तक और भी विश्वसनीय हो जाता है जब लेखक ने स्वयं उसे देखा और भोगा हो। 'अभी शेष है' का राजनीतिक परिवेश हम सबका जाना-पहचाना है, फिर भी उपन्यास में पढ़कर हम उसे ज़्यादा बड़े फलक पर देखते हैं और उसके दूरगामी परिणामों को अधिक स्पष्टता से महसूस करते हैं। क्लैमर और उसके सम्पादक प्रोफ़ेसर निरवैर सिंह आनन्द की कथा उपन्यास के दूसरे अध्याय से आरम्भ होती है परन्तु उसमें राजनीतिक घटनाओं का समावेश तीसरे अध्याय से होता है। स्थान है 'टी-हाउस' जो उन दिनों लेखकों, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों का अड्डा हुआ करता था। कनॉट प्लेस की रीगल बिल्डिंग में स्थित टी-हाउस के भीतर-बाहर हर रंग और हर सोच के पत्रकार, लेखक और बुद्धिजीवी जमा हैं। आनन्द टी-हाउस के बाहर जंगले से लगा हुआ खड़ा है। राष्ट्रपति के चुनाव को लेकर टी-हाउस के भीतर और बाहर उत्तेजना छाई हुई है। कांग्रेस सरकार की प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने अपनी पार्टी के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार नीलम संजीव रेड्डी के मुकाबले में अपने उम्मीदवार वी.वी. गिरि को जितवा कर अपनी पार्टी को हरवा दिया है। उत्तेजना में लोग सड़कों पर नाच रहे हैं। टी-हाउस के अन्दर बुद्धिजीवियों में गर्मागर्म बहस छिड़ी हुई है। वामपंथी और समाजवादी इसे अमेरिकी लाबी की हार मानकर प्रसन्न हैं। वे उम्मीद कर रहे हैं कि देश अब समाजवाद के रास्ते पर आगे बढ़ेगा। आनन्द उत्साहित नहीं है। उसका विचार है कि इससे पार्टी छोटी हो जाएगी और व्यक्ति बड़ा हो जाएगा। इससे लोकतंत्र कमज़ोर होगा।

इन्दिरा गाँधी ने कांग्रेस सिंडीकेट के उम्मीदवार को हरवाकर अपनी जयजयकार तो करवा ली परन्तु पार्टी अनुशासन भंग करने के आरोप में उन्हें पार्टी से निष्कासित कर दिया गया। जवाब में उन्होंने पार्टी को दो-फाड़ करके एक दूसरी कांग्रेस (इन्दिरा) बना ली। लोकसभा में कांग्रेस इन्दिरा का बहुमत नहीं था इसलिए सरकार गिर जाने की स्थिति पैदा हो गई। तब वामपंथियों ने समर्थन देकर उनकी सरकार बचाई थी। सरकार तो बच गई परन्तु यह साफ़ हो गया कि वामपंथी पार्टियों में लोकतांत्रिक परम्पराओं के प्रति कोई सम्मान नहीं है।

इसके बाद इन्दिरा गाँधी द्वारा बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके वाहवाही लूटना, संजय गाँधी का अपनी माँ की कोटरी का महत्वपूर्ण सदस्य बनना और 1971 का भारत-पाक युद्ध जिसके अंत में बंगला देश की स्थापना हुई थी- इन सब घटनाओं का विश्लेषण किया गया है। क्लैमर के मुसलमान स्तम्भकार इम्तियाज़ को भारत-पाक सम्बन्धों का विश्लेषण करने और भारतीय मुसलमानों की मानसिकता को उजागर करने के लिए चुना गया है। वह मुसलमानों की देशभक्ति के प्रति आम जनता के अविश्वास और साम्प्रदायिक दंगों में मुसलमानों के नुकसान की बात कहता है तो सुनन्दा सिंह इसके दूसरे पहलू की ओर उसका ध्यान दिलाती है- ''साम्प्रदायिक दंगों के बारे में मैंने जितनी रिपोर्ट पढ़ी हैं, उनसे यही पता लगता है कि ज़्यादातर जगहों पर दंगे की शुरुआत मुसलमानों

की तरफ़ से होती है। शुरू-शुरू में हिन्दू पिटते हैं। उन्हीं की जानमाल का नुकसान ज्यादा होता है। फिर पुलिस आ जाती है। उसे देखकर दुबके हुए हिन्दू भी शेर बन जाते हैं और मुसलमानों की तबाही शुरू हो जाती है।...आप जैसे बुद्धिजीवी मुसलमान इस हालत पर गंभीरतापूर्वक बैठकर विचार क्यों नहीं करते?'

इम्तियाज़ ही पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के बीच चल रहे युद्ध के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डालता है। वह कहता है-"अच्छा होता, अगर ये लोग जनता के फैसले के सामने सिर झुकाकर सारी सत्ता शेख मुजीब को सौंप देते लेकिन उन्होंने जनता के फतवे को फ़ौजी बूटों से रौंदते हुए फ़ौजी तानाशाह को अपने सिर पर बैठा लिया है।"

आनन्द पूर्वी पाकिस्तान के बंगालियों पर पाकिस्तानी फ़ौजों के अत्याचार की निन्दा करता है और भारत सरकार द्वारा मुक्तिवाहिनी के जवानों को गुप्त रूप से सहायता देने को उचित ठहराता है-"जनरल याह्या खान और उनके साथी शेख मुजीब को जेल में डालकर बंगालियों की आवाज़ दबा नहीं सकेंगे और अगर भारत मुक्तिवाहिनी के जवानों को गुप्त रूप से फौजी सहायता दे रहा है तो इसमें कुछ भी ग़लत नहीं है। पूर्वी पाकिस्तान से लाखों शरणार्थी भारत आ रहे हैं जिससे यहाँ की इकानॉमी चौपट हुई जा रही है। याह्या ख़ान और जुल्फिकार अली भुट्टो की बेहूदगियों का खामियाज़ा हमें भुगतना पड़ रहा है। भारत को भी कुछ तो करना पड़ेगा। वह हाथ पर हाथ धरे बैठा तो नहीं रह सकता।"

भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान द्वारा आक्रमण की पहल का वर्णन करते हुए बताया गया है कि पाकिस्तानी बमवर्षक विमानों ने आगरा और जोधपुर के सैनिक हवाई अड्डों पर ज़ोरदार बमबारी की पर अधिक नुकसान नहीं हुआ क्योंकि भारत को इस हमले का आभास था, इसलिए अधिकतर विमान अज्ञात स्थानों पर नीचे बने तहखानों में थे। इसके बाद भारत की ओर से युद्ध की विधिवत घोषणा कर दी गई। "उसी रात इन्दिरा गांधी ने राष्ट्र के नाम अपना संदेश प्रसारित किया। पश्चिम में पाकिस्तान से लगती सभी सीमाओं के साथ ही पूर्वी पाकिस्तान की सीमाओं में भारतीय विजयंत टैंक शोर करते हुए अन्दर घुसने लगे। दूसरे दिन सभी अख़बारों के शीर्षक थे-वी आर ऐट वार विद पाकिस्तान।"

इसके बाद देश में - विशेषकर दिल्ली में- फैली युद्ध की उत्तेजना, स्कूलों और कॉलिजों का बंद होना, बाज़ारों में सन्नाटा, लोगों का रेडियो और टेलीविजन सेटों से चिपककर बैठे रहना और अफवाहों का बाजार गर्म होना- इन सबका वर्णन एक छोटे से अनुच्छेद में कर दिया गया है। थोड़ा विस्तार होता तो अच्छा लगता। पन्द्रह दिन के युद्ध के बाद पाकिस्तान के सेनानायक जनरल नियाज़ी ने भारतीय सेनानायक लेफ्टिनेंट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के सामने 90 हज़ार फौजियों समेत आत्मसमर्पण कर दिया। दुनिया के नक्शे पर एक नया देश-बंगला देश-उभर आया। शेख मुजीब ने पाकिस्तान की जेल से रिहा होकर नये देश की सत्ता संभाली ली। पाकिस्तान में याह्या खान का पतन हुआ और जुल्फिकार अली भुट्टो ने सत्ता संभाल ली। इन्दिरा गांधी और भुट्टो के बीच 1972 का शिमला समझौता हुआ जिसके तहत भारत से सभी युद्धबंदी रिहा किए गए। इन्दिरा गांधी का कद और बढ़ गया। लोग पहले ही उसकी जय-जयकार कर रहे थे। अनेक कवियों ने उसकी स्तुति में दुर्गाराग लिख दिए थे। अनेक पत्रकारों ने इन्दिरा गांधी की उपलब्धियों पर पुस्तकें लिख दी थीं। कवियों ने महाकाव्य लिख दिए जो छपकर आ गए। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष ने कहा- India is Indira and Indira is India इन्दिरा गांधी ने सबको बौना बना दिया और इसके साथ ही राजनीति के आकाश पर एक नया सितारा- संजय गांधी-प्रकाशमान हुआ। इंदिरा गांधी ने अपनी सरकार का बीस सूत्री कार्यक्रम चलाया तो संजय गांधी ने भी पाँच सूत्री कार्यक्रम की घोषणा कर दी। माँ-बेटे के कट आउट पूरे शहर की सड़कों और चौराहों पर लगे हुए दिखाई देने लगे। संजय गांधी के पांच सूत्री कार्यक्रम के प्रमुख एजेंडे-परिवार नियोजन- का जोर-शोर से प्रचार किया गया। अधिकारियों ने इसमें अतिरिक्त उत्साह दिखाया। प्रेस ने संजय गांधी की जयजयकार करके उसे देश का 'हीरो' बना दिया। सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और बड़े अफसर संजय गांधी से भय खाने लगे। उसकी बनाई यूथ कांग्रेस में अपराधी तत्वों का जमावड़ा था। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता उसके सामने लाचार थे। बिना किसी संवैधानिक पद के संजय गांधी देश का 'सुपर प्राइम मिनिस्टर' था। देश में तानाशाही का ख़तरा बढ़ गया था। इस ख़तरे से देश को आगाह करने के लिए आनन्द ने क्लैमर में एक ओजस्वी सम्पादकीय लिखा। परिणाम यह हुआ कि उसकी आर्थिक नाकेबंदी कर दी गई। क्लैमर को मिलने वाले सरकारी विज्ञापन बंद हो गए। सरकार की देखादेखी निजी कम्पनियों और उद्योगों ने भी विज्ञापन देना बंद कर दिया। सिर्फ़ काग़ज़ का कोटा बना रहा।

देश की स्थिति बद से बदतर होती गई। लोकतंत्र के चार स्तम्भ न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका और प्रेस को इंदिरा गांधी और संजय गांधी ने लगभग निष्क्रिय कर दिया। भ्रष्टाचार दैनिक जीवन का हिस्सा बन गया। महंगाई और बेरोज़गारी आकाश छूने लगी। इन स्थितियों से क्षुब्ध होकर जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रांति का बिगुल बजाया। उपन्यास में उस अपील का ब्यौरा है जिसे जे.पी. ने पवनार आश्रम से 'यूथ फार डेमोक्रेसी' के नाम जारी किया था। बिहार के छात्र-आंदोलन को जे.पी. ने जन आंदोलन बना दिया। पटना में प्रदर्शन कर रही लाखों लोगों की निहत्थी भीड़ पर पुलिस ने बेदर्दी से लाठियां चलाईं। जे.पी. को भी लाठियां लगीं और

वे घायल होकर गिर पड़े। अगले दिन वह समाचार सारे अख़बारों की सुर्खियां बना। जयप्रकाश नारायण के साथ संगठन कांग्रेस, सोशलिस्ट पार्टी, जनसंघ और अकाली दल भी शमिल हो गए। आंदोलन का केन्द्र बिहार था किन्तु उसका प्रभाव पूरे उत्तर भारत में था। इसके बाद लेखक ने विस्तार से बताया है कि राजनारायण ने रायबरेली के चुनाव में इंदिरा गांधी पर चुनाव में भ्रष्ट तरीके अपनाने का आरोप लगाकर इलाहाबाद हाईकोर्ट में याचिका दर्ज की। कोर्ट का फ़ैसला आ गया। न्यायमूर्ति जगमोहन लाल सिन्हा ने फ़ैसला सुनाते हुए रायबरेली से इंदिरा गांधी के चुनाव को अवैध घोषित कर दिया और आगामी छः सालों के लिए उनके चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध लगा दिया। अब सारा विपक्ष और देश की जनता इंदिरा गांधी के इस्तीफ़े की मांग करने लगी। इंदिरा गांधी ने सुप्रीम कोर्ट में अपील की। इधर मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी का गठन हो गया। दिल्ली के रामलीला मैदान में एक विशाल रैली हुई। अनेक विपक्षी दल के नेताओं ने उसमें भाग लिया। जे.पी. ने अपने भाषण में इंदिरा सरकार के विरुद्ध जंग का ऐलान कर दिया। उसी रात गांधी प्रतिष्ठान से जे.पी. को गिरफ़्तार कर लिया गया। उन पर आरोप था कि उन्होंने सेना में बगावत फैलाने वाला भाषण दिया है। उसी रात सारे देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गई। विरोधी दलों के सारे बड़े नेताओं को पकड़कर जेल में डाल दिया गया। जो बचे, वे भूमिगत हो गए। प्रेस पर पूरी सेंसरशिप लगा दी गई। कुछ संस्थाओं पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। अनेक पत्रकारों को भी जेल में डाल दिया गया। पुलिस भूमिगत नेताओं की खोज करने लगी। हर आदमी अपना बचाव करने लगा। सरकार कमिटेड यानी प्रतिबद्ध सरकारी अफ़सरों, कमिटेड जूडिशियेरी के कमिटेड जजों, कमिटेड सरकारी कर्मचारियों, कमिटेड लेखकों और पत्रकारों की ज़रूरत पर बल देने लगी। ऐसे लोग जो इंदिरा सरकार की नीतियों का पूरी ताक़त से समर्थन कर रहे थे, वे कमिटेड यानी प्रतिबद्ध समझे गए और सरकारी कृपा के पात्र बने। ऐसे माहौल में जो लोग यह मानते भी थे कि जो हो रहा है ग़लत हो रहा है वे चुप रहे। जो पत्रकार चुप रहे सरकार ने उन्हें भी नहीं बख़्शा।

आपातकाल के दौरान सिख जत्थेदरों की राजनीति खुलकर सामने आ गई। शिरोमणि अकाली दल विपक्ष के साथ था इसलिए उसने इंदिरा सरकार के विरुद्ध मोर्चा खोलने का ऐलान कर दिया। इंदिरा समर्थक (दिल्ली के) जत्थेदारों का विचार था कि सिखों को अगर कुछ मिलेगा तो मैडम से ही मिलेगा। अकाली दल के दो धड़ों की राजनीति का विस्तृत खुलासा पहली बार 'अभी शेष है' में ही देखने को मिलता है। दिल्ली वे अकाली दल के इंदिरा समर्थक धड़े का अगुआ जत्थेदार सोहन सिंह आपातकाल का समर्थन अपने स्वार्थ के लिए करता है। वह आनन्द को भी लालच देता है कि वह आपातकाल के समर्थन में लेख लिखे और लिखवाए। यह अलग बात है कि आनन्द उसका सुझाव नहीं मानता।

आपातकाल के दौरान देश का साहित्यिक माहौल कैसा था-इसका चित्रण भी उपन्यास में किया गया है। बुद्धिजीवियों के विचार-विमर्श और बहस का केन्द्र टी-हाऊस हुआ करता था। अब वहां भी हर कोई बोलने से डरता था कि कहीं गुप्तचर विभाग के लोग सुन न लें। कुछ लोग जो अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का परचम उठाए रहते थे, अब दबी ज़बान से आपातकाल का समर्थन कर रहे थे। देश के दूसरे भागों में लेखक क्या कर रहे थे इसका सटीक वर्णन उपन्यास का पात्र विक्रम करता है-"बिहार में किसी स्थान पर लेखकों का एक सम्मेलन हुआ है, जिसमें प्रधानमंत्री के बीस सूत्री कार्यक्रम का समर्थन करते हुए, देश में आपातकाल की घोषणा का स्वागत किया गया है और इस बात का आग्रह किया गया है कि आपात स्थिति में कोई ढिलाई न बरती जाए, क्योंकि प्रतिक्रियावादी नव-फासिस्ट शक्तियाँ तेजी से संगठित होकर प्रतिघात करने की तैयारी में संलग्न हैं। इतना ही नहीं इस सम्मेलन में प्रतिक्रियावादी नव-फासिस्ट शक्तियों के खिलाफ़ संघर्ष में प्रेस सेंससरशिप को आवश्यक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करने की मांग सरकार से की गई है।" उपन्यास में मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका दुर्गा भागवत द्वारा की गई टिप्पणी का भी उल्लेख है जिसमें उसने हिन्दी के लेखकों के आचरण की घोर निन्दा की है-"हिन्दी के अधिकांश लेखक सरकार के चापलूस हो गए हैं, जबकि हिन्दी प्रदेश की जनता खुलकर इस संघर्ष की भागीदार है। जब जनता इस संघर्ष में जुटी है, तब लेखक सरकारी प्रचार का अंग बनकर उसकी टांग खींच रहा है। कुछ लेखकों और सम्पादकों ने सरकारी दमन का पक्ष लिया है, उसका प्रचार किया है और जनता के साथ धोखा किया है।" अच्छा होता यदि उपन्यास में दिल्ली के उन लेखकों का भी जिक्र होता तो आपातकाल का समर्थन करने के लिए दल बांधकर इंदिरा गांधी से मिलने गए थे। सरकारी दमनचक्र का शिकार हुए लोगों में दिल्ली और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के उन प्राध्यापकों और प्रोफ़ेसरों को भी उपन्यास में जगह मिलनी चाहिए थी जो पूरे आपातकाल के दौरान जेलों में बंद रहे थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के ढाई सौ प्राध्यापकों को पुलिस उनके घरों से पकड़कर ले गई थी और उन पर झूठे इल्ज़ाम लगाकर जेलों में बंद रखा गया था।

आपातकाल के दौरान सरकारी तानाशाही शिखर पर तब पहुँची जब इंदिरा सरकार ने जे.पी. के विरुद्ध दुष्प्रचार करने के लिए पुस्तिकाएँ छपवाकर सम्पादकों में वितरित कीं जिनमें उन्हें अमेरिकी खुफ़िया एजेन्सी सी.आई.ए. का एजेंट तक कहा गया था और सम्पादकों से अपेक्षा की गई कि वे इसमें सहयोग दें। देश में जैसा माहौल बन गया थ, उसे सहन करना ईमानदार पत्रकारों, बुद्धिजीवियों

तथा लेखकों के लिए असहृय होता जा रहा था। दुर्गा भागवत द्वारा लेखकों और पत्रकारों पर बरसाई गई लानत से आनन्द इतना आहत हुआ कि उसने सम्पादकीय लिखा- "आपातकाल में लेखक कैसी भूमिका निभा रहे हैं?" आनन्द के द्वारा पेशेवर ईमानदारी और साहस दिखाने का परिणाम यह हुआ कि पुलिस ने सवेरे पाँच बजे आकर उसे नींद से जगाया और मीसा (मेंटेनेंस ऑफ़ इंटरनल सिक्योरिटी एक्ट) के तहत गिरफ़्तार करके ले गई।

मानसिंह उर्फ़ भाइया जी की कथा की तुलना में आनन्द की कहानी ज़्यादा दमदार है। शायद इसलिए कि इस कथा को वहन करने वाली घटनाएं ज़्यादा मुखर और असरदार हैं।

इस कथा से जुड़ी हुई दूसरी कथा गुरुद्वारों की सियासत की है। कथानायक हैं- सोहन सिंह और जोध सिंह। इन दोनों जत्थेदारों को लेखक ने स्थानीय सिख राजनीति के अलमबरदार कह कर सम्बोधित किया है। सोहन सिंह टायर मार्केट के दो-चार बड़े सिख व्यापारियों को फांसे रखता है और जत्थेदार जोध सिंह के कब्जे में कश्मीरी गेट के मोटर-पार्ट्स के सिख व्यापारी हैं। दोनों अपनी-अपनी असामियों से पैसे लेकर सरकारी महकमों में उनके उल्टे-सीधे काम करवाते हैं। उन पैसों से वे सियासत करते हैं। जत्थेदार जोध सिंह कहता है-"सियासत में जिन्दा रहना है, तो गांठ में पैसा होना ही चाहिए। यह सियासत चाहे गुरुद्वारों की हो, चाहे मंदिरों की।"

जत्थेदार सोहन सिंह और जोध सिंह के बीच प्रतिद्वन्द्विता है- अपनी शक्ति बढ़ाने और पैसा कमाने के लिए दिल्ली गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी तथा अन्य सिख संस्थाओं का अध्यक्ष बनने की। इससे दिल्ली सरकार में उनकी हैसियत बढ़ती है जिससे सरकारी महकमों से काम निकलवाना आसान हो जाता है और जिनका काम निकलवाया जाता है उनसे पैसे वसूल किए जाते हैं। दोनों जत्थेदार अखबारों को अपने पक्ष में रखने के लिए कई तरीकों से पैसा देते हैं। दोनों एक दूसरे की जासूसी करके पता लगाते हैं कि किसने किस अख़बार को कितने रुपये का विज्ञापन दिलवाया। वे अखबारों में एक दूसरे का कच्चा चिट्ठा छपवाने की फ़िराक में रहते हैं। क्लैमर साप्ताहिक का सम्पादक निरवैर सिंह आनन्द इस सारी राजनीति को समझता है और अपना इस्तेमाल नहीं होने देता। बिना विज्ञापन छापे वह किसी से पैसा नहीं लेता इसलिए जत्थेदार सोहन सिंह यदि उसे विज्ञापन दिलवाता है तो जत्थेदार जोध सिह उसके अखबार की दो-चार सौ प्रतियाँ खरीदकर लोगों में बंटवाने का आश्वासन देता है।

समय को पहचानकर जत्थेदार सोहन सिंह इन्दिरा गांधी की ओर आ जाता है। इन्दिरा गांधी भी गुरुद्वारा राजनीति को प्रभावित करने के लिए एक मोहरा चाहती है, इसलिए सोहन सिंह पर कृपादृष्टि डालती है। देखते-देखते वह दिल्ली के सिखों का सर्वमान्य नेता बन जाता है। दिल्ली की गुरुद्वारा राजनीति अमृतसर के शिरोमणि अकाली दल से चालित होती थी। सोहन सिंह दिल्ली अकाली दल का अध्यक्ष था। उसकी इन्दिरा गांधी से निकटता शिरोमणि अकाली दल को रास नहीं आई। उन्होंने उसे पार्टी से निकाल दिया। जवाब में उसने अपना अकाली दल बना लिया। सत्ता के गलियारों में उसकी पूछ थी इसलिए दिल्ली के धनी सिख व्यापारी उसके साथ हो गए। सरकार ने उसकी सुरक्षा के लिए एक गनमैन उसके साथ कर दिया। उसका रंग-ढंग और रूप बदल गया था। उसकी हैसियत हर दृष्टि से बदल गई थी। इंदिरा गांधी ने उसे आगे बढ़ाया था और उसका फ़ायदा भी इसी में था कि वह इंदिरा सरकार का प्रबल समर्थक बना रहे इसलिए आपातकाल में उसने शिरोमणि अकाली दल का विरोध किया। उसने आपातकाल का समर्थन किया और दूसरों से भी करवाया।

डेरों से सम्बन्धित एक कथा भी इस उपन्यास में है। यह कथा अन्य दोनों कथाओं से लगभग स्वतंत्र आगे बढ़ती है और डेरा संत निरंजन सिंह के संत जी की मृत्यु के पश्चात नए संत जी के चुनाव पर आकर समाप्त होती है। इस कथा का उद्देश्य धार्मिक डेरों (मठों) के अन्दर पनप रहे विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार को उजागर करके संगत की आस्था के साथ हो रहे खिलवाड़ का चित्रण करना है। सच्चे भक्त संत निरंजन सिंह के चेले संत निधान सिंह और बीर सिंह चढ़ाव में आने वाला धन, सोना-चांदी और शाल-दुशाले किस तरह लूटते हैं इसका प्रामाणिक चित्र यह उपन्यास देता है। भारत विभाजन के समय संत निरंजन सिंह के चेले निधान सिंह ने तिजोरी में बंद अकूत दौलत किस सफ़ाई से पार कर दी और महरौली में स्थापित नए डेरे से भी किस तरह माल उड़ाया इसकी जानकारी विस्तार से दी गई है। संत बीर सिंह के चरित्र द्वारा डेरों में रहने वाली निराश्रित युवा स्त्रियों के यौन शोषण का खुलासा किया गया है। उसके दुष्कर्म से सतवंत गर्भवती हो जाती है तो मामले को रफ़ा-दफ़ा करने के लिए वह उसका विवाह सतनाम सिंह नाम के एक सेवादार से करवा देता है और उसके रहने के लिए डेरे में ही एक क्वार्टर देकर अपनी वासनापूर्ति का स्थायी प्रबन्ध कर लेता है।

सिख डेरों की दौलत बड़े-बड़े धन्ना सेठों और राजनीतिज्ञों को भी आकर्षित करती है। एक के लिए अगर ये मठ और अधिक धन बटोरने का साधन हैं तो दूसरे के लिए ये धन के अलावा वोट बैंक का भी काम कर सकते हैं क्योंकि 'लाखों की संगत' इनके प्रभाव में होती है। धन-कुबेर व्यवसायी लाला मुल्खराज डेरा संत निरंजन सिंह के सेवक हैं। वे वृद्ध संत निरंजन सिंह को यह समझाकर संत निरंजन सिंह गुरुमत ट्रस्ट बनवाते हैं कि इससे डेरे की आमदनी और खर्च का पूरा हिसाब रखा जाएगा और रुपये-पैसे की कोई गड़बड़ी नहीं होगी। जब संत जी नहीं रहेंगे

तब भी डेरे का सारा कामकाज सुचारु रूप से चलता रहेगा। संत जी को ट्रस्ट का चेयरमैन बनाकर वह स्वयं मैनेजिंग ट्रस्टी बन जाता है। संत निरंजन सिंह के जीवन-काल तक तो ट्रस्ट का कामकाज अच्छी तरह चलता है परन्तु उनके देहान्त के पश्चात उनकी विरासत को लेकर उनके चेलों संत निधान सिंह और संत बीर सिंह के बीच प्रतिद्वन्द्विता छिड़ जाती है। लाला मुल्खराज और ट्रस्ट के सदस्य जत्थेदार सोहन सिंह दोनों 'सदा अपने अनुकूल रहने वाले *व्यक्ति* को' उनकी गद्दी पर बैठाना चाहते हैं इसलिए वे सिद्धान्त बघारने वाले संत निधान सिंह को न चुनकर दुश्चरित्र और लालची संत बीर सिंह को उनका उत्तराधिकारी बनते हैं।

डेरा संत निरंजन सिंह की कथा का मानसिंह (भाइया जी) की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। आनंद की कथा से भी इसका इतना ही सम्बन्ध है कि एक बार मॉडल टाउन के गुरुद्वारे में आनन्द और संत बीर सिंह की मुलाक़ात होती है। संत बीर सिंह अपने रागी जत्थे के साथ मॉडल टाउन के गुरुद्वारे में कीर्तन करने आता है। कीर्तन की समाप्ति पर आनन्द संत बीर सिंह से उसके शबद कीर्तन की प्रशंसा करता है। दूसरी बार संत बीरसिंह आनन्द को संत निरंजन सिंह के डेरे के प्रसाद के तौर पर सूखे मेवों से भरा एक डिब्बा भेजता है। आनन्द थोड़ा-सा प्रसाद रखकर बाकी सेवादार के हाथ वापस भेज देता है और संत बीर सिंह को फ़ोन करके कहता है कि- "इसे संगति में बंटवा दीजिए। प्रसाद के रूप में मुझे अपना आशीर्वाद दीजिए।"

जत्थेदार सोहन सिंह की कथा से भी इस कथा का इतना ही सम्बन्ध है कि अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले वृद्ध संत निरंजन सिंह जो गुरुमत ट्रस्ट बनाते हैं, उसके चार सदस्यों में एक दिल्ली सिख गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का प्रधान सोहन सिंह होता है। संत निरंजन सिंह के देहान्त के पश्चात लाला मुल्खराज और जत्थेदार सोहन सिंह दोनों उनके उत्तराधिकारी का चुनाव करते हैं।

'पूर्वा' शीर्षक से दिए गए लेखक के वक्तव्य से ऐसा आभास होता है कि मानसिंह की कथा ही उपन्यास की प्रमुख कथा है। उपन्यास का आरम्भ भी मानसिंह की कथा से होता है परन्तु यह कथा उपन्यास के समापन से पहले ही समाप्त हो जाती है। उपन्यास चलता रहता है और आनन्द की गिरफ्तारी पर समाप्त होता है। उपन्यास की सारी छोटी-बड़ी कथाएं समानान्तर चलती रहती हैं। इन कथाओं को आपस में जोड़ने वाले सूत्र बड़े विरल हैं, फिर भी इनका प्रवाह पाठक को आरम्भ से अन्त तक बांधे रखता है। लेखक अपने वक्तव्य के अनुरूप 1970 से '75 तक की घटनाओं को समेटने में सफल रहा है।

सी-4/85/2, सफ़दरजंग विकास क्षेत्र, हौज खास, नई दिल्ली-16

विपिन बिहारी

द्वंद्व

उसके भीतर का गुस्सा कभी खत्म नहीं हुआ। हमेशा वह तमतमाई हुई ही रही। उसकी तमतमाहट उसके चेहरे पर दाग बन कर उभर जाती। दाग कई तरह से उभरते। आइना देखती तो वह डर जाती उन दागों से...उसका चेहरा बिगड़ा हुआ है, बदसूरत दिखती है। उसके भीतर ऐसा विचार कभी नहीं आया कि वह गुस्सा करना छोड़ दे, नाहक चेहरे का रंग बिगड़ जाता है। उसका गुस्सा जन्मजात नहीं था, लेकिन ऐसा लगता कि यदि उसने गुस्सा करना छोड़ दिया तो उसका वजूद ही खत्म हो जाएगा, उसकी पहचान गर्त में चली जाएगी।

अभी-अभी अवधेश निकला था घर से यह आवाज देते हुए, 'किरण, मैं जा रहा हूँ।' उधर से किरण की कोई आवाज नहीं सुनाई पड़ी थी। अलबत्ता उसके होंठों पर कुछ शब्द जरूर ध्वनित हो उठे थे, 'जाओ न, मना किसने किया है, और ऐसे चिल्ला रहा है जैसे फ्रंट पर जा रहा हो।' अवधेश के निकलते ही दौड़ी आई थी दरवाजे पर और पल्ला भड़ाक से बंद कर दिया था जैसे अवधेश फिर लौट आएगा और वह फिर गुस्से में आ जाएगी। अवधेश के निकलते और दरवाजा लगाते ही किरण ने जैसे राहत की सांस ली। गुस्से के दाग चेहरे से लोप होते हुए लगे थे। जब वह आइने के सामने खड़ी हुई तो हल्के-हल्के मुस्कुरा रही थी वह चेहरे पर तलहथियाँ सरकाते हुए।

आइने से अपना चेहरा खींचा किरण ने और घुस गई बाथरूम में। गाउन को सरका दिया। उसकी देह पर एक भी कपड़ा नहीं था। शॉवर चला दिया और फिर फव्वारों से खेलने लगी बच्चों-सा। पता नहीं कब तक वह बाथरूम में फव्वारों से खिलवाड़ करती रहती कि शावक के रोने की आवाज सुनाई पड़ी। कब से रो रहा था, शॉवर की झर्र-झर्र और बाथरूम का दरवाजा भीतर से बंद, आवाज ही नहीं सुनाई पड़ी। अपनी पीठ में साबुन लगाने के लिए उसने शॉवर को बंद किया तब कहीं शावक की आवाज सुनाई पड़ी थी रोने की।

'हरामी कहीं का, यही वक्त था रोने का...।' होंठों पर आए शब्द विकृत लगे थे। पीठ पर साबुन रगड़ने में उसने तेजी नहीं दिखलाई। इत्मीनान से रगड़ती रही जैसे उसकी पीठ पर महीनों का मैल जमा हुआ हो। फिर घुटनों में, नितंबों पर, जांघों में...रगड़-रगड़कर नहा रही है किरण। किसी पार्टी-वार्टी में जाना है? नहीं, ऐसा कुछ नहीं। पार्टी में जाना उसे अच्छा लगता है या नहीं, लेकिन हर बार अवधेश से इंकार ही करती चली गई थी।

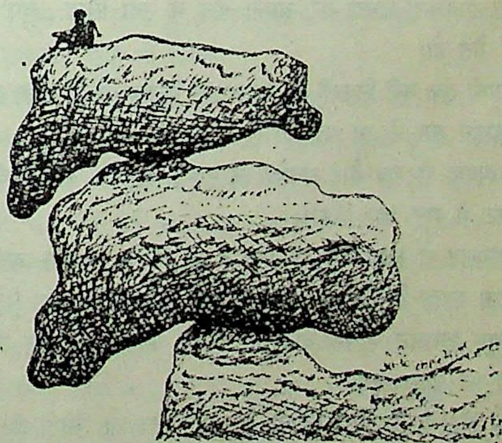
शावक रो रहा था।

रगड़-रगड़ नहाने की उसकी आदत रोज की है। जब तक अपनी पूरी देह पर साबुन नहीं फिराती और झाग को बार-बार नहीं मलती, ऐसा लगता है उसने नहाया ही नहीं है। एक बदबू-सी उसके पोर-पोर में समाई हुई रहती है और उसे उल्टी-उल्टी-सी महसूस होती रहती है और वह 'पच्च-पच्च' थूक फेंकती रहती है। रोज़ का यही किस्सा है। खूब-खूब नहा लेगी। दिन भर ताजा-ताजा महसूस करती है। रात में सोने तक उसकी देह में ताजगी भरी हुई रहती है और जब बत्ती गुल हो जाती है और अवधेश जब असल मर्द होने लगता है और जब सुबह उठती है तो उसका मन भारी-भारी लगने लगता है। देह से उसे घिन होने लगती है।

शॉवर बंद किया। तौलिए से देह सुखाने लगी। बाथरूम का दरवाजा खोला और बिना कुछ पहने ही आ गई शावक के पास, 'चुप कर हरामी, क्यों मरा जा रहा है।' उसके शब्द हवा में उछले थे। यह एक विडम्बना ही थी कि किरण अपने बच्चे को हरामी कहती थी। उसे देखकर शावक थोड़ा शांत हुआ। अपना पैर पटकने ही लगा था कि किरण दूर हट गई उससे, कपड़े पहनने के लिए।

शावक फिर रोने लगा था।

सुबह मेहरी ने ही दरवाजा खटखटाया था। अवधेश बेफिक्र सोया हुआ था। किरण उठी थी बदबूदार देह के साथ। दरवाजा खोला। मेहरी लग गई थी अपने कामों में। बदबूदार देह उसकी बर्दाश्त से बाहर हो जाती थी। लेकिन सुबह-सुबह नहाना...कहीं नहाकर निकली अवधेश फिर लालची हो उठा तो...दिनभर में वह कितनी बार नहाएगी। बैठ गई थी आकर सोफे पर वहाँ जहाँ ड्राइंग रूम कहा करता था अवधेश। मेहरी के काम से कुछ खटकता तो वह चिहुंक पड़ती और दाएं-बाएं झांकने लगती...अवधेश तो नहीं आ गया और उसकी गलबहियाँ करने को आतुर...नहीं अवधेश, ये सब मुझे पसंद नहीं। मर्द जात को क्या हो जाता है कि औरत देखते ही जीभ



लपलपाने लगता है। मैं तुम्हारी बीवी हूँ इसका मतलब ये नहीं कि उसकी इच्छा-अनिच्छा का ख्याल ही न रखा जाए। मैं थक जाती हूँ और एक घिन-सी होने लगती है मुझे अपनी देह से ही। वह मना नहीं कर पाती थी, लेकिन इतना अवश्य होता था, उसके चेहरे पर अनिच्छा साफ चमकने लगती थी।

'मेम साहब, चाय बना दूँ?' बर्तन साफ कर चुकी थी मेहरी। अब फर्श पर पोंछा लगाने ही वाली थी।

'साहब से पूछा...?' अनमने शब्द थे किरण के होंठों पर।

'नहीं, वे अब भी सो रहे हैं।'

'उन्हें जगाकर पूछ लेती।'

'ये आपका काम है।'

'बना दो।'

मेहरी चली गई तो अपनी बदबूदार देह पर हाथ फिराने लगी थी किरण। अवधेश जब भी छूता है उसकी देह को, बदबूदार क्यों हो उठती है, क्यों उसके स्पर्श से सड़ने लगती है देह? कुछ समझ नहीं पा रही थी वह। उसकी समझ से परे थे उसके ही प्रश्न। अभी वह अपनी इन सोचों से उलझती रहती कि आ गई थी मेहरी चाय लेकर।

'साहब को दी चाय?'

'हाँ...।'

'जागे कि नहीं?'

'सिर्फ आवाज दे दी।'

चाय सुड़कने के बाद किरण टायलट गई। अवधेश भी तथाकथित ड्राइंग रूम में आ गया था चाय की प्याली थामे।

शावक सो रहा था।

'जल्दी निपटना।' अवधेश ने आवाज लगाई थी। जैसे ही अवधेश ने चाय खत्म की कि शावक जाग गया और रोने लगा बेतहास। उसने लपककर शावक को अपनी गोद में उठा लिया...चुप रहो, बहुत रोते हो।

अभी तक नहीं निकली थी टायलट से किरण। मेहरी पोंछा लगाते हुए ड्राइंग रूम में आ गई थी।

'शावक रो रहा है।' अवधेश ने इतना जोर से आवाज दी कि टायलट में सुन पाए किरण।

टायलट से बुदबुदाती हुई निकली थी किरण, 'इतनी जल्दी ही निपटना रहता है तो एक टायलट और क्यों नहीं बनवा लेते?'

'तुम टायलट में सो जाती हो क्या?' अवधेश ने सुन ली थी किरण की बुदबुदाहट।

'मैं जितनी देर में निपटती हूँ, उतनी देर तो लगेगी ही।'

'हम दो ही हैं और दो टायलट! उसके लिए जगह और पैसे भी चाहिए। मैं समझता हूँ ये कोई बड़ी समस्या नहीं है कि पार्टीशन खींचा जाए।'

हाथ-मुँह धोकर आई। शावक को गोद में लिया। गाउन के बटन खोले और अपनी छाती धरा दी किरण ने।

शावक चुप हुआ। वह छाती चुपड़ने लगा था। किरण के चेहरे से वात्सल्य टपकने लगा था।

अभी छः महीने का हुआ है शावक। बिल्कुल अवधेश पर गया है। अभी से ही उसमें अवधेश की छवि देखी जा सकती थी। वाह, क्या खेल है? नौ महीने माँ की कोख में रहा और माँ की छवि का जरा भी निशान नहीं। अवधेश की छवि शावक में नज़र आई तो किरण का चेहरा बिगड़ने लगा था। हरामी है ये, लेकिन अपनी छाती छुड़ा नहीं पाई शावक से। वह छाती चुपड़ता है तो एक स्वर्गिक गुदगुदाहट उसकी देह में सनसनाने लगती है और आँखें मदमस्त हो उठती हैं। कुछ ऐसा ही हाल अभी-अभी लग रहा था उसे।

जब जान पाई थी किरण कि उसके पाँव भारी हो गए हैं तो उसे बिजली का झटका-सा लगा था। एक अनचाहे गर्भ के रूप में देख रही थी वह। जबकि इस उम्र में कौन औरत माँ बनना पसंद नहीं करती? लेकिन उसे क्या हो गया था कि उम्र होते हुए भी गर्भ को एक बोझ मानने लगी थी? उसकी इच्छा यहाँ तक हुई थी कि चुपके से एबॉर्शन करवा ले किसी डॉक्टर से, लेकिन ऐसा भी नहीं कर पाई थी। तीन महीने बाद ही अवधेश पहचान पाया था उसके बदले हुए शारीरिक परिदृश्य देखकर।

'तुमने कुछ कहा नहीं?' अवधेश ने शिकायती लहजा अपनाया था।

'क्या कहती, मेरी तो जान पर बन आई है।' उदास और गंभीर थी किरण।

'हम दोनों इस उम्र में आ चुके हैं जहाँ बच्चे होना एक सुखद सूचना के तौर पर देखा जा सकता है।'

'शायद तुम्हारे लिए, मैं ऐसा नहीं मानती।'

'तुम्हें हो क्या गया है, फिगर बिगड़ जाने का भय सता रहा है?'

किरण चुप रही थी।

'अच्छा बोलो, लड़का होगा कि लड़की? मैं तो लड़की चाहता हूँ।'

किरण चुप ही रही...मर्द को लड़की ही क्यों चाहिए?

लेकिन हुआ शावक। घर में खुशियों की बरसात होने लगी थी। किरण के मम्मी-पापा आए थे। शावक के लिए ढेर सारे उपहार लेकर, लेकिन किरण कोई उत्साह नहीं दिखला रही थी। पापा ताक रहे थे किरण का चेहरा। किरण भी देख रही थी अपने पापा को एकटक। जब पापा ने देखा तो वे नज़रें चुराने लगे थे। मम्मी तो बस शावक के पीछे ही पड़ गई थी जैसे वह उसकी ही कोख का जना हो। फिर से माँ बन गई थी वह...।

पापा जब तक रहे किरण के पास, माहौल की गंभीरता से दो-चार होते रहे थे जैसे सभी ने न बोलने की कसम खा रखी थी। अवधेश भी चुप-चुप लग रहा था। जब दोनों उसके निकट से चले गए तो मम्मी ही उसके पास रह गई थी।

'मम्मी, ले जाओगी इसे अपने साथ?' किरण के शब्द व्यंग्य से ओतप्रोत थे।

'कब तक रखूंगी इसे अपने पास, मुझसे थोड़े ही संभलेगा। माँ की छाती के बिना रहेगा भी नहीं।' मम्मी नहीं समझ पाई थी किरण की बातों को, 'और मैं क्यों ले जाने लगी, तुम्हारे दो-चार तो हैं नहीं कि एक ले गई उठाकर अपना जी बहलाने के लिए।''

'मैं इसे फालतू मानती हूँ।'

'शुभ-शुभ बोल, माँ ही जब अपने कोख-जाये को फालतू मानने लगी तो...एक में ही जी ऊब गया? एक औरत दस-दस कैसे बिया लेती है?'

'एक औरत की बात नहीं, मैं अपनी बात कह रही हूँ।'

'तुम क्या सोचती रहती हो, मेरी समझ के बाहर की बात है।'

'इसकी पैदाइश में मैं कहीं नहीं हूँ।'

'क्या अवधेश ने जबरदस्ती की है?'

'तुम्हें आज मालूम हुआ है?'

'इतना गिरा हुआ क्यों सोचती हो?'

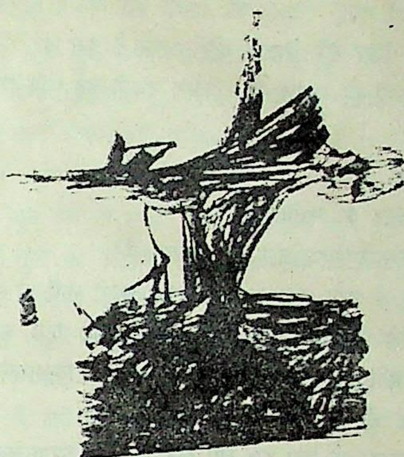
अवधेश अचानक ही टपक पड़ा था दोनों के बीच में। मम्मी चुप पड़ गई थी। किरण छत निहारने लगी थी। अवधेश के पीछे पापा भी आ गए थे। मम्मी को कहने लगे थे, 'अब चलना चाहिए।'

अवधेश ने रोका था, 'आप जाइए, मम्मी अभी यहीं रहेंगी।'

मम्मी का भी मन हो गया था। आँखों का तारा एक नाती। बच्चों के बिना घर सूना-सूना सा। किरण से छोटे शरद और लोलिता। लोलिता अभी इंटर में पढ़ रही थी। शादी नहीं हुई थी और शरद. ..वह तो अभी...। किरण बड़ी थी। घर में दो-चार होते तो उसकी ललक को कुछ राहत मिलती, लेकिन ऐसी कोई बात नहीं थी। किरण और मम्मी के बीच जो संवाद हुआ था, उसके बाद बिना उसके रुके रुकना ठीक नहीं मान रही थी मम्मी। किरण को पता नहीं क्या हो गया है कि एक भी बात सीधी नहीं बोलती। उसकी हर बात नीम चढ़ी होती है। क्या कमी है? अवधेश बुरा भी नहीं। एक शादीशुदा औरत की जो जरूरतें होनी चाहिए उस पर खरा है अवधेश। चेहरा-मोहरा भी ऐसा नहीं कि घिन आती हो जब मुँह से मुँह सटता होगा। एक परिवार के लिए बड़ा घर...सुख-सुविधाएँ मध्यमवर्गीय। आखिर इसे चाहिए क्या?

अवधेश रोकता रह गया था... कम से कम एक रात और टिक जाएं, लेकिन पापा नहीं माने, मम्मी नहीं मानी।

'कम से कम मम्मी को तो रोक लेतीं?' उनके जाने बाद किरण



के पास बैठ गया था अवधेश।

'क्या उसका रुकना जरूरी था?'

'जरूरी तो था ही, तुम इस हाल में अभी हो कि मम्मी की जरूरत थी।'

'तुम क्या करोगे?'

'कुछ ऐसे काम होते हैं जो एक मर्द नहीं कर सकता है।'

'जिनके मा-बाप नहीं होते, क्या उनकी जरूरतें पूरी नहीं होतीं?'

'माँ-बाप का नहीं होना और बात है और होना और बात है।'

'ये मानकर क्यों नहीं चलते कि मेरे माँ-बाप नहीं हैं।'

'तुम्हारी बातें मुझे रहस्यात्मक लगती हैं पहेलियों जैसी। मैं गड़बड़ा जाता हूँ तुम्हें समझने में, क्या तुम सीधी-सीधी बातें नहीं कर सकतीं?' अवधेश झल्ला पड़ा था।

'मैं चुप-चुप रहती हूँ, लेकिन ऐसा लगता है मुझे कुछ कहने के लिए उकसाते रहते हो हमेशा।'

अवधेश की झल्लाहट बढ़ गई तो वह चुप पड़ गया।

एक दिन भिड़ गए अवधेश और किरण। हुआ यूं कि मेहरी की तबीयत खराब चल रही थी। उसने नोटिस दे दी थी कि वह दो दिनों के लिए काम पर नहीं आ पाएगी। उसके न आने से घर का सारा काम किरण पर आ पड़ा था। बर्तन-भांडा, सुबह की चाय। अवधेश के लिए नाश्ता और फिर खाना। अवधेश घर से निकलने के लिए तैयार था। किरण किचेन में खट्टर-पट्टर कर रही थी जबकि अवधेश ने नाश्ता ले लिया था। जैसे ही वह जाने लगा कि शावक रो पड़ा।

'सुनती हो, मैं निकल रहा हूँ, शावक को संभालो। काम न भी होगा अभी तो कुछ बिगड़ नहीं जाएगा।'

'रोने दो हरामी को।'

शावक के लिए 'हरामी' शब्द पहली बार ही सुना था अवधेश ने। वह गुस्सा हो गया, 'शावक को हरामी क्यों कहती हो, क्या मैं मर गया हूँ या फिर मेरे सिवाय कोई आता है इस घर में?'

'मैं इसे हरामी ही मानती हूँ।' किरण दबती हुई नहीं लग रही थी।

'कैसे मानती हो?'

'यह बलात्कार का नतीजा है।'

'क्या मैं तुम्हारे साथ बलात्कार करता हूँ?

'और नहीं तो क्या, क्या एक पति बलात्कारी नहीं हो सकता? कभी तुमने मेरी इच्छा-अनिच्छा पूछी, कभी तुमने कुछ करने से पहले मेरी सहमति ली? आए और अपनी मर्दानगी दिखलाने लगे।' किरण यकायक चीखने लगी थी।

अवधेश निरुत्तर हो गया था। चुप खड़ा रहा । किरण तमतमाती रही।

'तुम किसी दूसरे से शादी करतीं तो शायद वह भी बलात्कारी ही होता, ठीक मेरी तरह।'

'ऐसा भी होता कि वह मेरी सहमति-असमति पूछ लेता?'

अवधेश को देर हो रही थी। हालांकि किरण ने एक ऐसा सवाल उछाल दिया था जिससे देर-सबेर पर विचार ही नहीं किया जा सकता था। सवाल उसे मथानी की तरह मथने लगता और फिर अच्छा-खासा हंगामा बरपा हो जाता घर में। संबंध बिगड़ने की पूरी गुंजाइश हो जाती, लेकिन उसने जैसे देर-सबेर पर ध्यान रखकर अखाड़े से भाग जाने की विवशता दिखलाई थी।

शाम को लौटा अवधेश तो उसके भीतर कई सवाल कूद-फांद रहे थे। चेहरे से ऐसा लग रहा था कि किरण के सवाल से जूझता रहा था दिन भर। वह चुप-चुप था। न उसने शावक को प्यार किया था, न किरण को आवाज दी थी। किरण ने चाय दी तो ठंडी हो गई। खाने के लिए कहा तो कुछ नहीं बोला। सोने का समय आया तो वह बेड के नीचे लेट गया।

किरण ने भी कुछ नहीं कहा उससे।

अवधेश बलात्कारी कैसे हो सकता है? किरण मानती है बलात्कारी...।

किरण दुलारी थी मम्मी-पापा की। नाजों पाली गई थी वह। मम्मी-पापा का सपना था किरण के लिए राजकुमार ही पटाया जाएगा। पापा में इतनी सामर्थ्य भी थी कि डॉक्टर-इंजीनियर किसी को भी खरीद सकते थे उसके लिए और हुआ ऐसा ही। अवधेश के मम्मी-पापा राजी हो गए। पापा ने जब घर में ऐलान किया था कि किरण को देखने आने वाले हैं कुछ मेहमान तो एक खुशी की लहर दौड़ गई थी घर में। मम्मी के पाँव जमीन से लग ही नहीं रहे थे। खर्च जो भी हो, लेकिन कम मेहनत में किसी लड़के वाले को पटा लेना कम बात नहीं थी। मम्मी कह रही थी, 'किरण भाग्यशाली है कि लड़का आसानी से मिल गया और वह भी मनचाहा। कई-कई तो ऐसी होती हैं कि खरचने पर भी लड़का नहीं मिलता मन लायक।'

किरण ने सुना तो मम्मी से साफ कह दिया, 'मैं शादी नहीं करूंगी।'

'बावली हो गई हो क्या?' मम्मी ने आँख फाड़ दी थी, 'अच्छा घर-वर मिल रहा है तो...क्या कमी हो सकती है उसमें, देखा भी है कभी, तुम्हारी किस्मत फूटी है कि इंकार कर रही हो। अजी सुनते हो, किरण बावली हो गई है, शादी के लिए मना कर रही है।'

पापा दौड़े हुए आए थे किरण के पास, 'क्या बात है?'

'यह शादी नहीं करेगी।'

'क्यों?'

'पता नहीं।'

पापा गंभीर हो गए थे, 'क्या बात है?'

'पापा, मैं अपनी मर्जी से शादी करना चाहती हूँ और मैंने एक पसंद कर लिया है।'

'तुम किसी लूले-लंगड़े को पसंद कर लोगी तो मैं मान जाऊँगा?'

'मानना ही पड़ेगा, जब मुझे सुख-शांति लूले-लंगड़े से ही मिले तो दिक्कत क्या है?'

'अपने माँ-बाप की मर्यादा को ताक पर रख दोगी?'

'आखिर मेरी शादी में किसी-न-किसी की मर्जी तो चलेगी ही। जहाँ तक मैं समझती हूँ जिसकी शादी होनी है, उसकी मर्जी को प्राथमिकता देनी चाहिए। आपकी मर्जी से कुछ होता है तो मर्यादा नहीं जाएगी। मेरी मर्जी से कुछ होता है तो मर्यादा जाएगी। मैं ये नहीं समझ पा रही हूँ कि इस तरह के दोहरे मापदंड क्यों अपनाए जाते हैं एक ही परिवार में? आप मेरे पापा हैं और मैं आपकी बेटी, बेटियों को अहमियत क्यों नहीं दी जाती, जबकि एक परिवार की कल्पना में बेटियों की भी सहभागिता बराबर-बराबर होती है। बेटी ही किसी घर की बहू बनती है। मैं ये भी मानती हूँ कि आप जो भी करेंगे, खूब करेंगे। रुपए-पैसे खरचेंगे, दान-दहेज देंगे। सुख-सुविधाओं की कमी नहीं होगी, लेकिन सवाल ये है कि क्या किसी के लिए भौतिकता ही सब कुछ हो सकती है?'

'क्या मैं ये समझूँ कि तुम आध्यात्मिकता की ओर बढ़ रही हो?'

'हो भी सकता है। जब मैं भौतिकता को महत्व न देते हुए एक कम साधन-सम्पन्न के लिए तत्पर हूँ तो यही समझा जाना चाहिए।'

'तब तो उससे भी शादी नहीं करनी चाहिए तुम्हें।' पापा का चेहरा लाल-भभूका हो उठा था। किरण का बात करने का लहजा उन्हें कतई बर्दाश्त नहीं हो रहा था। अब तक वे कई तमाचे जड़ चुके होते, लेकिन वे दाँत किटकिटाकर रह गए थे। जब किरण

खर-खर बात कर सकती है, कहीं तमाचे जड़ दिए तो फिर उसका हठ उन्हें कहीं का न छोड़ेगा। वह कुछ भी हंगामा खड़ा कर सकती थी। घर से भाग भी जाती या फिर आने वाले मेहमानों के आगे कुछ ऐसी हरकतें कर डालती, जिनसे बात बिगड़ जाती।

मम्मी बाप-बेटी के बीच में हो रही बहस को कौतूहल से देखे जा रही थी। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा था...माँ-बाप से जितना बनता है करते ही हैं अपनी संतानों के लिए। यदि वे कर रहे हैं तो क्या बुरा कर रहे हैं? यही कुछ उन्नीस-बीस हो जाए तो बेटियाँ जिंदगी भर उलाहना देती फिरेंगी...या फिर पास-पड़ोस वाले भी...कैसे नंगे घर में ब्याह दिया, जरूर कंजूस थे माँ-बाप।

'तुम कुछ भी कह लो, जितना भी तर्क गढ़ लो, इस घर में वही होगा जो मैं चाहूँगा, नहीं तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा। तुम्हें जो चाहिए मैं देने के लिए तैयार हूँ।'

'आखिर आ ही गए न पुरुष वर्चस्ववाद पर।'

'अब तुम जो समझो।'

अवधेश के मम्मी-पापा एक ही नज़र में पसंद कर गए थे किरण को। कई सवाल भी किए किरण से, लेकिन वह चुप ही रही। उसकी चुप्पी को वे उसके सुशील होने का प्रमाण टांक गए थे।

पहली रात को नशे में धुत आया था अवधेश, 'माफ करना, दोस्तों ने पिला दी।'

किरण को न कुछ बोलना था, न बोली। बिस्तर पर जैसे ही आया था अवधेश, उस पर बोझा गया था। किरण ने उसे रोकने की कोशिश भी की थी, लेकिन कहाँ अवधेश और कहाँ किरण। फिर जो घटित हुआ, किरण के लिए एक कड़ुआ अनुभव ही हुआ था। बेआवाज रोती रही, कलपती रही थी। कोसती रही थी अपने पापा को...यही सुख दिया है आपने, हर रात को राक्षस हो जाता है आपकी पसंद का तथाकथित सुविधासम्पन्न लड़का और चीर-फाड़ डालता है।

किरण के लिए एक सप्ताह कई वर्षों का लगा था। पापा आ गए थे लिवाने। वह झटपट तैयार हो गई थी। अवधेश के मम्मी-पापा कहने लगे थे, 'किरण रस्म अदायगी के लिए जा रही है, हम तुरन्त वापस ले आएंगे।'

'रस्म तो पूरी होने दीजिए।' हँसते हुए पापा ने कहा था।

आते ही मम्मी से गले लगकर जार-जार रोई थी किरण। पूछ रही थी मम्मी, 'क्या हुआ रे?'

लेकिन किरण बोल नहीं रही थी रोने के सिवाय।

पापा भी आ गए थे किरण के पास, 'क्या कमी हुई कि रो रही है, सास-ससुर ने कुछ कहा या फिर किसी चीज की डिमांड धर दी।'

किरण कुछ नहीं बोली।

पापा खिसिया गए, 'जब कोई बात ही नहीं तो रो क्यों रही है मनहूस जैसे?'

'क्या आप सुन सकेंगे जो मैं कहूंगी? रोज मेरे साथ बलात्कार होता है। मैं घुटती रहती हूँ, तड़पती रहती हूँ। जानवरों जैसा व्यवहार करता है वह। मेरी इच्छा-अनिच्छा का जरा भी ख्याल नहीं करता। आपने तो यही समझा था कि अच्छा वर मिल गया बेटी को। बेटी को खूब-खूब देंगे तो सुखों में तैरती रहेगी वह। इतना नहीं सोचा कि क्या सुख के अलावा और कुछ नहीं चाहिए बेटी को। वह बलात्कारी निकला और मुझे तो ऐसा लगता है पापा, आप भी बलात्कारी रहे हैं तभी तो अपनी बेटी को बलात्कारी के पल्ले बांध दिया, मेरी पसंद का गला घोंटते हुए अपने बाहुबल से अपनी मर्जी थोप दी। मैं दावे के साथ कह सकती हूँ, मेरी पसंद जैसी भी रहे, वह बलात्कारी नहीं था।'

पापा सन्न। मम्मी सन्न। अचानक ही एक भयानक सन्नाटा परस गया था घर के कोने-कोने में।

चार दिन अभी बीते भी नहीं कि आ गया अवधेश किरण को लिवा जाने। न मम्मी ने पूछा था, न पापा ने कि बात तो हफ्ते दिन की हुई थी, इतनी जल्दी आ गए? किरण बंधी गाय की तरह जाने के लिए खड़ी हो गई थी...मैं जिबहखाने जाने के लिए तैयार हूँ।

मम्मी थोड़ा आश्चर्यचकित थी...बलात्कारी भी कहती है और जाने को भी तैयार। 'चारा भी क्या है...?' मम्मी को स्वतः जवाब भी मिल गया था। किसके भरोसे वह विरोध कर सकती थी। और तो और, किरण की पसंद का लड़का क्या अभी तक आँखें बिछाए होगा?

कई दिन हो गए थे किरण और अवधेश के बीच बातचीत हुए। एक विचित्र किस्म का सन्नाटा गनगना रहा था घर में। किरण सन्नाटे से गुजर रही थी। शावक ने भी जैसे सन्नाटे को भांप लिया था। उसका रोना-चिल्लाना कम हो गया था। उसके रोने पर किरण उसे हरामी कह डालती थी, उसे अब मौका ही नहीं मिल रहा था। अवधेश सुबह ही उठ जाता। मेहरी आती दरवाजा वही खोलता। ड्राइंग रूम में सोफे पर आ पसरता। मेहरी बिना मांगे ही चाय दे जाती। चाय पीने के बाद नित्य क्रिया से निपटने लगता। नाश्ते में जो मिल जाए...

ऐसा लग रहा था, अवधेश सन्नाटे से घबरा रहा था। उसके चेहरे पर एक घबराहट दिख रही थी। वह फर्श पर लेटा था। किरण बिस्तर पर थी। लाइट जल रही थी। शावक को अपनी छाती से लगाए थी वह।

'मैं बलात्कारी हूँ तुम्हारी नज़रों में। तुम्हारा कहना यदि सच है तो मानता हूँ। जो घटित हुआ तुम्हारे साथ, तुमने उस पर अपनी

नाराजगी कभी नहीं जाहिर की। हम दोनों पर्दे में रहे और बहुत कुछ घटता चला गया। इसके बाद मैं क्या कर सकता हूँ, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। शावक बलात्कार का नतीजा है, वह हरामी है तुम्हारी नज़रों में। मैं समझता हूँ दोषी हूँ मैं तुम्हारी नज़रों में। मैं अपनी किए की माफी भी नहीं माँगूँगा क्योंकि जो कुछ हुआ एक रिश्ते की आड़ में हुआ। यदि मैं अपने रिश्ते पर कायम नहीं रहता तो तुम ही मेरे पुंसत्व पर सवाल खड़ा करतीं। खैर, ये उस स्थिति का सामना है, जो कभी हम दोनों के बीच पैदा ही नहीं हुई। इतना कुछ हो गया, तुम क्या सोचती हो, मैं क्या सोचता हूँ इस पर गंभीर होने की जरूरत है। हम दोनों एक ही छत के नीचे हैं, एक ही कमरे में हैं। ऐसा लगता है कि हम दोनों एक-दूसरे को दूर-दूर तक नहीं जानते हैं। ऐसा कुछ ही दिनों में हो गया। मैं ऐसी जिंदगी का हिमायती कभी नहीं रहा। तब मेरा मशवरा है कि क्यों न हम दोनों अलग-अलग रहना शुरू कर दें। शावक हरामी है तो उसका दायित्व मैं लेता हूँ। तुम मुझसे मुक्त हो सकती हो। रही कानूनी अड़चनें तो जब हम दोनों सहमत हैं तो कानूनी अड़चनें बीच में कभी नहीं आएँगी।'

अवधेश की आवाज पहाड़-सी गंभीरता लिए हुई थी, 'मैं समझता हूँ एक छत के नीचे, एक कमरे में पति-पत्नी के रिश्ते को स्थगित रखना मुमकिन नहीं, वह भी कई-कई साल तक। दो-चार दिनों की शर्त रहती तो पूरी की जा सकती थी। हम दोनों उम्र की ऐसी दहलीज पर खड़े हैं, जहाँ निश्चय किया जा सकता है, लेकिन निश्चय मानते हुए जीना कष्टप्रद ही नहीं, नामुमकिन भी है। अब फैसला तुम्हारे हाथ है, तुम जैसा समझो, मैं किसी भी सूरत में सहमत हूँ।'

किरण की धड़कन बढ़ गई थी। अपनी छाती से शावक को जोर से भींच लिया था जैसे अपनी धड़कन को नियंत्रित करने के लिए शावक का सहारा ले रही थी। कुछ बोल नहीं पाई वह।

'जल्दी नहीं है अभी, कुछ देर ही सही...मुझे मौत नहीं आने वाली।' अवधेश के होंठों पर एक ऐसी मुस्कान थिरक पड़ी थी कि किरण देखकर बेचैन हो उठी थी।

कई दिन बीत गए, लेकिन किरण अभी तक किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाई है। रात में बिस्तर पर छटपटाती हुई लगती है। ऐसा लगता है वह रात गए तक सो नहीं पाती। उसकी देह से अब कोई बदबू नहीं उठती। नहाने जाती है तो शॉवर के फव्वारे से नहीं खेलती। शावक की रुलाई उसे फौरन ही सुनाई दे जाती है।

अवधेश असमंजस में पड़ा हुआ है। उसने कुछ पूछा भी नहीं है किरण से।

61-बी, रेलवे कॉलोनी, जपला, पलामू-822116 (झारखंड)

फ्रांज काफ्का

मेरी पड़ोसी

मेरा कारोबार पूर्णतया मेरे अपने कंधों पर चलता है। टाइपराइटरों और बहियों सहित दो क्लर्क लड़कियां मेरा, अपना कमरा, डेस्क, तिजोरी, मेज, आरामकुर्सी और टेलीफोन : यह है मेरे काम का साज-सामान।

साल के शुरू से मेरे आफिस के बगल वाले हिस्से में, जिसे मैंने मूर्खतावश अनुपयोगी मान लिया था, एक युवक आ कर टिक गया है। उस हिस्से में दो कमरे और एक रसोई है-कमरे तो निश्चित रूप से मेरे लिए उपयोगी रहे होते-पर रसोई मेरे किस काम की थी? बस यही वह छोटी-सी चीज थी, जिसने मेरी आंखों के सामने ही उस जगह को छिन जाने दिया। अब वह युवक वहां बैठता है। हैरस उसका नाम है। वह करता क्या है, मुझे कुछ पता नहीं। दरवाजे पर एक तख्ती टंगी हुई है: "हैरस ब्यूरों।" पता चला है कि उसका कारोबार मेरे जैसा ही है।

कभी-कभी मैं हैरस को सीढ़ियों में मिल जाता हूँ। वह हमेशा असाधारण जल्दी में दिखायी देता है, क्योंकि वह मेरे पास से गोली की तरह गुजर जाता है। चूहे की पूंछ की तरह वह कमरे में फिसल जाता है और मैं "हैरस ब्यूरो" की तख्ती के सामने अटका रह जाता हूं, जिसे मैं जरूरत से कहीं ज्यादा बार पढ़ चुका हूं।

मेरा टेलीफोन उस दीवार पर लटका हुआ है, जो मुझे मेरे पड़ोसी से अलग करती है। पर मैं इस परिस्थिति को मात्र व्यंग्य-स्थिति के तौर पर ही बात रहा हूं। क्योंकि अगर वह दूसरी दीवार पर भी टंगा हुआ होता, तो भी साथ वाले कमरे में सारी बातें सुनायी दे जातीं। टेलीफोन पर बात करते समय अपने ग्राहकों का नाम न लेने की मैंने आदत-सी बना ली है। लेकिन बातचीत के सिलसिले से नामों का अनुमान लगा कर संदेह और भय के मारे नाचने-सा लगता हूं और फिर भी रहस्य को खोलने से स्वयं को नहीं रोक पाता।

इन सब कारणों से, स्वाभाविक है, मेरे कारोबार संबंधी फैसले अनिश्चित हो गए हैं, मेरी आवाज कांपने लगी है। जब मैं टेलीफोन कर रहा होता हूं, तब हैरस क्या करता है? कहूंगा कि हैरस को टेलीफोन की जरूरत ही नहीं पड़ती, वह मेरा टेलीफोन ही इस्तेमाल करता है। वह अपने सोफे को दीवार के निकट खींच लेता है और सुनता रहता है जबकि मैं कूद कर टेलीफोन तक जाता हूं, अपने आसामियों की गुजारिशें सुनता हूं, कठिन और गम्भीर फैसलों तक पहुंचता हूं, लम्बी चौड़ी तफसीलें बनाता हूं-पर सबसे बुरी बात यह कि इस दौरान, दीवार के पीछे से हैरस को अमूल्य सूचनाएं देता रहता हूं!

वह तो शायद बातचीत के अंत का इंतजार भी नहीं करता और उसी क्षण उठ जाता है, जब मामला उसकी समझ में आ जाता है। तब वह अपनी आम सरगरमी के साथ शहर में से भागता हुआ गुजरता है और इससे पहले कि मैं रिसीवर रखूं, वह उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच कर मेरे खिलाफ कार्रवाई भी शुरू कर चुका होता है।

मधु सन्धु

दी! तुम बहुत याद आती हो

दी कहती है, 'मैं बड़ी खुश हूँ, जिज्ञासा। सब ठीक है, बहुत अच्छा, बहुत-बहुत अच्छा।' पर जिज्ञासा सोचती, दी और कुछ करे या न करे टाइम मैनेजमेंट तो करती होगी, आत्मसंयम का कवच तो ओढ़ती होगी। कुछ भी बोलने से पहली सौ-सौ बार सोचती होगी। ज़रा-सी खरोंच पर सुबक-सुबककर दर्द में हिलोरें लेने वाली दी 'नहीं, कुछ नहीं हुआ' कहती व्यस्त होने का ढोंग तो करती होगी।

जैसे ही दी की शादी हुई, जिज्ञासा अकेली रह गई। इस से उस कमरे में मंडराती। दी का खाली कमरा दो पल के लिए भला लगा। कुछ किताबें इधर, कुछ उधर। माइक्रोप्रोसैसिंग एक कमरे में, कम्प्यूटर मैनेजमेंट दूसरे कमरे में। स्टडी टेबल एक कमरे में, कम्प्यूटर टेबल दूसरे में। सोफा कुर्सियां एक में, बैड वगैरह दूसरे में।

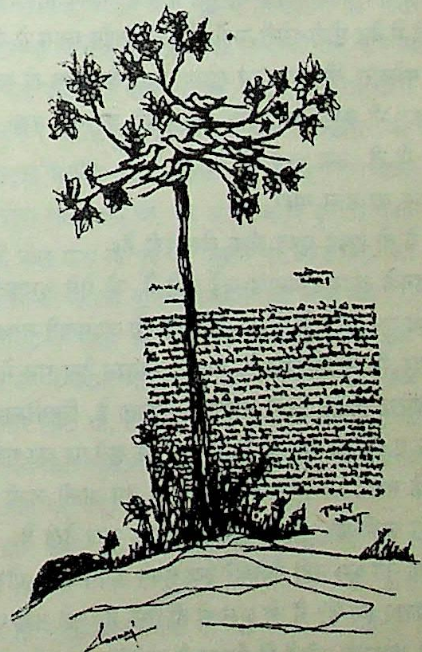
दो-चार दिन बाद ही जिज्ञासा सोचने लगी-दी! तुम घर से पहली बार बाहर गई हो और वह भी शादी करवाकर। सच, मैं बड़ी अकेली हो गई हूँ। सन्नाटा खाने-काटने को दौड़ता है। कमरे के बाहर लगी ड्रीमलैंड की पेंटिंग उतार फेंकने को मन होता है। दी, घर मकान-सा लगता है। दी! तुम बहुत याद आती हो। विशेषतः तब, जब मॉम कुछ इन्कार में गर्दन झटक देती है। याद है दी, तुम्हारी सिफारिश की मुझे कितनी जरूरत पड़ती रही है। मैकलॉड गंज, धर्मशाला, कुल्लू-मनाली के ट्रिप के लिए, महंगी ब्रांडेड जीन खरीदने के लिए, सत्रह इंची टॉप डालने के लिए। तुम घर में, स्कूल में- सर्वत्र मेरे लिए 'ढाल' रही हो, दी। सच कहूँ दी, ग्रेजुएशन कर रही हूँ और मॉम मुझे बड़ी मानने को तैयार ही नहीं।' हो सकता है मैं ही अपने को समझदारों की तरह अभिव्यक्त न कर पाती होऊँ। मेरे पास शुरू से ही अभिव्यक्ति नहीं थी, तुम मेरे मन की गहराइयों में जाकर सब पढ़-समझ लेती थीं।

मन में कितनी-कितनी बातें उमड़-घुमड़ रही हैं। याद करो, जब हम स्कूल में पढ़ते थे। एक रोज मैं एक वृक्ष के नीचे बैठी-बैठी सो गई थी और तुम छुट्टी पर मुझे ढूंढती-खोजती परेशान होती रही थीं। स्कूल-बस मिस हो गई। स्कूल वीरान हो गया और तुम हैरान-परेशान हर कमरे में, बरामदों में, गार्डन में, ग्राउंड में, लाइब्रेरी में, लैब में, हर कोने में झांकती-सूंघती रहीं और अंततः एक वृक्ष के नीचे सोई को ढूंढ़ ही लिया। फिर हम रिक्शा से घर पहुँचे थे। तुमने स्कूटर लिया था, मुझे पीछे बिठा ले जाया करती थीं स्कूल। वह फोटो तो अब भी मेरे पास है। दी, जब मुझे फ्रैक्चर हुआ था, अस्पताल ले जाना पड़ा था। तुम सिसक-सिसककर पगला रही थीं और डॉक्टर कहते थे, चोट मुझे भले ही लगी हो, असहृय दर्द तुम्हें ही हो रहा था।

दी, तुम्हारी शादी से पहले मुझे बहुत अच्छा लगने लगा था। सूट ही सूट, लहंगे ही लहंगे, साड़ियां ही साड़ियां। मैचिंग जूते, ज्यूलरी, रोज शापिंग और फिर ढेर सारे फंक्शन। ब्यूटी पार्लर की सौंदर्य सिटिंग्ज़, इतने लोग। कभी इधर का संगीत कार्यक्रम, कभी उधर का। कभी इधर की पूजा, कभी उधर की। शगुन, चूड़े की रस्म, चूड़ियों की रस्म, शादी का फंक्शन, रिसेप्शन, अगले दिन का डिनर, ढेरों काम्पलीमेंट्स, डेक के साथ डांसिंग फ्लोर पर थिरकते कदम।

दी! तुम कितनी सुंदर हो। जयमाला के समय जैसे ही प्याजी लहंगा-चुनरी में सजीं, फूलों की अनवरत वर्षा के बीच तुम हाल में आईं, सचमुच समय थम गया। सभी आगे बढ़कर तुम्हारी एक झलक पाना चाहते थे। फोटोग्राफर क्लिक-क्लिक में जुट गए। पूरा हाल स्टैण्ड स्टिल हो गया। हर नज़र का केन्द्र तुम थीं। यह तुम्हारा दिन था, मेरी प्रिंसेस। और दी जानती हो न, मैंने मॉम से अपने लिए फूलों की अलग बास्केट बनवाई थी। तुम्हारे रास्ते में इतने फूल फेंके...ज़रा गौर से सी.डी. देखना। बाईस इंची बेन्ट वाली दी को रिसेप्शन के समय साढ़े पांच मीटरी साड़ी में देखना मेरे लिए अद्भुत अनुभव था।

सुना है मेरे जन्म के समय तुम स्कूल में थीं और जब तुम्हें स्कूल से सीधा अस्पताल लाकर मेरे सामने खड़ा कर दिया गया, तो तुम्हारी आँखों की चमक देखने वाली थी। मन की खुशी, चेहरे का उल्लास, पाँवों की थिरकन विद्रोही हो रही थी। तुम्हारी अंगुलियां सिर्फ मेरे गालों के एक स्पर्श के लिए मचल रही थीं। मैं तुम्हारा खिलौना थी। शायद तुम्हें भी पता नहीं चला होगा कि कब इस खिलौने से मित्र और राज़दां बनती गई। मन के सारे रहस्य तुम मुझसे ही शेयर करने लगी थीं। मॉम तो उम्र की दहलीज के उस पार थी। दोनों जब मिल बैठतीं तो सारे जमाने की आध



ानिकता हमारी गोद में पड़ी कुनमुनाने लगती। दी, अब तुम्हारा राज़दां कौन है? क्या जीजू से वे सब बातें कर लेती हो, जो फुसफुसाते हुए मुझसे करती थीं। दी, महीनों हो गए स्टीरियो लगाए। सब बेकार लगता है। कितना मज़ा आता था धुनों पर थिरकने का। दी, जब-जब मुझे कोई टेंशन नहीं घेरती है, जब-जब मैं बिल्कुल अकेली होती हूँ, तुम्हारी बहुत याद आती है। एक गुनगुनी-सी याद, जिसमें स्नेह के चुम्बकीय तार जुड़े रहते हैं। विश्वास ही नहीं होता, तुम इतनी कैलकुलेटिंग कैसे हो गई। तुम्हारे अंदर ग्राफ कैसे बन गये कि इससे यह बात करनी है, इससे यह। वह मौज-मस्ती वाली दी, जिसका मन मेरे लिए खुले-खजाने सा था, जिसका कक्षों में विभाजन नहीं था, उसे ही ढूंढ़ रही हूँ, क्या मेरे लिए वह दी लौट पाएगी?

दी, क्या तुम पहले की तरह अब भी दो-दो सीढ़ियां इकट्ठी चढ़ती हो? क्या उस घर में भी तुम वैसी ही फुदकती, फांदती, घूमती हो? रूठती, तनतनाती, गुस्साती हो या तुम्हें अब आदत ही नहीं रही? दी, जब तुम मुझे एस.एम.एस. भेजती हो, तो क्या अंदर वही आवेग कसमसाते हैं, जो पहले मेरे कमरे की सीढ़ियां चढ़ते वक्त उफनते थे। दिन तो वे भी नहीं भूलते जब तुमसे मैथ्स के सम्ज़ पूछते-पूछते मैं इतनी तनावग्रस्त हो जाती थी कि पुनः कभी कुछ न पूछने का संकल्प किए गुस्साई हुई कमरे में आ कमरा अंदर से बंद कर लेती थी और तुम दरवाजे पर घण्टों हल्की-हल्की थपकियां देती रहती थीं। परीक्षा के दिनों में भी मेरा मन समझ मुझे खेलने जाने की छूट दिलवा देती थीं, यह कहकर, 'मॉम, जिज्ञासा थोड़ी फ्रेश हो जाएगी।'

दी, सर्दी की उन गुनगुनी दोपहरों, गर्मी की उन उमसाई शामों और बरसात की उन ठंडी फुहारों को भूलना क्या सम्भव है, जब हम टैरेस या बरामदे में बैठ छोटी-छोटी बातों को मैग्नीफाईंग ग्लास से देखते उनके बड़े-बड़े मजेदार, ग्लैमरस अर्थ खोजा करते थे। मज़ा तो ग्लासटैंक के पास बैठकर भी बहुत आता था। हर मछली का नाम रखा हुआ था।

देखो, पी.टी. उषा भाग रही है।

करिश्मा का डांस वाह!

अरे, ये तो हाइड एण्ड सीक खेल रही हैं।

क्या इनके अंदर डायमण्ड जड़े होते हैं, जो ऐसे चमकती हैं?

दी, जब तुम आती हो तो घर दीपावली-सा जगमगाने लगता है। होली के खुशगवार रंग बिखर जाते हैं। तुम्हारी मुस्कान देख मन में दुर्गा-पूजा की शांत घंटियां संगीत छेड़ने लगती हैं। लगता है, चिलचिलाती दोपहर में सारा घर ए.सी. हो गया हो। मानो सावन के झूले पर चढ़ गई हूँ। सर्वत्र मल्लिका के गजरों की सुगंध फैल जाती है। तुम आती-जाती रहा करो, दी। तुम्हारी उपस्थिति मुझे अनाम हाई पावर सुख देती है।

दी, क्या तुम कुछ नहीं बोलेगी? क्या तुमने अपने चारों ओर वर्जनाओं के पहरे बिठाए हुए हैं? मैं तो शुरू से ही ऐसी हूँ। मुझे नहीं पता चलता कि तुम्हारी मुस्काती आँखों में सैलाब हैं या संताप। पहले फोन करना, फिर कहना, अच्छा फिर बात करेंगे-क्या है यह सब?

तुम तो मुझसे डायरेक्ट बात कर सकती हो, पर मेरा कोई फोन कनैक्शन तुमसे सीधा नहीं जुड़ता। बीच में तुम्हारे ससुराली रिश्तों का अस्तित्व 'इस रूट की सभी लाइनें व्यस्त है। कृपया थोड़ी देर बाद डायल करें'-की ध्वनियाँ गुँजाता रहता हैं। तुम्हारे साथ अब मैं शापिंग के लिए भी नहीं जा सकती। तुम्हें इनसे, उनसे सबसे पूछना होता है और तब तक मेरे किसी अगले प्रोजेक्ट, किसी टेस्ट या सेमिनार का जोर पड़ जाता है।

बी-14, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर-14005

लघु कथा

राजेन्द्र परदेसी

सत्योदय

सचिवालय के गलियारे में अपने पूर्व अधीनस्थ को देख अधिकारी को आश्चर्य हुआ। पास आने पर सवाल किया-तुम यहां कैसे घूम रहे हो?

सर! मेरा स्थानान्तरण झांसी हो गया है उसे ही निरस्त कराने के लिए आया हूँ।

किसी से बात हुई?

सचिव से मिला था लेकिन उन्होंने कहा कि स्थानान्तरण पालिसी के तहत हुआ है...इसीलिए पहले वहाँ जाकर कार्यभार ग्रहण करो, फिर देखूंगा।

तो क्या सोचा है?

सोचना क्या है सर! सत्ता पक्ष के एक नेता से बात हुई है, आज आदेश निरस्त कराने के लिए यहीं बुलाया है, उन्हीं का इंतजार कर रहा हूँ। अपनी बात समाप्त करने के साथ ही अधिकारी से पूछा- लेकिन सर आप यहां कैसे?

मेरा भी स्थानान्तरण कर दिया गया है, उसी को रुकवाने के लिए मैं भी आया हूँ।

किसी से बात हुई सर?

हाँ, मंत्री जी के पी.ए. से बात हुई है उसी के पास जा रहा हूँ।

आप लोगों की बात दूसरी है सर, आपका स्थानान्तरण तो रुक ही जायेगा।

नहीं भई, सभी कमाई में लगे है, बिना लिए कुछ नहीं करते।

हाँ साहब, आप ठीक कह रहे है।

क्या करोगे? सलाह भी दी- जो मांगे दे देना, समझना एक-दो महीने कुछ नहीं मिला।

वार्ता समाप्त हो गयी थी। अधिकारी और अधीनस्थ दोनों अपना-अपना निरस्त आदेश प्राप्त करने के लिए नियत स्थान की ओर चल पड़े।

बी-118, इन्दिरा नगर, लखनऊ-226016

सैली बलजीत

संरक्षण

उन्हें इधर आए हुए अभी एक साल ही हुआ है। झोंपड़ी डालना लाज़िमी थी, सिर तो ढांपना ही था, अपने गांव में छोटा-सा मकान था, वह वहीं छूट गया। यहां आकर सिर ढांपने के साथ-साथ रोटी-रोज़ी भी खूब बढ़िया चल निकली थी। वह भी तो अपने खाविंद के साथ सारा दिन, शहर में धड़ाधड़ उसर रही इमारतों में अपना पसीना बहाती आई है। उसे स्मरण है, शुरू-शुरू में यहां आकर दिक्कतों का पहाड़ किस तरह उसरने लगा था, आते ही उसका मंझला बेटा लगातार बीमारी में रहा था। जाड़ा लग गया था उसे। कितने दिनों तक उसके इलाज में कितना पैसा पानी की तरह बह गया था। लोगों ने भी उनकी बराबर सहायता की थी, तब जाकर मुन्ना ठीक हुआ था। इसके अतिरिक्त उनकी गृहस्थी में दो बेटियां और एक बेटा भी है। एक ही झोंपड़ी में इतने जने ज़मीन पर ही बिस्तर लगाए सो जाते हैं रात को...अंधकार में डूबी जिन्दगी को जाने कब उजालों की मंजिल मिले, वह अक्सर सोच में डूब जाती है।

बड़ी बेटी की उम्र अब खतरनाक मोड़ पर आ गई है, यह चिन्ता अब उसे होने लगी है। वह कभी-कभार भीतर तक दहल जाती है।

उसका शौहर इधर आकर बिगड़ जाएगा, इसका आभास उसे होता तो वह उसे समझा लेती, लेकिन...वह अब रोज दारू पीकर आने लगा है। वह भड़क उठी थी, 'तुम मुड़ोगे नहीं अपनी हरकतों से...?

'क्या करता हूं मैं, बोल?' वह भी तैश में आ गया था।

'दारू में पैसा उड़ाओगे तो हम मर जाएंगे न भूखे...।

'क्या नहीं दिया तुम लोगों को...बोल...ऐसे ही दिमाग खराब करोगी तो उठाकर बाहर पटक दूंगा...।'

'दारू छोड़ोगे कि नहीं...?

'नहीं छोड़ता, जा...क्या कर लेगी तू...कमज़ात?'

'तुझे क्या कहना है, मैं...तुम समझते क्यों नहीं...बच्चे जनने का ही चाव था...? कभी सुध ली है?'

'मुन्ने का इलाज नहीं करवाया, बोल?'

'एहसान कर दिया फिर...?'

'धीरे बोल...मैं बहरा नहीं...अब लोगों को सुनाएगी कि मैं तंग करता हूँ...यही कहेगी न?'

'मैं धीरे क्या बोलूंगी...तू ही सिर पर उठा रहा है आसमान...मेरा कहना मान...छोड़ दे दारू...!'

'तेरे कहने पर न तो शुरू की है...न ही छोडूंगा...मेरी कमाई है... जा नहीं हटता...' इसके साथ ही उसने ऊंचे स्वर में बुलबुली मारी थी।

आसपास वाले घरों के लोग छतों पर चढ़ आए थे।

उनके लिए तमाशा तो हैं वे लोग।

आस-पड़ोस वाले उनको उठा बाहर फेंकने की धमकियां देकर नीचे उतर गए थे छतों से। एक जना बाहर आ गया था, उसके साथ ही दो-तीन आदमी और उनकी झोंपड़ी के सामने खड़े हो गए थे।

'तुम लोगों को कोई तकलीफ है?' एक जना गुस्से में आ गया था।

'नहीं तो...?' वह मिमियाया था।

दूसरा जना बोला था, 'कोई तकलीफ़ तो है जो रोज़-रोज़ यह बवाल खड़ा करते हो?'

'अपने घर का मसला है बाऊजी...किसी को क्या कहते हैं जी हम?'

'बक-बक जो करते हो, कम है क्या?'

'जरा झगड़ा करने लगी थी जी, जोरू अपनी...'

'झगड़ा वह करती है या तुम...दारू पीकर आएगा तो क्या तेरे गले में हार डालेगी? तुम लोग आदमियों की तरह रहो वरना अभी उठाके बाहर करेंगे...।'

'गलती हो गई जी...'

'याद है, तुम लोगों पर तरस खाकर यह जगह दी थी तुझे...याद है न?'

'बिल्कुल याद है जी...'

'तो याद ही रखना...अबके लफड़ा किया तो समझ गए न...तुम लोगों का वो हश्र करेंगे...क्या समझे...?'

उस रात वह सो नहीं पाई थी। रात-भर आंसुओं के समन्दर में डूबी रही थी। बेटी ने भी कुछ नहीं खाया था...सभी भूखे ही सोए थे उस दिन।

उसकी जिन्दगी में उस दिन भूकम्प आया था, वह भीतर तक हिल गई थी। उसका खाविंद घिनौनेपन की सभी हदें पार कर गया था। उस दिन ढांगू रोड पर ही तो देखा था उसे, किसी दूसरी औरत के साथ। एक बार तो ज़मीन घूमती हुई महसूस हुई थी। उसने सिर को झटका था। लेकिन उसका खाविंद उसे साइकिल के कैरियर पर बैठाए हुए चक्की पुल की तरफ चला गया था, वह लाख चाहते हुए भी पुकार नहीं सकी थी। उसके बोल पारा हो गए थे। जुबान पर ताला जड़ गया था। उसकी आँखों के सामने उसकी दुनिया उजड़ती हुई दिखी थी।

उसने अपने भीतर ही एक धधकता हुआ ज्वालामुखी समा लिया था, वरना घर में बवाल मचना तय था। उस दिन भी उसका शौहर दारू में धुत होकर लौटा था, हाथ में जिन्दा मुर्गा लटकाए हुए। उसकी नवाबी अकड़ इससे पहले भी उसने कई बार देखी थी। आते ही उसने मुर्गे को काटकर आग पर चढ़ा दिया था।

वह आग बबूला हुई थी, 'अब नयी लत लग गई है...जो इस तरह पैसा उड़ा रहा है?'

'दारू तो नहीं पीकर आया न?'

'यह कौन-सा मुफ्त में आता है...बोल?'

'तू कैसी औरत है कमीनी...कहा न दारू नहीं पी, तो भी भड़क ही है...'

'तू दारू न पीए...मैं कैसे मान लूं...?'

'भाड़ में जा...तूने खाना है तो बोल...डालूं तुझे एक कड़छी...खाकर तो देख...।'

'कहा न...बेकार में तंग मत कर...नहीं खाऊंगी...।

'तो चुपचाप बैठी रह...चपर-चपर की तो एक लगाऊंगा।'

उसने जाने क्यों समझौता कर लिया था स्वयं से, लेकिन उसके भीतर तो एक ज्वालामुखी धधकने लगा था। इस वक्त उसने चुप्पी ओढ़ लेना ही उचित समझा था। उसने देखा था, उसका खाविंद हड्डियां चूसते हुए ज़मीन पर फेंकने लगा था, झोंपड़ी के भीतर दारू और जले हुए मांस की मिली-जुली गन्ध ने उसके नथुनों को भर दिया था।

वह झोंपड़ी से बाहर आ गई थी।

जानकी भी तो उसके साथ ही आ जाती है, ऐसे में। वह अब छोटी थोड़ी है। अभी पिछले दिनों ही तो उसने औरत जात की जन्मजात सच्चाइयों का मुंह देखा है। उस दिन उसने जानकी को सलीके से समझा दिया था कि अब उसे ज्यादा उछलना-कूदना नहीं...दूसरे बच्चों के साथ रात देर तक खेलना नहीं...और सबसे अहम आदेश कि अब उसे चुन्नी भी ओढ़नी होगी। फ्रॉक की जगह, सलवार-कमीज़ पहननी होगी। और भी ढेर-सी हिदायतों का पुलिन्दा उसने जवान हो रही जानकी की हथेली पर धर दिया था।

दूसरी सुबह,

'उठोगे कि नहीं...काम पर जाना है न?' उसने खाविंद को उठाते हुए कहा था

'जाना है...चाय तो पिला...एक प्याली...'

'चाय तो बन रही है...'

'आज तू भी साथ चल रही है न? काम पर...'

'आज तू अकेले ही जा...मैं नहीं जाऊंगी...मन नहीं करता आज...बाजार से कुछ चीज़ें भी तो लानी हैं...कुछ रुपये तो दे।'

'क्या लाना है...बोल तो?'

'कपड़े-लत्ते नहीं लेने...देखा नहीं,.बच्चों के जिस्मों पर चिन्दियां ही तो हैं...'

'नंगे तो नहीं न घूमते...?'

'अब नंगे करने पर उतारू हो इन्हें...कैसे बाप हो?'

'फिर जुबान चलाने लगी न? सुबह-सुबह...'

'तू बात ही ऐसी कर देता है रे...बोल? पता है जानकी बड़ी हो रही है...पता है न?'

'मुझे क्या पता...'

'जनने का ही चाव था बस...कभी सोचा है किसे क्या चाहिए...?'

'तुझे तो पता है न?'

'मैं तो कहती हूं...जमाना खराब है...जानकी की चिन्ता है मुझे तो...अकेली कैसे छोड़ दूं...कोई नया 'चन्न' ना चढ़ा दे...'

'तू क्यों चिन्ता करती है, ऐसे ही, कुछ नहीं होगा...'

'कुछ नहीं होगा...? पता है, हम जैसों की इज्ज़त को तो ये लोग कुछ समझते ही नहीं...रोज सुनते हैं ऐसे किस्से...डर लगता है रे...तू अब उठ और काम पर जा...'

वह उठकर आग जलाने लगी थी।

उसके भीतर एक ज्वालामुखी पहले ही धधक रहा था... जानकी भी उसके लिए ज्वालामुखी हो गई थी।

दूसरे दिन, फिर कोहराम मचा था झोंपड़पट्टी में...उसके खाविंद ने नया चन्न चढ़ाया था, यह उसके लिए ज्वालामुखी ही था। उसकी साइकिल के कैरियर पर बैठी वह औरत आज उसके सामने थी। वह तैश में आ गई थी, 'इसे लेकर तुम यहां तक भी आ जाओगे...कभी सोचा नहीं था...मैं तो समझती थी कि तू इसके साथ बाहर ही खेह खा रहा है...'

उसका खाविंद तुनका था, 'बुरा क्या कर दिया इसने...उठकर चाय बना...'

उसने भन्नाते हुए कहा था, 'मैं बनाऊं? वो भी इसके लिए...?'

'पता भी है...कौन है यह...ऐसे ही मुंह फुला लिया?'

'अब यह भी मैं बताऊं कि कौन है यह...'

'तुमें पता है तो बता ही दे...'

'कमबख्त...क्यों घर को मटियामेट करने पर तुला है...? एक जोरू से दिल नहीं भरा तेरा...दूसरी के साथ खेह खानी थी तो वहीं मरा-पड़ा रहता, तो मेरा दिल तो न दुखता...'

'अब यहीं रहेगी...तेरे सामने...तूने जुबान हिलाई तो काटकर रख दूंगा...समझी?'

'मेरी जूती रहती है यहां...तूने तो शर्म घोंटकर पी ली है...मैं इतनी बेहया नहीं...रख ले इस रखैल को...राण्ड को...'

'कहां जाएगी राण्ड, तू बता तो सही...?'

'कहीं भी चली जाऊं... तुम कौन होते हो...पूछने वाले...? उस दिन मैं ही चुप रही थी, ढांगू रोड पर इस चुड़ैल को तेरे संग देखकर...'

'क्या कर लेती तू...बता?'

'मैं तेरा सिर जूतियों से खोखला कर देती, जाने क्यों मैं चुप रही...तू समझता है कि मेरी आंखों में धूल झोंक रहा है...'

'मैंने कब कहा ऐसा...'

'पर...इसे यहां लाकर तूने अच्छा नहीं किया...अब बता इसे छोड़ना है...या...मैं कहीं चली जाऊं...'

'मैं तो कहता हूं...तू रह यहां...यह भी रहे...लोग दो-दो शादियां नहीं करते भला?'

'मुझे नहीं मालूम...अब यहां दम घुटता है मेरा...मैं ही चली जाऊंगी...तू यहां रह...मौज कर...मेरा क्या है...'

'तू जा ही नहीं सकती...यह बच्चों की फौज छोड़कर...'

'बच्चों का इतना ध्यान होता तो यह करतूत न करता तू..'

'मैं जाऊंगी...तू रोक सकेगा मुझे?'

'तेरी टांगें काटकर रख दूंगा...छिनाल...बक-बक ही करती जा रही है...कौन-सा पहाड़ टूट पड़ा है...' उसके खाविंद ने उसे लतिया दिया था। वह भीतर तक रुलाई में डूब गई थी।

वह बिफर उठी थी। जानकी भी भागकर बाहर आ गई थी। वह भी छाती पीटते हुए खुले आसमान में आ गई थी।

आस-पड़ोस वाले घरों के लोग छत पर आ गए थे। तमाशा जारी रहा था। वे लोग इस बार कड़ियल हो गए थे। उनको इस बात से सरोकार नहीं था कि वे लोग लड़ते-झगड़ते क्यों हैं बल्कि उनके झगड़े से होने वाले शोर-शराबे से वे लोग क्रुद्ध हुए थे। वे उन पर टूट पड़ने को ही थे कि उनकी औरतों ने समझा लिया था उन्हें।

उसका खाविंद अपनी नयी रखैल के साथ कहीं चला गया था।

अगले दिन उसे लगा था, दुनिया-भर की खुशियां अब उसके दामन से छूट चली हैं। उसने बहुत बड़ा फैसला जाने कैसे कर लिया था। उसका खाविंद अपनी जिद पर अड़ा रहा था, अड़ियल घोड़े की तरह। वह ही हार गई थी। उसकी बगल में रहने वाली औरत जाने क्यों उसे अच्छी लगने लगी थी।

'तूने पक्का फैसला कर लिया है जाने का...?' वह औरत उसके पास आ गई थी छत से उतरकर। झोंपड़पट्टी के साथ वाले मकान में रहती है।

'क्या करूं...मरजाने को बहुत समझाया...पर माना ही नहीं।' वह बोली थी।

'उसे मर-खप जाने दो...मरजाने को जवानी चढ़ी है...तू अब मत मनाना उसे...उसे तब होश आएगी जब वो भी फुर्र हो जाएगी कहीं...'

'मैं क्यों मनाऊंगी...अब तो पानी सिर के ऊपर से बह निकला है. ..समझाने की भी कोई हद होती है...'

'कहां जाओगी...बच्चों को भी साथ लेकर जा रही हो न?'

'बच्चे मेरे साथ ही रहेंगे...कोख से जना है इन्हें...खाविंद आंखें फेर गया तो क्या...माँ अभी जिन्दा है...'

'बात तो ठीक है तेरी तेरी...बड़े गन्दे होते हैं ये मर्द...'

'मैं अब परवाह नहीं करती...क्या समझता है अपने को...बहुत बड़ी दुनियां है...कहीं भी चली जाऊंगी...पर इस शहर में नहीं रहूंगी...'

'जानकी को अपने साथ कहां-कहां लिए फिरोगी? अपनी देह को बचाओगी या जानकी की देह को...भेड़ियों की दुनियां में अकेली औरत की औकात देखी है कभी...हर वक़्त बचाके रखना होता है...।'

'मुझे क्या मालूम...'

'तभी तो कहती हूं कि इसे अपने साथ मत लेकर जा...इसका प्रबन्ध ा यहीं कर जा कहीं...इसे यहीं छोड़ जा कहीं...कोई रिश्तेदार है यहां?'

'नहीं तो...' वह डर गई थी भीतर तक।

'मेरे पास छोड़ जा...घर का कामकाज करेगी...कुछ सीख-पढ़ लेगी...ज़िन्दगी बन जाएगी बेचारी की...'

'न...न...आप क्यों तकलीफ उठाएंगी...हम टप्परवास लोगों की ज़िन्दगी तो फुटपाथों पर बसर होती है...क्यों हमें महलों के सपने दिखा रही हो बीबी जी...'

'सपना नहीं दिखा रही...सच कह रही हूं... अब इन्कार मत करना...इतनी खूबसूरत-जवान बेटी को लिए कहां-कहां ठोकरें खाती फिरोगी?'

'डर लगता है बीबी जी, दुनिया में कदम-कदम पर छलावे हैं...आप बहुत बड़ी बात कह रही हैं...पर...डर लगता है...?'

'मुझ पर विश्वास करोगी तो ही जी पाओगी...तेरे संग रहने से बेहतर है कि वह यहां मेरे साथ रहे...बेटियां-बहनें सांझी होती हैं न सबकी...अब अपना फैसला सुना दे...इन्कार मत करना...?'

'मेरी जानकी को यहां कोई तकलीफ न हो बीबी जी...मैं इसका हाथ आपको सौंप रही हूं...अब आप ही हैं इसके लिए सब कुछ...'

उसे स्मरण है, जानकी बिटिया ने उसका दामन कसकर पकड़ लिया था, जिसे उसने झटककर रुंधे दिल से छुड़ा लिया था...

उसे स्मरण हो आया था कि उसका यह आत्मघाती समझौता उसे भीतर तक तोड़ गया था। लेकिन...इसके सिवाय और कोई रास्ता भी तो नहीं है। उसने जानबूझकर बिटिया को एक नरक में धकेल दिया था, उसे मालूम है यह रहमदिल औरत ऐसे ही तो तरल नहीं हो गई। वह औरत निःसंदेह अच्छी औरत नहीं है...उसे मालूम है...लेकिन क्या करे वह...भीतर तक बंधी हुई है, समझौतों की रस्सियों से...उसे याद है... सारा दिन शहर-भर के आवारा किसम के छोकरों की मोटर-साइकिलें पूरा दिन भर, इस कोठी के बाहर खड़ी रहती हैं...क्या होता है यहां, वह जानती है, बच्ची थोड़े है वह।

जानकी बिटिया उसके साथ रहती तो भी उसने कब तक बची रहना था। एक दिन तो उसने भी इस गर्त में गिरना ही था। यहां रहते हुए अगर वह यह सब करने लगेगी तो उसे इसका क्षोभ नहीं होना चाहिए...यहां इस औरत के साथ रहते हुए, जानकी बिटिया को एक संरक्षण तो मिल ही जाएगा...।

उसने पीछे पलटकर देखा था।

वह औरत जानकी को लिए भीतर चली गई थी।

उसने अभी फैसला करना है कि वह दूसरे बच्चों को साथ लेकर कहां जाए। फ़िलहाल उसे इस शहर में नहीं रहना है...।

उसे अपने फैसले को अभी और पुख़्ता करना है।

1288, लेन-4, रामशरणम कॉलोनी, डलहौजी रोड, पठानकोट-145001

रेखा व्यास

युद्ध - तीन कविताएँ

युद्ध-1

युद्ध कभी नहीं देता
शांति
फिर भी कहा जाता है कि
शांति के लिए
लड़े जाते हैं युद्ध
यह अलग बात है कि
युद्ध में सब कुछ
नेस्तनाबूद हो जाने पर
छा जाता है सायं-सांय भरा
सूनापन
उसी को समझ लिया जाता हो
शांति....

युद्ध - 2

अब बच्चे भी जान गए हैं
और जान जाते हैं
पल भर में ही
युद्ध के मायने
स्कूल नहीं जाना पड़ता...
सभी घर में ही रहते हैं
फिर भी खुशी नहीं होती
अच्छा नहीं लगता
अनजाने ही
युद्ध का मैदान आ
जाता है घर में...
जेहन में
दिलो-दिमाग़ में

युद्ध - 3

हर बार युद्ध हारा है
फिर भी उग आता है
कटे रुख से
हर बार स्त्री की
कोख से हारा है युद्ध
फिर-फिर वह भी
हरी हुई है...
महाभारत के बाद
वह हिमालय में
गलने चला गया पर
कहाँ गला पाया...
इसी तरह कई युगों में
युग-युगों से....
देखते हैं
कौन जीतता है
कौन हारता है...
बहुत ऊर्जस्वी होती है
जिसे अन-ऊर्जस्वी
कोई बम नहीं बना सकता
कोई चक्र ब्रह्मास्त्र भी नहीं
पृथ्वी है वह कोख
विधात्री है वह कोख...
युद्ध खरपतवारी
फिर-फिर उगता है
उखाड़े जाने के लिए
फिर-फिर स्त्री कोख
हरी हो उठती है
उगने के लिए

797, तिमारपुर, दिल्ली-54

बृजनाथ श्रीवास्तव

कबीरा बाँच रहा साखी

ओढ़ चदरिया
बीच बजरिया
भर-भर कर आँखी
कबीरा बाँच रहा साखी
भरी दुपहरी
घना अंधेरा
गीदड़ बोले जी
जंगल के सब
नाग-नागिनी
कंचुल खेले जी
भेड़ बकरिया
पकड़ जबरिया
माँद-माँद झाकी
कबीरा बाँच रहा साखी
जोग साधते
जोगी जोगन
अन्तर्ध्यान हुए,
किसकी साजिश
चींटी के जो
निकले पंख नये
महल अटरिया
हाथ गगरिया
पोर-पोर छाकी
कबीरा बाँच रहा साखी
षट्कर्मी से
हुई तिकरमी
मर्यादा घर की
छूरी मारैं
कसमें बांचै
भाई के सर की
बुद्धि जठरिया
कोख गठरिया
पकड़-पकड़ राखी
कबीरा बाँच रहा साखी

खोल रही पोल

बूढ़ी भिखारिन भी
खोल रही पोल
चंचल चिरैया के
बड़े-बड़े बोल
फर्क नहीं जानती
कौन कहां देश
धर्म नहीं जानती
लुटी कौन वेश
आंखों में नाचती
धरा गोल-गोल
हाथ बढ़ा मांगती
दिखा रही पेट
काँख दबी पोटली
हाथ में समेट
देश के विकास का
वजन रही तोल
दिल्ली दरबार फिर
मंदिर के द्वार
ढूंढ़ती समानता
मौलिक अधिकार
भले रामराज्य का
पीट रही ढोल

21, चाणक्यपुरी, ई-श्यामनगर, न्यू पी.ए.सी. लाइन, कानपुर-208015

बीना बंसल

माँ

बचपन में
स्वेटर-चप्पल न पहनने पर
डाँटती - फटकारती
जवानी में
कड़ा पहरा लगाती
लड़कों से दूर रहो
आँख के इशारे से समझाती
ब्याह हो जाने पर
पति को खुश रखो
उसकी बात मानो
ऐसे संस्कारों से जकड़ती
माँ
आज
उसकी बूढ़ी आँखें
मेरे चेहरे में
जाने क्या ढूँढती हैं
मैं देखती हूँ
मुझे लगातार टकटकी बांधे
बस
देखती भर रहती हैं
कहती कुछ नहीं,
शायद
वे
मुझमें अपना कुछ
खोजती हैं।

मुंबई की एक शाम

असमान को छूते
सीमेंट के जंगलों से
घिरा है यह शहर
खिड़की से चेहरे नहीं झांकते
शीशों पर पड़े पर्दे लहराते हैं।
एक दूसरे से अलग-थलग
पड़े लोग
मिलते हैं केवल
कॉफी टेबल पर
रात में जगमगाती जादुई
नगरी
लाल-नीली-पीली बत्तियों में
छिपा लेती है सड़कों को
ताश के पत्तों पर पत्ते रखते जाओ
यह महानगरी बसती ज़ाएगी।
बिल्डिंगों में काम करते मज़दूर, ढेरों मज़दूर
बन जाते हैं दूर तक गूंजती
हथौड़ी, मशीनों की कान फोड़ती आवाजें,
जो
एक दिन इस महानगरी को
लील जाएंगी।

फ्लैट नं. 10, लेडी श्रीराम कॉलेज कैम्पस, नई दिल्ली-24

सुषमा प्रियदर्शिनी

वक्त

वक्त थम-सा गया है।
कुछ बदलता ही नहीं
यही वक्त बचपन में,
कैसे कुलाँचें मारता थ।
जवानी में कितनी तेज़ थी
इसकी बढ़ती रफ़्तार!
प्रौढ़ सशक्त समय के बढ़ते चरण
दृढ़ निश्चित
लक्ष्य के प्रति सन्धानित।

वही वक्त कैसे थम गया?
सुबह दोपहर तक,
दोपहर शाम तक
शाम रात तक घिसटते-घिसटते
कितनी निढाल हो जाती है,
फिर वही सुबह
और वही सब!!
सुबह में
ताज़गी क्यों नहीं होती?
दोपहर, शाम, रात में
थककर हाँफने लगती है।

आगे देखने को बचा ही क्या है
जो चाहा - पा चुके,
जो करना था - कर चुके
जो न मिला - स्वीकार चुके।
चुकता ही गया सब....

वक्त जो रुकता नहीं
लौटकर आता नहीं
वही बार-बार
पीछे मुड़कर क्यों ठिठक जाता है।
क्षितिज आगे नहीं, पीछे है।
वक्त कितना बदल गया है।

एल-1/15, हौज खास एन्क्लेव, दिल्ली-16

मृत्युंजय उपाध्याय

भटकन

आलमारी, किचन, रोशनदान
धूप के किसी कोने कतरे में
जो जरा भी उपेक्षित रहा
नज़रों से दूर
चिड़िया अपने घोंसले
बना लेती है
दर्जनों बच्चे वहाँ पलते हैं
फिर उड़ जाते हैं दूर-दूर
चारे की खोज में
पक्की दीवाल क्यों न हो
लाख होती हो सफाई उसकी
पर जरा भी धूल जमी कीचड़ आई
पीपल अपनी जड़ें जमा लेते हैं
लाख उसे काटिए, उखाड़िए
पर मिटने का नाम नहीं लेता
फिर क्यों भटकता है मनुष्य
अपने वजूद की खोज में
अपने अस्तित्व को स्थापित करने की,
चिंता रखती है उसे परेशान
चिड़िया और बीज दोनों
अपने लक्ष्य के प्रति कितने हैं
समर्पित, प्रतिबद्ध, केन्द्रित
मनुष्य का शतधा विभक्त मन
क्या कभी कहीं ठहर पाता है
भटकता ही रहता है।

वृंदावन, राजेन्द्रपथ, धनबाद-826001

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

संवेदनशून्यता और अमानवीयकरण का प्रतिवाद करती कविता

'समय के समानान्तर' में वरिष्ठ कवि जितेन्द्रनाथ पाठक की चुनी हुई 115 कविताएं संकलित हैं। इसमें चौवन वर्ष की काव्य-यात्रा के महत्वपूर्ण पड़ाव रेखांकित हैं और इससे श्री पाठक के सम्पूर्ण कवि-रूप से परिचय का अवसर सुलभ हुआ है। इन कविताओं से गुजरते हुए लगता है कि कवि अपने समय-समाज की दुर्घटनाओं और कुरूपताओं को लेकर खासा सजग है। सारा परिदृश्य जैसे क्रौंच-वध की आवृत्तियों से आक्रांत है और कवि की तर्जनी उसे वर्जित कर रही है। यदि '65 की एक कविता 'भ्रूण हत्याएँ' में 'सरेआम/ अंधा-धुंध चीखते जुलूसों में/पिटी हुई/ मूक सच्चाइयाँ कवि को चिंतित करती हैं तो '85 में रचित एक कविता का शीर्षक ही 'एक भयावह रूग्णता' है। हथियारों का जालिमाना जुलूस, चुनी हुई हत्याएँ, जघन्य बलात्कार ये सब मिलकर परिवेश की भयावह तस्वीरपेश करते हैं और मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं के निरंतर छीजते जाने की त्रासदी को कवि बहुत गंभीर मानता है। 'जहाँ हकलाती हुई सच्चाई/बलात्कार के बाद/ आत्मदाह के लिए छोड़ दी जाती है' जैसी पंक्तियों से हीनतर दिशा में संक्रमण के प्रमाण देखे जा सकते हैं।

संवेदनहीनता और उसके फलस्वरूप पसरता अमानवीयकरण जितेन्द्रनाथ पाठक की कविताओं की केन्द्रीय चिंता है। अनेक भीतरी-बाहरी कारणों से हमारे जनतांत्रिक छाते के नीचे रह रहे लोग अगर मृत्यु की आशंकाओं को लगातार जी रहे हैं और महसूस कर रहे हैं कि महसूस होना जिन्दगी की अनिवार्य शर्त नहीं है- 'हो सकता है कि हम बच जाएँ/ लेकिन महसूस होने की क्रिया बन्द हो जाए।' यह स्थिति निश्चय ही भयानक है कि कोई हादसा भी जड़ता और संवेदनशून्यता को नहीं तोड़ पाता-

उसमें हादसे से भी
लोगों को हिलते नहीं देखा
समय को स्तब्ध होते नहीं देखा
उसकी स्तब्धता के भीतर से
किसी आँधी को फूटते नहीं देखा

कवि बहुत चिंतित भाव से देखता है कि हिंसा और विकराल वर्तमान ने स्वप्नों तक को खा लिया है। चारों ओर एक लम्बा मरुथल फैला है-'जिसमें नहीं है किसी सपने के/ उगने की संभावना।' तो जिस परिदृश्य में न संवदेना हो न सपने, उसमें मनुष्यता के अस्तित्व के लिए कितनी गुंजाइश हो सकती है। कवि ने इसके लिए स्पष्ट तौर पर जनतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों को उत्तरदायी ठहराया है-'उसका अपना होना ही संदिग्ध हो जाएगा/ क्योंकि निर्वाचन और प्रतीक्षा का सिलसिला देखते-देखते/ असमाप्त हो गयी है जीने की त्रासदी।' लेकिन यह गौरतलब है कि कवि एकदम निराश नहीं है। क्योंकि 'इतिहास और समय दोनों जुड़ गए हैं जनधारा से।' अतः यह आकस्मिक नहीं है कि कई कविताओं में जहाँ आस्था के स्वर हैं, वहीं सकारात्मक मूल्य-दृष्टि भी है। कवि आह्वान करता है-

अंधकार का दरवाजा फिर से खोलने में लगे हाथों को तोड़ो
लता-गुल्म कुचलते हुए बढ़ते पाँवों को रोको
और अंधकार के दाढ़ में से खींच लाओ
रोशनी का रुका हुआ कारवाँ

कवि की दृष्टि में जनधारा से जुड़ाव ही हमारी समस्याओं का हल ढूँढ सकता है। 'एक नयी शताब्दी की ओर' में सकारात्मक दिशा में परिवर्तन की आशा इस रूप में है-'हम/प्रतीक्षा करेंगे/ जन-महासागर से निकले अमृत की।'

अपनी जनधर्मी अंतर्वस्तु को जितेन्द्रनाथ पाठक ने अनुकूल और उपयुक्त भाषा में सटीक बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। रोशनी के लिए समर्पित काव्य-यात्रा में प्रकाश और अंधकार से जुड़े बिम्बों का कंट्रास्ट तो होना ही था। 'आवाजें' कविता की निम्नलिखित पंक्तियां इस संदर्भ में गौरतलब हैं- 'फैले हुए अंधकार से जूझती/ गूँजने लगती हैं मंद्र घोष वाली कुछ आवाजें/रोशनी की अंगुलियों को थामे।' अन्यत्र भी भयानकता और सुकुमारता के 'कंट्रास्ट' में अमानवीयकरण के प्रसार को मूर्त किया गया है-

तब दुःख के अजदहे
लीलने लगते हैं संबंधों के सुकुमार शिशुओं को
('अपने को बेबाक देना होता है')

'भाषा' की भूमिका को लेकर कवि खासा सचेत है। 'शब्द' शीर्षक छोटी कविता में वह 'शब्दों के सौदागर' बनने को उपलब्धि नहीं मानता। वह सार्थक शब्द-कर्म की परिणति से भी बेखबर नहीं है। उसे मालूम है क्रूर और आततायी व्यवस्था प्रतिवाद और असहमति की शब्दावली को सह नहीं पाएगी-

तुम्हारे सामने जो भी खड़ा होगा
शब्दों की स्वाधीनता के पक्ष में
उसे मरना ही है एक असामयिक मौत
('असामयिक मौत')

इस अहसास के बावजूद कवि सच कहने का जोखिम उठा सका है। अपनी बिम्बधर्मी भाषा में वह यथासंभव अपना प्रतिवाद दर्ज कराता है। चाहे 'दोपहर' सरीखी चार पंक्तियों की कविता हो या 'अतीतजीवी और काल' जैसी लम्बी कविता, बिम्ब ग्रहण कराने

और अभिव्यक्ति को संप्रेषणीय बनाने का कौशल ध्यान आकर्षित करता है। हालांकि कुछ कविताएं वाचाल हैं, लेकिन कुछ कविताएं सांकेतिक और दूरगामी व्यंजना से सम्पन्न भी हैं 'ये फूल किनके हैं?' शीर्षक कविता में मिट्टी' और 'फूल' जैसे परिचित अप्रस्तुतों के माध्यम से आम आदमी के संघर्ष से आश्वस्ति व्यक्त हुई है-

इसलिए जरूरी है
मिट्टी में बोना
फूलों की उम्मीदें
इसलिए जरूरी है
भीगना/पसीने में पूरा जिस्म
तभी हम तय करने के हकदार होंगे
ये फूल किनके हैं
किनके होंगे ये फूल

'आत्मकथ्य' में जितेन्द्रनाथ पाठक ने बल देकर कहा है कि 'मेरी कविताएं कहीं भी समय को पीठ नहीं देतीं।' यह समय-सम्मुखता इन कविताओं की बड़ी शक्ति है। मुक्तिबोध की कविता पर लिखते हुए अशोक वाजपेयी ने उसे 'भयानक खबर की कविता' नाम दिया था। 'समय के समानान्तर' की कविताओं को पढ़कर कहा जा सकता है कि न केवल मुक्तिबोध, अपितु उनके समकालीन अनेक अन्य कवि भी भयानक खबरों की कविता लिखकर अपने कवि-कर्म की सार्थकता प्रमाणित कर रहे थे।

समय के समानान्तर : जितेन्द्रनाथ पाठक, संजय बुक सेंटर, गोलघर, वाराणसी

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़

डॉ. गुरचरण सिंह

गिलिगडु के न होने की पीड़ा

'एक जमीन अपनी' तथा 'आवां' जैसे चर्चित उपन्यासों की लेखिका चित्रा मुद्गल का 'गिलिगडु' उपन्यास एक नयी जमीन की तलाश करता है। उपन्यास के पात्र सामाजिक चेतना तथा उसके जटिल यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। 'आवां' वृहदाकार उपन्यास है तो 'गिलिगडु' आकार में छोटा किन्तु संवेदनशीलता में गहरा उपन्यास है। इसमें उठाई गई समस्या आज के समाज की प्रमुख उभरती समस्या है जिसका सामना करने के लिए हम सभी को तैयार होना है। इस समस्या का कारण मूल्यों तथा जीवन-स्तर में आया बदलाव है। एक सीमा तक वैश्वीकरण तथा ग्लोबलाइजेशन भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। हमारे जीवन तथा मूल्यों पर पाश्चात्य जीवन-मूल्यों का गहरा प्रभाव पड़ रहा है और हमारी जीवन शैली-वैसी ही होती जा रही है। इससे आपसी सम्बन्ध टूटते जा रहे हैं। एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व का भाव जो कुछ दशक पहले हम अनुभव करते थे, समाप्त होता जा रहा है। लोग कछुए होते जा रहे हैं। इसी कारण बुजुर्गों का जीवन एकाकी, व्यथापूर्ण तथा दयनीय होता जा रहा है। सन्तान के पास अपने माता-पिता देखभाल करने का न तो समय है और न ही मन। इस उपन्यास की कहानी सिर्फ तेरह दिनों की है। इस सीमित अवधि में ही वह बुजुर्गों के जीवन का पूरा खाका, पूरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करती है कि कैसे युवा पीढ़ी बुजुर्गों को सम्मान देने के स्थान पर उन्हें ठुकरा रही है।

इसी विषय को लेकर प्रतिष्ठित कथाकारों के उपन्यास पहले भी पाठकों के सामने आये हैं-निर्मल वर्मा का 'अन्तिम अरण्य' तथा कृष्णा सोबती का 'समय सरगम।' इन उपन्यासों में भी अकेले रहते वरिष्ठ नागरिकों की व्यथा-कथा को बहुत संवेदनशीलता के साथ पाठकों के समक्ष रखा गया है। दोनों उपन्यासों का कथ्य, भाषा-शैली अलग-अलग है। इसी तरह चित्रा मुद्गल का उपन्यास भी अपने कथ्य तथा भाषा-शैली में इन दोनों उपन्यासों से अलग है तथा साहित्य-जगत में अपना अलग स्थान रखता है। आलोच्य उपन्यास में दो बुजुर्गों की कथा है जो अचानक मिलते हैं उनका साथ कुछ दिनों तक रहता है और फिर बिछुड़ जाते हैं। पर इस सीमित समय में वे एक-दूसरे पर ही नहीं बल्कि पाठकों के मानस पर भी गहरी छाप छोड़ जाते हैं। बाबू जसवंत सिंह रिटायर्ड सिविल इंजीनियर हैं जो अपने बेटे-बहू के साथ रहते हैं। दूसरे बुजुर्ग विष्णु नारायण स्वामी हैं। वे रिटायर्ड कर्नल हैं। कर्नल स्वामी उपन्यास का जीवन्त पात्र है। उन्होंने स्थितियों को सहज तथा सहर्ष स्वीकार कर लिया है तथा ज़िंदादिली से जीवन के अन्तिम समय को गुजार रहे हैं। ऐसा उनके जसवंत के साथ व्यवहार से लगता है। कर्नल के इस व्यवहार के पीछे कितना दर्द, तकलीफ, व्यथा तथा तनाव छिपा हुआ था, इसे जसवंत बाद में ही समझ पाता है। कर्नल का यह जीवट रूप ही था जो इतने बड़े दर्द को अपने दिल में छिपाए हुए था जिसे उसने कभी अभिव्यक्त नहीं होने दिया। इस दृष्टि से जसवंत कमज़ोर पात्र है। वह स्थितियों से उत्पन्न दुःख तथा तनाव को छिपा नहीं पाता और उसे कर्नल के सामने कह देता है। कर्नल उसे क्षणिक सुख देने के लिए प्रयास करते रहते हैं।

जसवंत के बहू-बेटे ने अपने कुत्ते टॉमी की जिम्मेदारी उन पर छोड़ रखी है। वे ही उसे घुमाने तथा फारिग कराने ले जाते हैं। जसवंत इस जिम्मेदारी को सहर्ष स्वीकार नहीं करते। उनकी विवशता टपकती रहती है। कुत्ता उन्हें इधर-उधर खींचता रहता है, इसी कारण वे एक दिन गिर जाते हैं। कर्नल स्वामी उन्हें सहारा देकर घर छोड़ जाते हैं। कर्नल शारीरिक दृष्टि से जसवंत से अधिक सबल हैं। इसका कारण उनका सैन्य जीवन है। घर में जसवंत की

स्थिति दयनीय है। वे टी.वी. पर अपनी मनपसन्द का कोई कार्यक्रम नहीं देख सकते जबकि उनकी बहू-बेटा तथा उनके बच्चे अंग्रेजी प्रोग्राम या अश्लील हाव-भावों से लदा-फंदा गीत सुनते रहते हैं। अपने पोतों से भी वे खुलकर बोल या खेल नहीं सकते क्योंकि बहू-बेटा अपने बच्चों को पुराने मूल्यों से दूर रखना चाहते हैं।

जसवंत सिंह जूतों का शौकीन रहा है। उसकी पत्नी को उसका यह शौक पैसों की बर्बादी लगता था। बेटे पर निर्भर हो जाने के बाद उसे सैर के लिए भी चप्पल पहनकर जाना पड़ता है। उसे जूते कर्नल स्वामी लेकर देते हैं। जीवन में आए इस बदलाव का चित्रण कर लेखिका पाठकों को समस्या से सिर्फ रू-ब-रू ही नहीं करती बल्कि उनके हृदय में बुजुर्गों के प्रति सहानुभूति पैदा करना चाहती है जिससे वे अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो सकें तथा यह समझ सकें कि उनके जीवन में भी ऐसे दिन आ सकते हैं।

कर्नल स्वामी जसवंत के सामने अपने बारे में जो तस्वीर प्रस्तुत करते हैं वह सुखकर है। उनका बेटा ख्याल रखता है, पोतियों के साथ खेलने का भी उसे सुख मिला हुआ है। वह अपनी जुड़वां पोतियों को ही गिलिगडु कहता है। वह उन्हें बाजार ले जाता है। उन्हें मनपसन्द चीजें ले देता है। जसवंत भी चाहता है कि उसके पोते उसके साथ घूमें, खेलें पर वे अपनी अन्यत्र व्यस्तता दिखलाते हैं और किसी भी बूढ़े आदमी के साथ बाहर जाना पसन्द नहीं करते। इस तरह लेखिका कर्नल स्वामी तथा जसवंत के जीवन को एक-दूसरे के सामने खड़ा करती है। जसवंत तथा कर्नल स्वामी की पत्नी का निधन हो चुका है। कर्नल के तीन बेटे हैं-कर्नल के अनुसार सभी उनका पूरा ध्यान रखते हैं। पाठकों को लगता है कि दोनों परिवारों के संस्कारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। जरा-सी ठंड होते ही कर्नल जसवंत को गर्म कपड़े पहनने की सलाह देते हैं तथा न होने की अवस्था में खरीदकर देने को भी तैयार हैं।

नरेन्द्र ने अपने बच्चों को ऐसे खिलौने लेकर दे रखे हैं जिनमें वे उलझे रहें तथा किसी अन्य के साथ की उन्हें आवश्यकता ही अनुभव न हो। जसवंत को लगता है-'बुद्धिविकास की आड़ में बड़ी खूबसूरती से बच्चों को संवेदनाच्युत किया जा रहा है। इतना कि बच्चे कभी परिवार में न लौट सकें, न कभी अपना कोई परिवार गढ़ सकें।' जब कभी बच्चे कानपुर आते थे तब भी अपने में सीमित रहते थे। आसपास के बच्चों से खेलना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। लेखिका यहां स्पष्ट कर देना चाहती है कि आज के संवेदनाहीन बच्चे भविष्य में अपने माता-पिता के साथ कैसा व्यवहार करेंगे इसकी कल्पना की जा सकती है अर्थात स्थितियां अधिक विकट तथा भयावह होती जा रही हैं।

कानपुर में जसवंत का अपना मकान है। वह बेटे के पास अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए आया था। दूसरा कारण था अपनी पत्नी की स्मृतियों से मुक्त होना। उनके मित्रों ने ही सुझाया था कि 'प्यारे-प्यारे पोतों की हुड़दंगों में वे अपनी पत्नी के वियोग को सह सकेंगे।' उनके डॉक्टर की भी यही राय थी-'कुछ दिन बेटे के पास दिल्ली रह आयें। इस उम्र में अकेले रहने की कोई तुक नहीं। अकेले वह रहे जिसकी कोई खैर खबर लेने वाला न हो।' पर उसे लगता है कि यहां उसका अकेलापन अधिक गहरा हो गया है। जसवंत अकेलेपन से उपजी उदासी से पीड़ित है। कर्नल स्वामी का कुछ पलों का साथ उनकी इस उदासी को हर सुख के कुछ क्षण देता है। इन्हीं क्षणों को पाने के लिए वे बेसब्री से कर्नल का इन्तजार करते हैं। बहू-बेटे तथा पोतों से उनका सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। उनकी दिल्ली देखने की इच्छा भी कर्नल स्वामी ने पूरी की। नरेन्द्र के पास अपने पिता के लिए कोई समय नहीं है। उसे वे दिन याद आते हैं जब उसकी पत्नी अपने बेटे नरेन्द्र के लिए पीपा-भर लड्डू बना देती थी, क्योंकि उसे पसन्द थे। पर नरेन्द्र तथा उसकी पत्नी जसवंत के खाने-पीने का कोई ख्याल नहीं रखते। दिल्ली आकर तो जसवंत 'भूल हीं गये हैं कि भोजन में उनकी पसन्द का कोई महत्व शेष है।' अनिच्छा प्रकट करने की उनकी औकात नहीं है। कर्नल बताते हैं कि उनकी बहू माधवी जो चीज बनाती है कर्नल के दांतों का ख्याल करके मेहनत और सावधानी से बनाती है जिससे वे उसका भरपूर स्वाद ले सकें।

जसवंत बेटे-बहू की उपेक्षा का कड़वा घूंट चुपचाप पी रहे थे, पर जब बहू ने यह आरोप लगाया कि आस-पड़ौस की लड़कियों पर वे बुरी नज़र रखते हैं तो असहनीय हो उठा। इस 'तोहमत को सुन बाबू जसवंत सिंह की कनपटियों में खून बटुर आया।' यह ऐसा आरोप था जिसे करने की जसवंत कभी सोच भी नहीं सकते थे। जसवंत की स्थिति को देखते ही 'कर्नल स्वामी को भांपते देर नहीं लगी कि जो घटा है, मामूली नहीं घटा। उनके ऊंचे कद को तोड़ने, क्षत-विक्षत करने की चेष्टा हुई है।' जसवंत को लगा-'इस घर में बच्चों की शिकायतें नहीं आतीं, बुड्ढों की आती हैं। इस सोसायटी के लोग शायद कभी बूढ़े नहीं होंगे। न उनकी शक्ति क्षीण होगी न स्मृति। ऐसे अजर-अमर जन्मे हैं न कभी कष्ट व्यापेगा न हारी बीमारी।' इस अपमानजनक प्रसंग के बाद जसवंत ने कमरे की खिड़की सदा के लिए बंद कर दी। खिड़की से थोड़ी-सी धूप मिलती थी-अब वह भी किस्मत में नहीं रही।

जसवंत सिंह ने नरेन्द्र के घर को अपना घर समझा इसी कारण वे घर की चीजों को, बचत खातों को अपना समझते हैं जबकि उन्हें 'दसियों बार, दसियों तरह से समझाया जा चुका है कि वे अपने काम से काम तक सीमित रहें।' स्थिति इतनी बदतर है कि जसवंत को लगता है इस घर में दो कुत्ते हैं 'एक टॉमी और दूसरा अवकाश प्राप्त सिविल इंजीनियर जसवंत सिंह।

टॉमी की स्थिति निस्सन्देह उनकी बनिस्बत मजबूत है।' नरेन्द्र चाहता है कि जसवंत की व्यवस्था वृद्धाश्रम में कर दी जाये- 'हमउम्रों की जमात में बाबू जी का मन लगा रहेगा।' नरेन्द्र अमेरिका जाने की सोच रहा है, नियुक्ति पत्र उसे मिल चुका है। जसवंत को लगता है कि बेटा उनको घर से निकालना चाहता है। 'उन्हें बनवास देने का अपनी ही औलाद का षड़यंत्र।' जसवंत को लगता है कि उनकी बेटी भी नरेन्द्र का ही साथ दे रही है। वे चारों तरफ से खुद को नितान्त अकेला पाते हैं।

जसवंत पेंशन पाता है, कानपुर में उसका अपना मकान है। आर्थिक दृष्टि से वह विपन्न नहीं है, पर वह कर्नल स्वामी जैसा जीवन नहीं जी सकता। इसके पीछे पारिवारिक सोच, संस्कार तथा मूल्य हैं। कस्बाई मानसिकता भी इसका कारण हो सकती है। नरेन्द्र तथा स्वामी कर्नल की मानसिकता महानगरीय है जिसे जसवंत न तो समझ सकता है और न ही अपना सकता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। कर्नल स्वामी का शरीर गठा हुआ है वे तन्दरुस्त हैं। जसवंत का शरीर रोगों का घर है। उन्हें बवासीर है, उच्च रक्तचाप है, बलगम बनता है, खांसी आती है।

जसवंत बीमार पड़ता है तो सम्बन्धों की टूटन और उभरकर सामने आ जाती है। सात दिन की बीमारी जसवंत का परिचय मौत से करवा गयी। उन्हें लगा-'मौत ने उनकी आन्तरिक भावनाओं को ताड़ लिया है।'

जसवंत को कर्नल स्वामी से मिले कई दिन हो गये थे। बीमारी से उठने के कारण जसवंत ठंड अनुभव कर रहा था। पर स्वामी ठंड के डर से घर दुबककर बैठने वाला व्यक्ति नहीं है। जसवंत भी मानता है-'गजब का खिलंदड़ा स्वभाव है कर्नल स्वामी का।'

जसवंत स्वामी से मिलने के लिए उसके घर जाता है। उसकी पोतियों के लिए उनकी पसन्द की चीजें लेकर। पर वहां पहुंच कर पता चलता है कि बारह दिन पहले सीढ़ियां उतरते समय हार्ट अटैक हुआ था और वे नहीं रहे।

माधवी, अनुश्री, गिलिगडु, बेटे श्रीनारायण आदि के बारे में उन्होंने जो कुछ भी कहा था वह सब काल्पनिक था। वे फ्लैट में अकेले रहते थे। बेटों ने नौकरियां पकड़कर नये-नये शहरों में डेरा डाल लिया था। श्रीनारायण पिछली गर्मियों में आया था वह भी इसलिए कि नोएडा का फ्लैट बेचकर तीनों भाइयों को पैसे दे दें। उनके मना करने पर श्रीनारायण ने उन पर हाथ उठाया था। उनके रोने-चीखने की आवाजें सुनकर पड़ोसियों ने पुलिस बुला ली थी। लहूलुहान कर्नल ने अपने बेटे के खिलाफ पुलिस में रिपोर्ट लिखवाई थी। श्रीनारायण ने पैर पकड़कर माफी मांगी थी। कर्नल स्वामी की बहू ने मासूम जुड़वां बेटियों को छोड़ अपने नृत्य गुरु के साथ रहना शुरू कर दिया था। बच्चियों को दादी ने पाला। उनके न रहने पर श्रीनारायण उन्हें साथ ले गया। पड़ोसिन मिसेज श्रीवास्तव ने बताया- 'ऐसी कसाई औलादों से तो आदमी निपूता भला। हमें इस बात का कोई गम नहीं कि हमारी कोई औलाद नहीं।' मिसेज श्रीवास्तव का यह कथन स्थितियों की भयावहता को सामने रखता है।

जसवंत को आज तक कर्नल स्वामी की स्थिति बेहतर लग रही थी। रहस्योद्घाटन होने पर उन्हें लगा कि कर्नल से तो उनका जीवन अच्छा है। जसवंत के समक्ष अपने परिवार का जो आदर्श चित्र कर्नल स्वामी ने रखा था वह उनकी आकांक्षा, इच्छा या कल्पना का चित्र था कि परिवार ऐसा होना चाहिए जहां बुजुर्गों का सम्मान हो। जसवंत परिवार के यथार्थ को सामने रखता है तो कर्नल उसके आदर्श रूप को। कर्नल स्वामी के जीवन के दुखद अंत को देख जसवंत निर्णय लेता है कि वह कानपुर का घर सुनगुनिया के नाम कर देगा। उसके लिए बैंक में लॉकर भी लेगा। नरेन्द्र को इससे धक्का लगेगा। वह उसके क्रियाकर्म में भी शामिल नहीं होगा। न हो। उसकी कपाल-क्रिया सुनगुनिया का बेटा करेगा। इस निर्णय के पीछे छिपी तकलीफ को लेखिका उभारना चाहती है। जसवंत अपनों की अपेक्षा बेगानों में विश्वास व्यक्त करता है। उसे लगता है कि उसकी नौकरानी उसकी बहू की अपेक्षा उसका ध्यान अच्छी तरह रखेगी।

युवकों की आधुनिक तथा भौतिकवादी सोच के कारण बुजुर्गों की स्थिति परिवार में विकट तथा दयनीय होती जा रही है। आधुनिक सोच, पीढ़ियों का अन्तराल तथा स्वतन्त्र जीवन जीने की ललक इसके प्रमुख कारण हैं। आधुनिक नवयुवकों की नज़र माता-पिता की सम्पत्ति पर तो होती है, पर उनकी देखभाल की जिम्मेदारी लेने से वे कतराते हैं। पोते-पोतियों, नाती-नातियों से खेलने की तथा उनके साथ व्यस्त रहने की इच्छा अब पूरी नहीं हो पाती। जहाँ बुजुर्ग लोग परिवार के साथ किन्हीं स्थितियोंवश रहते भी हैं, वहां भी उन्हें यह सुख नहीं मिलता। बच्चों का बचपन अब वैसा नहीं है जैसा कभी बुजुर्गों ने जिया था। अब बच्चों का समय कम्प्यूटर तथा उसकी गेम्स में अधिक बीतता है। बुजुर्ग बेटे-बेटियों, बहुओं से सम्मान पाने के स्थान पर दुत्कारे जा रहे हैं। इसी कारण जसवंत को घर में कुत्ते टॉमी की स्थिति बेहतर लगती है।

गिलिगडु : चित्रा मुद्गल; सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली-2; मूल्य : 175 रुपये

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-18

अनिल कुमार

विविधता की झलक पेश करती कहानियाँ

आज के आधुनिक दौर में भी नारी के सामने वे ही समस्याएं हैं जो सदियों पहले थीं। कहने को तो उसे बराबरी का दर्जा दे रखा है, पर वास्तविकता तो कुछ और ही है। 'पारुल दी' की परुली एक ऐसी औरत की कहानी है जो अपनी ससुराल में सास के जुल्म चुपचाप सहती रहती है। सास न तो उसे भरपेट खाने को ही देती है और न ही अन्य चीजें ढंग से उपलब्ध करवाती है। परुली को केवल पति की जूठन ही मिलती है जिससे उसका पेट तो भरता ही नहीं, साथ ही उसके पति को यह हमेशा अखरता रहता है। माँ के डर के मारे वह कुछ भी नहीं कह पाता। इसके लिए वह थाली में ज्यादा खाना छोड़ना शुरू कर देता है ताकि परुली का पेट भर जाए, पर माँ की इस पर भी नज़र रहती है। एक दिन परुली का पति छुपकर उसे बिस्कुट का पैकेट दे देता है जो परुली की सास के हाथ लग जाता है। इसके बाद तो वह परुली पर अनेक तरह के इल्जाम लगाकर उसे उसके मायके भेज देती है।

पति चिंतामणि माँ के डर के मारे कुछ भी नहीं बोल पाता और परुली को अपने पिता के साथ वापस आना पड़ता है। कुछ ही दिनों बाद परुली की सास अपने बेटे चिंतामणि का दूसरा विवाह बड़ी धूमधाम से कर देती है। चिंतामणि की दूसरी पत्नी प्रसव के समय अपने दो बच्चों को छोड़ स्वर्ग सिधार जाती है। अब चिंतामणि और उसकी माँ के सामने छोटे बच्चों के लालन-पालन की समस्या आ जाती है तो वे बिना किसी संकोच के परुली के घर उसे लेने के लिए पहुंच जाते हैं। जब सभी उसे वापस अपनी ससुराल जाने की सलाह देते हैं तो परुली का स्वाभिमान जाग उठता है और वह सबका प्रतिकार करते हुए अपनी व्यथा-कथा कह सबको चकित कर देती है। दिनेश पाठक के कहानी संग्रह 'पारुल दी' की एक अन्य कहानी उच्च वर्ग की ऐसी महिलाओं की कहानी है जो बिना अपने स्वार्थ के किसी से बात करना भी पसन्द नहीं करतीं। जैसे ही उनकी जरूरतें पूरी होने लगती हैं वे तत्काल किनारा कर लेती हैं। श्रीमती गोस्वामी नई कालोनी में मन मारकर रहने के लिए आ तो जाती हैं परन्तु वहां के सूनेपन से उकता जाती हैं। न तो वहां किसी प्रकार की सुख-सुविधा के साधन हैं और न ही घर का काम करने के लिए माई या आया का ही कोई प्रबन्ध। एक दिन अचानक एक औरत घर के काम के लिए श्रीमती गोस्वामी से पूछती है तो वह सहर्ष उसे काम पर लगा लेती हैं, परन्तु साथ ही उसके बच्चे को देखती हैं तो पूछती हैं कि यह कहां रहेगा। माई बताती है कि यह घर के बाहर खेलता रहेगा, किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी। जैसे-जैसे दूसरे पड़ोसी आने शुरू हो जाते हैं श्रीमती गोस्वामी को माई का बच्चा जो अच्छा लगने लगा था, वही बुरा लगने लगता है। शुरू में तो वे उसका ध्यान भी रखती थीं, अपनी बेटी को भी उसके साथ खेलने देती थीं परन्तु धीरे-धीरे उसको उससे दूर रखने लगती हैं। एक दिन माई का बच्चा कहीं गुम हो जाता है तो उन्हें इस बात की कोई परवाह नहीं होती। शहरों में तो आज बचपन खो सा गया है। 'जुगाली' का यतीश पिता के साथ गांव जाता है तो देखता है कि पिता को बचपन के एक-एक दिन की याद कैसे तरोताजा हो जाती है। वह सोचता है कि जो दिन पिता ने गांव में गुजारे वैसे दिन तो शहर में केवल सपना ही हैं। आज तो शहरों में तीन साल के छोटे से बच्चे पर ही किताबों का बोझ लाद उसे स्कूल भेज दिया जाता है। 'हालात' का उनियाल 23 साल बाद जब गांव जाता है तो वहां के सभी हालात बदले पाता है। इस लम्बे अंतराल में सब कुछ बदल जाता है। चतुर्वेदी जो कभी किताबों, पत्रिकाओं की दुकान चलाता था आज वहीं बड़ी इलेक्ट्रानिक्स की दुकान का मालिक हो जाता है। जावेद का दुखड़ा सुनकर तो दिल गले में आ जाता है। साम्प्रदायिक दंगों की लपेट से ऐसा कोई भी नहीं था जो बचा हो। फिर भी हालात चाहे जो भी रहे, वहां के लोग उससे वैसे ही मिले जैसे किसी अपने से बरसों बाद मिलते हैं। दिनेश पाठक की कहानियां एक परिवेश से जुड़ी होकर भी सम्पूर्ण भारतीय समाज के मर्म का उद्घाटन करती चलती हैं जिसके कारण इनका यह संग्रह विशिष्ट बन पड़ा है।

दूसरा कहानी-संग्रह है विजय का 'वंशबेल'। संग्रह की पहली कहानी गुजरात में आए भूकम्प की त्रासदी की दास्तां बयान करती है। भूकम्प के कारण पूरा शहर खण्डहर में तब्दील हो चुका है। मीडिया को ऐसे में भी आम आदमी के दुःख-दर्द की जगह नेताओं और उनके आश्रितों की चिंता है। उन्हीं को प्रकाश में लाना चाहता है ताकि सभी यह जान सकें कि मीडिया उनके प्रति लापरवाह नहीं है। इसके लिए चाहे कितने ही पीड़ितों की उपेक्षा करनी पड़े। संग्रह की एक अन्य कहानी आगरे के बेड़िया परिवार की दास्तां है जहां बेटी केवल सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी से अधिक कुछ नहीं समझी जाती। उसके लिए भाई भाई न होकर केवल दलाल होता है, जो उसे चंद रुपयों के लिए भूखे भेड़ियों को बेच देता है। लड़की को केवल यही सिखाया जाता है कि ग्राहक के सामने कैसे पेश आना है ताकि वह यही समझे कि आज तक यह कुंवारी ही है। उसे तरह-तरह की सीख दी जाती है। गलती से एक बार बसन्ती को गर्भ ठहर जाता है तो पूरे परिवार की भृकुटियां ही तन जाती हैं। दाई बुलाई जाती है ताकि गर्भ गिराया जा सके परन्तु जब दाई बताती है कि गर्भ गिराने से बसन्ती की जान भी जा सकती है तो वे सब ऐसे हो जाते हैं जैसे सबको सांप सूंघ गया हो। बसन्ती को जब बच्चा पैदा होता है तो सभी यही आस लगाए होते हैं कि लड़की ही पैदा हो जो बड़ी होकर अपना शरीर बेचकर उनका पालन-पोषण कर सके, परन्तु बसन्ती को लड़का होता है तो सभी शोकमग्न हो जाते हैं। किसी के भी चेहरे पर खुशी का कोई भाव

ही नहीं होता। बसन्ती की भाभी जो माँ नहीं बन पाई, बसन्ती से उसका बेटा मांगती है परन्तु जब बसन्ती को सच्चाई का पता चलता है तो वह घर छोड़कर भाग जाती है और पूरे परिवार की हालत उस सर्प जैसी हो जाती है जिसकी मणि खो जाती है।

विजय की कहानियों में विविधता झलकती है। इन कहानियों को न तो भाषा और न ही सरहद की सीमा बांध पाती है। सामान्य लोगों और मध्यवर्गीय परिवार के संघर्षों और विडम्बना को बड़ी ही खूबसूरती से प्रस्तुत किया गया है। कहानियों के पात्र एक चुनौती के रूप में नज़र आते हैं। जो जिन्दगी की सच्चाइयों को सामने लाकर उनसे गुजरने वालों को अपने ही तरीके से समाधान के लिए प्रेरित करते हैं।

तीसरा कहानी-संग्रह है कैलाश बनवासी का 'बाजार में रामधन'। आज की पीढ़ी को पैतृक सम्पत्ति और खेती-बाड़ी से किसी प्रकार का लगाव नहीं है। वह तो जितनी जल्दी हो सके अमीर बनने के सपने देखती है। ऐसा ही सपना रामधन का छोटा भाई भी देखता है और इसके लिए वह उन बैलों को भी बेचने के लिए तैयार हो जाता है जिनकी वजह से वह खेती-बाड़ी कर पूरे परिवार का पेट पालता है। रामधन छोटे भाई के आगे मजबूर हो जाता है और बैलों को बेचने के लिए बाजार की ओर चल पड़ता है। वहां दलाल किस्म के लोग यह समझते हैं कि यह मजबूरी में बैलों को बेचने के लिए आया है और वे लोग औने-पौने दामों में बैलों को खरीदना चाहते हैं। इसके लिए वे तरह-तरह के प्रपंच भी रचते हैं परन्तु अपनी कारस्तानी में सफल नहीं हो पाते। रामधन रास्ते में बैलों को देखकर मन ही मन यही सोचता है कि अगर अगली बार उसका भाई बैलों को लेकर आया तो ये जरूर बिक जाएंगे। संग्रह की एक और कहानी 'बारात' है। इसमें एक उच्च अधिकारी के बेटे की बारात जा रही है जिसमें सभी लोग नाच-गा रहे हैं। उनमें एक गरीब बच्चे के नाच को देखकर सभी खुश होते हैं कि इतना अच्छा नाच इसने कहां से सीखा। अचानक अधिकारी की बेटी नाचने लगती है तो सभी अपनी क्षमतानुसार उस पर नोट लुटाने लगते हैं। तभी अचानक वही लड़का फिर नाचने लगता है तो बारातियों की कुदृष्टि का शिकार हो जाता है। लोग उसे मारना शुरू कर देते हैं कि उसकी हिम्मत कैसे हुई यहां नाचने की। कैलाश बनवासी की कहानियां संस्मरणात्मक के साथ-साथ संघर्षात्मक भी हैं। इनमें जहां प्यार की कोमलता है वहीं संघर्ष की कठोरता भी है।

पारुल दी : दिनेश पाठक; मूल्य : 120 रुपये।
वंशबेल : विजय; मूल्य : 140 रुपये
बाजार में रामधन : कैलाश बनवासी; मूल्य 130 रुपए।
तीनों कृतियों के प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

एच-3/72, विकास पुरी, नई दिल्ली-110018

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ पत्रिकाओं के नए अंक

हिन्दी-संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान, साहित्यकार पं. विद्यानिवास मिश्र की स्मृति में 'साहित्य अमृत' (सं. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, प्रभात प्रकाशन, 4/19, आसफ अली रोड, नई दिल्ली) का महत्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित हुआ है। स्मरणीय है कि मिश्रजी इस पत्रिका के करीब दस वर्षों तक संपादक रहे और इसे 'साहित्य एवं संस्कृति की संवाहक' पत्रिका बनाए रखा। इस अंक में मिश्रजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का आकलन अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों और साहित्यकारों ने किया है, परन्तु प्रबंध संपादक का यह कथन कि "मिश्रजी सांस्कृतिक प्रदूषण व आक्रमणों की ढाल बने हुए थे और न केवल देश में बल्कि विदेशों में भी भारतीय धर्म-संस्कृति-दर्शन के ध्वजवाहक थे। भारतीय लोक-संस्कृति, जीवन-मूल्य और माटी की गंध उनमें रची-बसी थी।" मिश्रजी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सच्चा आकलन है। 'पं. विद्यानिवास मिश्र और मैं' (रामदरश मिश्र), 'पंडितजी बड़े अलग तरह के पंडित थे' (कमलेश्वर), 'इस शून्य की पूर्ति संभव नहीं' (श्रीलाल शुक्ल), 'धूप की चिंदी लिए...' (रमेशचंद्र शाह), 'अनन्य ललित निबंधकार' (भोलाभाई पटेल), 'पांडित्य परंपरा की आखिरी कड़ी' (चित्रा मुद्गल), 'भारतीय भावधारा के स्नातक' (नासिरा शर्मा), 'अब तो कहो, परंपरा बंधन नहीं' (कृष्णदत्त पालीवाल) जैसे अनेक लेख और स्मरण इस विशेषांक को महत्वपूर्ण बनाते हैं। चालीस से अधिक रचनाओं से सजा यह अंक पंडित जी के जीवन और कर्म को समझने और जानने के लिए विशेष सहायक सिद्ध हो सकता है, इसको कोई संदेह नहीं।

पटना से प्रकाशित 'नई धारा' (सं. मथ राज सिंह, अशोक प्रेस, शेखपुरा, पटना) ने सुभद्राकुमारी चौहान की जन्मशती के अवसर पर उन पर एक महत्वपूर्ण अंक निकाला है जिसमें मूलतः उनके काव्य-संसार की विस्तृत व्याख्या की गई है। कृष्णदत्त पालीवाल, वंशीधर सिंह, मृगेन्द्र प्रताप सिंह 'श्रमिक', तारकेश्वर नाथ सिंहा, परेश सिन्हा, बालेन्दुशेखर तिवारी आदि ने जहां उनके काव्य का मूल्यांकन किया है, वहीं भूपेन्द्र कलसी, कमल कुमार बोस, सतीशराज पुष्करणा, सविता कुमारी मिश्र ने उनके कथा-संसार का विश्लेषण किया है। शायद हिन्दी पाठकों में से अधिकतर को यह पता भी न होगा कि सुभद्राकुमारी चौहान एक कथाकार भी थीं। क्योंकि उनकी कीर्ति खूब लड़ी मर्दानी' के कारण एक कवयित्री के रूप में ही फैली हुई है। वे अपनी कहानियों के लिए दो बार 'सेक्सरिया' पुरस्कार प्राप्त करने वाली रचनाकार थीं। 'सीधे सादे चित्र' नाम से उनकी छियालीस कहानियों का एक संग्रह भी उपलब्ध है। इस दृष्टि से इस अंक में उनकी कई कविताओं के साथ तीन कहानियों 'बिआहा',

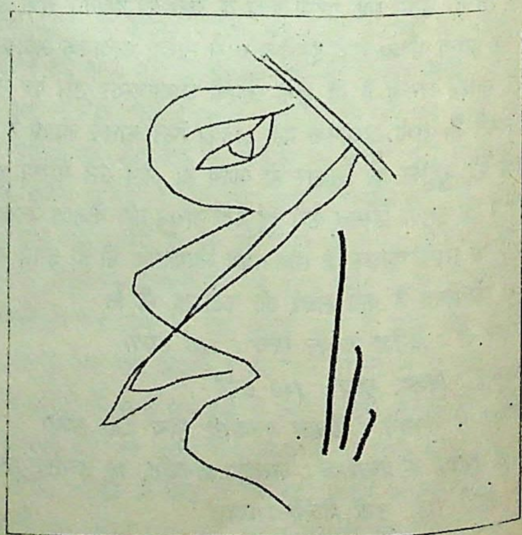
'गुलाब सिंह' तथा 'सुभागी' का प्रकाशन उल्लेखनीय है। निश्चित रूप से इस तरह के विशेषांक महत्वपूर्ण रचनाकारों से हमें जोड़ते तो हैं ही, उनके बारे में अनजाने तथ्यों को प्रकट कर उनके विविध रचनात्मक संसार में भी प्रवेश का अवसर देते हैं।

'अक्षर शिल्पी' (सं. राजुरकर राज, एल-18, थद्दाराम काम्पलेक्स महाराणा प्रताप नगर, भोपाल, म.प्र.) का भी सुभद्राकुमारी चौहान को केन्द्र में रखकर 'नारी रचनाकार विशेषांक' प्रकाशित हुआ है। अंक की शुरुआत सुभद्राकुमारी चौहान की एक विशिष्ट कहानी 'हींगवाला' से हुई है। यह कहानी टैगौर की कहानी काबुली वाला' की अनायास ही याद दिला देती है। महादेवी वर्मा का अंतरंग संस्मरण 'मेरी बहन सुभद्रा' इस अंक की धरोहर है। प्रभा ब्यौहार तथा सुधा चौहान से संस्मरण भी उल्लेखनीय रचनाएं है। इसके साथ समकालीन महिला रचनाकारों की रचनाएँ हैं जो आज के स्त्री-लेखन की सार्थकता को, महत्त को दर्शाती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि संपादक का ध्यान बहुप्रचारित 'स्त्री विमर्श' पर न होकर माहिला रचनाकारों के लेखन पर है, इसी कारण यहां किसी 'वाद' को स्थान नहीं मिला है बल्कि लेखन को महत्व दिया गया है। राजी सेठ से मुक्ता की बातचीत, शिवानी, चित्रा मुद्गल, नीरा शबनम, मेहरुन्निसा परवेज, पद्मा शर्मा, भारती परिमल, अलका प्रमोद, पद्मा चौगांवकर, अनुपम चौहान तथा प्रतिभा श्रीवास्तव की कहानियां, अमृता प्रीतम, उषा भदौरिया तितिक्षा शाह, नीलेश रघुवंशी तथा अन्य पन्द्रह-सोलह कवयित्रियों की कविताएं, राजश्री रावत, पद्मा पाटिल, मृदुला सिंहा के लेखादि ने इस अंक को महत्वपूर्ण बना दियां है। आज के स्त्री लेखन को व्याख्यायित या विश्लेषित करने वाले एक-दो लेख भी इस विशेषांक में अगर होते तो इसके स्वरूप में और निखार आ जाता।

महिला लेखन के साथ अगंर स्त्री-विमर्श की बात हम करते हैं तो 'उद्भावना' (सं. अजेय कुमार, ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली) के नये अक की चर्चा भी आवश्यक है जो स्त्री-विमर्श को केन्द्र में रखकर प्रकाशित हुआ है। 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित रामशरण जोशी की आत्मस्वीकृतियां या 'मेरे विश्वासघात' शीर्षक से जो रचना प्रकाशित हुई है, उसी को केन्द्र में रखकर 'उद्भावना' ने अरविन्द जैन, अपूर्वानंद, निर्मला गर्ग, विश्वनाथ त्रिपाठी, संजय चतुर्वेदी, अशोक गुप्त और सलम के विचरों को प्रकाशित किया है। अलग-अलग विचारधाओं से जुड़े इन सभी लेखकों ने 'स्त्री-मुक्ति' के नाम पर होने वाले छद्म लेखन सोच और हमारे लेखन में जो विकृतियां आती जा रही हैं, उन पर गहरी चिन्ता ही नहीं गहरा चिन्तन भी आवश्यक है, जिसकी तरफ 'उद्भावना' ने कदम बढ़ाया है। इस परिचर्चा के अतिरिक्त इस अंक में सुरेश पंजम का आलेख 'शैक्षिक दर्शनवाद बनाम राधाकृष्णनवाद', अशोक गुप्ता की कहानी 'तिलचट्टे का मुखौटा', तथा कुछ विदेशी कवियों की कविताओं के अनुवाद पठनीय हैं। इस पत्रिका में पुस्तक समीक्षा को भी काफी गंभीरता से लिया जाता है, यह इस अंक में प्रकाशित शिवकुमार मिश्र, जवाहर पाण्डेय, कुंवरपाल सिंह तथा अरुण अभिषेक की समीक्षाएं प्रमाणित करती हैं।

गंभीर और सार्थक पत्रिकाओं में 'पश्यन्ती' (सं. प्रणव कमार बंद्योपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली) भी हमेशा चर्चा के केन्द्र में रही है। करीब तीस वर्षो से प्रकाशित हो रही इस पत्रिका ने समकालीन सोच और लेखन को प्रस्तुत करने का ही सदैव प्रयास किया है। इसके ताजा अंक में भी इस तरह की कई रचनाएं हैं जो आज की रचनात्मकता को समझने में मददगार हैं। धनंजय वर्मा से महावीर अग्रवाल की बातचीत इस अर्थ में बहुत महत्वपूर्ण है। आज की आलोचना किस तरह 'जाति-बिरादरी' और 'नाते-रिश्ते' में सिमटकर रह गई है, इसका खुलासा धनंजय वर्मा करते हैं। यह लम्बी बातचीत आज के अनेक प्रश्नों को समेटती है। विनोद शाही, रवि भाटिया, शिवकुमार मिश्र के आलेख भी नए विचार बिन्दुओं को छूते हैं। प्रताप सहगल के 'बही लेख लिख के क्या होगा' में लेखकीय मन की दुविधाओं को उभारा गया है कि वह जो कुछ लिख रहा है उसका कोई अर्थ है? सहगल कहते हैं कि "लेखन एक वैयक्तिक कर्म है लेकिन लेखक एक सामाजिक प्राणी भी है। सामाजिक ढांचे में जब परंपराएं मात्र रूढ़ियां बन जाती हैं और मूल्य जब 'मिशन' न होकर 'वस्तु' बन जाते हैं तो दुविधा और भी गहरी हो जाती है।" आज ऐसे प्रश्नों पर विचार करना बहुत ही आवश्यक है जो लेखन और लेखक को प्रभावित करते हैं।

बी-3/76, सैक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-85



चक्राचक्र

भगवान की मर्जी

'संसार का सबसे निरीह विश्वास भगवान है।' आज बिहारी लाल जी बहुत गंभीर लग रहे थे-'आप किसी पर विश्वास करने की बात करें, पर इस जाल को कुतरने वाले तर्क और अविश्वास के चूहे बेधड़क पीछे-पीछे चले आते हैं। लेकिन भगवान के साथ यह सब नहीं चलता। वहाँ कोई जाल है ही नहीं, इसलिए कुतरने वाले चूहों की भी ज़रूरत नहीं है।'

मैं मुँह बाए बिहारी लाल जी को देख रहा था-क्या हो गया है इन्हें? आज ये कैसी बहकी-बहकी सी बातें कर रहे हैं? जहाँ तक विश्वास की बात है, भगवान कभी आपसे यह कहने नहीं आता कि मुझ पर विश्वास करो। जब लोग खुद ही काली-सफेद भेड़ों की तरह झुण्ड बनाकर उसकी ओर दौड़ रहे हों तो वह क्या करे? वह क्यों कहे कि तर्क और अविश्वास की कतरनी अपने साथ अवश्य लाइए।

मैंने कहा-'पंडित जी, आज आप भगवान पर खासे नाराज़ दिखाई दे रहे हैं।'

'नाराज़ होने की बात ही है। हर अकुआ-भकुआ बात-बात पर उसकी दुहाई देने लगता है और उसकी मर्जी की आड़ में लगे पानी के नलके से अपना काला मुँह धोने लगता है।'

मैंने कहा पंड़ित जी, 'आप व्यर्थ ही नीले-पीले हो रहे हैं। यह बात तो हमारे कानों में बचपन से आँखों के सुरमे की तरह डाली जाती है कि भगवान की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।'

वे अपना मुँह बिचकाते हुए बोले-'और यह भी कि भगवान जो भी करता है, वह अच्छे के लिए ही करता है।'

'हाँ, यह बात भी है।' मैंने कहा-'अगर इंसान इस भरोसे की चादर न ओढ़े तो उसके शरीर में पड़े हुए फफोले उसे जीने न दें। वह अपने मन को ढाढ़स दे लेता है कि भगवान ने इसलिए उसे फफोले दिए हैं कि उसके अंदर की सारी गंदगी इनके जरिए से बाहर निकल जाएगी।'

'वाह क्या बढ़िया बात कही है तुमने।' बिहारी लाल जी सिर हिलाते हुए बोले-'पिछले दिनों सुनामी का जो कहर आया था; वह भी कितनी अच्छी बात थी। दो लाख से ज्यादा लोग उसमें मरे थे। भगवान ने यह भी अच्छा ही किया होगा। दुनिया की आबादी बेहिसाब बढ़ती जा रही है। आखिर उसे इसका संतुलन भी तो बनाए रखना है। कभी भूचाल लाकर, कभी पहाड़ी चट्टानों को इधर-उधर खिसकाकर, कभी सुनामी लाकर वह यही करता है।'

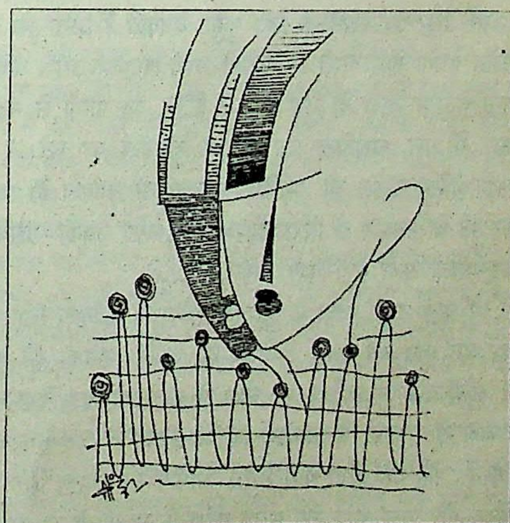
मैंने उनकी आँखों में देखा-'मैं आप का मतलब समझ रहा हूँ। लेकिन इस लॉजिक को हमारे पूर्वज जानते थे। इसीलिए जब उन्होंने त्रिदेवों की कल्पना की थी, तो उसमें जन्म देने वाले ब्रह्मा, पालन करने वाले विष्णु के साथ ही संहार करने वाले शिव का अस्तित्व भी स्वीकार किया है। आज जन्म देने वाले माताओं-पिताओं के कारण दुनिया की आबादी छह अरब से अधिक हो गई है। पालन करने वाले डॉक्टर विष्णु से भी दो कदम आगे निकल गए हैं। अब वे इंसान को जल्दी-जल्दी मरने ही नहीं देते। दुनिया-भर में बूढ़ों की संख्या तिलचट्टों की तरह बढ़ती जा रही है। आखिर शिव का कर्म भी तो भगवान का ही कर्म है।'

पंडित जी बड़े ध्यान से मेरी बात सुन रहे थे। मुझे लग रहा था कि मेरी बात का उन पर खासा असर हुआ है। मैं उनसे कुछ सुनना चाहता था-'पंडित जी, एक बात बताइए, क्या भगवान को गुस्सा आता है?'

वे आँखें तरेरकर बोले-'क्यों नहीं आएगा? तुमने भगवान शिव के तीसरे नेत्र की बात तो सुनी है। उन्हें जब गुस्सा आता है तो वे अपना तीसरा नेत्र खोल देते हैं।'

मैंने कहा-'एक हिन्दू नेता हैं। जब अमेरिका ने अफगानिस्तान और इराक की तबाही की तो उन्होंने बड़े विश्वास से कहा, भगवान मुसलमानों को उनके किए की सज़ा दे रहा है। इसी तरह जब गुजरात में भूकम्प आया था तो एक मौलाना ने कहा था-कश्मीर में हिन्दू फौजें मुसलमानों पर बड़े जुल्म ढा रही हैं। अल्लाह मियाँ उसी की सज़ा दे रहे हैं।'

पंडित जी बोले-'तुम्हारा मतलब है कि भगवान और अल्लाह मियाँ हिन्दुओं-मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों की पूरी पहचान रखते



हैं। कभी-कभी वे सामूहिक रूप से पूरी तरह सेक्युलर होकर कहर बरपाते हैं जैसे सुनामी। पर अधिकतर उनकी आँखों पर फिरकापरस्ती का काला चश्मा चढ़ा होता है। सिखों को सबक सिखाना हो तो नवम्बर 1984 घटित हो जाता है। अमेरिका जैसे ईसाई देश के मुँह पर कुछ थप्पड़ मारने हों तो वे अपने एजेण्ट भेजकर न्यूयार्क और वाशिंगटन पर कहर बरपा देते हैं।'

'लेकिन पंडित जी, विश्वास तो यह किया जाता है कि सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण भगवान ने ही किया है। धर्म, सम्प्रदाय, फिरके तो मनुष्य ने बनाए हैं।'

'और मनुष्य किसने बनाए हैं?'

'निस्संदेह...भगवान ने।'

'तो मनुष्य की बनाई चीज़ों में क्या भगवान की मर्जी शामिल नहीं है?'

'मतलब यह कि जो कुछ भी होता है, वह भगवान की मर्जी से होता है?'

पंडित जी उछल पड़े-'अब आए तुम सही रास्ते पर। मैंने शुरू में ही कहा था कि संसार का सबसे निरीह विश्वास भगवान है। आपको भागने का कोई रास्ता न मिलता हो तो भगवान की साइकिल पकड़िए और पतली गली से निकल जाइए।'

'साइकिल से क्यों? भगवान के पास तो महंगी से महंगी कारें हैं। मैंने हाल में ही किसी अखबार में पढ़ा था कि किसी संत को उसके भक्तों ने भगवान मानकर एक कार भेंट की है जिसका मूल्य पाँच करोड़ रुपए से ऊपर है।'

'कभी-कभी तुम खासी मूर्खता-भरी बातें करते हो।' पंडित जी कुछ गुस्सा खा गए-'भगवान के पास किसी चीज़ की कमी है? उसके भक्त उसके सिर पर रखने के लिए मुकुट बनवाते हैं और उस पर डेढ़ करोड़ रुपया खर्च करते हैं। करोड़ों रुपये लगाकर उसके मंदिरों पर सोना चढ़ाया जाता है। उसकी मर्जी है कि वह महंगी से महंगी मोटरकार में चले, साइकिल पर घूमे या बैलगाड़ी पर चढ़े।'

'जाने दीजिए पंडित जी, आखिर भगवान तो भगवान है। आप बात कर रहे थे भगवान के निरीह विश्वास की और उनकी साइकिल पकड़कर पतली गली से निकल भागने की...।'

'हाँ, मैं बात उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री कल्याण सिंह की कर रहा था। कुछ वर्ष पहले अयोध्या की बाबरी मस्जिद को कुछ उत्साही कारसेवकों ने हथौड़ों की चोट से धराशायी कर दिया था। इस सम्बन्ध में सरकार ने आयोग स्थापित किया कि वह इस बात की जाँच करे कि वह ढाँचा कैसे गिरा। आयोग ने कल्याण सिंह को भी बुलाया और पूछा-आप उस समय प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। आपने इस मस्जिद को गिराए जाने से क्यों नहीं रोका? कल्याण सिंह ने बड़े निरीह भाव से उत्तर दिया-वह भगवान की मर्जी थी।'

मनोज सोनकर

चुनाव

सर्वेश 'सुर' बहुत बड़ी कम्पनी में बिजनेस मैनेजर हैं। रंग गोरा है, कद लम्बा है, आँखें बड़ी हैं, चश्मा मोटा है और बाल खिचड़ी हैं। बिजनेस की सिलसिले में वे देश के विभिन्न प्रांतों में आते-जाते हैं। कभी-कभी विदेश भी जाते हैं। सविता उनकी पत्नी है, श्वेता नामक जवान बेटी बी.ए. की छात्रा है। उनकी बूढ़ी माँ पिछले कई सालों से बीमार चल रही हैं। दिन-ब-दिन उनकी तबीयत खराब होती जा रही है।

"माँ जी की तबीयत दिन-ब-दिन खराब होती जा रही है। पहले तो ज़रा-सा दाल-भात खाती थीं, अब तो दाल-भात खाना भी छोड़ दिया है। सिर्फ ज़रा सा जूस पीती हैं, वह भी बहुत ज़िद करने के बाद। खाँसती भी बहुत ज़्यादा हैं। खाँसते समय छाती धौकनी की तरह चलने लगती है। आँख उलट जाती है। उनकी यह दशा देख कर बड़ी घबराहट महसूस होती है। सविता" चिंतित हुई हैं।

"डॉक्टर वर्मा क्या कहते हैं?" सर्वेश ने पूछा है।

"कहते हैं, कि ओल्ड एज हैं, उम्र भी काफी हो गई है। बुढ़ापे में मरीज पर दवाइयों का असर भी बहुत कम होता है।"

"मैंने उनसे कहा है, कि रोज आकर माँ का चेकप किया करें। क्या वे रोज आकर माँ का चेकप करते हैं?"

"रोज आकर चेकप करते हैं फीस लेकर चले जाते हैं।"

"तुम फीस की परवाह न करो। माँ की परवाह करो।"

"फीस की परवाह क्यों न करूँ? जवान बेटी सिर पर खड़ी है। दवा-दारू का खर्च भी दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है; फिर भी उनकी तबीयत सुधरती हुई नज़र नहीं आ रही है और खरराब होती जा रही है। पहले तो चल कर बाथरूम तक जाती थीं, अब तो विस्तर पर ही सब कुछ कर देती हैं। बदबू और गंदगी फैलती है। श्वेता ने तो उनके कमरे में जाना ही बंद कर दिया है। नौकरानी भी उनके कपड़े धोने में आनाकानी करती है। मिसेज बंसल ने अपनी सास को हास्पिटल में भर्ती करवा दिया है; वहां पर उनकी अच्छी देखभाल हो रही है। उनके लिए दो आयाएं भी रखवा दी हैं। एक आया दिन भर रहती हैं और दूसरी रात को आती है। डॉक्टर तीन बार आकर उनकी जाँच करते हैं।"

"तुम्हें पता होना चाहिए कि मिस्टर बंसल बहुत बड़े इन्डस्ट्रीयलिस्ट हैं। वे बड़े से बड़ा खर्चा उठा सकते हैं। मैं तो इन्डस्ट्रीयलिस्ट नहीं हूँ माँ को हॉस्पिटल में भर्ती करने से पहले मुझे दस बार सोचना पड़ेगा। अभी तुमने कहा है कि जवान बेटी सिर पर खड़ी है?"

"तो मैं क्या करूं?"

"तुम उनकी सेवा में डटी रहो! जैसे ही माँ की तबीयत ज़्यादा बिगड़े फौरन फोन कर डाक्टर को बुलाओ! तुम फीस की परवाह न करो।

माँ की तबीयत बहुत बिगड़ी है; सविता ने तुरंत फोन कर डाक्टर को बुलाया है। डॉक्टर ने माँ को चंद मिनटों का मेहमान बताया है। सविता बार-बार फोन कर उनसे सम्पर्क साधने की कोशिश कर रही है; लेकिन सम्पर्क नहीं हो पा रहा है। बार-बार एक सूचना दुहराई जा रही है-मोबाइल बंद है...मोबाइल इज स्विच्ड ऑफ...मोबाइल बंद है....

599/3, शर्मा निवास, जामे जमशेद रोड, मुंबई-19

सरोज वशिष्ठ

हमें साहित्य कर्म करते रहना चाहिए

दिल्ली का परित्याग कर 1996 में जब मैं शिमला में रहने लगी तो विपाशा की नियमित पुरानी पाठक होने के नाते मैंने हिमाचल के सब लेखकों को पहले से ही पढ़ रखा था। मेरे शिमला पहुंचने से पहले ही हुमरा कुरैशी ने ट्रिब्यून में तिहाड़ जेल और मेरे बारे में लिख दिया था। धीरे-धीरे एक-एक कर के रत्न सिंह, हिमेश, सुर्दशन वशिष्ट, तुलसी रमन जैसे नामी गरामी नामों से मुलाकात भी हो गई। दिल्ली लौटकर मैंने महीप सिंह को अपनी रिपोर्ट दी थी- "वहां के लेखक लोग बहुत अच्छे हैं। कोई गुटवाजी नहीं।" महीप जी मुस्कराए थे और सिर्फ दो शब्द कहे थे-"देखते जाओ।" कहते हैं न, प्रतिभा-क्षमता आपकी अपनी निधि है, दिक्कत तब आती है जब इससे आप आविष्ट-ग्रस्त- हो जाते हैं। बेशक परनिन्दा करने में एक परम सुख मिलता है- पर शर्त यह है कि आप इस अस्त्र का उपयोग एक स्वस्थ भाव से करें।

हिमाचल के अजीबोगरीब साहित्यिक माहौल की एक विशिष्टता यह है कि जब किसी भी नाटक का मंचन या साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन सम्पन्न हो जाता है तो उसकी जानकारी हमें समाचार पत्रों से मिलती है। सबसे भयंकर स्थिति हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा विभाग और अकादमी की है। शायर, कवि, लेखक चाहे हिमाचल प्रदेश से आमंत्रित हो, या दिल्ली, लखनऊ या फिर पाकिस्तान से, स्थानीय लेखकों को निमंत्रण पत्र सिर्फ तब भेजा जाता है अगर उनमें से किसी को परिचर्चा हेतु सादर आमंत्रित किया जाता है। ऐसे महानुभावों को नियमानुसार मानदेय भी भेंट किया जाता है। दर्शक-श्रोता-अन्य लेखक-साहित्य में रुचि रखने वालों के नाम पर दो-चार लोग भी नहीं होते। 2004 में वैसे तो ऐसे अनेक कार्यक्रम आयोजित किए गए पर सबसे महत्वपूर्ण और उत्तेजक रहा 'भाषा-विमर्श'। 5 अक्टूबर से 8 अक्टूबर, 2004 तक हिन्दी अकादमी दिल्ली और हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी शिमला के तत्वावधान में हमने ये चार दिन परीमहल में बिताए। परीमहल में वैसे तो स्वास्थ्य विभाग के अनेक कार्यालय हैं लेकिन यहां अंग्रेजों के भूत भी गाहे-बगाहे घूमते रहते हैं।

किसी भी भवन के लिए भाषा एक शहर होती है, जिसके निर्माण के लिए हर एक व्यक्ति एक-एक पत्थर लाता है। बचपन में मैंने अनाम लेखक के लिखे शब्द पढ़े थे जिन्हें मैं भूल नहीं पाती हूं। उन्होंने लिखा था- मैंने पूरी दुनिया का चक्कर दो बार लगाया है। मैं ऐसी जगहों पर गया हूँ, जहां पहले कोई नहीं गया। मैंने लेखकों और बावर्चियों से बहुत विद्वत्तापूर्ण बातें सीखीं। यह काम मैंने सिर्फ एक पुस्तकालय का सदस्य बनकर किया। अकबर के एक नवरत्न थे रहीम। वे न सिर्फ एक सेनापति थे, एक दानी, ज्ञानी लेखक भी थे। युद्ध में जाते समय अस्त्रों, शस्त्रों, सैनिकों, सिपाहियों के अलावा संपूर्ण पुस्तकालय उनके साथ जाता था। जोंग लुई बोंग्स कहा करते थे, "मैं हमेशा कल्पना करता हूं कि स्वर्ग में एक पुस्तकालय होगा।" इन्हीं किताबों- शब्दों- का जितना अनादर हिमाचल में हुआ है, शायद और कहीं नहीं हुआ। परीमहल में भाषा-विमर्श के अंतर्गत एक दर्जन प्रपत्र पढ़े गए। उनमें से एक विषय था- हिन्दी साहित्य में हिमाचल प्रदेश का योगदान। दिल्ली से आए हीरालाल बसोलिया और अजित कुमार को छोड़कर शेष दिग्गजों- सुशील कुमार फुल्ल और ओम प्रकाश सारस्वत- ने नजरअन्दाजी के आरोप लगाए। मेरा मानना है कि हिमाचल के लेखकों की उपेक्षा बाहरी तत्व नहीं कर रहे हैं। यह काम वे खुद कर रहे हैं। क्यों साहित्य का सम्मान कम हो रहा है? भाषा तो एक प्रतीक है, चिह्न से कहीं अधिक अर्थपूर्ण। आदमी एक है, भाषा अलग-अलग। क्यों? अगर ऐसे प्रश्न सत्यदेव दुबे और सुर्दशन वशिष्ठ ने उठाए तो हिमाचल के उत्कृष्ट लेखक श्रीनिवास जोशी ने स्पष्ट किया- भाषा जोड़ती ही नहीं, तोड़ती भी है। भाषाई आधार पर भारत बंट गया है। शायर शबाब लीलत का मन ये शब्द कहते वक्त जरूर रोया होगा- आप अपने दिल-दिमाग की खिड़कियां खुली रखें। हिमांशु जोशी ने यह सब देख-सुनकर दुःखी मन से कहा- प्रश्नों के अलावा मेरे पास कुछ भी कहने को रहा नहीं।

मुझे यह दर्ज करवाने में कोई झिझक नहीं कि आज के हिमाचली लेखकों को इन सुन्दर वादियों के बाहर वह मान्यता नहीं मिली जिसके वे हकदार हैं। एक-दूसरे की टांग-खिंचाई, उपेक्षा, ईर्ष्या ने हिमाचली लेखन को बाहर नहीं जाने दिया। वैसे तो दुनिया-भर में लेखकों के बीच तलवारें खिंची रहने के अनेक किस्से हैं पर सबसे मशहूर है जार्ज बर्नार्ड शा और ऑस्कर वाइल्ड का द्वन्द्व। जब-जब ऑस्कर का कुछ भी प्रकाशित होता तो शा कहते थे, "काश, यह मैंने लिखा होता।" भाषा-विमर्श में वैसे तो बहुत महत्वपूर्ण (इसे प्रभावशाली पढ़ें) लेखक मौजूद थे पर मैं यहां दो का नाम लेकर हिमाचली साहित्य पर जुल्म ढाने वाली दो घटनाएं उद्घाटित करके इस व्यथा-कथा का समापन करती हूँ। सुशील कुमार फुल्ल और ओम प्रकाश सारस्वत के आलेख की ही बात करें तो बहुत कुछ उद्घाटित होता है। सुशील कुमार फुल्ल ने रेखा, हरनोट, सुर्दशन वशिष्ठ, केशव जैसे हिमाचल प्रदेश के समकालीन लेखकों की रचनाओं का हिन्दी की बची-खुची पत्रिकाओं में प्रकाशित होने का जिक्र करते हुए अपनी चिन्ता यूं व्यक्त की-इनमें से किसी का भी नाम हिन्दी साहित्य में नहीं लिया जाता है। परीमहल के खचाखच भरे सभागार में मैंने कहा था, "साहित्य अकादमी ने जब पहली बार इंडियन लिटरेचर के माध्यम से अपनी नज़रें हिमाचल पर संकेन्द्रित की थीं तो जुलाई-अगस्त, 2001 के अंक को तैयार करने का संपूर्ण जिम्मा मुझे सौंपा गया था। इसमें कहानियों, कविताओं, नाटकों, मुहावरों, लोकगीतों, पहेलियों के अनुवाद मैंने और (मेरे अनुरोध पर) अवतार एनगिल ने किए थे।"

6 अक्टूबर, 04 को डॉ. ओम प्रकाश सारस्वत ने हिमाचल में रंगकर्म की दुर्दशा की जो तस्वीर खींची उससे दुःखी होकर मुझे स्पष्ट करना पड़ा कि जिस युवा रंगकर्मी आमला राय ने सालोसाल एक ही वर्ष में चार-चार बेहतरीन (कोर्ट मार्शल, कबीरा खड़ा बाजार में) नाटक प्रस्तुत किए उसे हिमाचल के गुटबाजों ने इतना नज़रअन्दाज किया कि वह दुःखी होकर बम्बई चली गई। सर्वविदित है कि शिमला की रंगमंडलियां रो-धोकर एक साल में एक नाटक पेश कर पाती हैं। आमला राय के दृश्य से गायब हो जाने के बाद ही विपाशा के सम्पादक तुलसी रमन ने जनसत्ता में उसका जी खोलकर गुणगान किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में दिल्ली से आए अजित कुमार ने सलाह दी, "यह प्रत्येक प्रदेश का रोना है। इस अनदेखी से विचलित हुए बगैर हमें साहित्य कर्म करते रहना चाहिए। यही हमारा धर्म है।" वैसे तो भाषा-विमर्श के दौरान प्रश्नों की बौछार लगी रही पर मेरा अन्तिम प्रश्न है- "उस प्रदेश का क्या करना चाहिए जहां हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी की कार्यप्रणाली को लेकर उठा विवाद हाई कोर्ट तक पहुँच जाए?

सी-13, मकान नं. 2, विकासनगर, शिमला-171009 (हिमाचल प्रदेश)

'सागर प्रिया' का लोकार्पण

डॉ. स्वदेश भारती द्वारा लिखित महाकाव्य 'सागर प्रिया' का लोकार्पण हिन्दी भवन, नई दिल्ली में डॉ. केदारनाथ सिंह द्वारा किया गया। राष्ट्रीय हिन्दी अकादमी, दिल्ली शाखा द्वारा आयोजित इस लोकार्पण समारोह की अध्यक्षता डॉ. इन्द्रनाथ चौधरी ने की तथा संचालन डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने। विशिष्ट अतिथि भोपाल से आये श्री राजेन्द्र जोशी थे। संगोष्ठी के संयोजक श्री सुरेन्द्र तिवारी ने प्रारम्भ में गोष्ठी की रूपरेखा पर चर्चा करते हुए कहा कि दिल्ली में गोष्ठियां तो बहुत होती हैं किन्तु कोलकाता से आये डॉ. भारती की कृति पर इतने लागों का एकत्र होकर चर्चारत होना सुखद अनुभव होगा। अकादमी के मानद अध्यक्ष डॉ. रत्नाकर पाण्डेय ने अतिथियों का स्वागत करते हुए कहा कि यह दिल्ली का सौभाग्य है कि 'सागर प्रिया' का प्रकाशन तो कोलकाता में हुआ किन्तु उस पर चर्चा दिल्ली में हो रही है।

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ के आलेख का पाठ श्री फ़जल इमाम मल्लिक ने किया जबकि डॉ. सुधेश ने कृति के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला। डॉ. प्रताप सहगल, डॉ. कमल कुमार, श्री शरदेन्दु शर्मा, डॉ. पुष्पलता तनेजा, श्री राकेश पाण्डेय आदि ने कृति चर्चा में भाग लिया। कार्यक्रम का संचालन करते हुए डॉ. विमल ने कहा कि इस कृति से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है। बहुत दिनों से हिन्दी में महाकाव्य का अभाव खटक रहा था जिसे भारती ने पूरा कर एक बड़ा काम किया है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. इन्द्रनाथ चौधरी ने एक पौराणिक आख्यान को महाकाव्य का रूप देने के लिए डॉ. भारती की प्रशंसा की और कहा कि इससे काव्य-विधा के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ेगा। इस अवसर पर 'सागर प्रिया' से संबंधित कुछ दृश्य-चित्र भी प्रदर्शित किए गए। अंत में अकादमी के सचिव श्री नारायण कुमार ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

 प्रस्तुति : सौरभ

कला के सृजन के लिए एकाग्रता जरूरी है - सैयद हैदर रज़ा

पिछले कई दशकों से पेरिस में रहकर कला-साधना कर रहे भारतीय चित्रकार सैयद हैदर रज़ा की आत्मकथात्मक अंग्रेजी पुस्तक 'पैशन : लाइफ एण्ड आर्ट ऑफ रज़ा' का लोकार्पण 'एलायंस फ्रांसेस द देल्ही' की गैलरी में प्रसिद्ध रंगकर्मी हबीब तनवीर ने किया। इस अवसर पर रज़ा ने बड़ी संख्या में उपस्थित चित्रकारों, साहित्यकारों और रंगकर्मियों को संबोधित करते हुए कहा कि किसी भी कला के सृजन के लिए एकाग्रता अनिवार्य है। भारतीय चित्रकला के परिदृश्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि कलाकारों को आज उन देशों में भी स्वीकृति मिल रही पश्चिमी कला के गढ़ माने जाते हैं।

'हिन्दी के अधुनातन नारी उपन्य का लोकार्पण

साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन के सभागार में हि सेन्टर, आसफ अली रोड, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रकाश पाण्डेय की महिला लेखिकाओं के तेईसी उपन समीक्षाओं पर आधारित पुस्तक 'हिन्दी के अधुनातन नारी का लोकार्पण एवं साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया गया अध्यक्षता साहित्य अकादमी के पूर्व अध्यक्ष प्रो. इन्द्रनाथ की। विशिष्ट अतिथि का पद श्री कन्हैयालाल नन्दन ने ग्रह इस अवसर पर विशिष्ट संवादी के रूप में मृदुला गर्ग, गीतांजलि श्री और चन्द्रकान्ता, जिनके उपन्यासों की स पुस्तक में की गई है, उपस्थित थीं। इस अवसर पर साहित्यकार भी उपस्थित थे, जिनमें कमल कुमार, सक्सेना व डॉ. सुधेश प्रमुख हैं। कार्यक्रम का संचालन मिश्र द्वारा किया गया।

विद्यापति के गीतों पर आधा सांस्कृतिक कार्यक्रम

हिन्दी अकादमी, दिल्ली ने अपने साहित्यिक एवं कार्यक्रमों की कड़ी में फिक्की सभागार, तानसेन मार्ग, में विद्यापति के गीतों पर आधारित सांस्कृतिक कार्यक्रम किया। इस कार्यक्रम की परिकल्पना भारतीय संगीत ए परिचित और कथक केन्द्र के पूर्व निदेशक डॉ. गंगेश गुं कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. विश्वनाथ की। इस अवसर पर हिन्दी अकादमी के उपाध्यक्ष डॉ. मुकु सदस्य, अनेक गणमान्य व्यक्ति, साहित्यकार, लेखक, रं संस्कृतिकर्मी उपस्थित थे। कार्यक्रम का प्रारम्भ अतिथियों गये मणिदीप प्रज्ज्वलन के बाद हुआ।

कार्यक्रम के अध्यक्ष डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने कहा कि विद्यापति मिथिला के कवि हैं लेकिन हिन्दी ने अपने से अलग नहीं माना। विद्यापति भारतीय साहित्य के महान स्तंभ हैं।

प्रस्तुति -